

॥ श्रीश्रीगौरहरिर्जयति ॥

प्रकाशितग्रन्थसंख्या— १३६

## ❀ श्रीमद्भगवद्गीता ❀



श्रीपादविश्वनाथचक्रवर्त्तिमहोदयविरचित—

“साराथर्वपिणी” टोकया एवं श्रीयुत-

बलदेवविद्याभूषणमहोदयविरचित

“गीताभूषण” भाष्येण

समलंकृता

❀-:-❀

प्रकाशक—

कृष्णदासबाबा

कुमुमसरोवर

राधाकुण्ड

सम्बत्— २०२३

व्योच्छावर— ४ रु ५० पैसे

## धन्यवादपत्रम्



श्रीमान् डाक्टर चन्द्रशेखरपाण्डे, देवास, ( इन्दौर )  
निवासी का एवं श्रीमान् शंकरलाल तिवारीजी  
( वृन्दावननिवासी ) को हम हार्दिक धन्यवाद देते हैं  
कि दोनों ने इस गीता के प्रकाशन में सर्व-  
प्रकार से सहायता देकर परम उत्साहित  
किया है, हम प्रभु से दोनों की  
शुभकामना चाहते  
हैं।

## भूमिका—

जगत्प्रसिद्ध इस गीताशास्त्र में निष्काम कर्मयोग, ज्ञानयोग, अष्टांगयोग एवं भक्तियोग आदि समस्त विषयों का उपदेश है, ब्रह्मा भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण, श्रोता रणविमुख सखा अर्जुन । जब युद्धभूमि में अर्जुन की युद्ध करने की इच्छा न हुई तब भगवान् ने युद्ध में प्रवृत्त कराने के छल से इस गीता का उपदेश दिया । “समस्त उपनिषद् गौत्रों के दुग्ध रूप इस गीतामृत के दोग्धा श्रीकृष्ण, सुधि-गण भोक्ता तथा धनुर्धारी अर्जुन वच्छडा है” ऐसा वतलाया गया है । वे वेद समूह त्रिकाण्डात्मक हैं कर्म, ज्ञान एवं भक्ति । उपनिषदों में भक्तितत्त्व निगूढ़ भाव से निहित है । उन उपनिषदों का साररूप गीताशास्त्र है तथा उपनिषदों का निगूढ़ भक्तिधन गीताशास्त्र में निहित है । तात्पर्य—उपनिषदों के सार रूप इस गीताशास्त्र में भक्तिधन निगूढतया सन्निवेश है ।

अर्थात् महामूल्य भक्तिरूप परम निधि के रत्नमण्डित सम्पुट रूप यह गीता शास्त्र है । इस के प्रथम छैं अध्याय में निष्काम कर्म-योग एवं तीसरे छैं अध्याय में ज्ञानयोग है, परन्तु महानिधि के कारण तथा अत्यन्त रहस्य के कारण एवं परमदुर्लभता के कारण भक्तियोग वाच में रखा गया है जो कि कर्म एवं ज्ञान दोनों का मंजीवक रूप से अभिहित होता है ।

श्रीलविश्वनाथचक्रवर्ती जी महोदय गौड़ीय—सम्प्रदाय के महान् आचार्य, विद्वद्शिरोमणि, महान् रसिक माने गये हैं । ऐसा कि गौड़ीयवैष्णव समाज ने उन को श्रीरूपगोस्वामी के पुनः प्राकट्य होना घोषित किया है । उनकी रसिकता श्रीमद् भागवत की “सारार्थदर्शिनी” टीका से व्यक्त होता है । उन्होंने इस गीता-शास्त्र की टीका में रससंगुक्त सिद्धान्तानामृता का प्रचुर वरण करा कर गीतानुभवो जनता का महान् उपकार किया है, यदि कोई



भावपूर्ण, रससंपृक्त गीताशास्त्र का भावास्वादन करना चाहें तो चक्रवर्तीजी की इस टीका का अवश्य अवलोकन करें। उन की रसिकता यहां स्पष्ट ही व्यक्त होती है कि—उन्होंने टीका का सम्पूर्ण निर्माण कर कहीं रखा था, परन्तु उस में से चूहों ने शेष के दो पन्ने खा गये। वे पुनः लिख भी सकते थे परन्तु लिखा नहीं—आप शेष ७४ से ७८ श्लोकों की टीका के बारे में कहते हैं—“अतः परं पञ्च-श्लोकव्याख्या सर्वगीतातात्पर्यनिष्कर्षेऽन्तिमश्लोका यत्र वर्तन्ते, तां पत्रद्वयी विनायकः स्ववाहनेनाखुनापहतवानित्यतः पुनर्न लिखम्। तां तन्मात्रवादाम्, स प्रसीदतु तस्मै नमः। इति श्रीमद्भगवद्-गीताटीका “सारार्थवर्षिणी” समाप्तीभूता सतां प्रीतये स्तादिनि”।

अर्थात्—“इसके आगे समस्त गीतार्थ-तात्पर्य निष्कर्षरूप अन्तिम पांच श्लोक की व्याख्या जहाँ रक्खी हुई थी, उन दो पन्नों को विना-यक अर्थात् गरेश जी ने अपने वाहन अखु अर्थात् चूहों में हरण करा लिया, भावार्थ-चूहे दो पन्ने खा गये। इसमें गरेश जी का क्या आशय था नहीं कह सकता, इसलिये मैंने पुनः उन पांच श्लो-कों की टीका नहीं लिखी। वे गरेशजी प्रसन्न हों उनको नमस्कार”। ऐसा कहकर उन्होंने अपनी सारार्थवर्षिणी टीका को समाप्त किया। कलिकत्ता “गौड़ीयमिशन” ने बड़ा भारी उपकार किया कि उस मिशन ने चक्रवर्तीजी की “सारार्थवर्षिणी” टीका का बंगाल में प्रकाशन कर विद्वत्समाज के प्रत्यक्षीभूत किया। श्रीहृषीकेशजी, वि, ए, ने चक्रवर्तीटीका का अनुमरण से एक सम्माननुवाद प्रस्तुत कर छपवाया। श्रीमद्भक्तिसिद्धान्तसरस्वती जी महोदय का सम्पाद-कत्व में श्रीकुञ्जविहारिविद्याभूषण के प्रकाशकत्व में श्रीपाद बल-देवविद्याभूषण महोदय का “गीताभूषणभाष्य” बंगाल में सानु-वाद प्रकाशित हो चुका है। अस्तु मुद्रणादि में प्रेस सम्बन्धा त्राटियाँ रह गई होंगी तो उस लिये क्षमा चाहते हैं। (कृष्णदाम)

## अथ श्रीमद्भगवद्गीता

प्रथमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र उवाच—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।

मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥१॥

श्रीललिधनाथचक्रवर्त्तिटाकुरकृता

## ‘सारार्थवर्षिणी’ टीका

गौरांगशुकः सत्कुमुदप्रमोदी स्वाभिरुचया गोस्तमसो निहन्ता।  
श्रीकृष्णचैतन्यसुधानिधिर्मनोऽधितिष्ठन् स्वर्गतिं करोतु ॥१॥  
प्राचीनवाचः सुविचार्य सोऽहमज्ञोऽपि गीतामृतलेशलिप्सुः।  
यतः प्रभोरेव मते तदत्र सन्तः क्षमध्वं शरणागतस्य ॥२॥

इह खलु सकलशाम्बाभिमत-श्रीमच्चरणसरोजभजनः स्वयं  
भगवान्नराकृत-परब्रह्मश्रीबसुदेवसन्तु माआच्छागोपालपुण्या-  
मवतीर्ग्यापार-परमात्मक्य-प्रापञ्चिक-सकललोचन-गोचरीकृतो  
भवार्थानिमज्जमानान जगज्जनानुद्धृत्य स्वसोन्दर्यमाधुग्याम्बा-  
दनया र्वीयप्रेममहाम्बुयो निमज्जयामास

शिष्टरक्षा दुष्टनिग्रह-वर्तनष्टामाहप्रतिष्ठेऽपि भुवो भारदुःखाप-  
हारमिषेण दुष्टानामपि स्वद्वेष्णामपि महासंसार-माह-प्राप्ती-  
भूतानामपि मुक्तिदानलक्षणं परम-रक्षणमेव कृत्वा स्वान्तर्द्धा-  
नात्तरकाल-जानिष्यमाणाननाद्याविद्याबन्धानवन्धनशोकमोहाद्या-  
कुलानपि जीवानुद्धर्त्तु शास्त्रकृन्मुनिगणगीयमानयशश्च धर्त्तु  
स्वप्रियसखं तादृश-स्वच्छावशादेव रणमूर्द्धन्युद्धतशोकमोहं श्री-

## धन्यवादपत्रम्

श्रीमान् डाक्टर चन्द्रशेखरपाण्डे, देवास, ( इन्दौर )  
निवासी को एवं श्रीमान् शंकरलाल तिवारीजी  
( वृन्दावननिवासी ) को हम हार्दिक धन्यवाद देते हैं  
कि दोनों ने इस गीता के प्रकाशन में सर्व-  
प्रकार से सहायता देकर परम उत्साहित  
किया है, हम प्रभु से दोनों की  
शुभकामना चाहते  
हैं ।

## भूमिका—

जगत्प्रसिद्ध इस गीताशास्त्र में निष्काम कर्मयोग, ज्ञानयोग, अष्टांगयोग एवं भक्तियोग आदि समस्त विषयों का उपदेश है, ब्रह्मा भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण, श्रोता रणविमुख सत्ता अर्जुन । जब युद्धभूमि में अर्जुन की युद्ध करने की इच्छा न हुई तब भगवान् ने युद्ध में प्रवृत्त कराने के छल से इस गीता का उपदेश दिया । "समस्त उपनिषद् गौओं के दुग्ध रूप इस गीतामृत के दोग्धा श्रीकृष्ण, मुधि-गण भोक्ता तथा धनुर्धारी अर्जुन बल्लभा है" ऐसा बतलाया गया है । वे देव समूह त्रिकाण्डात्मक हैं कर्म, ज्ञान एवं भक्ति । उपनिषदों में भक्तितत्त्व निगूढ़ भाव से निहित है । उन उपनिषदों का साररूप गीताशास्त्र है तथा उपनिषदों का निगूढ़ भक्तिधन गीताशास्त्र में निहित है । तात्पर्य—उपनिषदों के सार रूप इस गीताशास्त्र में भक्तिधन निगूढतया सन्निवेश है ।

अर्थात् महामूल्य भक्तिरूप परम निधि के रत्नमण्डित सम्पुट रूप यह गीता शास्त्र है । इस के प्रथम छे अध्याय में निष्काम कर्म-योग एवं तीसरे छे अध्याय में ज्ञानयोग है, परन्तु महानिधि के कारण तथा अत्यन्त रहस्य के कारण एवं परमदुर्लभता के कारण भक्तियोग वाच में रखा गया है जो कि कर्म एवं ज्ञान दोनों का मंजवक रूप से अभिहित होता है ।

श्रीलविश्वनाथचक्रवर्ती जी महोदय गौड़ीय—सम्प्रदाय के महान् आचार्य, विद्वद्शिरोमणि, महान् रसिक माने गये हैं । ऐसा कि गौड़ीयवैष्णव समाज ने उन को श्रीरूपगोस्वामी के पुनः प्राकट्य होना घोषित किया है । उनकी रसिकता श्रीमद् भागवत की "सारार्थदर्शिनी" टीका से व्यक्त होता है । उन्होंने इस गीता-शास्त्र की टीका में रससंयुक्त सिद्धान्तमृता का प्रचुर वरण करा कर गीतानुभवो जनता का महान् उपकार किया है, यदि कोई



भावपूर्ण, रससंपृक्त गीताशास्त्र का भावास्वादन करना चाहें तो चक्रवर्तीजी की इस टीका का अवश्य अवलोकन करें। उन की रसिकता यहाँ स्पष्ट ही व्यक्त होती है कि—उन्होंने टीका का सम्पूर्ण निर्माण कर कहीं रखा था, परन्तु उस में से चूहों ने शेष के दो पन्ने खा गये। वे पुनः लिख भी सकते थे परन्तु लिखा नहीं—आप शेष ७४ से ७८ श्लोकों की टीका के वारे में कहते हैं—“अतः परं पञ्चश्लोकव्याख्या सर्वगीतातात्पर्यनिष्कर्षेऽन्तिमश्लोका यत्र वृत्तन्ते, तां पत्रद्वयी विनायकः स्ववाहनेनाखुनापहतवानित्यतः पुनर्न लिखम्। तां तन्मात्रवादाम्, स प्रसीदतु तस्मै नमः। इति श्रीमद्भगवद्गीताटीका “सारार्थवर्षिणी” समाप्तीभूता सतां प्रीतये स्तादिनि”।

अर्थात्—“इसके आगे समस्त गीताथ—तात्पर्य निष्कर्षरूप अन्तिम पांच श्लोक की व्याख्या जहाँ रक्खी हुई थी, उन दो पन्नों को विनायक अर्थात् गणेश जी ने अपने वाहन अखु अर्थात् चूहों में हरण करा लिया, भावार्थ—चूहे दो पन्ने खा गये। इसमें गणेश जी का क्या आशय था नहीं कह सकता, इसलिये मैंने पुनः उन पांच श्लोकों की टीका नहीं लिखी। वे गणेशजी प्रसन्न हों उनको नमस्कार” ऐसा कहकर उन्होंने अपनी सारार्थवर्षिणी टीका को समाप्त किया। कलिकत्ता “गौड़ीयमिशन” ने बड़ा भारी उपकार किया कि उस मिशन ने चक्रवर्तीजी की “सारार्थवर्षिणी” टीका का बंगाल में प्रकाशन कर विद्वत्समाज के प्रत्यक्षीभूत किया। श्रीहृषीकेशशर्मा, वि, ए, ने चक्रवर्तीटीका का अनुमरण से एक सम्मानवाद प्रश्न कर छपवाया। श्रीमद्भक्तिसिद्धान्तसरस्वती जी महोदय का सम्पादन कत्व में श्रीकुञ्जबिहारिविद्याभूषण के प्रकाशकत्व में श्रीपाद बलदेवविद्याभूषण महोदय का “गीताभूषणभाष्य” बंगाल में सानुवाद प्रकाशित हो चुका है। अस्तु मुद्रणादि में प्रेस सम्बन्धा त्रुटियाँ रह गई होंगी तो उस लिये क्षमा चाहते हैं। (कृष्णदाम)

## अथ श्रीमद्भगवद्गीता

प्रथमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र उवाच—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।

मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥१॥

श्रीलक्ष्मणनाथचक्रवर्तिटाकुकृता

## ‘सारार्थवर्षिणी’ टीका

गौणशुकः सत्कुमुदप्रमोदी स्वाभिरुचया गोस्तमनो निहन्ता।

श्रीकृष्णचैतन्यसुधानिर्वर्मे मनोऽधितिष्ठन स्पर्शति करोतु ॥१॥

प्राचीनवाचः सुबिचार्य्य सोऽहमज्ञोऽपि गीतामृतलेशलिप्सुः।

यतः प्रभोरेव मते तदत्र सन्तः क्षमन्त्यं शरणागतस्य ॥२॥

इह खलु सकलशास्त्राभिमत—श्रीमद्भगवत्संगेजभजनः स्वयं भगवान्नराकृत—परमश्रीबसुदेवमूलः साक्षाच्छ्रीगोपालपुत्र्या—मवतीर्यापाद—परमानन्द—प्राप्यश्रितः सत्त्वतोचन—गोचरीकृतो भवाविधानमज्जमानान जगजनानुद्धृत्य स्वस्वन्द्यमाधुर्यास्वादनया स्वायंप्रेममहास्वुर्वा निमज्जयामास

शिष्टरक्षा दुष्टनिमज्ज—व्रतनिष्ठामाहृष्टप्रतिष्ठोर्जा भुवा भारदुःखापहारमिषेण दुष्टानामपि स्वद्वेष्टृणामपि महासंसार-माह-मासी-भूतानामपि मुक्तिदानलक्षणं परमरक्षणमेव कृत्वा स्वान्तर्द्धी-नात्तरकाल-जानिष्यमाणाननाद्याविद्याबन्धानिवन्धनशोकमोहाद्या—कुलानपि जीवानुद्धर्त्तुं शास्त्रकृन्मुनिगणगीयमानयशश्च धर्त्तुं स्वप्रियसखं तादृश-स्वेच्छावशादेव रणमूर्धन्युद्धतशोकमोहं श्री-



मदञ्जुनं लक्ष्यीकृत्य काण्डत्रिनयात्मक-सर्ववेदतात्पर्य-पर्यव-  
मितार्थगतालङ्कृतं श्रीगीताशास्त्रमष्टादशाध्यायमन्तर्भूताष्टादश-  
विधं भाक्षाद्विद्यमानाकृतमित्येव परमपुरुषार्थमाविर्भावयाम्बभूव ।  
तत्राध्यायानां षट्केन प्रथमेन निष्कामकर्मयोगः, द्वितीयेन  
भक्तियोगः, तृतीयेन ज्ञानयोगो दर्शितः । तत्रापि भक्तियोगस्या-  
तिरहस्यत्वादुभय-भञ्जावकत्वेनाभ्यहितत्वात् सर्वदुर्लभत्वाच्च  
मध्यवर्तीकृतः । कर्म-ज्ञानयोर्भोक्तराहित्येन वैयर्थ्यात् द्वे  
भोक्तामित्रं एव सम्मताकृतं । भक्तिस्तु द्विधा—केवला, प्रधा-  
ताभूता च । तत्राद्या स्वत एव परमप्रवला, ते द्वे ( कर्म-  
ज्ञाने ) विनैव विमुक्त-प्रभावता, अकिञ्चना, अनन्यादि-शब्द-  
वाच्या; द्वितीया तु कर्म-ज्ञानमिश्रोत्यखिलमप्रे विवृतीभ-  
विष्यात ।

अथाञ्जुनस्य शोकमोहौ कथम्भूतावित्यपेक्षायां महाभार-  
तवक्ता श्रीवैशम्पायनो जनमेजयं प्राति तत्र भीष्मपर्वणि कथा-  
मधतारयति,—“धृतराष्ट्र उवाच” इति । कुरुक्षेत्र युयुत्सवो युद्धार्थं  
सङ्गता मामका दुर्योधनाद्याः पाण्डवाश्च युधिष्ठिरादयः किं  
कृतवन्तस्तद्वृत्तिः । तनु युयुत्सव इति त्वं त्रयीप्येवातां युद्धमेव  
करो मुच्यतास्ते तदापि किमकुर्वतेति केनाभिप्रायेण पृच्छसीत्यत  
आह,—धर्मक्षेत्रे इति । “कुरुक्षेत्रं देवयजनम्” इति श्रुतेस्तत्-  
क्षेत्रस्य धर्मप्रवर्तकत्वं प्राप्तम् । अतस्तत्संसर्गमहिम्ना यद्य-  
धार्मिकाणामपि दुर्योधनादीनां क्रोधनिवृत्त्या धर्मं मतिः  
स्थानं; पाण्डवानु स्वगावत एव धार्मिकान्ततो बन्धूहिंसन-  
मनुचिन्तमित्युभयोरपि निवेके उद्धूते सन्धिरपि संभाव्यते;  
ततश्च समानन्द एवात सञ्जयं प्राति ज्ञापयितुमिष्टं भावं वाह्यः ।  
आभ्यन्तरस्तु सन्वा मतिं पूर्ववत् सषण्टकमेव राज्यं मदा-  
त्यजानामिति मे दुर्वार एव विषादः । तस्मादस्माकीनो भीष्म-

स्वर्जुनेन दुर्जय एवेत्यनो युद्धमेव श्रेयस्तदेव भूयादिति तु  
नन्मनोऽपयोगी दुर्लभ्यः । अत्र धर्मक्षेत्रे इति क्षेत्रपदेन-धर्मस्य  
धर्मावतारस्य सपरिग्रह्युधिष्ठिरस्य धान्यस्थानीयत्वम्, तत्पाल-  
कस्य श्रीकृष्णस्य कृषिवलस्थानीयत्वम्, कृष्णकृतनानाविधमा-  
हायस्य त्रलमेचनमेतद्वन्वनादिस्थानीयत्वम्, श्रीकृष्णसंहार्य-  
दुर्योधनादेर्धान्यद्वेषिवान्याकारवृणविशेषस्थानीयत्वं च बोधितं  
सरस्यत्या ॥१॥

श्रीमद्-वलदेवविद्याभूषणकृतं

‘गीताभूषण’भाष्यम्

ॐ नमः श्रीगोविन्दाय

सत्यानन्ताचिन्त्यशक्त्येकपक्षे सर्वोपपक्षे भक्तरक्षार्थदक्षे ।  
श्रीगोविन्दे विश्वमर्गादिकन्दे पूर्णानन्दे नित्यमास्तां मतिर्मे ॥१॥

अज्ञान-नीरधिरूपैति यथा विशोषं  
भक्तिः परापि भजते परिपोषमुच्चैः ।

तत्त्वं परं स्फुरति दुर्गममप्यजस्रं

मादृगुण्यभूत स्वराचितां प्रणमामि गीताम् ॥२॥

अथ सुखचिदघनः स्वयं भगवानाचिन्त्यशक्तिः पुरुषोत्तमः  
स्वमङ्गलपाथर्थाविचित्रः—जगदुदयादिविगच्छ्यादिसंचिन्त्यचरणः  
स्वजन्मादीनीलया स्वतुल्यान सह विभूतान् पार्षदान् प्रहर्ष-  
यंस्तथैव जीवान् बहून्विद्याशाहूलीवदनाद्विमोक्ष्य स्वान्तर्द्वी-  
नोत्तरभाविनोऽन्यानुदिर्वापुःराहवमृदिधन स्वात्मभूतमप्यञ्जु-  
नमित्यवश्यवत्या समोहमिव कुर्वेन तन्मोहाविगार्जनापदेशेन  
सपरिग्रहत्वात्सयाथात्म्यैकानिरूपिकां स्वगीतोपनिषदमुपादिशत ।  
तस्यां सत्वीथर-जीव-प्रकृति-काल-कर्मणि पञ्चाधा बर्यन्ते ;—

तेषु विभुसंबिदीश्वरः, अणुसम्बिजीवः, सत्त्वादिगुणत्रयाश्रयो  
द्रव्यं प्रकृतिः, त्रैगुणशून्यं जडद्रव्यं कालः, पुं प्रयत्ननिष्पाद्यम-  
दृष्टादिशब्दाच्चयं कर्मणि । तेषां लक्षणानि ;—एषांश्वरादीनि  
चत्वारि नित्यानि ; जीवादीनि त्वीशवश्यानि, कर्म तु प्राग-  
भाववदनादि विनाशि च ; तत्र सम्बित्स्वरूपोऽपीश्वरो जीवश्च  
सम्बन्तास्मदर्थश्च,—“जानमानन्दं ब्रह्म”, “यः सर्वज्ञः सर्व-  
वित्”, “मन्ता बाह्वा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः” इत्यादि श्रुतेः ;  
“मोऽकामयत बहु स्याम”, “सुखमहमस्याप्सं न लिच्छिदे-  
दिपम्” इत्यादि श्रुतेः । न चोभयत्र महत्तत्त्वज्ञानोऽयमद्वैतः  
तदा तन्मानुष्यत्वात्तर्कितत्वाच्च । स च स च कर्त्ता भोक्ता  
मिद्वः—“सर्वज्ञः सर्वविन् कर्त्ता बाह्वा” इति पदेभ्यः ; अनु-  
भवितृत्वं यत्तु भोक्तृत्वं सत्त्वाभ्युपगतं ; “मोऽश्रुते सर्वान्  
कामान् महं ब्रह्मणा विमिश्रता” इति श्रुतेस्तुल्यतां प्रत्यक्तम् ।  
यद्यपि सम्बित्स्वरूपात् सम्बन्तात्त्वादि नान्यत्वं प्रकाशस्वरूपाद्-  
गर्वेण प्रकाशकत्वादि, तथापि विशेषमामर्श्यात्तदन्वयत्वव्यवहारः ।  
विशेषश्च भेदप्रतिनिधित्वं भेदः ; स च भेदाभावेऽपि भेदकार्य-  
स्य धर्मधर्मिभावादिव्यवहारस्य हेतुः,—मन्ता मर्ता भेदो भिन्नः  
कालः सर्वदास्मात्प्रादिकु विद्वद्धि प्रतीतः । तत्प्रतीत्यन्यथानुप-  
पत्त्या “एवं धर्मान् पृथक् पृथक् स्तान्तेवानुविधावति” इति श्रुत्या  
च मिद्वः । इह हि त्रयप्रतीतिमित्राय तद्भेदः प्रतिपिध्यते । न  
ननु भेदप्रतिनिधेस्तस्याप्यभावे धर्मधर्मिभावाधर्मबहुत्वे शक्ये  
बहुमिथ्य निरनुभवि सौकार्याः स्युः न उमेऽर्थाः शास्त्रेऽस्मिन्  
यथास्थानमनुसन्धेयाः । इह हि जीवात्म-परमात्म-तद्धाम तत्त-  
प्राप्तयुपायानां स्वरूपाणां यथावन्तरूप्यन्ते । तत्र जीवात्म-  
याथात्म्य-परमात्मयाथात्म्योपयोगितया परमात्मयाथात्म्यन्तु तदु-  
पासनापयोगितया प्रकृत्यादिकं तु परमात्मनः स्वरूपकरणयो-

पदिश्यते । तदुपायाश्च कर्मज्ञानभक्तिभेदात् त्रेधा । तत्र श्रुत-  
तत्त्वकचनेरपेक्षेण कर्त्तृत्वाभितिवेशपरित्यागेन चानुष्ठितस्य स्व-  
विहितस्य कर्मणः हृदिशुद्धिद्वारा ज्ञानभक्त्योरुपकारित्वात्  
परम्परया तत्प्राप्तयुपायत्वम् । तत्र श्रुतिविहितकर्म हिमा-  
शून्यमत्र मुख्यम् । भोक्तृधर्मं पितापुत्रादिभवादात् हिमावत्ता-  
गोणं विप्रकृष्टत्वात् तयोस्तु साक्षादेव तथात्वम् । ननु तथानुष्ठि-  
तेन कर्मणा हृदिशुद्ध्या ज्ञानोदयेन मुक्तौ सत्यां भक्त्या को  
विशेषः ? उच्यते, ज्ञानमेव किञ्चिद्विशेषाद्वक्तृरिति ; निमित्तेष्वप्य-  
क्षणकटाक्षवीक्षणवदनयोगन्तरं चिद्विप्रदतयानुमन्विज्ञानं तेन  
तत्सालोक्यादिः । विचित्रतातारमाश्रयतथानुमन्विस्तु भक्ति-  
स्तथा काहीकृतसालोक्यादितद्विषयानन्दलाभः पुमर्थः । भक्ते-  
ज्ञानत्वं तु “मच्चिदानन्दैकरूपे भक्तियोगे तिष्ठति” इति श्रुतेः  
मिद्वम् । तदिदं श्रवणादिभावादिशब्दव्यपदिष्टं दृष्टम् । ज्ञानस्य  
श्रवणाद्याकारत्वं चित्सुखस्य विषयोः कुन्तलादिप्रतीकत्ववत्  
प्रत्येतदयमिति ब्रह्मणः । पटत्रिकेऽस्मिन्शास्त्रे—प्रथमेन पटकेन-  
श्वरांशस्य जावस्यांशोश्च भक्त्युपयोगिस्यरूपदर्शनम् ; तच्चान्त-  
र्गतज्ञाननिष्कामकर्ममाध्यं निरूप्यते । मध्येन परम-प्राप्यस्यां-  
शोश्चरस्य प्रापणी भक्तिस्तन्महिमर्वापूर्विकाभिधीयते । अन्येन  
तु पूर्वोदितानामेवेश्वरादीनां स्वरूपाणि परिशोध्यन्ते ।  
त्रयाणां पटकानां कर्मभक्तिज्ञानपूर्वता-व्यपदेशस्तु तत्तत्प्राधा-  
न्येनैव ; चरमे भक्तेः प्रातिपत्त्योक्तिस्तु रत्नमम्पुटोद्व-  
लिखित-तु मुचर्कलिपिन्यायेन । अथ शास्त्रस्य श्रद्धालुः सद्धर्म-  
निष्ठो विजितेन्द्रियाऽधिकारी स च सनिष्ठ-परिनिष्ठित-तिरपेक्ष-  
भेदात्त्रिविधः—तेषु स्वर्गादिभोक्तानपि दिदृक्षुर्निष्ठया स्वधर्मनि-  
हर्ष्यर्चनरूपानाचरन् प्रथमः ; लोकगंजिपुत्रया तानाचरन् हरि-  
भक्तिनिरता द्वितीयः ; स च स च साश्रमः ; सत्य-तपो-जपादिभि-



विशुद्धचित्तो ह्यर्थेकनिर्गततृतीयो निर्गमः । वाच्यवाचकभावः  
सम्बन्धः, — वाच्य उक्तलक्षणाः श्रीकृष्णः, वाचकस्तद्गीताशास्त्रं  
नादशः सोऽत्र विषयः । अशेष-क्लेश-निवृत्तिपूर्वकस्तत्माश्रान-  
कास्तु प्रयोजनमित्यनुबन्धचतुष्टयम् । अत्रेश्वरादिषु त्रिषु ब्रह्म-  
शब्दोऽश्वरशब्दश्च, बद्धजीवेषु तद्देहेषु च क्षरशब्दः, ईश्वरजीवदेहे  
मनसि बुद्धौ धृतौ यत्ने चात्मशब्दः, त्रिगुणायां वामनायां शीले  
स्वरूपे च प्रकृतिशब्दः, सत्ताभिप्रायस्वभावपदार्थजन्मसु क्रिया-  
स्वात्मसु च भावशब्दः, कर्मादिषु त्रिषु चित्तवृत्तिनिरोधे च  
योगशब्दः पश्यते । एतच्छास्त्रं खलु स्वयं भगवतः साक्षाद्वचनं  
मन्वतः श्रुंष्टुं — “गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।  
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिर्गता” इति पाद्मात् । धृतराष्ट्रा-  
दिवाक्यन्तु तत्सङ्गतिलाभाय द्वैपायनेन विरचितम् । तच्च लव-  
णाकर्गनपात-न्यायेन तन्मर्यामित्युपोद्धातः । “संग्राममूर्द्धिध्न  
संवादो याऽमुद्गोविन्दपार्थयोः । तत्सङ्गत्यै कथां प्राख्याद्गी-  
तासु प्रथमं मुनिः ॥” इह तावद्भगवदङ्गुलसंवादं प्रस्तातुं कथा-  
तिरुप्यते, — धर्मक्षेत्र इत्यादिभिः सप्तविंशत्या । तद्भगवतः पार्थ-  
सारथ्यं विद्वान् धृतराष्ट्रः स्वपुत्रावजये मन्दिहानः सञ्जयं पृच्छ-  
तीत्याह, — उन्मजयं प्रति वैशम्पायनः, — धृतराष्ट्र उवाचेति । युयुत्सवो  
योद्धुमिच्छन्वा मामका मत्पुत्राः पाण्डवाश्च कुरुक्षेत्रे समवेताः  
किमकुर्वन्तति । ननु युयुत्सवः समवेता इति त्वमेवात्थ ततो  
युद्धे गन्तव्यं, पुनः किमकुर्वन्तति कस्ते भाव इति चेत्, तत्राह, —  
धर्मक्षेत्रे इति । “यदनु कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां  
भूतानां ब्रह्ममदनम्” इत्यादि-श्रवणाद्धर्मप्रगल्भभूमिभूतं कुरुक्षेत्रं  
प्रसिद्धम् । तत्प्रभावादिनष्टविद्वेषा मत्पुत्राः किं पाण्डवेभ्यस्तद्राज्यं  
दातुं तिश्चिक्वुः ? किम्वा, पाण्डवाः सदैव धर्माशीला धर्मक्षेत्रं  
तस्मिन् कुलक्षयहेतुकाद्धर्माद्धीता वनप्रवेशमेव श्रेयो विममृशु-

गिति ? हे सञ्जयेति व्यासप्रसादाद्विनष्टरागद्वेषमयं तथ्यं बदे-  
त्यर्थः । पाण्डवानां मामकत्वानुक्तिर्वृत्तराष्ट्रस्य तेषु द्रोहमभि-  
व्यनक्ति । धान्यक्षेत्रात्तद्विरोधिनां धान्याभासानामिव धर्मक्षेत्रा-  
त्तद्विरोधिनां धर्माभासानां त्वत्पुत्राणामपगमो भावीति धर्म-  
क्षेत्रशब्देन गार्हव्या व्यज्यते ॥१॥

संजय उवाच—

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।  
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥  
पश्येतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।  
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥

सा० व०—

विदिततदभिप्रायस्वदाशंसितं युद्धमेव भवेत्, किन्तु तन्म-  
नोरथप्रतिकूलामिति मनसि कृत्वोवाच-दृष्ट्वेति, व्यूढं व्यूहगुचन-  
यावस्थितम् । राजा दुर्योधनः सान्तभयमुवाच, — पश्येतामिति  
नवभिः श्लोकैः ॥२॥

द्रुपदपुत्रेण धृष्टद्युम्नेन तव शिष्येणेति स्ववधार्थमुत्पन्न इति  
जानतापि त्वयाऽयमध्यापित इति तव मन्दबुद्धित्वम् । धीमतात  
शत्रोरपि त्वन्तः सकाशात् त्वद्वधापायविद्या गुहातत्यस्य महा-  
बुद्धित्वं फलकालेऽपि पश्येति भावः ॥३॥

गी० भू०—

एवं उन्मान्वय प्रज्ञाचक्षुषो धृतराष्ट्रस्य धर्मप्रज्ञाबिलोपान्मोहा-  
न्वस्य मत्पुत्रः कदाचित् पाण्डवेभ्यस्तद्राज्यं दद्यादिति बिस्लान-  
चित्तास्य भावं विज्ञाय धर्मिष्ठः सञ्जयस्त्वत्पुत्रः कदाचिदपि तेभ्यां  
राज्यं नार्पयिष्यतीति तत्सन्तोषमुत्पादयन्नाह, — दृष्ट्वेति । पाण्ड-



वानामनीकं सैन्यं, व्यूहं व्यूहचनयावस्थितम्, आचार्यं धनु-  
विद्याप्रदं द्रोणम् उपसङ्गम्य स्वयमेव तदन्तिकं गत्वा राजा राज-  
नीतिनिपुणः वचनमुत्पाक्षरत्वं गर्भार्थत्वं संक्रान्तवचनविशे-  
षम् । अत्र स्वयमाचार्यमन्त्रिधिगमनेन पाण्डवसैन्यप्रभावदर्शन-  
हेतुकं तस्यान्तर्भयं गुरुगौरवेण तदन्तिकं स्वयमागतवानर्भाति  
भयमङ्गोपनञ्च व्यज्यते । तदिदं राजनीतिनिपुण्यादिना च  
राजपदेन ॥२॥

तत्तादृशं वचनमाह,—पश्यैतामित्यादिना । प्रियशिष्येषु युधि-  
ष्ठिरादिषु स्नेहातिशयादाचार्यो न युध्येदिति विभाव्य तत्को-  
पोत्पादनाय तस्मिन्तदवज्ञां व्यञ्जयन्नाह,—एतामिति । एतामिति-  
साम्प्रतितां प्रागल्भ्येनाचार्यमन्त्रिशूश्च त्वामदिगणय्य स्थितां  
दृष्ट्वा तदवज्ञां प्रतीहीति, व्यूहं व्यूहचनया स्थापिताम् द्रुपद-  
पुत्रेणैव त्वद्वैरिणा द्रुपदेन स्वद्विधाय धृष्टद्युम्नः पुत्रो यज्ञाग्नि-  
कुण्डादुत्पादितोऽस्तीति, तव शिष्येणेति त्वं स्वशत्रुं जानन्नापि  
धनुर्विद्यामध्यापितवानर्भाति तव मन्दधीत्वम्, धीमतेति शत्रो-  
न्वचनास्वद्वयोपायो गृहीत इति तस्य मुधीत्वम् । त्वदपेक्षका-  
रितैवास्माकमनर्थहेतुरिति ॥३॥

अत्र शूरा महेष्वाणा भीमार्जुनसमा युधि ।  
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥४॥  
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।  
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥५॥  
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमोजाश्च वीर्यवान् ।  
भीमद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६॥

सारा० च०—

अत्र चम्बाम्, महान्तः शत्रुभिर्द्वेन्दुमशकया उपवामा  
धनूषि येषां ते; युयुधानः सारथ्यकः, भीमद्रोऽभिमन्युः, द्रौप-  
देया युधिष्ठिरादिभ्यः पञ्चभ्यो जाताः प्रतिबिन्ध्यादयः । महा-  
रथादीनां लक्षणम्—“एको दशमहस्याणि योधयेद् यस्तु धन्वि-  
नाम् । शस्त्रशस्त्र-प्रवीणश्च महारथ इति स्मृतः ॥ अमितान्  
योधयेद् यस्तु स एवातिरथः स्मृतः । रथो चैकेन यो योद्धा  
तन्मृतोऽर्थरथः स्मृतः ॥” इति ॥४-६॥

गी०भू०—

नन्वेकेन धृष्टद्युम्नेनाधिष्ठितालिङ्गा संताममदीयेनैकेनैव  
मुजेया स्यादतत्त्वं मा त्रामीरिति चेत् तत्राह,—अत्रेति । अत्र  
चम्बां महान्तः शत्रुभिर्द्वेन्दुमशकया उपवामाश्चापा येषां ते ।  
युद्धकौशलमाशङ्क्याह,— भीमेति । युयुधानः सारथ्यकः महा-  
रथ इति युयुधानादीनां त्रयाणां विशेषणम् । धृष्टेति—वीर्य-  
वानिति धृष्टकेत्यादीनां त्रयाणाम्, नरपुङ्गव इति पुरुजितादीनां  
त्रयाणाम् । युध्येति विक्रान्त इति युधामन्योः, वीर्यवानिति-  
त्युत्तमोजमश्नोति विशेषणम्, भीमद्रोऽभिमन्युः द्रौपदेया  
युधिष्ठिरादिभ्यः पञ्चभ्यः क्रमान् द्रौपदां जाताः प्रतिबिन्धुतमेन  
श्रुतकीर्तिशतानीकश्रुतकस्मरिण्याः पञ्चपुत्राः, च-शब्दादर्थे च  
घटोत्कचादयः । पाण्डवास्त्वतिरथतत्त्वात् न गणिताः । ये एते  
सप्तदश गणिता, ये चान्ये तत्पक्षीवास्ते सर्वे महारथा एव ।  
अतिरथस्याप्युपपन्नमेतत्, तल्लक्षणं द्रोतम्,—एकादशसह-  
स्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम् । शस्त्रशस्त्र-प्रवीणश्च महारथ इति  
स्मृतः ॥ अमितान् योधयेद्यस्तु स एवातिरथस्तु सः । रथो  
चैकेन यो योद्धा तन्मृतोऽर्थरथः स्मृतः ॥” इति ॥४-६॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।  
 नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥७॥  
 भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः ।  
 अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिरित्येव च ॥८॥  
 अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।  
 नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥

सारा० व० —

निबोध बुध्यस्व; संज्ञार्थं सम्यग् ज्ञानार्थम् ॥७॥  
 सोमदत्तिभूरिश्रवाः । त्यक्तजीविता इति जीवितत्यागेनापि  
 यदि मदुपकारः स्यात्तादा तमापि कर्तुं प्रवृत्ता इत्यर्थः । वस्तुतस्तु  
 “मयैवैते निहताः पूर्वमेव, निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्” इति  
 भगवदुक्तेर्दुर्योधनसरस्वती सत्यमेवाह स्म ॥८-९॥

गी० भू० —

तर्हि किं पाण्डवसैन्याद्धीतोऽमीत्याचार्य्यभावं सम्भाव्या-  
 न्तर्जातामापि भीतिमाच्छादयन् धाष्ट्येनाह,—अस्माकमिति—  
 अस्माकं सर्वेषां मध्ये ये विशिष्टाः परमोत्कृष्टा बुद्ध्यादिबल-  
 शालिनो नायका नेतारः, तान् संज्ञार्थं सम्यक् ज्ञानार्थं ब्रवी-  
 मीति । पाण्डवप्रेम्णा त्वं चेन्ना योत्स्यसे, तदापि भीष्मादि-  
 भिरभिमहिजयः संस्यत्येवेति तत्कोपोत्पादने श्रोत्यम् ॥७॥

तानाह,—भवानिति । भवान् द्रोणः, विकर्णो मदभ्राता  
 कनिष्ठः, सोमदत्तिभूरिश्रवाः, समितिञ्जयः संप्रामादजयीति  
 द्रोणादीनां सप्तानां विशेषणम् । नन्वेतावन्त एव मत्सैन्ये  
 विशिष्टाः, किन्त्वसंख्येयाः सन्तीत्याह,—अन्ये चेति । बहवो जय-  
 द्रथ-कृतबर्म्म-शत्यप्रभृतयः । त्यक्तेत्यादि व. र्म्मणि निष्ठा,—जीवि-

तानि व्यक्तं कृतनिश्चया इत्यर्थः । इत्यञ्च तेषां सर्वेषां मयि  
 स्नेहातिरंकात् शौर्य्यातिरेकाद्युद्धपाण्डव्याश्च मद्विजयः  
 भिद्यद्येदेवेति श्रोत्यते ॥८-९॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।  
 पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीष्माभिरक्षितम् ॥१०॥  
 अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।  
 भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

सारा० व० —

अपर्याप्तमपरिपूर्णम्—पाण्डवैः सह योद्धुमश्रुममित्यर्थः ;—  
 भीष्मेणाति—सूक्ष्मबुद्धिना शस्त्रशाम्प्रप्रवीणेनाभितो रक्षितमपि,  
 भीष्मस्योभयपक्षपातित्वात् । एतेषां पाण्डवानां तु भीमेन स्थूल-  
 बुद्धिना शस्त्रशास्त्रानाभिज्ञेनापि रक्षितं पर्याप्तं परिपूर्णम्—  
 अस्माभिः सह युद्धे प्रवीणमित्यर्थः ॥ १० ॥

तस्माद् युष्माभिः सावधानैर्भक्षितव्यमित्याह,—अयनेषु  
 व्यूहप्रवेशमार्गेषु यथाभागं विभक्ताः स्वां स्वां रणभूमिमपरित्य-  
 ज्यैवावस्थिता भवन्तो भीष्ममेवाभितस्तथा रक्षन्तु, यथाऽन्यै-  
 र्युध्यमानोऽयं पृष्ठतः कैश्चित् हन्यते, भीष्मबलेनैवास्माकं  
 जीवितमिति भावः ॥ ११ ॥

गी० भू० —

नन्वेवमुभयोः सैन्ययोस्तौल्यात् तवैव विजयः कथमित्या-  
 शङ्क्य स्वसैन्यस्याधिक्यमाह,—अपर्याप्तमिति । अपर्याप्त-  
 मपरिमितमस्माकं बलम्, तत्रापि भीष्मेण महाबुद्धिमतानिरथे-  
 नाभिरक्षितम् । एतेषां पाण्डवानां बलं तु पर्याप्तं परिमितम्,  
 तत्रापि भीमेन तुच्छबुद्धिनाद्धरथेनाभिरक्षितमतः सिद्धविजया-  
 ऽहम् ॥१०॥



अथैवं मदुक्तिभावं विज्ञायाचार्यश्चेदुदासीत तदा मत्कार्य-  
क्षतिरिति विभाव्य तस्मिन् स्वकार्यभारमर्पयन्नाह,—अयने-  
ष्यति । अयनेषु सैन्यप्रवेशवर्त्मसु यथाभागं विभक्तां स्वां स्वां  
युद्धभूमिमपरित्यज्यावस्थिता भवन्तो भवदादयो भीष्ममेवाभिनो-  
रश्नन्तु युद्धाभिनिवेशात् पार्श्वतः पृष्ठतश्चापश्यन्तं तं यथान्या  
न विहन्यात्तथा कुर्वन्त्वित्यर्थः । सेनापती भीष्मे निर्वर्षाधे मद-  
विजयसिद्धिरिति भावः । अयमाशयः,—भीष्मोऽस्माकं पिता-  
महः, भवांसु गुरुः, तौ युवामस्मदेकान्तहितैषिणौ विदितौ ।  
यावत्समदसि मदन्यायं विदन्तावपि द्रोपया न्यायं पृष्ट्वा नाबो-  
चतां, मया तु पाण्डवेषु प्रतातं स्नेहाभासं त्याजयितुं तथा  
निवेदितामिति ॥११॥

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।

सिंहनादं विनद्योचैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणान्वाकगोमुखाः ।

सहस्रैवाभ्यहन्यन्त न शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

साराव० —

ततश्च स्वसन्मानशून्यं जनितहर्षस्तस्य दुर्योधनस्य भय-  
विध्वंसनेन हर्षं संजनयितुं कुरुवृद्धो भीष्मः, सिंहनादमिति  
उपमाने कर्माणं चाति गम्यन्—सिंह इव विनद्येत्यर्थः ॥१२॥

ततश्चाभयत्रैव युद्धोत्साहः प्रवृत्त इत्याह—तत इति । पणवा  
मार्दलाः, आनकाः पटहाः, गामुखा वाद्यविशेषाः ॥१३॥

गी०भू०—

एवं दुर्योधनकृतां सस्तुतिमवधार्य महर्षो भीष्मस्तदन्तर्जितां  
भीतिमुत्सादयितुं शङ्खं दध्मादित्याह,—तस्येति । सिंहनाद-

मित्युपमाने 'कर्मणि' च इति पाणिनिसूत्राणामुल्लेखान्, चान् कर्त्ता-  
ग्युपमाने इत्यर्थः, सिंह इव विनद्येत्यर्थः । मुखतः किञ्चिद्-  
नुक्त्वा शङ्खनादमात्रकरणेन जयपराजयो गन्धीश्वराधीनो,  
त्वदर्थं क्षत्रवर्मेण देहं त्यज्यामीति व्यज्यते ॥१२॥

तत इति — सेनापती भीष्मे प्रवृत्ता तत्सैन्ये सहसा तत्क्षण-  
मेव शङ्खनादोऽभ्यहन्यन्त वादिताः—कर्मकर्त्तरि प्रयोगः ।  
पणवाद्यस्त्रयो वादित्र-भेदाः । स शब्दस्तुमुल एकाकारतया  
महानामीत् ॥१३॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते मडति स्यन्दने स्थितौ ।

माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।

पाण्डू दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।

नकुलः सहदेवश्च सुवोपमणिपुष्पकौ ॥१६॥

काश्यश्च परमेष्वाणः शिखण्डी च महार्थः ।

धृष्टद्युम्नो विराटश्च मात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥

द्रुपदो द्रोपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।

सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥१८॥

साराव० —

पाञ्चजन्यादयः शङ्खादीनां नामानि । अपराजितः—केनापि  
पराजेतुमशक्यत्वात्; अथवा चापेन धनुषा राजितः प्रदीप्तः ॥१४-१८॥

गी०भू०—

अथ पाण्डवसैन्ये प्रवृत्तां युद्धोत्सवमाह—तत इति । अन्येषा-



मपि रथस्थितत्वे सत्यपि कृष्णाज्जुनयो रथस्थितत्वोक्तिस्तद्-  
रथस्याग्निदत्तत्वं त्रैलोक्यविजेतृत्वं महाप्रभत्वञ्च व्यज्यते ॥१४॥

पाञ्चजन्यमित्यादि - पाञ्चजन्यादयः कृष्णादिशङ्खानामा-  
ह्वयाः । अत्र 'हृषीकेश'शब्देन परमेश्वरसहायित्वम् । पाञ्चजन्या-  
दिशब्दैः प्रसिद्धाह्वयानेकदिन्यशङ्खवत्त्वम् । राजा भीमकर्मा  
धनञ्जय इत्येभिर्युधिष्ठिरादीनां राजसूययाजित्वहिडिम्बादिनि-  
हन्तृत्वादिग्विजयाहतानन्तधनत्वानि च व्यज्य पाण्डवसेनासूक्तर्पः  
सूच्यते । परसेनासु ददभावादपकर्षश्च । काश्य इति—काश्यः  
काशिराजः ; परमेष्वासः महाधनुर्द्धरः . चापराजितो धनुषा  
दीप्तः । द्रुपद इति—पृथिवीपते हं धृतराष्ट्रेति तव दुर्मन्त्रणो-  
दयः कुलक्षयलक्षणोऽनर्थः समागत इति सूच्यते ॥१५-१८॥

म घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।

नमश्च पृथिवीं चैव तुमुलोऽभ्यनुनादयन् ॥१९॥

अथ व्यवस्थितान्द्रष्टा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।

प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥२०॥

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

मेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥

यावदेतान्निगीत्सेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।

कैर्मया मह योद्धव्यमस्मिन्नरणसमुद्यमे ॥२२॥

योत्स्यमानानवेत्सेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।

धार्तराष्ट्रस्य दुर्वृद्धं युद्धं प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

गी.भू० —

स इति - पाण्डवैः कृतः शङ्खनादो धार्तराष्ट्राणां भीष्मा-

दीनां सर्वेषां हृदयानि व्यदारयत् तद्विदारणतुल्यां पीडाम-  
जनयदित्यर्थः । तुमुलोऽतितीव्रः, अभ्यनुनादयन् प्रतिध्वनिभिः पूर-  
यन्नित्यर्थः । धार्तराष्ट्रैः कृतस्तु शङ्खादिनादस्तुमुलोऽपि तेषां  
किञ्चिदपि क्षोभं नाजनयत् तथानुक्तेरिति बोध्यम् ॥१६॥

एवं धार्तराष्ट्राणां युद्धे भीतिं प्रदर्शय पाण्डवानां तु तत्रो-  
त्साहमाह—अर्थात् सार्द्धकेंन । अथ त्रिगुशङ्खनादकृतोत्साह-  
भङ्गानन्तरं व्यवस्थितान् तद्भङ्गविरोधयुयुःसथावस्थितान् धार्तरा-  
ष्ट्रान् भीष्मादीन् कपिध्वजोऽज्जुनो येन श्रीदाशरथेरपि महान्ति  
कार्य्यानि पुरा साधितानि तेन महावीरेण ध्वजमधिष्ठिता हनु-  
मतानुगृहीता भयगन्धशून्य इत्यर्थः । हे महीपते ! प्रवृत्ते प्रवर्त्ति-  
माने । हृषीकेशमिति—हृषीकेशं सर्वेन्द्रियप्रवर्त्तिकं कृष्णं तदिदं  
वाक्यमुवाचेति । सर्वेश्वरो हरियेषां नियोज्यस्तेषां तदेकान्त-  
भक्तानां पाण्डवानां विजये सन्देहगन्धोऽपि नास्ति भावः ॥२०॥

अज्जुनेवाक्यमाह—सेनयोरिति । हे अन्युतेति स्वभाव-  
सिद्धाद्वक्तृत्वात्सत्यात् पारमैश्वर्याच्च न च्यवसे स्मेति तेन तेन च  
निर्यान्त्रतो भक्तस्य मे वाक्यात्तत्र रथं स्थितं कुरु निर्भय तत्र  
रथस्थापने फलमाह—यावदिति । याद्धुकामान्न तु सहास्माभिः  
सन्धिं चिकीर्षन्, अवस्थितान् न तु भीत्या प्रचलितान् ।  
ननु त्वं योद्धा, न तु युद्धप्रेक्षकस्ततस्तद्दर्शनेन किमिति चेत्तत्राह—  
कैरिति । अस्मिन् बन्धूनामेव मिथो रणायोगे कैर्बन्धुभिः सह  
मम युद्धं भार्बीत्येतज्ज्ञानायैव मध्ये रथस्थापनमिति । ननु  
बन्धुत्वादेते सन्धिमेव विवाग्यन्तीति चेत्तत्राह— योत्स्यमाना-  
निति न तु सन्धिं विधास्यतः । अवेत्से प्रत्येयम् । दुर्वृद्धेः कुधियः  
स्वजीवनापायानभिज्ञस्य युद्धे, न तु दुर्वृद्धयपनयने । अतो  
मद्युद्धप्रतियोगिनिरीक्षणं युक्तमिति ॥२१-२३॥

सञ्जय उवाच—

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।  
 सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥  
 भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।  
 उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरुनिति ॥२५॥

सारा० व०—

हृषीकेशः सर्वेन्द्रिय-नियन्ताप्येवमुक्तोऽर्जुनेनादिष्टः अर्जुन-  
 वागिन्द्रियमात्रेणापि नियम्योऽभूदित्यहो प्रमवश्यत्वं भगवन्  
 इति भावः । गुडाकेशेन—गुडा यथा माधुर्यमात्रप्रकाशकास्तत्तथा  
 स्वायन्नेहरसास्वादप्रकाशका अकेशा विष्णुब्रह्माशवा यस्य तेन-  
 अकारो विष्णुः, को ब्रह्मा, ईशो महादेवः । यत्र सर्वावतारिचूडा-  
 मणीन्द्रः स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण एव प्रमाधीनः सन् आज्ञा-  
 नुवर्ती बभूव तत्र गुणावतारत्वात्तदंशा विष्णुब्रह्मरूपाः कथ-  
 मैश्वर्यं प्रकाशयन्तु ? किन्तु स्वकर्तृकं स्नेहरसं प्रकाशयैव स्वं  
 स्वं वृत्तार्थं मन्यन्त इत्यर्थः । यदुक्तं श्रीभगवता परमव्योम-  
 नाथेनापि,—“ऽहं नाम जा मे युवयोदितृक्षणा” इति; यद्वा,  
 गुडाका निद्राः तस्या ईशेन जितानिद्रं ऐत्यर्थः; अत्रापि व्या-  
 ख्यायाम्—साक्षान्मायाया अपि नियन्ता यः श्रीकृष्णः, स चापि  
 येन प्रेम्णा विजित्य वशीकृतस्तेनार्जुनेन मायावृत्ति—निद्रा  
 पराकी जितेति किं चित्रमिति भावः । भीष्मद्रोणयोः प्रमुखतः  
 प्रमुखं सम्मुखं सर्वेषां महीक्षिता राजां च । प्रमुखत इति—  
 समासप्रातिपदेषापि ‘प्रमुखतः’ शब्द आकृष्यते ॥ २४-२५ ॥

गी० भू०—

ततः किं वृत्तमित्यपेक्षायां सञ्जयः प्राह—एवमिति । गुडाका  
 निद्रा तस्या ईशः स्वसत्त्वश्रीभगवद्गुणलावण्यस्मृतिनिवेशेन

विजितनिद्रस्तत्परमभक्तस्तेनार्जुनेनैवमुक्तः प्रवर्तितो हृषीकेशस्त-  
 चित्तावृत्त्याभिज्ञो भगवान् सेनयोरुभयोर्मध्ये भीष्मद्रोणयोः सर्वेषाञ्च  
 महीक्षितां भूभुजाञ्च प्रमुखतः सम्मुखे रथोत्तमं अग्निदत्तं रथं  
 स्थापयित्वावाच—हे पार्थ ! सम्वेतानेतान् कुरुन् पश्येति । पार्थ-  
 हृषीकेश-शब्दाभ्यामिदं सूच्यते—मत्पितृष्वसृपुत्रत्वात् त्वत्सा-  
 रथ्यमहं करिष्याम्येव त्वं त्वधुनैव युयुत्सां त्यक्ष्यमीति किं शत्रु-  
 सैन्यबीक्षणेनेति सोपहामो भावः ॥२४-२५॥

तत्रापश्यन्स्थितान्पार्थः पितृन्तथ पितामहान् ।  
 आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान् सखीस्तथा  
 श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ॥२६॥  
 तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्वन्धून्वस्थितान् ।  
 कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ॥२७॥

सारा० व०—दुर्योधनादीनां ये पुत्राः पौत्राश्च तान् ॥ २६ ॥

गी० भू०—एवं भगवतोक्तोऽर्जुनः परमेनामपश्यदित्याह-तत्रेति  
 माद्धकेन । तत्र परसेनायां पितृन् पितृव्यान् भूरिश्रवाः प्रभृतीन्,  
 पितामहान् भीष्मसोमदत्तादीन्, आचार्यान् द्रोण-कृपादीन्,  
 मातुलान् शल्य-शकुन्यादीन्, भ्रातृन् दुर्योधनादीन्, पुत्रान्  
 लक्ष्मणादीन्, पौत्रान् नभृन् लक्ष्मणादि-पुत्रान्, सखीन् वय-  
 म्यान् द्रौणि-सैन्धवादीन्, सुहृदः कृतवर्म्म-भगदत्तादीन्, एवं  
 स्वसैन्येऽप्युपलक्षणीयम् । उभयोरपि सेनयोरवस्थितान् तान्  
 सर्वान् समीक्ष्येत्यन्वयात् ॥२६॥

अथ सर्वेश्वरो दयालुः कृष्णः सपरिकरात्मोपदेशेन विश्व-  
 मुद्दिधीर्पुरज्जितं शिष्यं कर्तुं तत्स्वधर्मंऽपि युद्धे “मा हिंस्यात्  
 सर्वा भूतानि” इति श्रुत्यर्थाभासेनाधर्मतामाभास्य तं समोहं



कृतवानित्याह—तान् समीक्ष्येति कौन्तेय इति स्वीयपितृष्वसृपुत्र-  
त्वोक्त्या तद्वस्मौ मोहशंकौ तदा तस्य व्यज्येते । कृपया कर्ष्या  
इत्युक्तेः, स्वभावसिद्धस्य कृपेति द्योत्यते । अतः पर्येति तद्विशे-  
षणम्, अपर्येति वा रक्षेदः—स्वमैत्र्ये पूर्वमाप कृपास्मि, पर-  
मैत्र्ये त्वपरापि साभूदित्यर्थः । विषीदन्ननुतापः विन्दन् । अत्रो-  
क्तविषादयोरैककाल्याद्युक्तिकाले विषादकार्याण्यश्रु कम्पसन्न-  
कण्ठतादीनि व्यज्यन्ते ॥२७॥

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वे मं स्वजनं कृष्ण युयुत्सून् समुपस्थितान् ।  
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ॥२८॥  
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ।  
गाण्डीवं स्रंसते हस्ताश्च वचैव परिदह्यते ॥२९॥  
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ॥३०॥

साराव्य०—दृष्ट्वेत्यत्र स्थितस्येत्यध्याहार्यम् ॥ २८ ॥

विपरीतानि निमित्तानि, धर्तानि निमित्ताकांऽयमत्र मे वाम  
इतिबन्निमित्तशब्दाऽयं प्रयोजनवाची । ततश्च युद्धे विजयिनो  
मम राज्यलाभात् सुखं न भाविष्यति, किन्तु तद्विपरीतमनु-  
तापदुःखमेव भावीत्यर्थः ॥ २८ ॥

गी० भू०—कौन्तेयः शोकव्याकुलं यदाह तदनुवदति—दृष्ट्वेममिति ।  
स्वजनं स्वबन्धुवर्गं जातावकवचनं—“मगात्रवान्यवज्ञातिबन्धु-  
स्य-स्वजना समाः” इत्यमरः । दृष्ट्वावस्थितस्य मम गात्राणि कम्प-  
चरण्णादीनि सीदन्ति क्षीयन्ते, परिशुष्यतीति श्रमादिहेतुका-  
न्धोपादतिशयित्वमस्य शोषस्य व्यज्यन्ते ॥२८॥

वेपथुः कम्पः, रोमहर्षः पुलकः, गाण्डीवभ्रंशेनावैर्यं त्वदा-

हेन दृष्टविदाहो दर्शितः ॥२९॥

न चेति—अवस्थातुं स्थितो भवितुम् । मनो भ्रमतीव चेति  
दीर्घवर्त्यमूर्च्छयोरुदयः । निमित्तानि फलान्यत्र युद्धे विपरीतानि  
पश्यामि । विजयिनो मे राज्यप्राप्तिरानन्दो न भाविष्यति, किन्तु  
तद्विपरीतोऽनुताप एव भावीति । निमित्ताशब्दः फलवाची, ‘कर्म  
निमित्तायात्र वसमि’ इत्यादी तथा प्रतीतिः ॥३०॥

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हवा स्वजनमाहवे ।

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ॥३१॥

साराव्य०—श्रेयो न पश्यामीति—“द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्य-  
मण्डलभेदिनौ । परित्राद्वययोगयुक्तश्च रणे चाभिमुखं हतः ॥”  
इत्यादिना हतस्यैव श्रेयोविधानात्, हतुस्तु न किमपि सुखं न ।  
ननु दृष्टं फलं यशोराज्यं वर्तते युद्धस्येत्यत आह—न काङ्क्षे  
इति ॥ ३१ ॥

गी० भू०—एवं तत्त्वज्ञानप्रतिकूलं शोकमुक्त्वा तत्प्रतिकूलां वि-  
परीतवृद्धिमाह—न चेति आहवे स्वजनं हवा श्रेयो नैव पश्यामीति,—  
“द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ । परित्राद्वययोगयुक्तश्च  
रणे चाभिमुखं हतः” इत्यादिना हतस्य श्रेयःस्मरणेन हन्तुर्मे न  
किञ्चिच्छ्रेयः, अस्वजनमिति वा रक्षेदः—अस्वजनबन्धेऽपि श्रेय-  
सोऽभावात् स्वजनबन्धे पुनः कुतस्तरां तदित्यर्थः । ननु यशोराज्य-  
लाभो दृष्टं फलमस्तीति चेत्तत्राह—न काङ्क्षे इति । राज्यादि-  
स्पृहाविरहादुपाये विजये मम प्रवृत्तिर्न युक्ता, रन्धने यथा भोज-  
नेन्द्याविराहणः, तस्मादरण्यनिबसनमेवागमकं श्वास्वजीव-  
नत्वं भावीति ॥३१॥

किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ।

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ॥३२॥



त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ।  
 आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ॥३३॥  
 मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ।  
 एतान्न हन्तुमिच्छामि धनतोऽपि मधुसूदन ॥३४॥  
 अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ।  
 निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ॥३५॥

गी०भू०—गोविन्देति । गाः सर्वेन्द्रियवृत्ताः बिन्दमीति त्वमे-  
 व मे मनोगतं प्रतीहीत्यर्थः । राज्याद्यनाकाङ्क्षायां हेतुमाह—येषा-  
 मिति । प्राणान् प्राणांशं धनानि धनार्थमिति लक्षणया बोध्यम्,  
 स्वप्राणव्ययेऽपि मय्यन्धुसुखार्था राज्यस्पृहा स्यात्तोषामप्यत्र  
 नाशप्राप्तेरपार्थैव युद्धे प्रवृत्तिरिति भावः । ननु त्वं चेत् कारु-  
 णिकस्तान्न हन्यास्तर्हि ते स्वराज्यं निष्पण्टकं कर्तुं त्वामेव हन्यु-  
 रिति चेत्तत्राह—एतान्नाति । मां धनतोऽपि हिंसतोऽप्येतान् हन्तुमहं  
 नैच्छामि । त्रैलोक्यराज्यस्य प्राप्तयेऽपि किं पुनर्भूमात्रस्य । नन्व-  
 न्यान् हित्वा धृतराष्ट्रपुत्रा एव हन्तव्या, बहुदुःखदातृणां तेषां घाते  
 सुखसम्भवादिति चेत्तत्राह—निहत्येति । धार्तराष्ट्रान् दुर्व्योधना-  
 दीन्निहत्य स्थितानां नः पाण्डवानां का प्रीतिः प्रसन्नता स्यान्न  
 कार्पाति—अचिरसुखाभासस्पृहया चिरतरनरकहेतुभ्रातृबधो न  
 योग्य इति भावः । हे जनार्दन इति—यद्येते हन्तव्यास्तर्हि भूभा-  
 रापहारी त्वमेव तान् जहि परेशस्य ते पापगन्धसम्बन्धो न भवे-  
 दिति व्यज्यते ॥३२-३५॥

पापमेवाश्रयेदस्मान् हन्वैतानाततायिनः ।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।

स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥३६॥

मारा०व०—ननु “अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः । क्षेत्र-  
 दारापहारी च पडेते आततायिनः ॥” इति, “आततायिनमायान्तं  
 हन्यादेवाविचारयन् । नाततायिबधे दोषो हन्तुर्भवति भारत ॥”  
 इत्यादि वचनादेषां बध उचित एवेति ? तत्राह,—पापमिति ।  
 एतान् हत्वा स्थितानस्मान् । ‘आततायिनमायान्तम्’ इत्यादिक-  
 मर्थशास्त्रं धर्मशास्त्राद्दुर्बलम्; यदुक्तं याज्ञवल्क्येन,—“अर्थ-  
 शास्त्रात्तु बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्मृतम्” इति तस्मादाचार्यादीनां  
 बधे पापं स्यादेव । न चैहिकं सुखमपि स्यादित्याह,—स्वजन-  
 मिति ॥ ३६ ॥

गी०भू०—ननु “अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः । क्षेत्र-  
 दारापहारी च पडेते आततायिनः ॥ आततायिनमायान्तं हन्या-  
 देवाविचारयन् । नाततायिबधे दोषो हन्तुर्भवति भारत ॥”—  
 इत्युक्तेरेषां पाङ्क्तिव्ययेनानाततायिनां युक्तो बध इति चेत्तत्राह—  
 पापमिति । एतान् हत्वा स्थितानस्मान् पापमेव बन्धुभ्यहेतुक-  
 माश्रयेत् । अयं भावः—आततायिनमायान्तमित्यादिकमर्थशास्त्रं  
 “मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि” इति धर्मशास्त्राद्दुर्बलम्—  
 “अर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्थितिः” इति स्मृतेः, तस्मा-  
 द्दुर्बलार्थशास्त्रबलेन पूज्यानां द्रोणभीष्मादीनां तथः पापहेतु-  
 रेवेति । न च श्रेयोऽनुपश्यामीत्यारभ्योक्तमुपसंहरति—तस्मा-  
 दिति । पापसम्भवात् । दैहिकसुखस्याप्यभावाच्चेत्यर्थः । न  
 हि गुरुभिर्वन्धुजनैश्च बिनास्माकं राज्यभोगः सुखायापि तु  
 अनुतापायैव सम्पत्स्यते । हे माधवेति—श्रीपतिस्त्वमश्रीके युद्धे  
 कथं प्रवर्त्तयसीति भावः ॥३६॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।

कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३७॥





अहो वत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।  
 यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥४४॥  
 यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।  
 धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४५॥  
 एवमुक्त्वाजुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।  
 विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्रमानसः ॥४६॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्म-  
 पर्वणि श्रीश्रीमद्भगवद्गीतासुपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे  
 श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सैन्यदर्शनं नाम प्रथमोऽध्यायः ।  
 साराव०—संख्ये संग्रामे; रथोपस्थे रथोपरि ॥ ४६ ॥  
 इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् ।  
 गीतासु प्रथमोऽध्यायः संगतः संगतः सताम् ॥ ३ ॥  
 गी०भू०—बन्धुवधव्यवसायेनापि पापं सम्भाव्यानुतपन्नाह-  
 अहो इति । वर्तते सन्देहे ॥४४॥

गी०भू०—ननु त्वयि बन्धुवधाद्विनवृत्तेऽपि भीष्मादिभि-  
 र्युद्धोत्सुकैस्त्वद्वधः स्यादेव ततः किंविधेयमिति चेत्तत्राह—यदि  
 मामिति । अप्रतीकारमकृतमद्वधाध्यवसायपापप्रार्थनाश्चत्ताम् । क्षे-  
 मतरमितिहितं—प्राणान्प्रार्थयन्नेवैतत् पापावमार्जनम्, भीष्मा-  
 द्यस्तु न तत्पापफलं प्राप्स्यन्त्येवेति भावः ॥४५॥

गी०भू०—ततः किमभूदित्यपेक्षायां सञ्जय उवाच—एवमु-  
 क्त्वेति । संख्ये युद्धे रथोपस्थे रथोपरि उपाविशत् उपविवेश ।  
 पूर्वं युद्धाय प्रतियोद्धुं विलोकनाय चोत्थितः सन् ॥४६॥

अहिंसयात्मजिज्ञासा दयाद्रभ्योपजायते ।

तद्विरुद्धस्य नैवेति प्रथमादुपधारितम् ॥

इति श्रीभगवद्गीतापनिषद्भाष्ये प्रथमोऽध्यायः ।

## द्वितीयोऽध्यायः



संजय उवाच—

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णकुलेक्षणम् ।  
 विषादन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥१॥

श्रीभगवानुवाच—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।  
 अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥२॥

साराव०—आत्मानात्म-विवेकेन शोकमोहतमो नुदन् ।

द्वितीये कृष्णचन्द्रोऽत्र प्राचे मुक्तस्य लक्षणम् ॥ १ ॥

कश्मलं मोहः, विषमेऽत्र संग्रामगण्डे; कुतो हेतोः, उपस्थितं  
 त्वां प्राप्तमभूत्? अनार्यजुष्टम्—सुप्रतिष्ठितलोकैरसेवितम्,  
 अस्वर्ग्यमकीर्तिकरमिति—पारत्रिकौहिकसुखप्रतिकूलमित्यर्थः ॥२॥

गी०भू०—द्वितीये जीवयाथात्म्यज्ञानं तत्माधनं हरिः ।

निष्कामकर्म च प्राचे स्थितप्रज्ञस्य लक्षणम् ॥

गी०भू०— एवमर्जुनवैराग्यमुपश्रुत्य स्वपुत्रराज्याभ्रंशाशया  
 हृष्यन्तं धृतराष्ट्रमालक्ष्य सञ्जय उवाच—तं तथेति । मधुसूदन  
 इति तस्य शोकमपि मधुवन्निर्हानयतीति भावः ॥१॥

गी०भू०— तद्वाक्यमनुवदति—श्रीभगवानिति । “ऐश्वर्यस्य समप्र-  
 स्य वीर्यस्य यशस्यः त्रिशः । ज्ञानवैराग्ययोश्चापि पराणां भग इती-  
 क्तना ॥” इति पराशरोक्तं ऐश्वर्यादिभिः षड्भिर्नित्यं विशिष्टः, समप्र-  
 स्येत्येतत् पदसु योज्यम् । हे अर्जुन, इदं स्वधर्मवैमुख्यं कश्मलं  
 शिष्टान्धत्वात्मलिनं कुतो हेतोस्त्वां क्षत्रियचूडामणिं समुपस्थि-  
 तमभूत्? विषमे युद्धममये । न च मोक्षाय स्वर्गाय कीर्त्तये वैत-  
 द्युद्धवैराग्यमित्याह—अनार्येति, आर्यैर्मुमुक्षुभिर्न जुष्टं

सेवितं--आर्याः खलु हृदिशुद्धये स्वधर्मानाचरन्ति । अस्वर्ग्यं स्वर्गोपलम्भकधर्मविरुद्धम्, अकीर्तिकरं कीर्तिविस्मावकम् ॥२॥

क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।

क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्योत्तिष्ठ परंतप ॥३॥

सारा०व०-क्लैव्यं क्लीबधर्मं कातर्यम्, हे पार्थेति त्वं पृथापुत्रः सन्नपि गच्छसि, तस्मान्मास्म गमः, मा प्राप्नुहि, अन्यस्मिन् क्षत्र-बन्धौ वरमिदमुपपद्यताम्, त्वयि मत्सखौ तु नोपयुज्यते । नन्विदं शौर्याभावलक्षणं क्लैव्यं मा शङ्किष्यः, किन्तु भीष्मदोषादि-गुरुषु धर्मदृष्ट्या विवेकोऽयं धार्तराष्ट्रेषु तु दुर्बलेषु मदस्त्रा-घातमासाद्य मर्तुमुद्यतेषु दयैवेयमिति तत्राह-क्षुद्रमिति । नैते तव विवेकदये, किन्तु शोकमोहावेव, तौ च मनसो दौर्बल्य-व्यञ्जकौ । तस्मात् हृदयदौर्बल्यमिदं त्यक्त्वा उत्तिष्ठ हे परन्तप ? परान् शत्रून् तापयन् युध्यस्व ॥ ३ ॥

गी०भू०--ननु बन्धुक्षयाध्यवसायदोषात् प्रकम्पितेन मया किं भाव्यमिति चेत्तत्राह--क्लैव्यमिति । हे पार्थः ! देवराजप्रसा-दात् पृथायामुत्पन्न ! क्लैव्यं कातर्यं मास्म गमः प्राप्नुहि । त्वयि विश्वविजेतारि मत्सखेऽज्ञाने क्षत्रबन्धाविवैतदीदृशं क्लैव्यं नाप-युज्यते । ननु न मे शौर्याभावरूपं क्लैव्यं किन्तु भीष्मादिषु पूज्येषु धर्मबुद्ध्या विवेकोऽयं दुर्योधनादिषु भ्रातृषु मच्छस्त्रप्रहा-रेण मरिष्यत्सु कृपेयमिति चेत्तत्राह-क्षुद्रमिति । नैते तव विवेक-कृपे, किन्तु क्षुद्रं लघिष्ठं हृदयदौर्बल्यमेव ; तस्मात्तत्त्यक्त्वा युद्धायोत्तिष्ठ सर्जीभव । हे परन्तप शत्रुनापनेति--शत्रुहास-पात्रतां मा गाः ॥३॥

अर्जुन उवाच--

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।

इषुभिः प्रति यात्रयामि पूजार्हावरिसूदन ॥४॥

सारा०व०--ननु "प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः" इति धर्मशास्त्रम्, अतोऽहं युद्धान्निवर्त इत्याह,--कथमिति । प्रति-योत्स्यामि प्रतियोत्स्ये । नन्वेतौ युध्येते, तर्ह्यनयोः प्रतियोद्धा भवितुं त्वं किं न शक्नोषि ? सत्यं न शक्नोम्येवेत्याह--पूजार्हा-विति । अनयोश्चरणेषु भक्त्या कुसुमान्येव दातुमर्हामि न तु क्रोधेन तीक्ष्णशरानितिभावः । भो बयंभ्य कृष्ण ! त्वमपि शत्रून्व युद्धे हंसि, न तु सान्दीपनि स्वगुरुम्, नापि बन्धून् यदूनित्याह,--हे मधुसूदनेति । ननु मधवो यदव एव ! तत्राह,--हे अरिसूदन ? मधुर्नाम दैत्यो यस्तवारिरिति ब्रवीमीति ॥४॥

गी०भू०--ननु भीष्मादिषु प्रतियोद्धृषु सत्सु त्वया कथं न योद्धव्यम्,--"आहूतो न निवर्त्तेत" इति युद्धविधानाच्च क्षत्रिय-स्येति चेत्तत्राह,--कथमिति । भीष्मं पितामहं, द्रोणञ्च विद्या-गुरुं, इषुभिः कथं योत्स्ये ? यदिमौ पूजार्हा पुष्पादिभिरभ्यर्चय्यां, परिहासवाग्भिरपि याभ्यां युद्धं न युक्तं, ताभ्यां सहैषुभिस्त-त्कथं युज्येत ?--"प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः" इति स्मृतेश्च । मधुसूदनारसिदनेति सम्बोधनपुनरुक्तिः--शोका-कुलस्य पूर्वोत्तरानुसन्धिविरहात् ; तद्भावश्च,--त्वमपि शत्रून्व युद्धे निहंसि न तूग्रसेनसान्दीपन्यादीन् पूज्यामिति ॥४॥

गुरुनहत्वा हि महानुभावान्

श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।

हत्वार्थकामास्तु गुरुनिहैव

भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥

सारा०व०--नन्वेवं ते यदि स्वराज्येऽस्मिन् नास्ति जिघृक्षा, तर्हि कया वृत्त्या जीविष्यसीत्यत्राह,--गुरुन् अहत्वा गुरुवधमकृत्वा भैक्ष्यं क्षत्रियैर्विगीतमपि भिक्षया प्राप्तमन्नमपि भोक्तुं श्रेयः,



ऐहिक-दुर्यशोलाभेऽपि पारत्रिकममङ्गलं तु नैव स्यादिति भावः । न चैते गुरवोऽर्वाङ्मात्राः कार्याकार्यमजानन्तश्चाधार्मिकदुर्योध-  
नाद्यनुगतास्त्यज्या एव,—यदुक्तं “गुरोरप्यबलिप्रस्य कार्याकार्य-  
मजानतः । उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते ॥” इति  
वाच्यमित्याह,—महानुभावानिति । कालकामादयोऽपि यैर्वशी-  
कृतास्तेषां भीष्मादीनां कुतस्तद्दोषसम्भव इति भावः । ननु  
“अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित् । इति सत्यं  
महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥” इति युधिष्ठिरं प्रति भीष्मे-  
णैवोक्तमतः साम्प्रतमर्थकामत्वादेतेषां महानुभावत्वं प्राक्तनं  
विगलितम् ? सत्यम्, तदप्येतान् हतवतो मम दुःखमेव स्या-  
दित्याह,—अर्थकामानर्थलुब्धानप्येतान् कुरुन् हत्वाऽहं भोगान्  
भुञ्जीय किन्वेतेषां रुधिरं प्रदिग्धान् प्रलिप्तानेव । अयमर्थः—  
एतेषामर्थलुब्धत्वेऽपि मद्गुरुत्वमस्त्येव, अत एवैतद्वधे सति  
गुरुद्रोहिणो मम खलु भागो दुष्कृतिमश्रुः स्यादिति ॥ ५ ॥

गी०भू०—ननु स्वराज्यं स्पृहा चेत्ताव नास्ति तर्हि देहयात्रा वा  
कथं मेत्स्यतीति चेत् तत्राह—गुरुनिति । गुरुनहत्वा गुरुवधमकृत्वा  
स्थितस्य मे भैक्षान्नं क्षत्रियाणां निन्द्यमपि भोक्तुं श्रेयः प्रशस्ततरम्,  
ऐहिकदुर्यशोहेतुत्वेऽपि परलोकाविधातित्वात् । नन्वेते भीष्मादयो  
गुरवोऽपि युद्धगर्वावलेपात् छद्मना युष्मद्राज्यापहारं युष्मद्-  
द्रोहश्च कुर्वतां दुर्योधनादीनां ससर्गेण कार्याकार्यविवेकविर-  
हाच्च संप्रति त्याज्या एव—“गुरोरप्यबलिप्रस्य कार्याकार्यम-  
जानतः । उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते ॥” इति स्मृते-  
रिति चेत्तत्राह—महानुभावानिति । महान् सर्वोत्कृष्टोऽनुभावो  
वेदाध्ययनब्रह्मचर्यादिहेतुकः प्रभावो येषां तान् । कालकामाद-  
योऽपि यद्वश्यास्तेषां तद्दोषसंबन्धो निति भावः । ननु “अर्थस्य  
पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित् । इति सत्यं महाराज

बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥” इति भीष्मोक्तेरर्थलोभेन विक्रोतात्मनां  
तेषां कुतो महानुभावता ? ततो युद्धे हन्तव्यास्ते इति चेत्त-  
त्राह—हत्वार्थकामानिति । अर्थकामानपि गुरुन् हत्वाहमिहैव  
लोके भोगान् भुञ्जीय, न तु परलोके । तांश्च रुधिरप्रदिग्धान्  
तद्गुधिरमिश्रानेव, न तु शुद्धान् भुञ्जीय तद्विसया तल्लाभात् ।  
तथा च युद्धगर्वावलेपादिमत्त्वेऽपि तेषां मद्गुरुत्वमस्त्येवेति  
पुनर्गुरुग्रहणेन सूच्यते ॥ ५ ॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो

यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।

यानेव हत्वा न जिजीविषाम-

स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

सारा०व०—किञ्च गुरुद्रोहे प्रवृत्तस्यापि मम जयः पराजयो वा भ-  
वेदित्यपि न ज्ञायत इत्याह—न चैतदिति । तथापि नोऽस्माकं कतरन्  
जयपराजयोर्मध्ये किं खलु गरीयोऽधिकतरं भविष्यति, एतन्न विद्मः  
तदेव पक्षद्वयं दर्शयति—एतान् वयं जयेम, नोऽस्मान् वा एते जयेयुः  
इति । किञ्च जयोऽप्यस्माकं फलतः पराजय एवेत्याह—यानेवेति ॥ ६ ॥

गी०भू०—ननु भैक्षगोजनं क्षत्रियस्य विगर्हितं, युद्धञ्च स्व-  
धर्मं विजानन्नपि किमिदं विभाषसे इति चेत्तत्राह—न चैत-  
दिति । एतद्वयं न विद्मः—भैक्षयुद्धयोर्मध्ये नोऽस्माकं कतरद्वरीयः  
प्रशस्ततरम्—हिंसा-विरहाद्वैत्तं गरीयः स्वधर्मत्वाद्युद्धं वेति,  
एतच्च न विद्मः । समारब्धे युद्धे वयं धार्तराष्ट्रान् जयेम ते वा  
नोऽस्मान् जयेयुरिति । ननु महाविक्रमिणां धर्मिष्ठानाञ्च भवता-  
मेव विजयो भावीति चेत्तत्राह—यानेवेति । यान् धार्तराष्ट्रान्  
भीष्मीदीन् सर्वान् । न जिजीविषामो जीवितुमपि नेच्छामः किं  
पुनर्भोगान् भोक्तुमित्यर्थः । तथा च विजयोऽप्यस्माकं फलतः परा-

जय एवेति ; तस्माद्युद्धस्य भैक्षाद्गरीयस्त्वमप्रसिद्धमिति । एवमे-  
तावता ग्रन्थेन “तस्मादेवंविच्छान्तदान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धा-  
न्वितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्” इति श्रुतिप्रसिद्धमज्जुनस्य  
ज्ञानाधिकारित्वं दर्शितम् । तत्र किन्नो राज्येनेति “शमदमौ” ;  
अपि त्रैलोक्यराज्यस्यैहिकपारत्रिकभोगोपेक्षालक्षणा ‘उपरतिः’ ;  
भैक्षं भोक्तुं श्रेय इति द्वन्द्वसहिष्णुत्वलक्षणा ‘तितिक्षा’, गुरु-  
वाक्यदृढविश्वासलक्षणा ‘श्रद्धा’ तूत्तरवाक्ये व्यक्तीभविष्यति,  
न खलु शमादिशून्यस्य ज्ञानेऽस्त्यधिकारः पङ्गादेरिव कर्म-  
णीति ॥६॥

कार्यण्यदोषोपहतस्वभावः

पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥

सारा०व०—ननु तर्हि सोपपत्तिकं शास्त्रार्थं त्वमेव ब्रूवाणः क्षत्रियो  
भूत्वा भिक्षाटनं निश्चिनोपि तर्ह्यलं मदुक्त्येति तत्राह—कार्पण्येति ।  
स्वाभाविकस्य शौर्यस्य त्याग एव मे कार्पण्यम् । “धर्मस्य सूक्ष्मा  
गति” रित्यतो धर्मव्यवस्थायामप्यहं मूढबुद्धिरेवासिम, अतस्त्वमेव  
निश्चित्य श्रेयो ब्रूहि । ननु मद्वाचकत्वं पण्डितमानित्वेन खण्ड-  
यसि चेत्, कथं ब्रूयाम् ? तत्राह शिष्यस्तेऽहमस्मि, नातः  
परं वृथा खण्डयामिति भावः ॥ ७ ॥

गी०भू०—अथ “तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्-  
पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्”, “आचार्य्यवान् पुरुषो वेद” इत्यादि-  
श्रुतिसिद्धां गुरुरूपसत्तिं दर्शयति—कार्पण्येति । “यो वा एतदक्षरं  
गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात् प्रेति स कृपणः” इति श्रवणादब्रह्म-  
वित्त्यं कार्पण्यम् । तेन हेतुना यो दोषो यानेव हृत्वेति बन्धु-

वर्गममतालक्षणस्तेनोपहतस्वभावो युद्धस्पृहालक्षणः स्वधर्मो  
यस्य सः । धर्मो संमूढं क्षात्रियस्य मे युद्धं स्वधर्मस्तद्विहाय भिक्षा-  
टनं वेत्येवं सन्दिहानं चेतो यस्य सः । ईदृशः सन्नहं त्वामिदानीं  
पृच्छामि—तस्मान्निश्चितं ‘ऐकान्तिकं’ ‘आत्यन्तिकं’ यन्मे श्रेयः  
स्यात्तत् त्वं ब्रूहि ; साधनात्तारमवश्यंभावितात्वं ‘ऐकान्तिकत्वं’,  
भूतस्याविनाशित्वं ‘आत्यन्तिकत्वम्’ । ननु शरणागतस्योपदेशः  
“तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्” इत्यादि—श्रुतेः, सखायं  
त्वां कथमुपदिशामि इति चेत्तत्राह—शिष्यस्तेऽहमिति । शाधि  
शिष्य ॥७॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्

यच्छोकमुच्छ्रोपणमिन्द्रियाणाम् ।

अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं

राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥८॥

सारा०व०—ननु मयि तत्र सख्यभाव एव, ननु गौरवम्, अतस्त्वां  
कथमहं शिष्यं करोमि, तस्माद् यत्र तत्र गौरवं तं कमपि द्वैपाय-  
नादिकं प्रपद्यस्वेत्यत आह—न हीत । मम शोकमपनुदयात्  
दूरीकुर्यादेवं जनं न प्रकर्षेण पश्यामि त्रिजगत्त्येकं त्वां विना ।  
स्वस्मादधिकबुद्धिमन्तं वृद्धस्पतिमपि न जानामीत्यतः शोकार्त्ता  
एव खलु कं प्रपद्येय इति भावः । यद् यतः शोकादीन्द्रियाणामु-  
च्छ्रोपणं महानिदाघात् क्षुद्रसरसामिव उत्कर्षेण शोषो भवति ।  
ननु तर्हि साम्प्रतं त्वं शोकार्त्ता एव खलु युध्यस्व, ततश्चैतान्  
जित्वा राज्यं प्राप्तवतस्तत्र राज्यभोगाभिनिवेशेनैव शोकोऽपया-  
स्यतीत्यत आह—अवाप्येति भूमौ निष्कण्टकं राज्यं स्वर्गं  
सुराणामाधिपत्यं वा प्राप्यापि स्थितस्य ममेन्द्रियाणामेतदुच्छ्रो-  
पणमेवेत्यर्थः ॥ ८ ॥



गी०भू०—ननु त्वं शास्त्रज्ञोऽसि स्वाहितं विचार्यानुतिष्ठ, सख्युर्मै शिष्यः कथं भवेरिति चेत्तत्राह—न हीति । यत् कर्म मम शोकमपनुद्याद्दूरीकुर्यात्तादृहं न प्रपश्यामि । शोकं बिशिनष्टि—इन्द्रियाणामुच्छोषणमिति । तस्माच्छोकविनाशाय त्वां प्रपन्नोऽस्मीति । इत्थञ्च “मोऽहं भगवः शोचामि तं मां भवान् शोकस्य पारं तारयतु” इति श्रुत्यर्थो दर्शितः । ननु त्वमधुना शोकाकुलः प्रपद्यसे युद्धात् सुखसमृद्धिलाभे विशोको भविष्यसीति चेत्तत्राह—अवाप्यति । यदि युद्धे विजयी स्यां तदा भूमावसपत्नं निष्कण्टकं राज्यं प्राप्य यदि च तत्र हतः स्यां तदा स्वर्गे सुराणामप्याधिपत्यं प्राप्य स्थितस्य मे विशोकत्वं न भवेदित्यर्थः । “तद्यथेह कर्मजतो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यजतो लोकः क्षीयते” इति श्रुतेर्नैहिकं पारत्रिकं वा युद्धलब्धं सुखं शोकापहं तस्मात्तादृशमेव श्रेयस्त्वं ब्रूहीति न युद्धं शोकहरम् । ॥८॥

संजय उवाच—

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ।

न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥९॥

गी०भू०—ततोऽर्जुनः किमकरोदित्यपेक्षायां सञ्जय उवाच—एवमुक्त्वाति । गुडाकेशो हृषीकेशं प्रति एवं न हि प्रपश्यामीत्यादिना युद्धस्य शोकानिवर्त्तयत्वमुक्त्वा परन्तपोऽपि गोविन्दं सर्ववेदज्ञं प्रति ‘न योत्स्ये’ इति चोक्त्वाति योज्यम् । तत्र हृषीकेशत्वाद्बुद्धिं युद्धे प्रवर्त्तयिष्यति, सर्ववेदाविच्छेदाद्युद्धे स्वधर्मत्वं प्राहयिष्यतीति व्यज्य धृतराष्ट्रहृद् संजाता स्वपुत्र-राज्याशा निरस्यते ॥९॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।

सेनयोरुभयोर्मध्ये विपीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

सारा०व०—अहो तवाप्येतानान् स्वत्वविवेक इति सख्य-भावेन तं प्रहसन अनौचित्यप्रकाशेन लज्जाम्बुधौ निमज्जयन् इवेति तदानीं शिष्यभावं प्राप्ते तस्मिन् हास्यमनुचितमित्यधरोष्ठनिकुञ्चनेन हास्यमावृण्वंश्चेत्यर्थः । हृषीकेश इति पूर्व प्रेम्णैर्वाजुन-बाङ्-नियऽभ्योपि साम्प्रतमर्जुन-हितकारित्वात् प्रेम्णैर्वाजुनमनोनि-यन्तापि भवतीति भावः । सेनयोरुभयोर्मध्ये इत्यर्जुनस्य विपादो भगवता प्रबोधश्च, उभाभ्यां सेनाभ्यां सामान्यतो दृष्ट एवेति भावः ॥ १० ॥

गी०भू०—व्यङ्गमर्थं प्रकाशयन्नाह—तमुवाचेति-तं विपी-दन्तमर्जुनं प्रति हृषीकेशो भगवान् “अशोच्यान्” इत्यादिक-मितिगम्भीरार्थं वचनमुवाच—“अहो तवापीदृग् विवेकः” इति सख्यभावेन प्रहसन् । अनौचित्यभाषित्वेन त्रपासिन्धौ निमज्ज-यन्नित्यर्थः । इवेति तदैव शिष्यतां प्राप्ते तस्मिन् हासानौचि-त्यादीपदधरोष्ठामं कुर्वन्नित्यर्थः । अर्जुनस्य विपादो भगवता तस्योपदेशश्च सर्वसार्थक इति बोधयितुं सेनयोरुभयो-रित्येतत् ॥१०॥

श्रीभगवानुवाच—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।

गतासूनगतास्तुंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥

सारा०व०—भो अर्जुन ! तवायं बन्धुवधहेतुकः शोको भ्रममूलक एव, तथा कथं भीष्ममहं संख्ये इत्यादिको विवेकश्चाप्रज्ञा-मूलक एवेत्याह—अशोच्यान् शोकानर्हानिव त्वमन्वशोचां ऽनुशोचि-तवानसि । तथा त्वां प्रबोधयन्तं मां प्रति प्रज्ञावादान् प्रज्ञायां सत्यामेव ये वादाः “कथं भीष्ममहं संख्ये” इत्यादीनि वाक्यानि तानभाषसे, नतु तत्र कापि प्रज्ञा वर्त्तते इति भावः । यतः पण्डिताः प्रज्ञाबन्ता गतासून गता निःसृता भवन्त्यसौ

येभ्यः तान् स्थूलदेहान् न शोचन्ति, तेषां नश्वरभावत्वा-  
दिति भावः । अगतासून् अनिःसृतप्राणान् सूक्ष्मदेहानपि न  
शोचन्ति, ते हि मुक्तेः पूर्वं नश्वरा एव, उभयेषामपि तथा  
तथा स्वभावस्य दुष्पारदरत्वात् । मूर्खास्तु पित्रादिदेहेभ्यः प्राणेषु  
निःसृतेष्वेव शोचन्ति, सूक्ष्मदेहांस्तु न, ते प्रायः पारिचिन्वन्त्य-  
तस्तेरुलम् । एते हि सर्वे भोक्तादयः स्थूल - सूक्ष्म-देह-सहिता  
आत्मान एव; आत्मनान्तु नित्यत्वात्तेषु शोकप्रवृत्तिरेव नास्ती-  
त्यतस्त्वया यत्पूर्वमर्थ-शास्त्रात् धर्मशास्त्रं बलवदित्युच्यते इति भावः ॥१॥

मया तु धर्मशास्त्रादापि ज्ञानशास्त्रं बलवदित्युच्यते इति भावः ॥१॥  
गी०भू०—एवं अर्जुने तूष्णींस्थिते तद्वर्तुद्धमाक्षपन् भग-  
वानाह—अशोच्यानिति । हे अर्जुन ! अशोच्यान् शोचितु-  
मयोग्यानेव धार्तराष्ट्रांस्त्वं अन्वशोचः शोचितवानसि । तथा  
मां प्रति प्रज्ञावादान् प्रज्ञावतामिव बचनानि “दृष्ट्वेमं स्वजनम्”  
इत्यादीनि, “कथं भोक्तामस्मि” इत्यादीनि च भाषस, न च ते  
प्रज्ञालेशोऽप्यस्तांति भावः । ये तु प्रज्ञावन्तस्तं गतासून् निर्गत-  
प्राणान् स्थूलदेहान्, अगतासून्श्चानिर्गतप्राणान् सूक्ष्मदेहान्,  
च-शब्दादात्मनश्च न शोचन्ति । अयमर्थः—शोकः स्थूलदेहावना-  
शानामक्तः सूक्ष्मदेहावनाशानामिहो वा ? नायः—स्थूलदेहानां  
विनाशत्वात्, नान्त्यः—सूक्ष्मदेहानां मुक्तेः प्रागविनाशत्वात् ।  
तद्वतां आत्मनां तु पद्विभावविकारवजितानां नित्यत्वाच्च शोच्य-  
तानि ; देहात्मस्यभावावदां न कोऽपि शोकहेतुः । यदर्थशास्त्र-  
धर्मशास्त्रस्य बलवत्त्वमुच्यते, तत् किल ततोऽपि बलवता ज्ञान-  
शास्त्रेण प्रत्युच्यते । तस्मादशोच्यं शोच्यभ्रमः पामरसाधारण-  
पाण्डित्यं त न योग्य इति भावः ॥१॥

न त्वेताहं जातु नायं न त्वं न मे जनाधिपाः

न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥२॥

माराव्य-अथवा मये? त्वामहमेवं पृच्छामि; किञ्च प्रीत्याम्प-  
दस्य मरणे दृष्टे सति शोको जायते, तत्रेह प्रीत्याम्पदमात्मा देहो  
वा ? “सर्वेषामेवभूतानां नृप स्यात्समैव बल्लभः” इति शुक्रो-  
क्तेरात्मैव प्रीत्याम्पदमिति चेत्तर्हि जीवेश्वरभेदेन द्विविधभ्यै-  
वात्मनो नित्यत्वादेव मरणाभावादात्मा शोकस्य विषयो नेत्याह-  
नत्वेवाहमिति । अहं परमात्मा जातु कदाचिदपि पूर्वं नाममिति  
न, अपि त्वाममेव । तथा त्वमपि जीवात्मा आर्मारैव ।  
तथेमे जनाधिपा राजानश्च जीवात्मान आसन्नेव इति प्रागभा-  
वाभावां दर्शितः । तथा सर्वे वयमतः त्वमिमे जनाधिपाश्च  
अतः परं न भविष्यामो न भविष्याम इति न, अपि तु स्थास्याम  
एवेति ध्वंसाभावश्च दर्शितः इति परात्मनो जीवात्मनाश्च  
नित्यत्वादात्मा न शोकविषय इति साधितम् । अत्र श्रुतयः  
“नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विद्वानिति  
कामान्” इत्यादयः ॥ १२ ॥

गी०भू०—एवमस्थानशोचित्वादिपाण्डित्यमर्जुनम्यापाद्य  
तत्त्वजिज्ञासुं नियोजिताद्धलिं तं प्रति सर्वेश्वरो भगवान् “नित्यो  
नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विद्वानिति कामान्”  
इति श्रुतिमिद्धं स्वगमाज्जाबानाश्च पारमार्थिकं भेदमाह—न  
त्वेवाहमिति । हे अर्जुन ! अहं सर्वेश्वरो भगवान् इतः पूर्व-  
मिमन्नादौ काले जातु कदाचिन्नाममिति न, अपित्वाममेव । तथा  
त्वमर्जुनो नामीरिति न, किन्त्वामारेव । इमे जनाधिपा राजानो  
नामन्निति न, किन्त्वामन्नेव । तथेतः परमिमन्नने काले सर्वे  
वयं अहञ्च त्वञ्च इमे च न भविष्याम इति न, किन्तु भविष्याम  
एवेति । सर्वे वयमज्जाबानाश्च त्रैकानिकमत्तायोगित्वात्तद्विषयो  
न शोको युक्त इत्यर्थः । न चाधियाकृतत्वाद्वयवहारिकोऽयं भेदः,  
सर्वज्ञो भगवत्यविद्यायोगान्, “इदं ज्ञानमुवाचिव” इत्यादिना



मोक्षेऽपि तस्याभिधास्यमानत्वाच्च । न चाभेदज्ञस्यापि हरेर्वाधि-  
तानुवृत्तिन्यायेनेयमज्ज्ञानादिभेददृष्टिरिति बाच्यं--तथा मत्पु-  
देशासिद्धेः । मरुमरीचिकादाबुदकबुद्धिर्बाधिताप्यनुवर्त्तमाना  
मिथ्यार्थविषयत्वनिश्चयान्नोदकाहरणादौ प्रवर्त्तीयदेवमभेदबोधवा-  
धिताप्यनुवर्त्तमानाज्ज्ञानादिभेददृष्टिस्तत्त्वनिश्चयान्नोपदेशादौ प्रव-  
र्त्तीयप्यतीति यात्किञ्चिदेतत् । ननु फलवत्यज्ञातेऽर्थे शास्त्र-  
तात्पर्यबीक्षणात् तादृशोऽभेदस्तात्पर्यविषयो वैफल्यज्ज्ञात-  
त्वाच्च, भेदस्तद्विषयो न स्यात्, किन्तु "अद्भ्यो वा एष प्रातर्दे-  
त्यपः सायं प्रविशति" इत्यादि श्रुत्यर्थबदनुवाच एव स इति  
चेन्मन्दमेतत्—"पृथगात्मानं प्रेरितारञ्च मत्वा" "जुष्टंस्ततस्तेना-  
मृतत्वमेति" इत्यादिना भेद एवामृतत्वफलश्रवणात्, विरुद्ध-  
धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिकतया लोके तस्याज्ञातत्वाच्च । ते च धर्मा  
विभुत्वाणुत्व-स्वामित्व-भृत्यत्वादयः शास्त्रैकगम्या मिथो विरुद्धा  
बोध्याः । अभेदमत्वफलस्तत्र फलानङ्गीकारात्, अज्ञातश्च शश-  
शृङ्गवदसत्त्वात् । तस्मात् पारमार्थिकस्तद्धेदः सिद्धः ॥१२॥

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।

तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

माराव-ननु चात्मसम्बन्धेन देहोऽपि प्रीत्यास्पदं स्यात्, देहस-  
म्बन्धेन पुत्रभ्रात्रादयोऽपि, तत्सम्बन्धेन न पुत्रादयोऽपि, अतस्तेषां  
नाशे शोकः स्यादेवेति चेदत आह,—देहिन इति । देहिनो जाव-  
स्यास्मिन् देहे कौमारं कौमारप्राप्तिर्मेवेति, ततः कौमारनाशा-  
नन्तरं यौवनप्राप्तिर्यौवननाशानन्तरं जराप्राप्तिर्यथा, तथा एव  
देहान्तरप्राप्तिरिति । ततश्चात्मसम्बन्धनां कौमारादीनां प्रीत्या-  
स्पदानां नाशे यथा शोको न क्रियते तथा देहस्याप्यात्म-  
सम्बन्धिनः प्रीत्यास्पदस्य नाशे शोको न कर्त्तव्यः । यौवन

नाशे जराप्राप्तौ शोको जायत इति चेत् कौमारस्य नाशे  
यौवनप्राप्तौ हर्षोऽपि जायत इति । अतो भीष्मद्रोणादीनां  
जीर्ण-देह-नाशे खलु नव्यदेहान्तरप्राप्तौ तर्हि हर्षः क्रियता-  
मिति भावः । यद्वा एकस्मिन्नपि देहे कौमारादीनां यथा  
प्राप्तिस्तथैवैकस्यापि देहिनो जीवस्य नानादेहानां प्राप्तिरिति ॥१३॥

गी०भू०—ननु भीष्मादिदेहावच्छिन्नानामात्मनां नित्यत्वेऽपि  
तद्देहानां तद्देहायतनानां नाशे युक्तः शोक इति चेत्तत्राह—देहि-  
नोऽस्मिन्निति । त्रैकालिका बहवो देहा यस्य सन्ति, तस्य देहिनो  
जीवस्यास्मिन् वर्त्तमाने देहे क्रमान् कौमारयौवनजरास्तिस्रो-  
ऽवस्था भवन्ति । तामामात्मसम्बन्धिनां तद्देहाणामयुक्तानां पूर्व-  
पूर्वाविनाशेन परपरप्राप्तौ यथा न शोकस्तथैव तद्देहिनो नाशे सति  
देहान्तरप्राप्तिर्भाविष्यतीति । तथा च भीष्मादीनां जरितदेहनाशे  
नव्यदेहप्राप्तिर्यथायौवनप्राप्तिन्यायेन हर्षहेतुरेवेति, न तद्देह-  
विनाशहेतुकः शोकस्तबोचित इति भावः । धीरो धीमान् देहस्व-  
भावजीवकर्मविपाकस्वरूपज्ञः, अत्र 'देहिनः' इत्येकवचनं जात्याभि-  
प्रायेण बोध्यं, पूर्ववत्रात्मबहुत्वोक्तेः । अत्राहुः—'एक एव विशु-  
द्धात्मा, तस्याविद्ययापरिच्छिन्नस्य तस्यां प्रतिबिम्बितस्य वा  
नानात्मत्वम् ।' श्रुतिश्चैवमाह,—"आकाशमेकं हि यथा घटा-  
दिषु पृथग्भवेत्, तथात्मैको ह्यनेकस्थो जलाधारेऽपि वांशुमा-  
निति ।" तद्विज्ञानेन तस्य विनाशे तु तन्नानात्वनिवृत्त्या तदैक्यं  
सिध्यतीत्येकवचनेनैतत् पार्थसारथिराहति । तन्मन्दं—जडया  
तथा चैतन्यराशेऽष्टेदासम्भवात्, तैरपि तद्विषयत्वानङ्गीकाराच्च ।  
वास्तवं च्छेदे विकारित्वाद्यापत्तिः दृक्छिन्नपापाणवत् स्यात्—  
नीरूपस्य बिम्बोः प्रतिबिम्बासम्भवाच्च, अन्यथाकाशदिगादीनां  
तदापत्तिः । न च प्रतीत्यन्यथानुपपत्तिरेवाकाशस्य प्रतीबिम्बे मानं  
तद्वत्तिप्रदक्षत्रप्रभामण्डलं तस्यैवाम्भसि भासमानत्वेन प्रतीतेः ।

“आकाशमेकं हि” इति श्रुतिस्तु परमात्मविषया तस्याकाशवत्  
सूर्यवच्च बहुवृत्तिकत्वं बदतीत्यविरुद्धम् । न चात्मैक्यस्योपदेष्टा  
संभवति । स हि तत्त्वावित्र वा ? आद्योऽद्वितीयमात्मानं विजान-  
तस्तस्योपदेष्ट्यापरिस्फूर्तिः, अन्ये त्वज्ञत्वादेव नात्मज्ञानोपदेष्टृ-  
त्वम् । बाधितानुवृत्त्याश्रयणं तु पूर्वनिरस्तम् ॥१३॥

मात्रास्पर्शस्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।

आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

सारांशः—ननु सत्यमेव तत्त्वं, तदप्यविवेकिनो मम मन एवानर्थ-  
कारी वृथैव शोक-मोह-व्याप्तं दुःखयतीति, तत्र न केवलं एकं  
मन एव, अपितु मनसो वृत्तयोऽपि सर्वानर्थवगादीन्द्रिय-  
रूपाः स्वविषयानुभाव्यानर्थकारिण्य इत्याह—मात्रा इन्द्रियप्रा-  
ह्यविषयास्तेषां स्पर्शाः अनुभवाः । शीतोष्णोति आगमापायिन  
इति—यदेव शीतलजलादिकमुष्णकाले सुखदं, तदेव शीतकाले  
दुःखदमतोऽनित्यतत्त्वादागमापायित्वाच्च, तान् विषयानुभवान् ति-  
तिक्षस्व सहस्व; तेषां सहनमेव शास्त्रविहितो धर्मः; न हि  
माघे मामि जलस्य दुःखदत्वबुद्धयैव शास्त्रे विहितः स्नानरूपो  
धर्मस्त्यज्यते । धर्म एव काले सर्वानर्थनिवर्त्तको भवति;  
एवमेव ये पुत्रप्राप्तादयाः उत्पत्तिकाले धनाद्युपार्जनकाले च  
मुग्धास्त एव मृत्युकाले दुःखादा आगमापायिनोऽनित्यान्तानपि  
तितिक्षस्व; न तु तदनुगन्धेन युद्धरुषः शास्त्रविहितः स्वधर्म-  
स्याज्यः । विहितधर्माचरणं खलु काले महानर्थकृदेव इति  
भावः ॥ १४ ॥

गी०भू०—ननु भीष्मादयो मृताः कथं भविष्यन्तीति तद्दुःख-  
निमित्ताः शोको माभूत् । तद्विच्छेददुःखानिमित्तास्तु मे मनःप्रभृती  
प्रदहन्तीति चेत्तत्राह—मात्रेति । मात्रास्त्वगादीन्द्रियवृत्तयः माया

परिच्छिद्यन्ते विषया अभिरिति व्युत्पत्तौ : । स्पर्शास्ताभिर्विषया-  
णामनुभवान्ते खलु शीतोष्णसुखदुःखदा भवन्ति । यदेव  
शीतलमुदकं मीष्मे सुखदं तदेव हेमन्ते दुःखदमित्यतोऽनित्यत-  
त्त्वादागमापायित्वाच्चानित्यानस्थिरांस्तान् तितिक्षस्व सहस्व,  
एतदुक्तं भवति—माघस्नानं दुःखकरमपि धर्मतया विधा-  
नाद्यथा क्रियते तथा भीष्मादिभिः सह युद्धं दुःखकरमपि तथा  
विधानात् कार्यमेव । तत्रत्यो दुःखानुभवस्त्वागन्तुको धर्मे-  
मिदृश्यात् मोदव्यः । धर्माज्ञानोदयेन मोक्षलाभे तूत्तरत्र तस्य  
नानुवृत्तिश्च ज्ञाननिष्ठा परिपाकं विनैव धर्म-त्यागस्त्वनर्थ-  
हेतुरिति । कौन्तेय भारतेति पदाभ्यामुभयकुलशुद्धस्य ते धर्म-  
अंशो नोचित इति सूच्यते ॥ १४ ॥

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।

समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

सारांशः—एवं विचारेण तत्सहनाभ्यासे सति ते विषयानु-  
भवाः काले विल नापि दुःखयन्ति । यदि च न दुःखयन्ति, तदात्म-  
मुक्तिः स्वप्रत्यासन्नैवेत्याह—यमिति । अमृतत्वाय मोक्षाय ॥१५॥

गी०भू०—धर्मार्थ-दुःख-सहनाभ्यासस्योत्तरत्र सुखहेतु-  
त्वं दर्शयन्नाह यं हीति । एते मात्रास्पर्शाः प्रियाप्रियविषया-  
नुभावा यं धीरं धियमीर्याति धर्मोपवति व्युत्पत्तौर्धर्मनिष्ठं  
पुरुषं न व्यथयन्ति सुखदुःखमृच्छितं न कुर्वन्ति सोऽमृत-  
त्वाय मुक्तये कल्पयते, न तु तादृशो दुःखसुखमृच्छित  
इत्यर्थः । उत्तमर्थं गफुटयन पुरुषं विशानष्टि समेति—धर्मानुष्ठानस्य  
वृत्तसाध्यत्वाद्दुःखमनुपङ्गलब्धं सुखञ्च यस्य समं भवति ताभ्यां  
सुखम्लानितोलासरहितमित्यर्थः ॥ १५ ॥



नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

सारा०व०-एतच्च विवेकदशानधिरूढान् प्रति उक्तम् । वस्तुतस्तु “अमङ्गो ह्ययं पुरुषः” इति श्रुतेर्जीवात्मनश्च स्थूल-सूक्ष्म-देहाभ्यां तद्वर्त्मैः शोकमोहादिभिश्च सम्बन्धो नास्त्येव । तत्सम्बन्धस्याविद्या-कल्पितत्वादित्याह-नन्ति । असतो ऽनात्मधर्मत्वादात्मनि जाये अवर्त्तमानस्य शोकमोहादेस्तदाश्रयस्य देहस्य च भावः सत्ता नास्ति । तथा सतः सत्यरूपस्य जीवात्मनोऽभावाः नाशो नास्ति । तस्मादुभयोरेतयोरसत्सतोरन्तो निर्णयोऽयं दृष्टः । तेन भीष्मादिषु त्वदादिषु च जीवात्मसु सत्यत्वादनश्वरेषु देह-दैहिक-विवेकशोकमोहादयो नैव सन्तीति कथं भीष्मादयो नन्दयन्ति कथं वा तांस्त्वं शोचसीति भावः ॥१६॥

गी०भू०-तदेवं भगवता पार्थस्यास्थानशोचितत्वेन तत्पाण्डित्यमाश्रितम् । शोकहरश्च स्वोपासनमेव तच्चोपास्योपासकभेदघटितमित्युपाय्याज्जीवांशिनः स्वस्मादुपासकानां जीवांशानां तात्त्विकं द्वैतमुपदिष्टम् । अथ ‘यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेन ह युक्तः प्रपश्ये’ इत्यादावंशस्वरूपज्ञानस्यांशस्वरूपज्ञानोपयोगिवशवणात्तादादीं सनिष्ठादीन् सर्वान् प्रत्यविशेषणोपदेश्यं तच्च-देहात्मनावेधमर्थधियमन्तरा न स्यादिति तद्वैधर्म्यबोधाधारम्यते नासत इत्यादिभिः । असतः परिणामिनो देहादेर्भावाऽपरिणामित्वं न विद्यते । सतोऽपरिणामिन आत्मनस्त्वभावः परिणामित्वं न विद्यते । देहात्मानो परिणामापरिणामस्वभावौ भवतः । एवमुभयोरसत्सत्त्वच्छब्दितयोर्देहात्मनोरन्तो निर्णयस्तत्त्वदर्शिभिस्तदुभयस्वभाववेदाभिः पुरुषैर्दृष्टोऽनुभूतः । अत्रामच्छब्देन विनश्वरं देहाद् जडं सच्छब्देन त्वविनश्वरमात्म-

चैतन्यमुच्यते । एवमेव श्रीविष्णुपुराणेऽपि निर्णितं दृष्टम्-उयांतीधि विष्णुर्भुवनानि विष्णुरित्युपक्रम्य यदस्ति यन्नास्ति च विप्रवर्येत्यस्ति--नास्ति-शब्द-वाच्ययोश्चेतनजडयोस्तथात्वं बभूवस्ति किं कुत्राचदित्यादिभिर्निरूपितः, तत्र नास्ति शब्द-वाच्यं जडम् । अग्निशब्दवाच्यस्तु चैतन्यमिति स्वयमेव विवृतम् । यत्तु सत्कार्यबाधस्थापनायै-तत्पद्यमित्याहु-स्तन्निरवधानं देहात्मस्वभावानभिज्ञानमोहितं प्रति तन्मोह-विनिवृत्तये तत्स्वभावाभिज्ञापनस्य प्रकृतत्वान् ॥ १६ ॥

अविनाश तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।

विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७॥

सारा०व०-नाभावो विद्यते सत इत्यस्यार्थं स्पष्टयति-अविनाशीति । तत् जीवात्मस्वरूपं येन सर्वमिदं शरीरं तत् व्याप्तम् । ननु शरीर-मात्र-व्यापी-चैतन्यत्वे जीवात्मनो मध्यमपरिमाणत्वेनानित्यत्वप्रसक्तिः ? मैवं “मूढमाणामप्यहं जीवः” इति भगवदुक्तेः, “एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणं पञ्चधा संविवेश” इति, “वाताग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवः स विज्ञेयः” इति । “आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः” इति श्रुतिभ्यश्च तस्य परमाणुपरिमाणत्वमेव । तदपि सम्पूर्णदेहव्यापिशक्तिमत्त्वं जतुर्जाटिनस्य महामणोर्महोपधम्यण्डस्य वा शिरम्युरसि वा धृतस्य सम्पूर्णदेहपुष्टिकरणशक्तिमत्त्वमिव नासमञ्जसम् । स्वर्गे-नरके-नानायांनिषु गमनञ्च तस्यापाधिपारवश्यादेव । तदुक्तं प्राणमाधृत्य दत्तात्रेयेन-“येन संसरते पुमान्” इति । अतएवाग्न्य सर्वगतत्वमप्याग्रम-श्लोके ब्रह्ममाणं नासमञ्जसम् । अतएवाव्ययस्य नित्यस्य-“नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहुनां यो विदधाति कामान्” इति श्रुतेः, यद्वा

ननु देहो जीवात्मा परमात्मेत्येतद्वस्तुत्रिकं मनुष्यतिर्य्यगादिषु  
सर्वत्र दृश्यते, तत्राद्ययोर्देहजीवयोस्तत्त्वं “नासतो विद्यते भावः”  
इत्यनेनोक्तम्, तृतीयस्य परमात्मवस्तुनः किं तत्त्वमित्यत आह—  
अविनाशि त्विति । तु-भिन्नोपक्रमे; परमात्मनो मायाजीवाभ्यां  
स्वरूपतः पार्थक्यात् इदं जगत् ॥ १७ ॥

गी०भू०—उक्तं जीवात्मतद्देहयोस्वभावं विशदयत्यविनाशी-  
ति द्वाभ्याम् । तज्जीवात्मतत्त्वमविनाशि नित्यं विद्धि । येन सर्वं  
मिदं शरीरं तत्तं धर्मभूतं ज्ञानेन व्याप्तमस्ति, अस्याव्ययस्य  
परमाणुत्वेन च विनाशानर्हस्य विनाशं न कश्चित् स्थूलोऽर्थः  
कर्त्तुं मर्हति प्राणस्येव देहः, इह जीवात्मनो देहपरिमितत्वं न प्रत्ये-  
तव्यम् । एषोऽगुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा  
मंविवेशेत्यादिषु तस्य परमाणुत्वश्रवणात् । तादृशस्य निखिल-  
देहव्याप्तिस्तु धर्मभूतज्ञानेनैव स्यात् । एवमाह भगवान् सूत्र-  
कारः—गुणाद्वालोकवादिति । इहापि स्वयं वक्ष्यति—यथा  
प्रकाशयत्येक इत्यादिना ॥ १७ ॥

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।

अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥

सा०व०—“नासतो विद्यते भावः” इत्यम्यार्थं स्पष्टयति—अन्तवन्त  
इति । शरीरिणो जीवस्य अप्रमेयस्य अति—सूक्ष्मत्वाद् दुर्ज्ञेयस्य ।  
तस्माद् युध्यस्वेति शास्त्रविहितस्य स्वधर्मस्य त्यागोऽनुचित  
इति भावः ॥ १८ ॥

गी०भू०—अन्तवन्तः विनाशिवभावाः, शरीरिणो जीवा-  
त्मनः; अप्रमेयस्यातिसूक्ष्मत्वाद्विज्ञानविज्ञातृस्वरूपत्वाच्च प्रगातु  
मशक्यस्येत्यर्थः । तथा चेदृशस्वभावत्वार्ज्जिवतद्देहो न शोक  
स्थानमिति जीवात्मनो देहो धर्मादुपान्द्वारा तस्य भोगाय

मोक्षाय च परेशेन सृज्यते । स च म च धर्मेण भवेत्तास्माद्  
युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।

उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

सारा०व०—भो वयस्य अर्जुन ! त्वमात्मा न हन्तेः कर्त्ता, नापि  
हन्तेः कर्म इत्याह—य इति । एनं जीवात्मानं हन्तारं वेत्ति;  
भीष्मादीनर्जुनो हन्तीति यो वेत्तीत्यर्थः । हतमिति भीष्मा-  
दिभिरर्जुनो हन्यत इति यो वेत्ति, तावुभावप्यज्ञानिनौ ।  
अतोऽज्ञानोऽयं गुरुजनं हन्तीत्यज्ञानिलोकगीतादुद्येशमः का  
नं भीतिरिति भावः ॥ १९ ॥

गी०भू०—उक्तमविनाशित्वं द्रष्टव्यमिति—एनमुक्तस्वभावमात्मानं  
जीवं यो हन्तारं खड्गादिना हिंसकं वेत्ति यश्चैनं तेन हतं  
हिंसितं मन्यते तावुभौ तत्स्वरूपं न विजानीतः । अतिमूढमस्य  
चैतन्यस्य तस्य छेदाद्यसंभवान्नायमात्मा हन्ति न हन्यते, हन्तेः  
कर्त्ता कर्म च भवतीत्यर्थः । हन्तेर्देहवियोगार्थत्वाच्च तेनात्मनां  
नाशो मन्तव्यः । श्रुतिश्चैवमाह—“हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हन्तश्चेन्म-  
न्यते हतमित्यादिना । एतेन मा हिंस्यात् सर्वा भूतानीत्यादि-  
वाक्यं देहवियोगपरं व्याख्यातम् । न चात्रात्मनः कर्तृत्वं प्रसिद्ध-  
मिति वाच्यम् । देहवियोजने तत्तस्य सत्त्वात् ॥ १९ ॥

न जायते म्रियते वा कदाचि—

नार्यं भूत्वा भविता वा न भूयः ।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो

न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥

सारा०व०—जीवात्मनो नित्यत्वं स्पष्टतया साधयति—न जायते,



म्रियते' इति जन्ममरणयोर्वर्त्तमानत्व-निषेधः, 'नायं भूत्वा भविता'  
इति तयोर्भूतत्वभविष्यत्व-निषेधः । अतएव 'अजः' इति कालत्रये-  
ऽप्यजस्य जन्माभावान्नास्य प्रागभावः । शाश्वतः शश्वत् सर्व-  
काल एव वर्त्तन इति नास्य कालत्रयेऽपि ध्वमः, अतएवायं  
नित्यः । तर्हि बहुकालस्थायित्वाज्जराप्रस्तोऽयमिति चेन्न, पुराणः  
पुरापि नवः प्राचीनोऽप्ययं नवीन इवेति षड्भाव-विकाराभावा-  
दिति भावः । ननु शरीरस्य मरणादौपचारिकन्तु मरणमभ्यास्तु ?  
तत्राह,—नेति । शरीरेण सह सम्बन्धाभावान्नोपचारः ॥२०॥

गी०भू०—अथ "जायते अस्ति वर्द्धते विपरिणामते अपक्षीयते  
विनश्यती"ति यांकाद्युक्तषड्भाव-विकार-राहित्येन प्रागुक्त-  
नित्यत्वं द्रष्टव्यं न जायते इति । चार्थं वा शब्दौ । अयमात्मा  
जीवः कदाचदपि काले न जायते न म्रियते चेति जन्माविनाशयोः  
प्रतिषेधः, न चायमात्मा भुत्वोत्पद्य भविता भविष्यतीति जन्मा-  
न्तरभ्यास्तित्वस्य प्रतिषेधः, न भूय इति-अयमात्मा भूयोऽ-  
धिकं यथास्यात्तथा न भवतीति वृद्धेः प्रतिषेधः । कुतो भूयो न  
भवतीत्यत्र हेतुरजो नित्य इति । उत्पत्तिविनाशयोगी ग्लुबृक्षादि-  
रुत्पद्य वृद्धि गच्छन्नष्टः-आत्मनस्तु तदुभयाभावात् न वर्द्धिरित्यर्थः ।  
शाश्वत इत्यपक्षयस्य प्रतिषेधः, शश्वत् सर्वदा भवति नाप-  
क्षीयते नापक्षयं भजतीत्यर्थः । पुराण इति विपरिणामस्य प्रतिषेधः,  
पुराणं पुरापि नवो ननु किञ्चिन्नूतनं रूपान्तरमधुना न लब्ध  
इत्यर्थः । तदेवं षड्भावाविकारशून्यत्वादात्मा नित्यः । यस्मादी-  
दृशस्तस्माच्छरीरं हन्यमानोऽपि स न हन्यते । तथा चार्जुनोऽयं  
गुरुहन्तेत्यविज्ञोक्त्या दुष्कीर्त्तिरविभ्यता त्वया शास्त्रीयं धर्मदुष्टं  
विधेयमिति ॥ २० ॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।

कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥

सारा०व०—अन एवम्भूतज्ञाने सति त्वं युध्यमानोऽप्यहं  
युद्धे प्रेत्यन्नपि दोषभाजो नैव भवाव इत्याह—वेदंति । नित्य-  
मिति क्रियाविशेषणम्, अविनाशिनमिति, अजमिति, अव्यय-  
मित्येतैर्विनाशजन्या अपक्षया निषिद्धाः । स पुरुषो मल्लक्षणः कं  
घातयति, कथं वा घातयति, तथा स पुरुषस्त्वल्लक्षणः कं हन्ति,  
कथं वा हन्ति ? ॥२१॥

गी०भू०—एवं तत्त्वज्ञानवान् यो धर्मयुद्धया युद्धे प्रवर्त्तते,  
तत्र प्रवर्त्तयति, तस्य तस्य च कोऽपि न दोषमन्व इत्याह—  
वेदंति । एनं प्रकृतमात्मानमविनाशिनमजमव्ययमपक्षयशून्यञ्च  
यो वेद शास्त्रयुक्तभ्यां जानाति, स पुरुषो युद्धे प्रवृत्तोऽपि कं  
हन्ति कथं वा हन्ति, तत्र प्रवर्त्तयन्नपि कं घातयति कथं वा  
घातयति ? किमाक्षेपे—न कमपि न कथमपि इत्यर्थः । नित्य-  
मिति वेदतत्क्रियाविशेषणम् ॥२१॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय

नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-

न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

सारा०व०—ननु मदीययुद्धाद्भीष्मसंज्ञक-शरीरन्तु जीवात्मा  
त्यक्षत्येवेत्येतत्त्वञ्चाह—तत्र हेतु भवाव एवेत्यत आह—  
वासांसीति । नवीनं वस्त्रं परिधापयितुं जीर्णवस्त्रस्य त्याजने  
काश्चित् किं दोषो भवतीति भावः । तथा शरीराणीति—भीष्मं  
जीर्णशरीरं परित्यज्य दिव्यं नव्यमन्यच्छरीरं प्राप्स्यतीति कस्तव  
वा मम वा दोषो भवतीति भावः ॥२२॥

गी०भू०—ननु मा भूदात्मनां विनाशो भीष्मादिसंज्ञानां तच्छ-  
रीरानां तत्सुखसाधनानां युद्धेन विनाशे तत्सुखविच्छेदहेतुको

दोषः स्यादेव, अन्यथा प्रायश्चित्तशास्त्रानि निर्दिषयाणि स्यु-  
रिति चेत्तत्राह—बासांसीति । स्थूलजीर्णवासस्यागेन नवीन-  
वासोधारणमिव वृद्धनृदेहत्यागेन युवदेवदेहधारणं तेषामात्म-  
नामतिसुखकरमेव । तदुभयञ्च युद्धेनैव क्षिप्रं भवेदित्युपकार-  
कात्तस्मान्मा विरंसीरिति भावः । संयातीति सम्यक्गर्भवा-  
सादियातनां विनैव शीघ्रमेव प्राप्नोतीत्यर्थः । प्रायश्चित्तवाक्यानि  
तु यज्ञयुद्धवधादन्यस्मिन् बधे नयानि ॥२२॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥

साराव०—न च युद्धे त्वया प्रयुक्तेभ्यः शस्त्रास्त्रेभ्यः  
काप्यात्मनो व्यथा सम्भवेदित्याह—नैनमिति । शस्त्राणि खड्गा-  
दीनि, पावक आग्नेयास्त्रमपि युष्मदादिप्रयुक्तम् ; आपः पार्श्व-  
न्यास्त्रमपि, मारुतो वायव्यमुखम् ॥२३॥

गी०भू०—ननु शस्त्रपातैः शरीरविनाशो तदन्तःस्थस्यात्मनो  
विनाशः स्यात् गृहदाहे तन्मध्यस्थस्यैव जन्तोर्निरिति चेत्तत्राह—  
नैनमिति । शस्त्राणि खड्गादीनि, पावकः आग्नेयास्त्रम्, आपः  
पार्श्वन्यास्त्रम्, मारुतो वायव्यास्त्रम्, तथा च तत्प्रयुक्तैः शस्त्रा-  
स्त्रैर्नात्मनः काचिद्व्यथेति ॥२३॥

अच्छेद्योऽयमदाहोऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।

तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

साराव०—तस्मादात्मायमेवमुच्यते इत्याह—अच्छेद्य इति  
अत्र प्रकरणे जीवात्मनो नित्यत्वस्य शब्दतोऽर्थतश्च पौनरुक्त्य-

निर्द्वारणप्रयोजकं सन्दिग्धधीषु ज्ञेयम् ;—यथा कलावस्मिन्  
धर्मोऽस्ति धर्मोऽस्तीति त्रिचतुर्द्धी-प्रयोगाद्धर्मोऽस्त्येवेति  
निःसंशया प्रतीतिः स्यादिति ज्ञेयम् । सर्वगतः स्वकर्मवशाद्-  
देवदनुष्यतिर्यगादि-सर्वदेहगतः ; स्थाणुरचल इति पौनरुक्त्यं  
स्थैर्यनिर्द्वारणाथेम् ; अतिसूक्ष्मत्वादव्यक्तस्तदपि देहव्यापि-  
चैतन्यत्वादचिन्त्योऽतर्क्यः ; जन्मादिषड्विकारानर्हत्वाद—  
विकार्यः ॥२४-२५॥

गी०भू०—छेदाद्यभावादेव तत्तन्नामभिरयमाख्यायते इत्याह—  
अच्छेद्योऽयमिति । एव-कारः सर्वैः संबध्यते । सर्वगतः स्व-  
कर्महेतुकेषु देवमानवादिषु पशुपद्यादिषु च सर्वेषु शरीरेषु  
पर्यायेण गतः प्राप्नोतीत्यर्थः । स्थाणुः स्थिरस्वरूपः, अचलः  
स्थिरगुणकः—“अविनाशी वा अरे अयमात्मानुच्छिच्छिधर्मा”  
इति श्रुतेरित्यर्थः । न चानुच्छिच्छिरेव धर्मो यम्येति व्याख्ये-  
यम्—तस्याथस्याविनाशीत्यनेनैव लाभात्, तस्मादनुच्छिच्छित्यो-  
नित्या धर्मो यम्य स तथेत्येवार्थः । सनातनः शाश्वतः, पौनरुक्त-  
दोषस्त्वमे परिहरिष्यते ॥२४॥

गी०भू०—अव्यक्तः प्रत्यङ्, चक्षुराद्यप्राप्यः, अचिन्त्यस्तर्का-  
गोचरः श्रुतिमात्रगम्यः, ज्ञानस्वरूपो ज्ञातेत्यादिकं श्रुत्यैव प्रती-  
यते, अविकार्यः षड्भावाविकारानर्हः । अत्र “अविनाशी तु  
तद्विद्धि” इत्यादिभिरात्मतत्त्वमुपदिशन् हरिः शब्दतोऽर्थतश्च  
यत् पुनःपुनरबोचत्तान्य दुर्बोधस्य सोबोध्याथमेवेत्यदोषः, निर्द्वार-  
णार्थं वा, अयं धर्मो वंशीत्युक्तौ तद्वेदनं निश्चितं यथा स्यात्ता-  
दृत् । एवमेवाग्रे वदयति—“आश्चर्य्यवत् पश्यति कश्चित्”  
इत्यादिना ॥२५॥

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।

तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥२६॥



सारा०व०—तदेवं शास्त्रीय-तत्त्वदृष्ट्या त्वामहं प्राबोधयम् ; व्यावहारिक-तत्त्वदृष्ट्यापि प्रबोधयाम्यवधेहीत्याह—अथेति । नित्यजातं देहे जाते सत्येव नित्यं नियतं जातं मन्यसे ; तथा देह एव मृतं मृतं नित्यं नियतं मन्यसे । 'महाबाहो' इति परा-क्रमवतः क्षत्रियाणामयं धर्मः प्रजापतिविनिर्मितः । आतापि आतरं हन्याद्येन घोरतरस्ततः ॥" इति भावः ॥२६॥

गी०भू०—एवं सूक्तस्य जीवात्मनोऽशोच्यत्वमुक्त्वा परोक्त-स्यापि तस्य तदुच्यते परमतज्ञानाय । तर्दाभज्ञः खलु शिष्यस्तद-वकरैस्तन्निरम्य विजयी सन् स्वमते स्थैर्यमासीत् । तथा हि मनुष्यत्वादिविशिष्टे भूम्यादिभूतचतुष्टये ताम्बूलरागवत् मद-शक्तिवच्च चैतन्यमुत्पद्यते, तादृशस्तच्चतुष्टयभूतो देह एव आत्मा, स च स्थिरोऽपि प्रतिक्षणपरिणामादुत्पत्तिविनाशयोगीति लोक-प्रत्यक्षमिन्द्रमिति 'लोकार्यातका' मन्यन्ते । देहाद्भूतो विज्ञानस्व-रूपोऽप्यात्मा प्रतिक्षणविनाशीति 'वैभाषिकादयो' बौद्धा वदन्ति । तदेतदुभयमतेऽप्यात्मनः शोच्यत्वं प्रतिपेधाति । अथेति पक्षान्तरे, चोऽप्यर्थः । त्वं चेन्मदुक्तजीवात्मयाथात्म्यावगाहनासमर्थो लोका-र्यातिकादिपक्षमालम्ब्य, तत्र देहात्मपक्षे एनं देहलक्षणमात्मानं नित्यं वा मृतं मन्यसे । क्षणिकविज्ञानपक्षे च नित्यं प्रतिक्षणं तं तथा तथा मन्यसे । वाशब्दश्चाथेति । तथापि त्वमेनं—“अहोबत महत्पापम्” इत्यादिवचनैः शोचितुं नार्हमि । परिणामस्वभावस्य तस्य तस्य चात्मनो जन्माविनाशयोरनिवार्यत्वाज्जन्मान्तराभावेन पापभयामम्भवाच्च । हे महाबाहो इति सोपहासं सम्बोधनं क्षात्र-यवर्गस्य बोद्धव्यं च तं नेदृशं कुमतं धार्यमिति भावः ॥२६॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युध्रुवं जन्म मृतस्य च ।

तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

सारा०व०—हि यस्मात्ताम्य स्वाग्म्भक-कर्मक्षये मृत्युध्रुवो निश्चितः । मृतस्य तदेहकृतेन कर्मणा जन्मापि ध्रुवमेव ? अप-रिहार्येऽर्थे इति मृत्युजन्म च परिहर्त्तुं मशक्यमेवेत्यर्थः ॥२७॥

गी०भू०—अथ शरीरानिरिक्तो नित्य आत्मा, तस्यापूर्व-शरीरेन्द्रिययोगो जन्म, पूर्वशरीरेन्द्रियवियोगस्तु मरणं तदुभ-यञ्च धर्माधर्महेतुकत्वात्तादाश्रयस्य नित्यस्यात्मनो मुख्यं, तर्दाति-रिक्तस्य शरीरस्य तु गौणम्, तस्यानित्यस्य कृतहान्यकृताभ्या-गमप्रसङ्गेन तदाश्रयत्वानुपपत्तोरिति तार्किका मन्यन्ते । तत्पक्षे-ऽप्यात्मनः शोच्यत्वं परिहर्ति—जातमेति । हिर्हेतो, जातस्य स्वकर्मवशात् प्राप्तशरीरादियोगस्य नित्यस्याप्यात्मनस्तदारम्भक-कर्मक्षयहेतुको मृत्युध्रुवो निश्चितः, मृतस्य तच्छरीरकृतकर्महेतुकं जन्म च ध्रुवं स्यात् । तस्मादेवमपरिहार्यं परिहर्त्तुं मशक्यं जन्म-मरणात्मकेऽर्थे त्वं विद्वान् शोचितुं नार्हसि । त्वयि युद्धान्नि-वृत्तोऽप्येते स्वारम्भके कर्मणि क्षाणे सति मरिष्यन्त्येव, तव तु स्वधर्माद्विच्युतिर्भाविनीति भावः ॥२७॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।

अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

सारा०व०—तदेवं जीवपक्षे—“न जायते न म्रियते” इत्या-दिना, देहपक्षे च “जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः” इत्यनेन शोकविषयं निराकृत्येदानीमुभयपक्षेऽपि निराकरोति—अव्यक्तेति । भूतानि देव-मनुष्य-तिर्यगेणादीनि, अव्यक्तानि न व्यक्तं व्यक्तीरादी जन्मपूर्वकाले येषाम्, किन्तु तदानीमपि लिङ्गदेहः स्थूलदेहश्च स्वारम्भक-पृथिव्यादि-द्रव्यसत्त्वात् कारणात्मना वर्त्तमानोऽ-स्पृष्टमासीदेवेत्यर्थः । व्यक्तं व्यक्तिकर्मध्यं येषां तानि, न व्यक्ति-निधनादनन्तरं येषां तानि । महाप्रलयेऽपि कर्ममात्रादीनां

मत्त्वात् सूक्ष्मरूपेण भूतानि सन्त्येव, तस्मात् सर्वभूतान्या-  
न्तरयोरेव्यक्तानि मध्ये व्यक्तानीत्यर्थः, यदुक्तं श्रुतिभिः—  
“स्थिरचरजातयः स्युर्जयोत्थानिमित्तायुजः” इति । का परिदेवना-  
कः शोकनिमित्ता बिलापः ? तथा चोक्तं नारदेन—“यन्मन्यमे-  
ध्रुवं लोकमध्रुवं वा न चोभयम् । सव्वेथा हि न शोच्यास्ते  
स्नेहादन्यत्र मोहजात ॥” इति ॥२५॥

गी०भू०—अथ देहात्मपक्षे आत्मातिरिक्तदेहपक्षे च देह-  
विनाशहेतुकशोको न युक्तस्तदारम्भकाणां भूतमात्राणामविनाशा-  
दित्याह—अव्यक्तादीनीति । अव्यक्तं नामरूपविरहात् सूक्ष्मं  
प्रधानमाद आदिरूपं येषां तानि भूतानि प्रथिव्यादि-भूतमयानि  
शरीराणि । व्यक्तमध्यानि व्यक्तं नामरूपयोगात् स्थूलं मध्यं  
जन्मविनाशान्तरालस्थितिलक्षणं येषां तानि अव्यक्तनिधनानि  
अव्यक्ते तादृशि प्रधाने निधनं नामरूपविमर्दनलक्षणो नाशो  
येषां तानि । मृदादिकं सद्रूपे द्रव्ये कम्बुप्रीवाद्यवस्थायोगो घट-  
स्योत्पत्तिस्तद्विरोधिकपालाद्यवस्थायोगस्तु तस्य विनाशः कथ्यते ।  
मद्द्रव्यं सर्व्वदा स्थायीति । एवमेवाह भगवान् पराशरः—  
“मही घटत्वं घटतः कपालिका चूर्णरजस्ततोऽणुः” इति । एवं  
शरीराण्यन्तरयोर्नामरूपायोगादव्यक्तिमन्ति, मध्ये तु तद्व्यो-  
गाद्व्यक्तिमन्ति । तदारम्भकानि भूतानि तु सर्व्वदा सन्तीति तेषु  
वस्तुतः मत्सु का परिदेवना कः शोकनिमित्ताबिलाप इत्यर्थः ।  
देहान्यान्त्यात्मपक्षे तु “वासांसि” इत्यादिकं न विस्मर्त्तव्यम् ।  
यत्तयागन्तयोरसत्त्वान्मध्येऽपि भूतान्यसन्त्येवातः स्वाप्रिकरथा-  
श्चादिप्रख्यानि मृषाभूतान्येव तेन तद्वियागहेतुकः शोकः प्रति-  
बुद्धस्य न दृष्ट इति दृष्टिसृष्टिमभ्युपेत्याहुस्तन्मन्दं—तदभ्युपगमे  
वैदिकासत्कार्य्यवादापत्तेः । तदेवं मतद्वयेऽपि देहविनाशहेतुकः  
शोको नास्तीति सिद्धम् ॥२५॥

आश्चर्य्यवत्पश्याति कश्चिदेन—

माश्चर्य्यवद्ब्रूति तथैव चान्यः ।

आश्चर्य्यवच्चैनमन्यः शृणोति

श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२६॥

सारा०व०—ननु किमिदं आश्चर्य्यं ब्रूये ? किञ्चित्पद्या-  
श्चर्य्यम्, यदेव प्रबोध्यमानस्याप्यविवेको नापयतीति तत्र सत्य-  
मेवमेवेत्याह—आश्चर्य्यवदिति । एनमात्मानं देहश्च तदुभयरूपं  
सर्व्वलोकम् ॥२६॥

सा०व०—ननु सर्व्वज्ञेन त्वया बहूपदिश्यमानोऽप्यहं शोकनिवा-  
रकमात्मयाथात्म्यं न बुध्ये किमेतदिति चेत्तात्राह—आश्चर्य्यवदिति,  
विज्ञानानन्दोभयस्वरूपत्वेऽपि तद्देहाप्रतियोगिनं विज्ञानस्वरूपत्वे-  
ऽपि विज्ञानतृत्या सन्तं परमाणुत्वेऽपि व्याप्तवृत्तकायं नानाकाय-  
सम्बन्धेऽपि तत्ताद्विकारैस्प्रपञ्चेवमादि बहुविरुद्धधर्मतयाश्चर्य्य-  
वद्भूतमादृश्येन स्थितमेनं मदुपदिष्टं जीवं कश्चिदेव स्वधर्म्म-  
नुष्ठानेन सत्य-तपो-जपादिना च विमृष्टहृद्गुरुप्रसादलब्ध-  
तादृशज्ञानः पश्यति याथात्म्येनानुभवति । आश्चर्य्यवदिति क्रिया-  
विशेषणं वा कर्त्तुविशेषणं वेति व्याख्यातारः; कश्चिदेन य-  
त्पश्यति तदाश्चर्य्यवत्, यः कश्चित् पश्यति सोऽप्याश्चर्य्य-  
वदित्यर्थः । एवमग्रेऽपि । श्रुत्वाप्येनमिति—कश्चित् सम्यगमृष्ट-  
हृदित्यर्थः । तथाच दुरधिगमं जीवात्मयाथात्म्यम् । श्रुतिरप्येव-  
माह—“श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं  
न बिदुः । आश्चर्य्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्ध्वा आश्चर्य्यो  
ज्ञाता कुशलानुशिष्ट” इति ॥ २६ ॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्व्वस्य भारत ।

तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥



स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

साराव०—तर्हि निश्चित्य ब्रूहि—किमहं कुर्या किंवा न कुर्यामिति, तत्र शोकं मा कुरु, युद्धं तु कुर्वित्याह—देहीति द्वाभ्याम् ॥३०॥

साराव०—आत्मानो नाशाभावादेव वधाद्विकम्पितुं भेतुं नार्हसि, स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसीति सम्बन्धः ॥३१॥

गी०भू०—तदेवं दुराधगमं जीवयाथात्म्यं समासेनोपादिशन्न-  
शोच्यत्वमुपसंहरति देहीति । सर्वस्य जीवगणस्य देहे हन्य-  
मानेऽप्ययं देही जीवो नित्यमवध्यो यस्मात् तस्मात् त्वं सर्वोत्ति-  
भूतानि भीष्मादिभावापन्नानि शोचितुं नार्हसि । आत्मनां नित्य-  
त्वादशोच्यत्वं तद्देहानां त्ववश्यविनाशत्वात्तत्त्वमित्यर्थः ॥३०॥

गी०भू०—एवं परमात्मज्ञानोपयोगत्वादादौ जीवात्मज्ञानं  
सर्वान् प्रति तौन्येनोपादिश्य सनिष्ठान् प्रति निष्कामतया-  
नुष्ठितानि कर्माणि हृद्विशुद्धिसहकृतामात्मज्ञाननिष्ठां निष्पाद-  
यन्तीति वदिष्यन् तस्यां प्रतीतिमुत्पादयितुं सकामतदानुष्ठि-  
तानां कर्मणां काम्यफलप्रदत्वमाह द्वाभ्याम् । स्वधर्ममपीति ।  
न केवलं देहात्मवभावं निभात्यं किन्तु स्वधर्ममपीति ।  
युद्धं खलु क्षत्रियस्य नियतमग्निहोत्रादिवद्विहितम् । तच्च शत्रुप्राण-  
विहंसनरूपमग्निहोत्रादि-पशु-हिसनवन्न प्रत्यगार्यानिनिष्ठम् ।  
उभयत्र हिंसयमुपकृतिरूपैव, हीनयोर्देहलोकायागत्यागेन दिव्ययो-  
स्तयोर्लाभात् । आह चैवं स्मृतिः—“आहवेपु मिथोऽन्योन्यं  
जिघांसन्तो महीक्षीतः । युद्धमानाः परं शक्त्या स्वार्गं यान्त्य-  
पराङ्मुखाः । यज्ञेषु पशवो ब्रह्मण हन्यन्ते सततं द्विजैः । संस्कृताः  
किल मन्त्रैश्च तेऽपि स्वार्गमवाप्नुवन्ति”त्याद्या । एवं निजधर्ममवे-  
क्ष्य विकम्पितुं धर्मात् प्रचलितुं नार्हसि । युक्तं न च श्रेयोऽनु

पश्यामीत्यादिना नरके नियतं बासो भवतीत्यन्येन युद्धस्य पाप-  
हेतुत्वं त्वायोक्तं । तच्चज्ञानादेवेत्याह—धर्म्यादिति । युद्धमेव  
भूमि-जय-द्वारा प्रजा-पालन-गुरुविप्र-संसेवनादि-क्षात्र-धर्म-  
निर्वर्त्तादीति । एवमाह भगवान् पराशरः । क्षत्रियोहि प्रजा रक्षन्  
शस्त्रपाणिः प्रदण्डयन् । निजित्य पर-सैन्यादि क्षिति धर्मेण  
पालयेदिति ॥ ३१ ॥

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।

मुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥

साराव०—किञ्च, जेतृभ्यः सकाशादपि न्याययुद्धे मृताना-  
मविकं सुखमतो भीष्मादीन् हत्वा तान् प्रत्युत स्वतोऽप्यधिक-  
मुखिनः कुर्वित्याह—यदृच्छयेति । स्वर्गसाधनं कर्मयोगम-  
कृत्वापीत्यर्थः । अपावृतमपगतावरणम् ॥३२॥

गी०भू०—किञ्चायत्नादागतोऽस्मिन् महति श्रेयांसि न युक्तस्ते  
कम्प इत्याह यदृच्छयेति । चोऽवधारणे । यत्नं विनैव चोपपन्न-  
मीदृशं भीष्मादिभिर्महावीरैः सह युद्धं मुखिनः सभाग्याः क्षत्रिया  
लभन्ते, विजये सत्यश्रमेण कीर्तिराज्ययो मृत्यो मति शीघ्रमेव  
स्वर्गस्य च प्राप्तेरित्यर्थः । एतद्व्यञ्जयन् विशिनष्टि-स्वर्गद्वार-  
मपावृतमिति । अप्रतिरुद्धस्वर्गसाधनमित्यर्थः । ज्योतिष्ठांमादिकं  
चिरतरेण स्वर्गोपलम्भकमिति ततोऽभ्याविशयः ॥ ३२ ॥

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।

ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥

साराव०—विपक्षे दोषानाह—अथेति चतुर्भिः ॥३३॥

गी०भू०—विपक्षे दोषान् दर्शयति अथेत्यादिभिः । स्वस्य  
तव धर्म्यं युद्धलक्षणं कीर्तिञ्च रुद्रसन्तोषण-निवात-कबचादि-

वधलब्धां हित्वा पापं न निवर्त्तत संप्रामादित्यादि—स्मृति-  
प्रतिषिद्धं स्वधर्मत्यागलक्षणं प्राप्स्यसि ॥ ३३ ॥

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।

संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

सारा०व०—अव्ययामनश्वराम् ; सम्भावितस्यातिप्रतिष्ठि-  
तस्य ॥ ३४ ॥

गी०भू०—न केवलं स्वधर्मस्य कीर्तिश्च क्षतिमात्रं । युद्धे  
समारब्धेऽर्जुनः पलायत इत्यव्ययां शाश्वतीमकीर्तिश्च तव  
भूतानि सर्वे लोकाः कथयिष्यन्ति । ननु मरणाद्धीतेन मया  
अकीर्तिः सादृश्यति चेत्तत्राह—सम्भावितस्यातिप्रतिष्ठितस्य ।  
अतिरिच्यते अधिका भवति । तथाच तादृशाकीर्तिर्मरणमेव  
वरमिति ॥ ३४ ॥

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।

येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥

सारा०व०—येषां त्वं बहुमतोऽस्मच्छत्रुरर्जुनस्तु महाशूर  
इति बहुसम्मानविषयो भूत्वा सम्प्रति युद्धादुपरमे सति लाघवं  
यास्यसि, ते दुर्योधनादयो महारथास्त्वां भयादेव रणादुपरतं  
मंस्यन्त इत्यन्वयः । क्षत्रियाणां हि मयं विना युद्धोपरतिहेतु-  
र्वन्धुस्नेहादिकं नोपपद्यत इति मत्वेति भावः ॥ ३५ ॥

गी०भू०—ननु कुलक्षयदोषात् कारुण्याच्च विनिवृत्ताय मम  
कथमकीर्तिः स्यादिति चेत्तत्राह भयादिति । महारथा दुर्यो-  
धनादयस्त्वां कर्णादिभयान्नतु बन्धुकारुण्याद्रणादुपरतं मंस्यन्त  
न हि शूरस्य शत्रुभयं विनावन्धुस्नेहेन युद्धादुपरतिरित्यर्थः ।  
इतः पूर्वं येषां त्वं बहुमतः शूरा वैरीति बहुगुणवत्तया सम्मता-  
ऽभूद्गिदानीं युद्धे समुपस्थिते कातरोऽयं विनिवृत्ता इत्येवं तत्कृत  
लाघवं दुःसहं यास्यसि ॥ ३५ ॥

अवाच्यवादांश्च बह्वन्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।

निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३६ ॥

सारा०व०—अवाच्यवादान्,—क्लीव इत्यादि-बह्वक्तीः ॥ ३६ ॥

गी०भू०—किञ्चावाच्चेति—अहिताः शत्रवो धार्तराष्ट्रास्तव  
सामर्थ्यं पूर्वसिद्धं पराक्रमं निन्दन्तः बह्वन्वाच्यवादीन् शण्ड-  
तिलादिशब्दान् वदिष्यन्ति । तत एवाम्बधावाच्यवादश्रवणा-  
दतिशयितं किं दुःखमस्ति । इत्यञ्जेतः पङ्क्तिभिर्युद्धवैराग्यस्या-  
स्वर्गत्वमकीर्तिकरत्वं चोक्तं दर्शितम् ॥ ३६ ॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।

तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥

सारा०व०—ननु युद्धे मम जय एव भावीत्यपि नास्ति  
निश्चयः ; ततश्च कथं युद्धे प्रवर्त्तितव्यमित्यत आह—हत इति ॥ ३७ ॥

गी०भू०—ननु युद्धे विजय एव मे स्यादिति निश्चयाभावा-  
त्ततोऽहं निवृत्तोऽस्मीति चेत्तत्राह—हतो वंति । पक्षद्वयेऽपि ते  
लाभ एवेति भावः ॥ ३७ ॥

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाययौ ।

ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

सारा०व०—तस्मात्तव सर्वथा युद्धमेव धर्मस्तदपि यदीमं  
पापकारणमाशङ्कसे, तर्हि मत्तः पापानुत्पत्तिप्रकारं शित्त्वा  
युध्यस्वेत्याह—सुखदुःखे समे कृत्वा तद्धेतू लाभालाभौ राज्यलाभ-  
राज्यच्युती अपि, तद्धेतू जयाजयावपि समौ कृत्वा—विवेकेन  
तुल्यौ विभाव्येत्यर्थः । ततश्चैवम्भूतसाम्यलक्षणे ज्ञानवतस्तव  
पापं नैव भवेत् ; यद्वद्व्यते—‘लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवा-  
म्भसा’ इति ॥ ३८ ॥



गी०भू०—ननु “अथ चेत्त्वम्” इत्यादिपदार्था व्याहृतः, राज्याद्युद्देशेन कृतस्य युद्धस्य गुरुविप्रादिविनाशहेतुत्वेन पापं त्वा-  
दकत्वाद्दातं चेन्मुमुक्षुत्वमेना युद्धमानस्य तत्र तद्विनाशहेतुकं पापं  
न स्यादित्याह—मुख्यंति । साम्यकरणमिह तत्र तत्र निर्विकारत्वं  
वाध्यम्, मुख्यं तद्धंती लाभं तद्धंती जये च रागमकृत्वा दुःखं  
तद्धंतावलाभं तद्धंतावजये च द्वं पमकृत्वा तत्र तत्र निर्विकार-  
चित्ताः मन ततो युद्धाय युज्यस्य ; केवलम्वधर्मधिया योद्धुनुद-  
युक्तो भवेत्यर्थः । एवं मुमुक्षुर्गीत्या योद्धा त्वं पापं तद्विनाशहेतुकं  
नावाप्स्यसि । फलेच्छुः मन यो युध्यते स तत्पापं विन्दति, विज्ञा-  
नार्था तु पुरातनमतस्तत्पापमपनुदतीत्यर्थः । ननु फलरागं विना  
दुष्करं युद्धदानादीं कथं प्रवृत्तिर्गति चेदनन्तात्मानन्दरागं तत्र  
प्रवर्तकं गृहाण राज्याद्यनुगागांमिव भृगुपाते ॥३८॥

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धियोगे त्विमां शृणु ।

बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥

सारा०व०—उपादिष्टं ज्ञानयोगमुपसंहरति—एषेति । सम्यक्-  
ख्यायते प्रकाशयते वस्तुतत्त्वमनेनेति सांख्यं सम्यक्ज्ञानम् ;  
तांमन कर्माणीया बुद्धिरेषा कथिता । अधुना योगे भक्तियोगे  
इमां वक्ष्यमाणा बुद्धिं कर्माणीयां शृणु, यया भक्तिविषयिण्या  
बुद्ध्या युक्तः महितः ; कर्मबन्धं संसारम् ॥३९॥

गी०भू०—उक्तं ज्ञानयोगमुपसंहरन् तदुपायं निष्कामकर्म-  
योगं तत्तुमारभते एषेति । सांख्योपांनपत् “सम्यक् ख्यायते निरु-  
प्यते तत्त्वमनया” इति निरुक्तं ; तथा प्रतिपाद्यमात्मसाक्षात्कारं  
सांख्यम् । शेषिज्ञानं तस्मिन् कर्त्तव्येषा बुद्धिस्तर्वाभाहता । “न  
त्वेवाहम्” इत्यादिना “तस्मात् सर्वविणि भूतानि” इत्यन्तेन । सा चेत्त-  
वचित्तात्तदोपात्राभ्युदाति तर्हि योगे “तमेतं वेदानुबचनेन ब्राह्मण-

विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा नाशकेन” इत्यादि श्रुत्युक्ता-  
न्तर्गतज्ञाने निष्कामकर्मयोगे कर्त्तव्यामिमां वक्ष्यमाणां बुद्धि-  
शृणु । फलोक्त्या तां गतोति—ययेति । कर्माणि कुर्वन्नाशकं  
यया बुद्ध्या युक्तः कर्मकृतं बन्धं प्रहास्यसि । आत्मानन्दलिप्सया  
भगवदाज्ञया महाप्रयामानि कर्माणि कुर्वन्तत्तदुद्देशमाहम्ना  
त्वदन्तरभ्युदितयान्मज्जानानष्टया संसारं तारयिष्यामि । पशुपुत्र-  
राज्यादिफलकं कर्म सकामं ज्ञानफलकन्तु तन्निष्काममिति शास्त्रे  
ऽस्मिन् परिभाष्यते ॥३९॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।

स्वल्पमप्यग्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥

सारा०व०—अत्र योगो द्विविधः—श्रवणकीर्त्तनादिभक्तिरूपः, श्री-  
भगवदपितृनिष्कामकर्मरूपश्च । तत्र “कर्मण्येवाधिकारः” इत्यतः  
प्रागभक्तियोग एव निरूप्यते ; “निस्त्रैगुण्यो भवाञ्जु न” इत्युक्ते-  
भक्तेरेव त्रिगुणातातत्त्वान् तथैव पुरुषो निस्त्रैगुण्यो भवतीत्ये-  
कादशस्कन्धे प्रसिद्धे ; ज्ञानकर्मणोस्तु सात्त्विकत्व-राजसत्वाभ्यां  
निस्त्रैगुण्यत्वानुपपत्तिर्भगवदपितृलक्षणा भक्तिस्तु कर्मणा वैक-  
ल्याभावमात्रं प्रतिपादयति, न तु स्वस्य भक्तिव्यपदेशं प्राधान्या-  
भावादेव । यदि च भगवदपितं कर्मापि भक्तिरेवेति मतम्, तदा  
कर्म किं स्यात् ? यद्भगवदपितं कर्म, तदेव कर्मेति चेन्न ?  
“नेष्कर्मस्य च्युतभाव-वर्जितं, न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जितम् ।  
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वर, न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम् ॥”  
इति नारदाक्त्या तस्य वैयर्थ्यप्रतिपादनान् । तस्मादत्र भग-  
वद्वचनमाधुर्यप्राप्तमायनाभूत् । केवलश्रवणकीर्त्तनादिलक्षणैव  
भक्तिर्निरूप्यते, यथा निष्काम-कर्मयोगोऽपि निरूपयितव्यः । उभा-  
वप्येतां बुद्धियोगशब्दवाच्यौ ज्ञेयौ—“ददामि बुद्धियोगं तं येन

मामुपयान्ति ते' इति, 'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय' इति चोक्तेः । अथ निगुणश्रवणकीर्तनादि-भक्तियोगस्य माहात्म्यमाह--नेहेति । इह भक्तियोगेऽभिक्रमे आरम्भमात्रे कृतेऽप्यस्य भक्तियोगस्य नाशो नास्ति, ततः प्रत्यवायश्च न स्यात् । यथा कर्मयोगे आरम्भं कृत्वा कर्मानुष्ठितवतः कर्मनाश-प्रत्यवायो स्यातामिति भावः । ननु तर्हि तस्य भक्त्यनुष्ठातु-कामस्य समुचितभक्त्यकरणात् भक्तिफलं तु नैव स्यात्, तत्राह--स्वरूपमिति । अस्य धर्मस्य स्वल्पमप्यारम्भसमये या किञ्चिन्मात्रा भक्तिरभूत्, सापीत्यर्थः, महतो भयात् संसारात् त्रायत एव--"यन्नामसकृच्छ्रवणात्, पुक्कशोऽपि विमुच्यते संसारात्" इत्यादिश्रवणात्, अजामिलादीं तथा दर्शनाच्च । "न ह्यङ्गोपक्रमध्वंसो मद्धमेत्योद्धवाएवपि । मया व्यवसितः सम्यङ्निगुणत्वादनाशिषः ॥" इति भगवतो वाक्येन सदास्य वाक्यस्येकार्थमेव दृश्यते । किन्तु तत्र निगुणत्वान्न हि गुणातीतं वस्तु कदाचित् ध्वस्तं भवतीति हेतुरप्यन्यस्तः, न चेहापि द्रष्टव्यः । न च निष्कामकर्मणाऽपि भगवदर्पणमहिम्ना निगुणत्वमेवेति वाच्यम्--"मदर्पणं निष्फलं वा सात्त्विकं निजकर्म तत्" इति । वाक्येन तस्य सात्त्विकत्वोक्तं ॥४८॥

गी०भू०--ब्रह्ममाणाया बुद्ध्या युक्तं कर्मयोगं गतौति--नेहेति । इह 'तमेतमे' इत्यादि वाक्याक्तं : निष्कामकर्मयोगेऽभिक्रमस्यारम्भस्य फलात्प्रादुक्त्यनाशो नास्ति । आरब्धस्यासमाप्तस्य वैफल्यं न भवनात्यर्थः । मन्त्राद्यङ्गवैकल्ये च प्रत्यवायो न विद्यते । आत्मादेशमहिम्ना "ॐ नत् मत्" इति भगवन्नाम्ना च तस्य विनाशात् । इह भगवद्विषयस्य निष्कामकर्मलक्षणधर्मस्य किञ्चिदप्यनुष्ठितं मन महतो भयात् संसारात् त्रायते अनुष्ठातारं गच्छते । वक्ष्याति च एवं पार्थ "नैवेह नामुत्र" इत्या-

दिना । काम्यकर्मणि सर्वङ्गोपसंहारेणानुष्ठितान्युक्तफलाय कल्पन्ते, मन्त्राद्यङ्गवैकल्ये तु प्रत्यवायं जनयन्तीति । निष्काम-कर्मणि तु यथाशक्त्यनुष्ठितानि ज्ञाननिष्ठालक्षणं फलं जनयन्त्येवोक्तहेतुतः प्रत्यवायं नोत्पादयन्तीति ॥४९॥

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४९॥

सारा०व०--किञ्च, सर्वभ्योऽपि बुद्धिभ्यो भक्तियोगाविषयिण्येव बुद्धिस्तत्कृतेत्याह--व्यवसायेति । इह भक्तियोगे व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकैव । मम श्रीमद्गुरूपदिष्टं भगवत्कीर्तनस्मरणचरणपरिचरणादिकमेतदेव मम साधनमेतदेव मम साध्यमेतदेव मम जीवातुः साधन-साध्य-दशयोम्यक्तमशक्यमेतदेव मे काम्यमेतदेव मे कार्यमेतदन्यत्र मे कार्यं नाप्याभिलषणीयं स्वप्नेऽपीत्यत्र सुखमस्तु दुःखं वास्तु नमो नश्यतु वा न नश्यतु, तत्र मम कापि न क्षतिरित्येवं निश्चयात्मिका बुद्धिरकैतव-भक्तावेव सम्भवेत्, तदुक्तम्--"ततो भजेत मां भक्त्या श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः" इति । ततोऽन्यत्र नैव बुद्धिरेकेत्याह-बाह्वात-बहवः शाखा यासां ताः । तथा हि कर्मयोगे कामानामानन्त्याद्बुद्धयोऽनन्ताः, तत्साधनानां कर्मणामानन्त्यात् तच्छाखा अप्यनन्ताः । तथैव ज्ञानयोगे प्रथममन्तःकरणशुद्धयर्थं निष्काम-कर्मणि बुद्धिस्ततस्तमन शुद्धे सति कर्मसंन्यासे बुद्धिः, तदा ज्ञाने बुद्धिः : ज्ञानवैफल्यभावात् भक्तौ बुद्धिः--ज्ञानश्च माय संन्यसेत् इति भगवदुक्तेर्ज्ञानसंन्यासे च भक्तौ बुद्धिर्गित बुद्धयोऽनन्ताः । कर्मज्ञानभक्तीनामवश्यानुष्ठेयत्वात् तत्तच्छाखा अप्यनन्ताः ॥४९॥

गी०भू०--काम्य-कर्म-विषयकबुद्धितो निष्कामकर्मविषयक-



बुद्धेर्वैशिष्ट्यमाह व्यवसायेति । हे कुरुनन्दन इह वैदिकेषु सर्वेषु कर्मसु व्यवसायात्मिका भगवदर्चनरूपैर्निष्कामकर्मभिर्विशुद्धचित्तो विपोर्णादिवत् तदन्तर्गतेन ज्ञानेनात्मयाथात्म्यमहमनुभविष्यामीति निश्चयरूपा बुद्धिरेका एकविषयत्वात् । एकस्मै तदनुभवाय तेषां विहितत्वादिति यावत् । अव्यवसायिनां काम्यकर्मानुष्ठातृणां तु बुद्धयोऽनन्ताः । पशवन्नपुत्रस्वर्गादयनन्तकामविषयत्वात् , तत्रापि बहुशाखाः । एकफलकेऽपि दर्शपूर्णमासादावायुः सुप्रजस्तापवान्तरानेकफलाशंसाश्रवणात् । अत्र हि देहातिरिक्तात्मज्ञानमात्ररूपेक्षते न तूक्तात्मयाथात्म्यं तन्निश्चये काम्यकर्मसु प्रवृत्तेरसम्भवात् ॥४१॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।

वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।

क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥

साराव०—तस्मादव्यवसायिनः सकामकर्मिणस्त्वन्तिमन्दा इत्याह—यामिमामिति । पुष्पितां वाचं पुष्पितां विषलतामिवापाततो रमणीयाम् , प्रवदन्ति प्रकर्षेण सर्वतः प्रकृष्टा इयमेव वेदवागिति ये वदन्ति, तेषां तथा वाचा अपहृतचेतसाञ्च व्यवसायात्मिका बुद्धिर्न विधीयते इति तृतीयेनान्वयः । तेषु तस्या अमम्भवात् सा तेषु नापदिश्यत इत्यर्थः । किमिति ते तथा वदन्ति, यतोऽविपश्चितो मूर्खाः । तत्र हेतुः—वेदेषु येऽथेवादाः—“अक्षय्यं वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति”, “अपाम सोमममृता अभूम” इत्याद्याः । अन्यदीश्वरतत्त्वं नास्तीति प्रजल्पनस्ते कीदृशीं वाचं प्रवदन्ति ? जन्मकर्मफलप्रदायिनी भोगै-

श्वर्यगतिं प्रति ये क्रियाविशेषान्तां बहु यथा स्यान् तथा लाति ददाति प्रतिपादयतीति ताम् ॥४२-४३॥

गी०भू०—नन्वेपां व्यवसायात्मिका बुद्धिर्भवेत् श्रुतेस्तौल्यादिति चेच्चित्तदोषान्नभवेदित्याह यामिति त्रिभिः । अविपश्चितोऽल्पज्ञाः यामिमां ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेतेत्यादिकां वाचं प्रवदन्ति इयमेव प्रकृष्टा वेदवागिति कल्पयन्ति । तथा वाचापहृतचेतसां तेषां समाधौ मनसि व्यवसायात्मिका बुद्धिर्न विधीयते नाभ्युदेति इत्यनुपङ्गः । कीदृशीं वाचमित्याह—पुष्पितामिति । कुसुमितविषलतावदापातमनोज्ञां निष्फलामित्यर्थः । एवं कुतस्ते वदन्ति तत्राह वेदिति । वेदेषु ये वादाः “अपाम सोमममृता अभूम अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवतीत्या”दयोऽर्थेवादास्तत्त्वेन गताः वेदस्य सत्यभाषित्वादेवमेवैतदिति प्रतीतिमन्तः । अतएव नान्यदिति कर्मफलान् स्वर्गादन्यत् जीवांशिपरमार्थज्ञानं लभ्यं मोक्षलक्षणं निरतिशयं नित्यसुखं नास्ति । तत्प्रतिपादकानां वेदान्तवाचां कर्माङ्गकर्तृदेवतावेदकतया तच्छेषत्वादिति वदन्शीला इत्यर्थः ॥ ४२ ॥

गी०भू०—चित्तदोषमाह—कामात्मानः वैषयिकसुखवागनाग्रस्तचित्ताः । एवंचेत् तादृशं मोक्षं कुतो नेच्छन्ति तत्राह स्वर्गेति स्वर्ग एव सुधा—देवाङ्गनागपेतत्वेन परः श्रेष्ठो येषां ते । तादृग्वासनाग्रस्तत्वात्तेषां नान्यद्भाषत इत्यर्थः । जन्म कर्मेति—जन्म च देहेन्द्रियसन्बन्धलक्षणं , तत्र कर्म च तत्तादृशीश्रमविहितं , फलञ्च विनाशिपश्चन्नस्वर्गादि । तानि प्रकर्षणादिच्छेदेन ददाति तां भोगैश्वर्ययोगतिं प्राप्तिं प्राति ये क्रियाविशेषा ज्योतिष्टोमादयन्ते बहुलाः प्रचुरा यत्र तां वाचं वदन्तीति पूर्व्वेणान्वयः । भोगः सुधापानदेवाङ्गनादिः, एश्वर्यञ्च देवादिस्वामित्वं तयोर्गतिमित्यर्थः ॥४३॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहतचेतसाम् ।

व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

सारा०व०—ततश्च भोगैश्वर्ययोः प्रसक्तानां तया पुष्पितया वाचापहतमाकृष्टं चेतां येषां ते तथा तेषां समाधिश्चित्तौकाग्र्यं परमेश्वरैकोन्मुखत्वं तस्मिन् निश्चयात्मिका बुद्धिर्न विधीयते—  
“कर्मकर्त्तारि प्रयोगा नोपपद्यते” इति स्वामिचरणाः ॥४४॥

गी०भू०—भोगेति—तेषां पूर्वोक्तयोर्भोगैश्वर्ययोः प्रसक्तानां क्षयित्वदोषास्फूर्त्या तयोर्भिर्निविष्टानां तया पुष्पितया वाचापहतं विलुप्तं चेतां विवेकज्ञानं येषां तादृशानां समाधाविति योज्यम् । सम्यगाधीयतेऽस्मिन्नात्मतत्त्वयाथात्म्यमिति निरुक्तं : समाधिर्मनस्तस्मिन्नित्यर्थः ॥ ४४ ॥

त्रैगुण्यविषया देदा निस्त्रैगुण्यो भवान् ।

निर्द्वन्द्वो नित्यमन्वस्थो नियोगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

सारा०व०—त्वं तु चतुर्वर्गसाधनेभ्यो विरज्य केवलं भक्ति-योगमेवाश्रयस्वेत्याह—त्रैगुण्येति । त्रैगुण्यास्त्रिगुणात्मिकाः कर्म-ज्ञानाद्याः प्रकाश्यत्वेन विषया येषां ते त्रैगुण्यविषया देदाः—  
स्वार्थे प्यञ्, एतच्च “भूम्ना व्यपदेशा भवन्ति” इति न्यायेनोक्तम् । किन्तु “भक्तिरेवैनं नयति” इति, “यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ” इत्यादि-श्रुतयः पञ्चरात्रादिस्मृतयश्च गीतोप-निषद्-गोपालतापन्यासुपनिषदश्च निगुणं भाक्त्यापि विषयी-कुर्वन्त्येव—वेदोक्तत्वाभावे भक्तेरप्रामाण्यमेव स्यात् । ततश्च वेदोक्ता ये त्रिगुणमया ज्ञानकर्मविधयस्तेभ्य एव निर्गता भवतान् न कुरु । ये तु वेदोक्ता भक्तिविधयस्तांस्तु सर्वथैवानुतिष्ठ । तदनुष्ठाने “श्रुतिस्मृतिपुराणादिपञ्चरात्रविधिं विना । ऐकान्तिकी हरेर्भाक्तिरुत्पातायैव कल्प्यते ॥” इति दोषो दुर्वार एव । तेन स-

गुणानां गुणातीतानामपि; वेदानां विषयास्त्रैगुण्या निस्त्रैगुण्याश्च । तत्र त्वं तु निस्त्रैगुण्यो भव । निगुण्या मदभक्त्यैव त्रिगुणात्मकेभ्यस्तेभ्यो निष्क्रान्तो भव; तत एव निर्द्वन्द्वा गुणमय-मानापमानादिरहितः, अतएव नित्यैः सत्त्वैः प्राणिभिर्मदभक्तैरेव सह तिष्ठतीति तथा सः, नित्यं सत्त्वगुणस्थो भवेति व्याख्यायां निस्त्रैगुण्यो भवेति व्याख्यायां विरोधः स्यात् । अलब्धलाभो योगः, लब्धम्य रक्षणं क्षेमस्तद्विरहितः । मद्भक्तिरसास्वादवशादेव तयोरननुसन्धानात्, “योगक्षेमं वहाम्यहम्” इति भक्तवत्सलेन मयैव तद्धारवहनात् । आत्मवान् मदभावबुद्धियुक्तः । अत्र निस्त्रैगुण्य-त्रैगुण्ययोर्विवेचनम् ; यदुक्तमेकादश—“मदर्पणं निष्फलं वा सात्त्विकं निज-कर्म तत् । राजसं फलसङ्कल्पं हिंसाप्रायादि तामसम् ॥” निष्फलं वेति नैमित्तिकं निजकर्मफलाकाङ्क्षारहितमित्यर्थः । “कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानं रजो वैकल्पिकञ्च यत् । प्राकृतं तामसं ज्ञानं मन्त्रिष्ठं निगुणं स्मृतम् ॥ बन्तु सात्त्विकं वासो प्रामो राजस उच्यते । तामसं द्युतसदनं मन्त्रकेतन्तु निगुणम् ॥ सात्त्विकः कारकोऽसङ्गो रागान्धा राजसः स्मृतः । तामसः स्मृति-विभ्रष्टो निगुणो मदपाश्रयः ॥ सात्त्विक्याध्यात्मिकी श्रद्धा कर्मश्रद्धा तु राजसी । तामस्यधर्मे या श्रद्धा मत्संवायान्तु निगुणा ॥ पथ्यं पूतमनायस्तमाहार्यं सात्त्विकं स्मृतम् । राजसं चेन्द्रिय-प्रेष्ठं तामसं चार्तिदाशुचि ॥” “च-कारान्मन्त्रिवेदितन्तु निगुणम्” इति श्रीस्वामिचरणानां व्याख्यानम् । “सात्त्विकं सुखमात्मोत्थं विषयोत्थन्तु राजसम् । तामसं मोह-दैवोत्थं निगुणं मदपाश्रयम् ॥” इत्यन्तेन ग्रन्थेन त्रैगुण्यवस्तून्पि प्रदर्श्य निगुण्यस्य सम्यङ् निस्त्रैगुण्यतासिद्धयर्थं निगुण्यैव भक्त्या स्वस्मिन् कथञ्चित् स्थितस्य त्रैगुण्यस्य निर्जयोऽप्युक्त-स्तदनन्तरमेव ; यथा—“द्रव्यं देशस्तथा कालो ज्ञानं कर्म च



कारकः । श्रद्धावस्थाकृतिर्निष्ठा त्रैगुण्यः सर्व एव हि ॥ सर्वे गुणमया भावाः पुरुषाव्यक्ताधिष्ठिताः । दृष्टं श्रुतमनुध्यातं बुद्ध्या वा पुरुषर्षभ ॥ एताः संसृतयः पुंसो गुणकम्मनिबन्धनाः । येनेमे निज्जिताः सौम्य गुणा जीवेन चित्तजाः । भक्तियोगेन मन्निष्ठो मद्भावाय प्रपद्यते ॥” इति । तस्माद्वक्त्यैव निगुण्यया त्रैगुण्य-जयो नान्यथा । अत्राप्यग्रे ‘कथं चैतांस्त्रान् गुणानतिवर्त्तते’ इति प्रश्ने वक्ष्यते—“माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते । स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥” इति । श्रीस्वामि-चरणानां व्याख्या च—“च—कारोऽत्रावधारणार्थः; मामेव परमेश्वरमव्यभिचारेण भक्तियोगेन यः सेवते” इत्येषा ॥४५॥

गी०भू०—ननु कलनैरपेक्ष्येण कर्माणि कुर्वन्नापि तानि स्वफलेभिर्यजियुस्तन् स्वाभाव्यात्ततः कथं तद्बुद्धेः सम्भव इति चेत्तत्राह त्रैगुण्याति । त्रयाणां गुणानां कर्म त्रैगुण्यम् । “गुणवच-नब्राह्मणादिभ्यः कर्माणि चे”ति सूत्रात् प्यञ्ज-सकामत्वमित्यर्थः । तद्विषया वेदाः कर्मकाण्डानि त्वं तु तच्छिरोभूतवेदान्तनिष्ठो निस्त्रैगुण्यो निष्कामो भव । अयमर्थः — पितृकोटिवत्सलो हि वेदोऽनादिभगवद्विमुखान्मायागुणैर्निबद्धांस्तद्गुणसृष्ट्मात्मिकाद-मुख्यमक्तान् प्रति तत्कामाननुसृत्य फलानि प्रकाशयन् स्व-भिम्भतान् विश्रम्भयति । तादृश्रम्भेण तत्परिशालितमते तन्मू-ढं भूतोपनिषत्प्रतीतयाथात्म्यान्श्रयेन तां बुद्धिं यान्तीति न चाकामतान्यपि तान्यापतेयुः कामितानामेव तेषां फलत्व-श्रवणात् । न च सर्वेषां वेदानां त्रैगुण्याविषयत्वं निस्त्रैगुण्य-ताया अप्रामाणिकत्वापत्तेः । ननु शीतोष्णादिनिवारणाय वस्त्रादेः काम्यत्वात् कथं निष्कामत्वं तत्राह निर्वृन्द इति । मात्रारपशमितु कान्तयेत्यादि विरशेन द्वन्द्वसह भव । तत्र हंतु-नित्येति । नित्यं यत् रुच्यमपारिणामित्वं जीवानिष्टं तत्-

म्यन्तद्विभाव्येत्यर्थः । तत एव निर्योगक्षेमः । अलब्धलाभो योगः लब्धस्य परिरक्षणं क्षेमं तद्विहितो भवेत्यर्थः । ननु लुप्त-पिपासे तथापि बाधिके इति चेत्तत्राह आत्मवानिति । आत्मा विश्वम्भरः परमात्मा स यम्य ध्येयतयास्ति तादृशो भवेत्यर्थः, स ते देहयात्रां सम्पादयेदित्यर्थः ॥ ४५ ॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।

तावान्मर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

सारावच—दन्त, किं वक्तव्यं निष्कामस्य निगुण्यस्य भक्ति-योगस्य साहाय्यं यम्यैवारम्भणमात्रेऽपि नाशप्रत्यबायौ न स्तः । स्वल्पमात्रेणापि कृतार्थतत्वेकादशेऽप्युद्धवायापि वक्ष्यते—“न ह्यङ्गोपक्रमे ध्वंसो मद्गर्भस्योद्धवायापि । मया व्यवमितः सम्य-ङ्निगुणत्वादनाशिषः ॥” इति । किन्तु सकामो भक्तियोगोऽपि व्यवसायात्मिक-वृद्धि-शब्देनोच्यते इति दृष्टान्तेन साधयति—यावानिति । उदपान इति जात्यैकवचनम्—उदपानेषु कूपेषु; यावानर्थ इति कश्चित् कूपः शौचकर्मार्थकः, कश्चित् दन्तधा-वनार्थकः, कश्चिद्वस्त्रधावनार्थकः, कश्चित् केशादिमार्जनार्थकः, कश्चित् स्नानार्थकः, कश्चित् पानार्थक इत्येवं सवेतः सर्वेषु उदपानेषु यावानर्थो यावन्ति प्रयोजनानात्यर्थः । संप्लुतोदके महाजलाशये सरोवरेऽपि तावानेवार्थः—तस्मिन् एकस्मिन्नेव शौचादिकर्म-सिद्धेः । किञ्च, तत्तत्कूपेषु पृथक् पृथक् परिश्रमश्रमेण, सरो-वरे तु तं विनैव; तथा कूपेषु विरम-जलेन, सरोवरे तु गुरुम-जलेनैवेत्यपि विशेषो द्रष्टव्यः । एवं सर्वेषु वेदेषु तत्तदेवता-गधनेन यावन्तोऽर्थास्तावन्त एकस्य भगवदाराधनेन विजानतो विज्ञस्य ब्राह्मणस्येति ब्रह्म वेदं वेत्तीति ब्रह्मणस्तस्य विजानतो वेदज्ञत्वेऽपि वेदतात्पर्यं भक्ति विशेषतो जानतः; यथा द्वितीय-

स्वन्धे—“ब्रह्मबर्चसकामस्तु यजेत ब्रह्मणः पतिम् । इन्द्रमिन्द्रिय-  
कामस्तु प्रजाकामः प्रजापतीन् ॥ देवीं मायान्तु श्रीकामः” इत्या-  
द्युक्त्या “अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः । तीव्रेण  
भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥” इति मेवाद्यमिश्रस्य सौरकिर-  
णस्य तीव्रत्वमिवा भक्तियोगस्य ज्ञानकर्ममिश्रत्वं तीव्रत्वं  
ज्ञेयम् । अत्र बहुभ्यो बहुकामसिद्धिरिति सर्वथा बहुबुद्धित्व-  
मेव । एकस्माद्भगवत एव सर्वकामसिद्धिरित्यंशेनैकबुद्धत्वादेक-  
बुद्धित्वमेव विषयसादगुण्याज्ज्ञेयम् ॥४६॥

गी०भू०—ननु सर्वान् वेदानधीयानस्य बहुकालव्ययाद्बहु-  
वित्तेषाम्भवाच्च कथं तद्बुद्धेरभ्युदयस्तत्राह—यावान्नाति ।  
सर्वतः संप्लुतोदकेति । विस्तीर्णे उदपाने जलाशये स्नानाद्यधि-  
नो यावान् स्नानपानादित्येः प्रयोजनं तावानेव स तेन तस्मान्  
संपद्यते । एवं सर्वेषु सोपनिषत्सु वेदेषु ब्राह्मणस्य वेदाध्यायनो  
विजानत आत्मयाथात्म्यज्ञानं लब्धुकामस्य यावान् न ज्ञान-  
सिद्धिलक्षणोऽर्थः स्यात्तावानेव तेन तेभ्यः संपाद्यते इत्यर्थः ।  
तथाच स्वशास्त्रैव सोपनिषदाचरेणैव तत् सिद्धौ तद्बुद्धेरभ्यु-  
दियादेवेति । इह दाष्टीन्तवेऽपि यावांस्तावानिति पदद्वयमनुपञ्ज-  
नीयम् ॥ ४६ ॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥

मार्गादहं—एवमेवमेवाऽर्जुनं स्वप्रियस्त्वं लक्ष्यकृत्य ज्ञान-  
भक्तिकर्मयोगानां चित्त्यामुर्भगवान् ज्ञानभक्तियोगौ प्राच्य तयो-  
रर्जुनस्यानधिकारः विमृष्य निष्कामकर्मयोगमाह—कर्मणीति ।  
मा फलेष्विति—फलाकाङ्क्षिणोऽप्यत्यन्ताशुद्धचित्ता भवन्ति ;  
त्वनु प्रायः शुद्धचित्ता इति मया ज्ञातव्योच्यते इति भावः ।

ननु कर्मणि कृते फलमवश्यं भविष्यत्येवेति ? तत्राह—मा कर्म-  
फलहेतुर्भूः फलकामनया हि कर्म कूर्त्तव्यं फलस्य हेतुरुत्पादको  
भवति ; त्वन्तु तादृशो मा भूगित्याशीर्मया दीयत इत्यर्थः । अक-  
र्मणि स्वधर्मकरणे विकर्मणि पापे वा सङ्गमव मास्तु, किन्तु  
द्वेष एवास्त्विति पुनरप्याशीर्दीयत इति । अत्राप्रिमाध्याये—  
“व्यामिश्रेणैव वाक्येन बुद्धिं मोहयामीव मे” इत्यर्जुनोक्ति-  
दर्शनादत्राध्याये पूर्वोत्तरवाक्यानामनन्तरिकाभिर्नातीव सङ्गति-  
विधित्सितेति ज्ञेयम् । किन्तु त्वदाज्ञायां माग्यादौ यथाहं  
तिष्ठामि, तथा त्वमपि मदाज्ञायां तिष्ठेति कृष्णाऽर्जुनयोर्मनो-  
ऽनुलापोऽयमत्र द्रष्टव्यः ॥४७॥

गी०भू०—ननु कर्मभिर्ज्ञान-निर्द्धिरप्यते चेत्तर्हि तस्य  
शमादीन्येवान्नरङ्गत्वादानुष्ठेयानि सन्तु किं बहु प्रयासेनैगिति  
चेत्तत्राह—कर्मण्येवेति ; जानावेकवचनम् । ते नव स्वधर्मोऽपि  
युद्धेऽधर्मयुद्धेरशुद्धचित्तस्य तावत् कर्ममेव युद्धादिष्वधिकारो-  
ऽस्तु मयैतानि कर्तव्यानीति तत् फलेषु बन्धकेषु तदाधिकारो  
मास्तु मयैतानि भोक्तव्यानीति । ननु फलेच्छाविरहोऽपि तानि  
स्वफलैर्योजयेयुरिति चेत्तत्राह मा कर्मणि । कर्मफलानां हेतुरुत्पा-  
दकत्वं माभूः कामनया कृतानि तानि स्वफलैर्योजयन्ति कामिना-  
नामेव फलानां नियोज्यविशेषणत्वेन फलत्वाग्नातान् । अतएव  
बन्धकानि फलानि आपनिष्यन्तीति भयादकर्मणि कर्मकरणे  
नव सङ्गः प्रीतिर्मास्तु किन्तु विद्वेष एवास्त्वित्यर्थः । निष्काम-  
तयानुष्ठितानि कर्मणि यष्टिवान्यवदन्तरेव ज्ञाननिष्ठां निष्पाद-  
यिष्यन्ति—शमादीनि तु तत्प्रपञ्चगतान्येव स्युरिति भावः ॥४७॥

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।

निद्वयसिद्धयोः सतो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥



सारा०व०—निष्कामकर्मणः प्रकारं शिक्षयति—योगस्थ इति । तेन जयाजययोस्तुल्यबुद्धिः सन् संप्राममेव स्वधर्मकुर्विति भावः । अयं निष्कामकर्मयोग एव ज्ञानयोगत्वेन परिणमतीति । ज्ञानयोगोऽप्येवं पूर्वोक्तप्रत्ययार्थतात्पर्यतो ज्ञेयः ॥४८॥

गी०भू०—पूर्वोक्तं विशदयति—योगस्थ इति । त्वं मङ्गललाभिलाषं कर्त्तव्याभिनिवेशं च त्यक्त्वा योगस्थः सन् कर्माणि कुरु युद्धादीनि । आद्येन मायानिमज्जनमेव ; द्वितीयेन तु स्वातन्त्र्यलक्षणपरेशधर्मचौर्यं, तेन तन्माया-व्याकोपः—अतस्तयोः परित्याग इति भावः । योगस्थपदं विवृणोति—सिद्धयसिद्धयोरिति । तदनुषङ्गफलानां जयादीनां सिद्धावसिद्धौ च समो भूत्वा रागद्वेषादितः सन् कुरु । इदमेव समत्वं मया योगस्थ इत्यत्र योगशब्देनोक्तं, चित्तसमाधानरूपत्वात् ॥४८॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।

बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥

सारा०व०—सकामकर्म निन्दति—दूरेणेति । अवरमतिनिकृष्टं काम्यं कर्म ; बुद्धियोगात् परमेश्वरार्पित-निष्कामकर्मयोगात् । बुद्धौ निष्कामकर्मण्येव, बुद्धियोगो निष्कामकर्मयोगः ॥४९॥

गी०भू०—अथ काम्यकर्मणो निकृष्टत्वमाह—दूरेणेति । बुद्धियोगादवरं कर्म दूरेण, हे धनञ्जय, आत्मयाथात्मबुद्धिमाधनभूतान्निष्कामकर्मयोगात् दूरेणातिविप्रकर्षणावगत्यापकृष्टं जन्मपरणाशनर्थनिमित्तं काम्यं कर्म इत्यर्थः । हि यस्मादेवमतस्त्वं बुद्धौ तयाथात्म्यज्ञाने निमित्ते शरणमाश्रयं निष्कामकर्मयोगमन्विच्छ कुरु । ये तु फलहेतवः फलकामा अवरकर्मकारिणस्तैः कृपणास्तत्फलजन्मकर्मादिप्रबाहपरवशा दीना इत्यर्थः । तथा च

त्वं कृपणो माभूरिति इह कृपणाः खलु कष्टोपार्जितवित्तादृष्टसुखलबलबुद्ध्या वित्तानि दातुमसमर्था महता दानमुख्येन बाञ्छितास्तथा वष्टानुष्ठितकर्माणस्तुच्छतत्फलबुद्ध्या महतात्ममुख्येन बाञ्छिता भवन्तीति व्यज्यते ॥४९॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।

तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

सारा०व०—योगायोक्तलक्षणाय युज्यस्व घटस्व ; यतः कर्मसु सकाम-निष्कामेषु मध्ये योग एवोदासनित्येन कर्मकरणमेव । कौशलं नैपुण्यमित्यर्थः ॥५०॥

गी०भू०—उक्तस्य बुद्धियोगस्य प्रभावमाह—बुद्धीति । इह कर्मसु यो बुद्धियुक्तः प्रधानफलत्यागविषयानुषङ्गफलसिद्धयसिद्धिसमत्वविषयया च बुद्ध्या युक्तस्तानि करोति, स उभे अनादिकालमञ्जिते ज्ञानप्रतिबन्धके सुकृतदुष्कृते जहानि विनाशयतीत्यर्थः । तस्मादुक्ताय बुद्धियोगाय युज्यस्व त्वं घटस्व । यस्मान् कर्मयोगस्तादृशबुद्धिसम्बन्धः । कौशलं चातुर्यम—बन्धकानामेव बुद्धिसम्पर्काद्विशोषित-विषयार्दन्यायेन मोचकत्वेन परिणामान् ॥५०॥

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।

जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

गी०भू०—कर्मजमिति । बुद्धियुक्तास्तादृशबुद्धिमन्तः कर्मजं फलं त्यक्त्वा कर्माण्यनुतिष्ठन्तो मनीषिणः कर्मान्तर्गतात्मयाथात्म्यप्रज्ञावन्तो भूत्वा जन्मबन्धेन विनिर्मुक्ताः सन्तोऽनामयं क्लेशशून्यं पदं वैकुण्ठं गच्छन्तीति । तस्मात्त्वमपि श्रेयो जिज्ञासुरेवं विधानि कर्माणि कुर्विति भावः । स्वात्मज्ञानस्य परमात्मज्ञानहेतुत्वात् तस्यापि तत्पदगतिहेतुत्वं युक्तम् ॥५१॥

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।

तदा गन्तानि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

सारावच०—एवं परमेश्वरार्पित-निष्कामकर्मभ्यासात् तव योगो भविष्यतीत्याह—यदेति । तव बुद्धिरन्तःकरणं मोहकलिलं मोहरूपं गहनं विंशत्यतोऽतिशयेन तरिष्यति, तदा श्रोतव्यस्य श्रोतव्येष्वर्थेषु श्रुतस्य श्रुतेऽप्यर्थेषु निर्वेदं प्राप्स्यसि अमम्भाना-विपरीतभावतया नेष्टत्वात् किं मे शास्त्रोपदेशवाक्यश्रवणेन ? साम्प्रतं मे माधनेष्वेव प्रतिक्षणमभ्यासः सर्वथाचित इति मंथ्यम इति भावः ॥५२॥

गी०भू०—ननु निष्कामाणि कर्माणि कुर्वतो मे कदात्म-विषया मत्तपाभ्यादियादिति चेत् तत्राह—यदेति । यदा ते बुद्धि-रन्तःकरणं मोहकलिलं तुच्छफलाभिलाषहेतुमज्ञानगहनं व्यति-तरिष्यति परित्यक्षतीत्यर्थः, तदा पूर्वं श्रुतस्यानन्तरं श्रोत-व्यस्य च तस्य तुच्छफलस्य सम्बन्धिनं निर्वेदं गन्तासि गमि-ष्यसि “परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात्” इति श्रवणात् । निर्वेदेन फलेन तद्विषयां तां परिचेप्यति इति नान्यत्र कालनियम इत्यर्थः ॥५२॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।

समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

सारावच०—ततश्च श्रुतिषु नाना-लौकिक-वैदिकार्थश्रवणेषु विप्रतिपन्नाऽमम्भाना विरक्तेति यावत् । तत्र हेतुः—निश्चला तेषु तेष्वर्थेषु चतितुं विमुखाभूतेत्यर्थः । किन्तु समाधौ पष्टेऽध्याय-वश्यमाण-लक्षणैश्च ता स्थैर्यवती ; तदा योगमपराश्रानुभव-प्राप्त्या, जीवन्मुक्त इत्यर्थः ॥५३॥

गी०भू०—ननु कर्मफलनिर्विदग्गतया कर्मानुष्ठानेन लब्ध-बुद्धिशुद्धेर्भ्युदितात्मज्ञानस्य मे कदात्मसाक्षात्कृतिमिति चेत्त-त्राह—श्रुतीति । श्रुत्या कर्मणां ज्ञानगर्भतां प्रबोधयन्त्या “तमे-नम” इत्यादिकया विप्रतिपन्ना विशेषेण संसिद्धा ते बुद्धिश्चला अमम्भानाविपरीतभावनाभ्यां विरहिता यदा समाधौ मनसि निर्वर्ततदीपशिखेव निश्चला स्थास्यति, तदा योगमात्मानुभव-लक्षणमवाप्स्यसि । अयमर्थः—फलाभिलाषशून्यतयानुष्ठितानि कर्माणि स्थितप्रज्ञतारुपां ज्ञाननिष्ठं साधयन्ति, ज्ञानानिष्ठारुपा स्थितप्रज्ञता त्वात्मानुभवासात् ॥५३॥

अर्जुन उवाच—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिरथस्य केशव ।

स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत ब्रजेत किम् ॥५४॥

सारावच०—समाधावचला बुद्धिरिति श्रुत्वा तत्त्वतो योगिनो लक्षणं पृच्छति—स्थितप्रज्ञस्येति ; स्थिता स्थिराऽचला प्रज्ञा बुद्धिरस्येति । का भाषा ?—भाष्यतेऽन्येति भाषा लक्षणं किं लक्षणमित्यर्थः । कीदृशस्य समाधिरथस्येति समाधौ स्थास्य-तीति । अम्यार्थः—एवञ्च स्थितप्रज्ञ इति, समाधिरथ इति जीव-न्मुक्तस्य संज्ञाद्वयम् । किं प्रभाषेतेति मृगदुःखयोर्भाषामानयोः स्तुतिनिन्दयोः स्नेहद्वयोर्बा समुपास्थितयोः किं प्रभाषेत ?—स्वप्नं स्वगतं वा किं बदेदित्यर्थः । किमासीत ?—तदिन्द्रियाणां बाह्यविषयेषु चलनाभावः कीदृशः ? ब्रजेत किम्—तेषु चलनं वा कीदृशमिति ॥५४॥

गी०भू०—एवमुक्तोऽर्जुनः पूर्वपरोक्तस्य स्थितप्रज्ञस्य लक्षणं ज्ञातुं पृच्छति—स्थितेति । स्थितप्रज्ञेऽत्र चत्वारः प्रश्नाः—समाधिरथे एकः, व्युत्थिते तु त्रयः । तथा हि स्थिता स्थिरा प्रज्ञा



धीर्यस्य तस्य समाधिस्थस्य का भाषा किं लक्षणम् ? भाष्यते-  
ऽनयेतिव्युत्पत्तेः, केन लक्षणेन स्थितप्रज्ञोऽभिधीयत इत्यर्थः ।  
तथा व्युत्थितः स्थितप्रज्ञः कथं भाषणादीनि कुर्यात् ?—तदी-  
यानि तानि पृथग्जनबलक्षणानि कीदृशानीत्यर्थः । तत्र किं प्रभा-  
पेत ? स्वयोः स्तुतिनिन्दयोः स्नेहद्वेषयोश्च प्राप्तयोर्मुखतः स्वगतं  
वा किं ब्रूयात् ? किमासीत् बाह्यविषयेषु कथमिन्द्रियाणां निग्रहं  
कुर्यात् ? ज्ञेत किम् ? किं तन्निग्राहभावे च कथं विषयानवा-  
प्नुयादित्यर्थः । त्रिषु सम्भावनायां लिङ् ॥ ५४ ॥

श्रीभगवानुवाच--

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।

आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५५ ॥

साराव०--चतुर्णां प्रश्नानां क्रमेणोत्तरमाह--प्रजहातीति  
यावदध्यायसमाप्तिः । सर्वानिति कस्मिन्नप्यर्थे यस्य किञ्चिन्मा-  
त्रोऽपि नाभिलाष इत्यर्थः । मनोगतानिति कामानामनात्म-धर्म-  
त्वेन परित्यागे योग्यता दर्शिता । यदि ते ह्यात्मधर्माः स्युस्तदा  
तांस्त्यक्तुमशक्येयम् बहुरोपेयवर्द्धाति भावः । तत्र हेतुः--आत्मानि  
प्रत्याहृते मनसि प्राप्ते य आत्मानन्दरूपस्तेन तुष्टः । तथा च  
श्रुतिः--“यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽम्य हृदि स्थिताः ।  
अथ मर्त्योऽमृता भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥” इति ॥ ५५ ॥

गी०भू०--एवं पृष्ठे भगवान् क्रमेण चतुर्णामुत्तरमाह यावद-  
ध्यायपूर्तिः । तत्र प्रथमस्याह प्रजहातीत्येकेन । हे पार्थ यदा  
मनोगतान् मनसि स्थितान् कामान् सर्वान् प्रजहाति संत्यजति  
यदा स्थितप्रज्ञ उच्यते । कामानां मनोधर्मत्वान् परित्यागो युक्तः  
आत्मधर्मत्वे दुःशक्यः न स्याद्वन्द्युपेयतादीनामवेति भावः  
ननु शुष्ककाष्ठवनं वथं तिष्ठतीति चेत्तत्राह--आत्मन्येवेति ।

आत्मनि प्रत्याहृते मनसि भासमानेन स्वाप्रकाशानन्दरूपेणात्मना  
स्वरूपेण तुष्टः परितृप्तः क्षुद्रविषयाभिलाषान् संत्यज्यात्मानन्दा-  
रामः समाधिस्थः स्थितप्रज्ञ इत्यर्थः । “आत्मा पुंसि स्वाभावे-  
ऽपि प्रयत्नमनसोरपि । धृतावपि मनीषायां शरीरब्रह्मणोरपी”ति  
मेदिनीकारः । ब्रह्म चात्र जीवेश्वरान्यतरद्ग्राह्यम् ॥ ५५ ॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।

वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

साराव०--किं प्रभापेतेत्यस्य उत्तरमाह--दुःखेषु क्षुत्पि-  
पासा-ज्वर-शिरोरोगादिध्वाध्यात्मिकेषु सर्पव्याघ्राद्युत्थितेष्व-  
धिभौतिकेष्वतिबातघृष्ट्याद्युत्थितेष्वार्थदौर्बल्येषूपस्थितेष्वनुद्विग्न-  
मनाः प्रारब्धं दुःखमिदं मयाऽवश्यं भोक्तव्यमिति स्वगतं केनाचित्  
पृष्टः सन् स्पष्टञ्च ब्रुवन्, न दुःखेष्वनुद्विग्न इत्यर्थः । तस्य तादृश-  
सुखाबिक्रियाभाव एवानुद्वेगलिङ्गं सुधिया गम्यम्, कृत्रिमानुद्वे-  
गलिङ्गबांस्तु कपटी--सुधिया परिचितो भ्रष्ट एवोच्यत इति  
भावः । एवं सुखेष्वप्युपस्थितेषु विगतस्पृह इति प्रारब्धमिद-  
मवश्यभोग्यमिति स्वगतं स्पष्टञ्च ब्रुवाणस्य तस्य सुखस्पृहा-  
राहित्यलिङ्गं सुधिया गम्यमेवेति भावः । तत्तल्लिङ्गमेव स्पष्टीकृत्य  
दर्शयति--वीतो विगतो रागोऽनुरागः सुखेषु, वीतं भयं स्वभो-  
क्तृभ्यो व्याघ्रादिभ्यो वीतः क्रोधः स्वहन्तृषु बन्धुजनेषु यस्य  
सः । यथैवादि-भरतस्य देव्याः पार्श्वं प्रापितस्य स्वच्छेदचिकी-  
र्षीवृषलराजान्न भयम्, नापि तत्र कोवोऽभूदिति ॥ ५६ ॥

गी०भू०--अथ व्युत्थितः स्थितप्रज्ञः किं भाषेतेत्यस्योत्तर-  
माह दुःखेष्विति द्वाभ्याम् । त्रिविधेष्वध्यात्मिकादेषु दुःखेषु  
समुत्थितेषु सत्सु अनुद्विग्नमनाः प्रारब्धफलान्यमुनि मयावश्यं  
भोक्तव्यानीति केनाचित् पृष्टः स्वगतं वा ब्रुवन् तेभ्यो नोद्विग्नत

इत्यर्थः । सुखेषु चोत्तमाहारसत्कारादिना समुपस्थितेषु विगत-  
म्पृहन्तृणां शून्यः प्रारब्धाकृष्टान्यमुनि मयावश्यं भोक्तव्यानीति  
केनचित् पृष्टः स्वगतं वा ब्रुवान् तैरुपस्थितैः प्रहृष्टमुखो न  
भवतीत्यर्थः । वीतेति--वीतरागः कमनीयेषु प्रीतिशून्यः,  
वीतभयः विषयापहर्तृषु प्राप्तेषु दुर्वलस्य समैतानि धम्म्यै  
भवद्भिर्हियन्त इति दैन्यशून्यः, वीतक्रोधः तेष्वेव प्रवलस्य  
समैतानि तुच्छैर्भवद्भिः कथमपहर्तव्यानीति क्रोधशून्यश्च ।  
एवम्विधो मुनिरात्ममननशीलः स्थितप्रज्ञ इत्यर्थः । इत्थं स्वानु-  
भवं परान् प्रति स्वगतं वा बद्धनुद्धं गो निम्पृहतादिवचः प्रभा-  
षते इत्युत्तरम् ॥ ५६ ॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।

नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

सारा० व०--अनभिस्नेहः सोपाधिस्नेहशून्यो दयालुत्वान्नि-  
रुपाधिरीपन्मात्रस्नेहस्तु तिष्ठेदेव । तत्तत्प्रसिद्धं सम्मान-भोजना-  
दिभ्यः स्वपरिचरणं शुभं प्राप्याशुभमनादरणं मुष्टिप्रहारादिकञ्च  
प्राप्य क्रमेण नाभिनन्दति, न प्रशंसति--त्वं धार्मिकः परम-  
हंस-मेवो सुखी भवेति न ब्रूते, न द्वेष्टि--त्वं पापात्मा नरके  
पतेति नाभिशापति, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता--समाधिं प्रति स्थिता,  
मुस्थितप्रज्ञा उच्यते इत्यर्थः ॥ ५७ ॥

गी० भू०--य इति सर्वेषु प्राणिषु अनभिस्नेहः औपाधिकस्नेहशून्यः ।  
कार्माण्युक्तत्वान्निरुपाधिरीपत्स्नेहस्त्वस्येव । तत्तत् प्रसिद्धं शुभ-  
मुत्तमभोजनस्रक् चन्दनार्पणरूपं प्राप्य नाभिनन्दति तदपेक्षं प्रति  
धर्मिष्ठत्वं चिगृह्णीति न वदति । अशुभमपमानं याष्ट्रप्रहारा-  
दिकञ्च प्राप्य न द्वेष्टि, पापप्रसूतं म्रियतेति नाभिशापति । तस्य  
प्रज्ञाति--स स्थितप्रज्ञ इत्यर्थः । अत्र मुनि-नन्दन-रूपं बचो न  
भाषते इति व्यतिरेकेण तल्लक्षणम् ॥ ५७ ॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥

सारा० व०--किमासीतित्यस्योत्तरमाह--यदेति । इन्द्रिया-  
र्थेभ्यः शब्दादिभ्य इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि संहरते । स्वाधीना-  
नामिन्द्रियाणां बाह्यविषयेषु चलनं निषिध्यन्तरेव निश्चलतया  
स्थापनं स्थितप्रज्ञस्यामनमित्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः--कूर्मोऽङ्गानि  
मुखनेत्रादीनि यथा स्वान्तरेव स्वेच्छया स्थापयति ॥ ५८ ॥

गी० भू०--अथ किमासीतित्यस्योत्तरं यदेत्यादिभिः पङ्क्ति-  
राह । अयं योगी यदा चेन्द्रियार्थेभ्यः शब्दादिभ्यः स्वाधीनानी-  
न्द्रियाणि श्रोत्रादीन्यनायासेन संहरति समाकर्षति तदा तस्य प्रज्ञा  
प्रतिष्ठितेत्यन्वयः । अत्र दृष्टान्तः कूर्मोऽङ्गानीवेति । मुखक-चरण-  
ानि यथानायासेन कमटः संहरति तद्वन्त विषयेभ्यः समाकर्षते-  
न्द्रियानामन्तःस्थापनं स्थितप्रज्ञस्यामनम् ॥ ५८ ॥

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।

रमवर्जं रमोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥

सारा० व०--ननु मूढस्याप्युपवासतो रागादि-वशाद्धेन्द्रियाणां  
विषयेष्वचलनं सम्भावेत्तत्राह--विषया इति । रमवर्जं रमो  
रागोऽभिलापस्तं वर्जयित्वा--अभिलापस्तु विषयेषु न निवर्तते  
इत्यर्थः । अस्य स्थितप्रज्ञस्य तु परं परमात्मानं दृष्ट्वा विषयेष्व-  
भिलापो निवर्तते इति न लक्षणव्याभचारः । आत्मसाक्षात्कार-  
समर्थस्य तु साधकत्वमेव, न तु सिद्धत्वाति भावः ॥ ५९ ॥

गी० भू०--ननु मूढस्याप्यप्रसक्तस्य विषयेष्विन्द्रियाप्रवृत्तिदृष्टा  
ततः कथमेतत् स्थितप्रज्ञस्य लक्षणं तत्राह विषया इति ।  
निराहारस्य रोगभयाद्भोजनादीन्यनुर्व्वतो मूढस्यापि देहिनां जनस्य  
विषयारतदनुभवा विनिवर्तन्ते । किन्तु रमो रागान्तृणां तद्वर्जं



विषयतृणा तु न निवर्त्तत इत्यर्थः । अस्य स्थितप्रज्ञस्य तु रसोऽपि विषयरसोऽपि विषयेभ्यः परं स्वप्रकाशानन्दमात्मानं दृष्टानुभूय निवर्त्तते विनश्यतीति मराग-विषय-निवृत्तिस्तस्य लक्षणमिति न व्यभिचारः ॥ ५६ ॥

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ ६० ॥

मारा०व०--साधकावस्थायान्तु यत्न एव महान्, न त्विन्द्रियाणि परावर्त्तयितुं सर्वथा शक्तिरित्याह--यतत इति । प्रमाथीनि प्रमथनशीलानि क्षोभकराणीत्यर्थः ॥ ६० ॥

गी०भू०--अथास्या ज्ञाननिष्ठया दौर्लभ्यमाह यतत इति । विपश्चितो विषयात्मस्वरूपविवेकज्ञस्य तत इन्द्रियजये प्रयतमानस्यापि पुरुषस्य इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि कर्तृणि मनः प्रसभं बलादिव हरन्ति । हृत्वा विषय-प्रवणं कुर्वन्तीत्यर्थः । ननु विरोधिनि विवेकज्ञाने स्थिते कथं हरन्ति तत्राह प्रमाथीनीति-अति वर्लिष्टत्वाच्चाज्ञानोपमर्दनक्षमाणीत्यर्थः । तस्मात् चौरैभ्यो महानिधेरिवेन्द्रियेभ्यो ज्ञाननिष्ठायाः संरक्षणं स्तितप्रज्ञस्यामनमिति ॥ ६० ॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।

वशं हि यम्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

मारा०व०--मत्परो मद्भक्त इति, मद्भक्तिं विना नैवेन्द्रियजय इत्याग्रिमग्रन्थेऽपि सर्वत्र द्रष्टव्यम्, यदुक्तमुद्धवेन--“प्रायशः पुण्डरीकाक्ष युञ्जन्तो योगिनो मनः । विषीदन्त्यसमाधानान्मनो-निग्रहवर्षिताः ॥ अथात आनन्ददुषं पदाम्बुजं, हंसाः शयेरन” इति । वशं हीति स्थितप्रज्ञस्येन्द्रियाणि वशाभूतानि भवन्तीति साधकाद्विशेष उक्तः ॥ ६१ ॥

गी०भू०--ननु निजितेन्द्रियाणामप्यात्मानुभवो न प्रतीत-स्तत्र कोऽभ्युपाय इति चेत्तत्राह । तानि सर्वाणि संयम्य मत्परो मन्निष्ठः सन् युक्तः कृतात्मसमाधिरामीति तिष्ठेत् । मद्भक्तिप्रभावेन सर्वेन्द्रियविजयपूर्विका स्वात्मदृष्टिः सुलभेति भावः । एवं स्मरन्ति । “यथाचिर्चिन्मानृद्धां शिखः कक्षं दहति मानिलः । तथा चित्तस्थितो विष्णुर्योगिनां सर्वकिल्बिषमि”त्यादि । वशं हीति स्पष्टम् । इत्थं च वशीकृतेन्द्रियतयावस्थितिः किमासीतेत्यस्योत्तरमुक्तम् ॥ ६१ ॥

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।

सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृमिविभ्रमः ।

स्मृतिभ्रंशाद्वुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्याति ॥ ६२ ॥

मारा०व०--स्थितप्रज्ञस्य मनोवर्षीकार एव बाह्येन्द्रिय-वशीकार-कारणं सर्वथा मनोवर्षीकाराभावे तु यत् स्यात्तत् श्रणित्याह--ध्यायत इति । सङ्ग आसक्तिः, आसक्त्या च तेष्वधिकः कामोऽभिलाषः, कामाच्च केनचित् प्रतिहतात् क्रोधः ॥ ६२ ॥

मारा०व०--क्रोधात् संमोहः कार्यकार्य-बिंबकाभावः, तस्माच्च शास्त्रोपदिष्टस्वार्थस्य स्मृतिनाशः, तस्माच्च बुद्धेः सद्व्यवसायस्य नाशः, ततः ‘प्रणश्यति’ संसार-कूपे पतति ॥ ६२ ॥

गी०भू०--विजितेन्द्रियस्यापि मय्यानिवेशितमनसः पुनरनर्थो दुर्वार इत्याह--ध्यायत इति द्वाभ्याम् । विषयान् शब्दादीन् सुखहेतुत्त्वबुद्ध्या ध्यायतः पुनः पुनश्चिन्तयतो योगिनस्तेषु सङ्ग आसक्तिर्भवति । सङ्गाद्धं तोस्तेषु वामतृणा जायते । कामाच्च केनचित् प्रतिहतात् क्रोधः चित्तावालस्तत्प्रतिघातरो भवति ॥ ६२ ॥

गी०भू०—क्रोधात् सम्मोहः कार्यकार्यविवेकविज्ञानविना-  
पः, सम्मोहात् स्मृतेरिन्द्रियविजयादिप्रयत्नानुसन्धेर्विभ्रमो  
विभ्रंशः, स्मृति-भ्रंशाद् बुद्धेरात्मज्ञानार्थकस्याध्यवसायस्य  
नाशः, बुद्धिनाशान् प्रणश्यति पुनर्विषयभोगनिमग्नो भवति  
संमर्गतीत्यर्थः । मदनाश्रयणाद्बुद्ध्वलं मनस्तानि स्वविषयैर्योज-  
यन्तीति भावः । तथा च मनोविजिगीषुणा मदुपासनं विधे-  
यम् ॥६३॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।  
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥

सारा०व०—मानस-विषयग्रहणाभावे सति स्ववश्यैरिन्द्रियै-  
र्विषयग्रहणेऽपि न दोष इति वदन् स्थितप्रज्ञो ब्रजेत किमित्य-  
स्योत्तरमाह—रागेति । विधेयां वचनेस्थित आत्मा मनो यम्य  
मः । “विधेयां विनयप्राप्ती वचनेस्थित आश्रयः । वश्यः प्रणयो  
निभृतविनीतप्रश्रिताः समाः ॥” इत्यमरः । प्रसादमधिगच्छतीत्ये-  
तादृशस्याधिकारिणो विषयग्रहणमाप न दोष इति किं वक्तव्यम् ?  
प्रत्युत गुण एवेति । स्थितप्रज्ञस्य विषयत्याग-स्वीकारावेव आस-  
न्नब्रजनं ते उभे अपि तस्य भद्रे इति भावः ॥६४॥

गी०भू०—मनसि निज्जिते श्रोत्रादिनिर्जयाभावोऽपि न दोष  
इति ब्रूयन् ब्रजेत किमित्यस्योत्तरमाह—रागेत्यादिभिरुपायैः ।  
विजितवर्हिन्द्रियाऽपि मदन्वितामनाः परमार्थाद्विच्युत उच्युक्तम् ।  
यो विधेयात्मा स्वार्थानमना मदन्वितामनास्त एव निदग्धरागा-  
दिमनोमलः स स्वात्मवश्यैर्मनोऽधीनैरत एव रागद्वेषाभ्यां  
वियुक्तैरिन्द्रियैः श्रोत्रादीं विषयान् निषिद्धान् शब्दादींश्चरन्  
भुञ्जानोऽपि प्रसादं विषयासक्त्यादिमलानागमाद्विमलमनस्त-  
मधिगच्छति प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ६४ ॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।  
प्रसन्नचेतसो ह्यशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥

सारा०व०—बुद्धिः पर्यवतिष्ठते सर्वतोभावेन स्याभीष्टं  
सति स्थिराभवतीति विषयग्रहणाभावापि समुचितविषयग्रहणं  
तस्य सुखमिति भावः । प्रसन्नचेतस इति चित्ताप्रसादो भक्त्यै-  
वेति ज्ञेयम्, तथा विना तु न चित्ताप्रसाद इति प्रथमस्कन्ध एव  
प्रपाञ्चतम्, कृतवदान्तशास्त्रस्यापि व्यासस्याप्रसन्नचित्तस्य श्री-  
नारदोपदिष्ट्या भक्त्यैव चित्ताप्रसादद्वयेः ॥६५॥

गी०भू०—प्रसादे सति किं स्यादित्याह—अस्य योगिनो मनः  
प्रसादे सति सर्वेषां प्रकृतिसंसर्गकृतानां दुःखानां हानिरुपजायते ।  
प्रसन्नचेतसः स्वात्मयाथात्म्याविषया बुद्धिः पर्यवतिष्ठते स्थिरा  
भवति ॥ ६५ ॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।

न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

सारा०व०—उक्तमर्थं व्यतिरेकमुपेन द्रष्टव्यं—नास्तीति ।  
अयुक्तस्यावशीकृतमनसो बुद्धिरात्माविषयिणी प्रज्ञा नास्त्ययुक्तस्य  
तादृशप्रज्ञा-रहितस्य भावना परमेश्वरध्यानश्चाभावयतांऽकृतध्या-  
नस्य शान्तिविषयोपराभो नास्त्यशान्तस्य सुखं आत्मानन्दो न ॥६६॥

गी०भू०—पूर्वोक्तमर्थं व्यतिरेकमुपेनाह—अयुक्तस्यायोगिनो  
मदनिवेशितमनसो बुद्धिरुत्तलभ्या नास्ति न भवति । अत एव  
तस्य भावना तादृशमचिन्तापि नास्ति । तादृशमात्मानस-  
भावयतः शान्तिविषयतृप्त्यानिर्वाहनीयम् । अशान्तस्य तन्  
तृप्त्याबुलम्य सुखं स्वप्रकाशानन्दात्मानुभवतृप्त्या कुतः स्यात् ॥६६॥



इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते ।

तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थभ्यस्तरय प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

सारा०व०--अयुक्तस्य बुद्धिनामतीत्युपपादयति--इन्द्रियाणां स्वस्वविषयेषु चरतां मध्ये यन्मन एकमिन्द्रियमनुविधीयते, पुंसां सर्वेन्द्रियानुवर्तिः क्रियते, तदेव मनोऽस्य प्रज्ञां बुद्धिं हरति, यथाम्भसि नीयमानां नावं प्रतिकूलो बायुः ॥६७॥

सारा०व०--यस्य निगृहीतमनसः, हे महाबाहो ! इति यथा शत्रून् निगृह्णासि, तथा मनाऽपि निगृह्णाणेति भावः ॥६८॥

गी०भू०--मात्रवेशितमनस्कतयेन्द्रियनियमनाभावे दोषमाह--इन्द्रियाणामिति । विषयेषु चरतामर्वाजितानांमिन्द्रियाणां मध्ये यदेकं श्रोत्रं वा चक्षुर्वानुलक्ष्यीकृत्य मनो विधीयते प्रवर्त्यते तदेकमेवेन्द्रियं मनस्तानुगतमस्य प्रवर्त्तकस्य प्रज्ञां विविक्तात्मविषयां हरत्यपनयति मनसस्तद्विषयाकृष्टत्वात् । किं पुनः सर्वाणि तानीति । प्रतिकूलो बायुर्यथाम्भसि नीयमानां नावं तद्वत् ॥६७॥

गी०भू०--तस्मादिति । यस्य मन्निष्ठमनसः प्रतिष्ठितात्मनिष्ठा भवात् । हे महाबाहो इति--यथा रिपून्निगृह्णासि तथेन्द्रियाणां निगृह्णाणेत्यर्थः । एभिः श्लोकैर्भगवन्निविष्टतयेन्द्रियविजयः स्थितप्रज्ञस्य सिद्धस्य स्वाभाविकः । साधकस्य तु साधनभूत इति बोध्यम् ॥ ६८ ॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।

यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥

सारा०व०--स्थितप्रज्ञस्य तु स्वतःसिद्ध एव सर्वेन्द्रियनिष्ठ

इत्याह-येति । बुद्धिर्हि द्विविधा भवति-आत्मप्रवणा विषयप्रवणा च । तत्र या आत्मप्रवणा बुद्धिः, सा सर्वभूतानां निशा, निशायां किं किं म्यादिति तस्यां स्वपन्तो जना यथा न जानन्ति, तथैवात्मप्रवणबुद्धौ प्राप्यमाणं वस्तु सर्वभूतानि न जानन्ति । किन्तु तस्यां संयमी स्थितप्रज्ञो जागर्ति, न तु स्वपिति ; अत आत्मबुद्धिनिष्ठमानन्दं साक्षादनुभवति । यस्यां विषयप्रवणायां बुद्धौ भूतानि जाग्रति, तन्निष्ठं विषयमुखशोकमोहादिकं साक्षादनुभवति, न तु तत्र स्वपन्ति सा मुनेः स्थितप्रज्ञस्य निशा, तन्निष्ठं किमपि नानुभवतीत्यर्थः । किन्तु पश्यतः सांसारिकाणां सुखदुःखप्रदानं विषयान् तत्रौदामीन्येनावलोकयतः स्वभोग्यान् यथाचितं निर्लेपमाददानस्येत्यर्थः ॥६९॥

गी०भू०--नाधकावस्थस्य स्थितप्रज्ञस्येन्द्रियसंयमः प्रयत्नसाध्य इत्युक्तम् । सिद्धावस्थस्य तु तस्य तन्निष्ठमः स्वाभाविक इत्याह-या निशेति । विविक्तात्मनिष्ठा विषयनिष्ठा चेति बुद्धिर्द्विविधा । यात्मनिष्ठा बुद्धिः सर्वभूतानां निशारूपकणोपमात्र व्यज्यते-रात्रितुल्या तद्वदप्रकाशिका । रात्राविवात्मनिष्ठायां बुद्धौ स्वपन्तो जनास्तल्लभ्यमात्मानं सर्वे नानुभवन्तीत्यर्थः । संयमी जितेन्द्रियस्तु तस्यां जागर्ति न तु स्वपिति । तथा लभ्यमात्मानमनुभवतीत्यर्थः । यस्यां विषयनिष्ठायां बुद्धौ भूतानि जाग्रति विषयभोगाननुभवन्ति न तु तत्र स्वपन्ति सा मुनेः स्थितप्रज्ञस्य निशा । तस्य विषयभोगाप्रकाशिकेत्यर्थः । कीदृशस्येत्याह पश्यत इति । आत्मानं साक्षादनुभवतः प्रारब्धाकृष्टान् विषयानप्यौदामीन्येन भुञ्जानस्य चेत्यर्थः । नर्त्तकीमूर्द्धघटावधानन्यायेनात्मदृष्टेर्न तदन्यरमप्रद इति भावः ॥ ६९ ॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं

समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।

तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे

स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

सारा०व०—विषयग्रहणे क्षोभराहित्यमेव निर्लेपतेत्याह—  
आपूर्यमाणमिति । यथा वर्षास्वितस्ततो नादेया आपः समुद्रं  
प्रविशन्ति, कीदृशम् ? आ—इषदपि आपूर्यमाणं तावतांभ-  
रप्यद्भिः पूरयितुं न शक्यम् । अचलप्रतिष्ठमनातिक्रान्तमर्यादं  
तद्वदेव कामा विषया यं प्रविशन्ति भोग्यत्वेनायान्ति । यथा अपां  
प्रवेशे अप्रवेशे वा समुद्रो न कमपि विशेषमापद्यते, एवमेव यः  
कामानां भोगे अभोगे च क्षोभरहित एव स्यात् स स्थितप्रज्ञः ।  
शान्तिं ज्ञानम् ॥७०॥

गी०भू०—उक्तं भावं स्फुटयन्नाह आपूर्यति । स्वरूपेणै-  
वापूर्यमाणं तथाप्यचलप्रतिष्ठमनुलङ्घितवत्वं समुद्रं यथापोऽन्या  
वर्षाद्भवाः नद्यः प्रविशन्ति न तु तत्र किञ्चिद्विशेषं शक्नुवान्  
कर्त्ता, तद्वत् सर्वे कामाः प्राग्वाकृष्टा विषया यं प्रविशन्ति  
न तु विकर्त्ता प्रभवन्ति स शान्तिमाप्नोति । शब्दादिषु तर्दान्द्रिय-  
गोचरेष्वपि मनः स्वात्मानन्दानुभवतृप्त्यैविकारग्लेशमप्याविन्दन  
स्थितप्रज्ञ इत्यर्थः । यः कामकामी विषयालिप्सुः स तूत्तलक्षणां  
शान्तिं नाप्नोति ॥ ७० ॥

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।

निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

सारा०व०—कश्चित्ता कामेष्वविश्वसन् नैव तान् भुङ्क्त  
इत्याह—विहायेति । निरहङ्कारो निर्मम इति देह-दैहिकेष्वहंता-  
ममता-शून्यः ॥७१॥

गी०भू०—विहायेति-प्राप्तानपि कामान् विषयान् सर्वान्

विहाय शरीरोपजीवनमात्रेऽपि निर्ममो ममताशून्यः निरहङ्कारो  
ऽनात्मनि शरीरे आत्माभिमानशून्यश्चरति तदुपजीवनमात्रं भक्ष-  
यति यत्र कापि गच्छति वा स शान्तिं लभते इति ब्रजेत  
किमित्यभ्योत्तरम् ॥ ७१ ॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।

स्थित्वा स्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्म-  
पर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे  
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ।

सारा०व०—उपसंहरति—एषेति । ब्राह्मी ब्रह्मप्राप्तिका, अन्त-  
काले मृत्युसमयेऽपि, किं पुनरावात्यम् ॥७२॥

ज्ञानं कर्म च बिस्पृष्टमस्पृष्टं भक्तिमुक्तवान् ।

अनएवायमध्यायः श्रीगीतासूत्रमुच्यते ॥

इति सारार्थवापण्यां दर्षिण्यां भक्तचेतसाम् ।

श्रीगीतासु द्वितीयोऽयं सङ्गतः सङ्गतः सनाम् ॥

गी०भू०—स्थितप्रज्ञतां स्तोति एषेति-ब्राह्मी ब्रह्मप्राप्तिका ।  
अन्तकाले चरमे वयमि किं पुनराकामारं ब्रह्म ऋच्छति लभते ।  
निर्वाणममृतरूपं तत् प्रदमित्यर्थः । ननु तस्यां स्थितः कथं ब्रह्म  
प्राप्नोति, तत्प्राप्तेस्तद्भक्तिहेतुकत्वादिति चेदुच्यते । तस्यास्त-  
द्भक्तिहेतुकत्वात्तद्भक्तिहेतुत्वाच्च तत्प्रापकतेति ॥ ७२ ॥

निष्कामकर्मभिर्ज्ञाती हरिमेव स्मरन् भवेत् ।

अन्यथा विघ्न एवेति द्वितीयोऽध्यायान्तर्णयः ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्भाष्ये द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥



## तृतीयोऽध्यायः

॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच-

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।

तत्किं कर्मणि वोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥

सारा०व०-निष्काममर्पितं कर्म तृतीये तु प्रपञ्चयते ।

काम-क्रोध-जिगीषायां विवेकोऽपि प्रदर्शयते ॥ ( १ )

सारा०व०--पूर्ववाक्येषु ज्ञानयोगान्निष्कामकर्मयोगाच्च

निष्ठैर्गुण्यप्रापकस्य गुणातीतभक्तियोगस्योत्कर्षमाकलय्य तत्रैव  
स्योत्सुक्यमभिव्यञ्जयन् स्वधर्मं संप्राप्ते प्रवर्त्तकं भगवन्तं सख्य-  
भावेनापालभते, ज्यायसी श्रेष्ठा बुद्धिव्येवसायात्मिका गुणातीता  
भक्तिरित्यर्थः । वोरे युद्धरूपे कर्मणि किं नियोजयसि प्रवर्त्त-  
यामि ? हे जनार्दन !-जनान् स्वजनान् स्वाज्ञया पीडयसीत्यर्थः ।  
न च तवाज्ञा केनाप्यन्यथा कर्त्तुं शक्यत इत्याह--हे केशव ! को  
ब्रह्मा, ईशा महादेवः, तावपि वयसे वशीकरोषि ॥ १ ॥

गी०भू०-तृतीये कर्मान्निष्कामं विस्तरेणापवर्णितम् ।

कामादेविजयोपायो दुर्जयस्यापि दर्शितः ॥

गी०भू०-पूर्वत्र कृपालुः पार्थसारथिरज्ञानकर्मनिमग्नं  
जगत् स्वात्मज्ञानोपासनापदेशेन समुद्दिवापुस्तदङ्गभूतां जी-  
वात्मयात्रास्यबुद्धिमुपदिश्य तदुपायतया निष्कामकमबुद्धिमुप-  
दिष्टवान् । अयमेवार्थो विनिश्चयाय चतुर्भिरध्यायै विधान्त-  
रैवैर्यते । तत्र कर्म-बुद्धिनिष्पाद्यत्वाज्जीवात्मबुद्धेः श्रेष्ठं स्थितम् ।  
तत्रार्जुनः पृच्छति ज्यायसीति । कर्मणा निष्कामादपि चेत्तत्र  
तस्माद्यत्वात् जीवात्मबुद्ध्यायसी श्रेष्ठा मता तद्वि ननु सिद्धये

[ ३ अध्याय

श्रीमद्भगवद्गीता

( ८५ )

मां घोरे हिंसायनेकायासे कर्मणि किं नियोजयसि तस्माद्-  
युद्धस्येत्यादिना कथं प्रेरयसि । आत्मानुभवहेतुभूता खलु सा  
बुद्धिर्निखिलेन्द्रियव्यापारविरतिसाध्या तदर्थं तत्त्वजातीयाः शमा-  
दय एव युज्येरन्तु सर्वेन्द्रियव्यापाररूपाणि तद्विजातीयाणि  
कर्माणीति भावः । हे जनार्दन श्रेयोऽर्थिजनयाचनीय, हे केशव  
विधिरुद्रवशकारिन् । “क इति ब्रह्मणो नाम ईशोऽहं सर्वदेहिनाम् ।  
आवां तवाङ्गसम्भूतो -तस्मात् केशवनामभार्गति” हरिवंशे कृष्णे  
प्रति रुद्रोक्तः । दुर्लब्ध्याङ्गस्त्वं श्रेयोऽर्थिना मयाम्यथितो मम  
श्रेयो निश्चित्य ब्रूहीति भावः ॥ १ ॥

व्यामिश्रेणैव वाक्येन बुद्धि मोहयसीव मे ।

तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

सारा०व०--भो वयस्य अर्जुन ! मत्स्यं गुणातीता भक्तिः  
सर्वोत्कृष्टैव, किन्तु सा यादृच्छिक-मदैकान्तिक-महाभक्तकृपे-  
लभ्यत्वात् पुरुषोद्यम-साध्या न भवति । अतएव निष्ठै-  
गुण्यो भव गुणातीतया मदभक्त्या त्वं निष्ठैर्गुण्यो भूया  
इत्याशीर्वाद् एव दत्तः । स च यदा कलिप्यति, तदा  
तादृश-यादृच्छिकैकान्तिक-भक्तकृपया प्राप्तामपि लभ्यसे ।  
साम्प्रतन्तु ‘कर्मण्येवाधिकारस्ते’ इति मयाक्तमेवेति चेत्,  
मत्स्यम्, तदिह कर्मैव निश्चित्य कथं न ब्रूषे ? किमिति  
मन्देहसिन्धो मां क्षिपसीत्याह-व्यामिश्रेणैति । विशेषतः आ-  
सम्यक्तया मिश्रणं नानाविधार्थमिलनं यत्र तेन वाक्येन मे  
बुद्धि मोहयसि । तथा हि ‘कर्मण्येवाधिकारस्ते’ ‘सिद्धयसिद्धयोः  
समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।’ ‘बुद्धियुक्तो जहातीह उभे  
मुक्तदुःकृते । तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥’  
इति योग-शब्दवाच्यं ज्ञानमपि ब्रवीषि । ‘यदा ते मोहकलिलम्’  
इत्यनेन ज्ञानं केवलमपि ब्रवीषि । किञ्चात्रेव-शब्देन त्वद्वा-

कस्यस्य बन्तुतो नास्ति नानाथेमिश्रितत्वम्, नापि कृपालोस्तव मन्मोहनेच्छा, नापि मम तत्तादर्थ्यानभिज्ञत्वम् किन्तु स्पष्टीकृत्यैव तव कथनमुचितमिति भावः । अयं गूढोऽभिप्रायः--राजमान् कर्मणः सकाशात् सात्त्विकं कर्म श्रेष्ठम्, तस्मादपि ज्ञानं श्रेष्ठम्, तच्च सात्त्विकमेव । निगुणभक्तिश्च तस्मादति-श्रेष्ठैव । तत्र सा यदि माय न सम्भवेदिति व्रूये, तदा सात्त्विकं ज्ञान-मेवैकं मामुपदिश । तत एव दुःखमयात् संसारबन्धनान्मुक्ता भवेयमिति ॥२॥

गी०भू०--व्यामिश्रेणेति--सांख्यबुद्धियोगबुद्ध्योरिन्द्रियनि-  
वृत्तिरूपयोः साध्यसाधकत्वावरोधि यद्वाक्यं तद्व्यामिश्रमु-  
च्यते । तेन मे बुद्धि मोहयसीव । वस्तुतस्तु सर्वेश्वरस्य मन्म-  
स्य च ते मन्मोहकता नास्म्येव । मद्वुद्धिदोषादेवं प्रत्येस्य-  
हमितीव शब्दार्थः । तत्तास्मादेकमव्यामिश्रं वाक्यं वद । न  
कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुर्नास्त्यकृतः  
कृतेनेति श्रुतिवत् । येनाहमनुष्ठेयं निश्चित्यात्मनः श्रेयः  
प्राप्नुयाम् ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच-

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।

ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥

सारा०व०--अत्रोत्तरम्--यदि मया परस्परनिरपेक्षावेव  
मोक्षसाधनत्वेन कर्मयोगज्ञानयोगावुक्तौ स्थाताम्, तदा तदेकं  
वद निश्चित्येति त्वत्प्रश्नो घटते । मया तु कर्मनिष्ठाज्ञाननिष्ठा-  
वत्त्वेन यद्द्वैविध्यमुक्तम्, तत् खलु पूर्वोक्तदशाभेदादेव, न तु  
बन्तुतो मोक्षं प्रत्यधिकारिद्वैधमित्याह-लोके इति द्वाभ्याम् । द्वि-  
धा द्विप्रकारा निष्ठा नितरां स्थितिर्गर्ह्येत्यर्थः । पुरा प्रोक्ता पूर्वो-

ध्याये कथिता । तामेवाह-सांख्यानां सांख्यं ज्ञानं तद्वताम्, तेषां  
शुद्धान्तःकरणत्वेन ज्ञानभूमिकामाधिरूढानां ज्ञानयोगेन निष्ठा,  
तेनैव गर्ह्यता स्थापिता । अत्र लोके ते ज्ञानित्वेनैव ख्यापिता  
इत्यर्थः--'तानि सर्व्वणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः' इत्या-  
दिना । तथा शुद्धान्तःकरणत्वाभावेन ज्ञानभूमिकामधिरोढम-  
समर्थानां योगिनां तदारोहणार्थमुपायवतां कर्मयोगेन मद्वर्णित-  
निष्कामकर्मणा निष्ठा गर्ह्यता स्थापिता ; ते खलु कर्मित्वेनैव  
ख्यापितेत्यर्थः--'धर्म्यार्द्धि युद्धान् श्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न  
विद्यते' इत्यादिना । तेन 'कर्मिणः' 'ज्ञानिनः' इति नाममात्रेणैव  
द्वैविध्यम् । वस्तुतस्तु कर्मिण एव कर्मेभिः शुद्धचित्ता ज्ञानिनो  
भवन्ति ; ज्ञानिन एव भक्त्या मुच्यन्ते इति मद्वाक्यसमुदा-  
यार्थ इति भावः ॥३॥

गी०भू०--एवं पृष्ठो भगवानुवाच लोकेऽस्मिन्निति । हे अनघ  
निर्मलबुद्धे पार्थ ज्यायसी चेदिति कर्मबुद्धिसाङ्ख्यबुद्ध्योर्गुण-  
प्रधानभावं जानन्नपि तमस्तेजसोरिव विरुद्धयोस्तयोः कथ-  
मेकाधिकारित्वमिति शङ्कया प्रेरितः पृच्छसीति भावः । अस्मिन्  
मुमुक्षुतयाभिमतं शुद्धाशुद्धचित्ततया द्विविधं लोके जने द्विविधा  
निष्ठा स्थितिर्मया सर्व्वेश्वरेण पुरा पूर्व्वोक्तध्याये प्रोक्ता । निष्ठे-  
त्येकवचनेन एकात्मोद्देश्यत्वादेकैव निष्ठा साध्यसाधनदशाद्वय-  
भेदेन द्विप्रकारा न तु द्वे निष्ठे इति सूच्यते । एवमेवाप्रे-  
वर्त्यति-एकं सांख्यं च योगं चेत्यादि । तां निष्ठां द्वैविध्येन  
दर्शयति ज्ञानेति । सांख्यज्ञानं अहं आद्यच्' । तद्वतां ज्ञानिनां  
ज्ञानयोगेन निष्ठास्थितिरुक्ता प्रजहति यदा कामान्तित्यादिना ।  
ज्ञानमेव योगो युज्यते आत्मनानेनेतिव्युत्पत्तः । योगिनां निष्काम-  
कर्मवतां कर्मयोगेन निष्ठा स्थितिरुक्ता कर्मण्येवाधिकारस्ते इत्या-  
दिना । कर्मेव योगो युज्यते ज्ञानगर्भया चित्तशुद्ध्यनेनेति



व्युत्पत्तोः । एतदुक्तं भवति—न खलु मुमुक्षुर्जनस्तदैव शमा-  
द्यङ्गिकां ज्ञानानिष्टां लभते । किन्तु साचारेण कर्मयोगेन चित्ता-  
मालिन्यं निर्धूयैवेत्येतदेव मया प्रागभाषणं “एषा तेऽभिहिता  
संख्य” इत्यादिना । ततो न किञ्चिद्व्यामिश्रणमस्ति ॥३॥

न कर्मणामनारम्भान्नैकस्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।

न च मन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥४॥

सारा०व०—चित्तशुद्धयभावे ज्ञानानुत्पत्तिमाह—नेति ।  
शास्त्रीयकर्मणामनारम्भादननुष्ठानान्नैकस्म्यं ज्ञानं न प्राप्नोति,  
न चाशुद्धचित्तः, मन्यसनाच्छास्त्रीयकर्मत्यागात् ॥४॥

गी०भू०—अतोऽशुद्धचित्तेन चित्तशुद्धेः स्वविहितानि कर्मा-  
ण्येवानुष्ठेयानीत्याह न कर्मणामित्यादिभिस्त्रयोदशभिः । कर्मणां  
तमेतमिति वाक्येन ज्ञानाङ्गतया विहितानां मनारम्भादननुष्ठा-  
नादविशुद्धचित्तः पुरुषो नैकस्म्यं निखिलेन्द्रियव्यापाररूप-  
कर्मविगतिं ज्ञाननिष्ठामिति यावत् नाश्नुते न लभते । न च  
स तेषां कर्मणां मन्यासात् परित्यागात् सिद्धिं मुक्तिं समधि-  
गच्छति । ४ ॥

न हि कश्चिच्छणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥५॥

सारा०व०—किन्त्वशुद्धचित्तः कृतसन्न्यासः शास्त्रीयं कर्म  
परित्यज्य व्यवहारिके कर्मणि निमज्जतीत्याह—न हीति । ननु  
सन्न्यास एव तस्य वैदिक-लौकिककर्मप्रवृत्तिविरोधी ? तत्राह—  
कार्यते इति । अवशोऽस्वतन्त्रः ॥५॥

गी०भू०—अविशुद्धचित्तः कृतवैदिककर्मसन्न्यासो लौकिके-  
ऽपि कर्मणि निमज्जतीत्याह । न हीति । ननु सन्न्यास एव  
तस्य सर्वकर्मविरोधीति चेत्तत्राह कार्यते इति । प्रकृतिजैः

स्वभावोद्भवैर्गुणैः रागद्वेषादिभिः, काय्यते प्रवर्त्यते अवशः  
पराधीनः सन् ॥ ५ ॥

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।

इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

सारा०व०—ननु तादृशोऽपि सन्न्यासी कश्चिन्, कश्चिदि-  
न्द्रियव्यापारशून्यो मुद्रिताक्षो दृश्यते ? तत्राह—कर्मेन्द्रियाणि,  
वाक्पाण्यादीनि निगृह्य यो मनसा ध्यानच्छलेन विषयान् स्मर-  
न्नास्ते, स मिथ्याचारो दाम्भिकः ॥६॥

गी०भू०—ननु रागादिव्यापारशून्यो मुद्रितश्रोत्रादिः कश्चिन्  
कश्चिद् यदि दृश्यते तत्राह कर्मेन्द्रियाणीति । यो यतिः कर्मे-  
न्द्रियाणि बागादीनि संयम्य मनसा ध्यानच्छदना इन्द्रियार्थान्  
शब्दस्पर्शादीन् स्मरन्नास्ते स विमूढात्मा मूर्खो मिथ्याचारः  
कथ्यते । स च निरुद्धरागादेरज्ञस्य निष्कामकर्मानुष्ठानेन मनः-  
शुद्धेः शुद्धयात् श्रोत्राद्यप्रसारेऽप्यशुद्धत्वान्मनसा तादृशव्यापारं स्म-  
रणाज्ज्ञानायोद्यतस्यापि तस्य ज्ञानालाभात् मिथ्याचारो व्यर्थ-  
बागादिनियमक्रियो दाम्भिक इत्यर्थः ॥ ६ ॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।

कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥७॥

सारा०व०—एतद्विपरीतः शास्त्रीयकर्मकर्ता गृहस्थस्तु श्रेष्ठ  
इत्याह—यस्त्विनि । कर्मयोगं शास्त्रविहितम् ; असक्तोऽफला-  
काङ्क्षी विशिष्यते ; “असम्भावितप्रमादत्वेन ज्ञाननिष्ठादपि  
पुरुषोऽद्विशिष्टः” इति श्रीरामानुजाचार्यचरणाः ॥७॥

गी०भू०—एतद्वैपरीत्येन स्वाविहित-कर्म-कर्ता गृहस्थोऽपि  
श्रेष्ठ इत्याह यस्त्विति । आत्मानुभवप्रवृत्तेन मनसेन्द्रियाणि

श्रोत्रादीनि नियम्यासक्तः फलाभिलाषशून्यः स न यः कर्मैन्द्रियैः  
कर्मरूपं योगमुपायमारभतेऽनुतिष्ठति स विशिष्यते । सम्भाव्य-  
मानज्ञानत्वात् पूर्वतः श्रेष्ठो भवतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।

शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्यदकर्मणः ॥ ८ ॥

सारा० व०—तस्मात्त्वं नियतं नित्यं सन्ध्योपासनादि, अक-  
र्मणः कर्मसन्न्यासात्सकाशाज्ज्यायः श्रेष्ठम् । संन्यस्त-सर्व-  
कर्मणस्तव शरीर-निर्व्वाहोऽपि न सिध्येत् ॥ ८ ॥

गी० भू०—नियतमिति—तस्मात्त्वमविशुद्धचित्तो नियत-  
मावश्यककमे कुरु चित्ताविशुद्धये निष्कामतया स्वविहितं कर्मा-  
चरेत्यर्थः । अकर्मणं श्रोतुमुक्चमात्रेण सर्वकर्म—संन्याससका-  
शात् कर्मैव ज्यायः प्रशस्ततरं क्रमसंपानन्यायेन ज्ञानोत्पादक-  
त्वात् । श्रोतुमुक्चमात्रेण कर्म त्यजतो मालिनं हृदि ज्ञानाप्रकाशात् ।  
विश्रामकर्मणः संन्यस्तसर्वकर्मणस्तव शरीरयात्रा देहनिर्व्वाहो-  
ऽपि न सिध्येत् । यावत् साधनपूति देह—धारणस्यावश्यक-  
त्वात्तदर्थं ज्ञानी भिक्षाटनादिकर्मानुतिष्ठति । तच्च क्षत्रियस्य  
तथानुचितम् । तस्मात् स्वाविहितेन युद्धप्रजापालनादिकर्मणा  
शुल्कानि वित्तान्युपाज्यै तौ न व्यूढदेहयात्रः स्वात्मानमनुसन्धे-  
हति ॥ ८ ॥

यज्ञार्थान्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।

तदर्थं वर्म कौन्तेय मुक्तमङ्गः समाचर ॥ ९ ॥

सारा० व०—ननु तर्हि 'कर्मणा बध्यते जन्तुः' इति स्मृतं;  
कर्मणा कृतं बन्धः स्यादिति चेन्न ; परमेश्वरापितं कर्म न बन्ध-  
कमित्याह—यज्ञार्थादिति । विष्णवर्षितो निष्कामो धर्म एव यज्ञ

उच्यते । तदर्थं यत् कर्म, ततोऽन्यत्रैवायं लोकः कर्मबन्धनः  
कर्मणा बध्यमानो भवति । तस्मात् त्वं तदर्थं तादृशधर्म-  
सिद्ध्यर्थं कर्म समाचर । ननु विष्णवर्षितोऽपि धर्मः कामना-  
मुद्दिश्य कृतश्चेद्बन्धको भवत्येवेत्याह—मुक्तमङ्गः फलाकाङ्क्षा-  
रहितः ; एवमेवोद्धवं प्रत्यपि श्रीभगवतोक्तम्—“स्वधर्मस्थो  
यजन् यज्ञैरनाशीः काम उद्धव । न याति स्वर्गनर्को यदन्यत्र  
समाचरेत् ॥ अस्मिँल्लोके वर्त्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः ।  
ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति ॥” इति ॥ ९ ॥

गी० भू०—ननु कर्मणि कृते बन्धो भवेत् । “कर्मणा बध्यते  
जन्तु” रित्यादिस्मरणाच्चेति चेत्तात्राह-यज्ञार्थादिति । यज्ञः परमेश्वरः,  
“यज्ञो वै विष्णुरिति श्रुतेः । तदर्थार्त्तात्तोपफलात् कर्मणोऽन्यत्र  
स्वसुखफलककर्मणि क्रियमाणेऽयं लोकः प्राणी कर्मबन्धनः  
कर्मणा बध्यते । तस्मात्तदर्थं विष्णुतोषार्थं कर्म समाचर ।  
हे कौन्तेय मुक्तसंज्ञस्त्यक्तसुखाभिलाषः मन् न्यायोपार्जित-  
द्रव्यसिद्धेन यज्ञादिना विष्णुमाराध्य तच्छेषेण देहयात्रां कुर्वन्न  
बध्यस इत्यर्थः ॥ ९ ॥

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुगेवाच प्रजापतिः ।

अनेन प्रसविष्यध्वमेव वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥

सारा० व०—तदेवाशुद्धचित्तो निष्कामं कर्मैव कुर्यान्न तु  
सन्न्यासमित्युक्तम् । इदानीं यादं च निष्कामोऽपि भवितुं न  
शक्नुयात्, तदा सकाममपि धर्मं विष्णवर्षितं कुर्यान्न तु  
कर्मत्यागमित्याह—सहेति सप्रभिः । यज्ञेन सहिताः सहयज्ञाः—  
‘वोपसर्जनस्य’ इति ‘सह’ म्यादेशाभावः । पुरा विष्णवर्षित-  
धर्मकारिणीः प्रजाः सृष्ट्वा ब्रह्मोवाच—अनेन धर्मेण प्रसविष्य-  
ध्वं प्रसवो वृद्धिरुत्तरोत्तरमातवृद्धिं लभध्वमित्यर्थः । तासां सका-



मत्त्वमभिलक्ष्याह—एष यज्ञो व इष्टकामधुगभीष्टभोग प्रदोऽ-  
स्त्वित्यर्थः ॥१०॥

गी०भू०—अयज्ञशेषेण देहयात्रां कुर्वतो दोषमाह सहेति ।  
प्रजापतिः सर्वेश्वरो विष्णुः पति विश्वस्यात्मेश्वरमित्यादि श्रुतेः ।  
ब्रह्म प्रजाणां पतिरच्युतोऽसावित्यादि स्मरणाच्च । पुरा आदिमर्गे  
महयज्ञा यज्ञैः साहिता देवमानवादिरूपाः प्रजाः सृष्ट्वा नामरूप-  
विभागशून्याः प्रकृतिशक्तिके स्वस्मिन् विलीनाः पुरुषार्थायोग्या-  
स्तास्तत्सम्पादकनामरूपभाजो विधाय यज्ञं तन्निरूपकं वेदञ्च  
प्रकाशेत्यर्थः । ताः प्रतीदमुवाच कारुणिकः । अनेन वेदोक्तेन  
मदर्पितेन यज्ञेन यूयं प्रसविष्यध्वं । प्रसवो वृद्धिः स्ववृद्धि-  
भजध्वमित्यर्थः । एष मदर्पितो यज्ञो वो युष्माकमिष्टकामधुक् हृदि-  
शुद्ध्यात्मज्ञानदेहयात्रासम्पादनद्वारा याञ्छितमोक्षप्रदोऽस्तु ॥१०॥

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

नारा०व०—कथमिष्टकामप्रदो यज्ञो भवेत्तत्राह—देवानिति ।  
अनेन यज्ञेन देवान् भावयत, भावयतः कुरुत,—भावः प्रीति-  
स्तद्युक्तान् कुरुत प्राणयन् इत्यर्थः । ते देवा अपि वः  
प्राणयन्तु ॥११॥

गी०भू०—इदञ्च प्रजाः प्रत्युक्तं—अनेन यज्ञेन मदङ्गभूता-  
निन्द्रादीन् भावयत—तत्ताद्विदनेन प्रीतान् यूयं कुरुत । ते  
देवा वो युष्मास्तत्ताद्वदनेन भावयन्तु प्रीतान् कुर्वन्तु । इत्थं  
शुद्धादारेण मिथा भावतास्ते यूयं परं मोक्षलक्षणं श्रेयः प्राप्स्य-  
तत्राहारशुद्धिर्ज्ञानानिष्ठाङ्गं, “तत्राहारशुद्धौ सत्ताशुद्धिः सत्त्व-  
शुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलब्धे सर्वे ग्रन्थीनां विप्रमोक्ष” इति  
श्रुतेः ॥ ११ ॥

इष्टान्भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।

तैर्देवानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते ते स्तेन एव सः ॥१२॥

सारा०व०—एतदेव स्पष्टीकुर्वन् कर्माकरणे दोषमाह—  
इष्टानिति । तैर्देवान् वृष्ट्यादिद्वारंगानादीनुत्पाद्येत्यर्थः । एभ्यो  
देवेभ्यः पञ्चमहायज्ञादिभिरदत्त्वा यो भुङ्क्ते, स तु चौर एव ॥१२॥

गी०भू०—एतदेव विशदयन् कर्मानुष्ठानेन दोषमाह इष्टानिति ॥  
पूर्वेभाविता—मदङ्गभूता देवा वो युष्मभ्यमिष्टान्मुमुक्षुकाम्या-  
नुत्तारोत्तारयज्ञापेक्षान् भोगान् दास्यन्ति वृष्ट्यादिद्वारा ब्रीह्यादीनु-  
त्पादयेत्यर्थः । स्वाचर्चनार्थं तैर्देवैर्देवांस्तान् भोगान्भ्यः पञ्चय-  
ज्ञादिभिरप्रदाय केवलात्मतृप्तिकरो यो भुङ्क्ते स स्तेनश्चौर  
एव । देवस्वान्यपहृत्य तैरात्मनः पोषात् । चौरो भूषादिव  
स यमाहण्डमर्हति पुमर्थानर्हः ॥ १२ ॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

सारा०व०—वैश्वदेवादि-यज्ञावशिष्टमन्नं येऽश्नन्ति, ते पञ्च-  
सूना-कृतैः सर्वैः पापैर्मुच्यन्ते । पञ्चसूनाश्च स्मृत्युक्ताः—“कण्डनी  
पेषणी चुल्लो उदकुम्भी च मार्जनी । पञ्चसूना गृहस्थस्य ताभिः  
स्वर्गं न विन्दति ॥” इति ॥१३॥

गी०भू०—ये इन्द्राद्यङ्गतयावस्थितं यत्नं सर्वेश्वरं विष्णु-  
मभ्यर्च्य तच्छेषमश्नन्ति तेन तद्देहयात्रां सम्पादयन्ति ते मन्तः  
सर्वेश्वरस्य यज्ञपुरुषस्य भक्ताः सर्वाकाल्यपैरनादिकालविबुद्धै-  
रात्मानुभवप्रतिबन्धकैर्निखिलैः पापैर्विमुच्यन्ते । ते तु पापाः  
पापग्रस्ताः अघमव भुञ्जते । ये तत्तादेवताङ्गतयावस्थितेन यज्ञ-  
पुरुषेण स्वाचर्चनाय दत्तां ब्रीह्याद्यात्मकारणात् पचन्ति तद्वि-  
पच्यात्मपोषणं कुर्वन्तीत्यर्थः । पक्षस्य ब्रीह्यादेरघरूपेण परिणा-

मादयत्वमुक्तम् ॥ १३ ॥

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।

यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥

मारा०व०—जगच्चक्रप्रवृत्तिहेतुत्वादपि यज्ञं कुर्यादेवेत्याह—  
अन्नाद्भूतानि प्राणिनां भवन्तीति भूतानां हेतुरन्नम्—अन्नादेव  
शुक्रशोणितरूपेण परिणतान् प्राणिशरीरसिद्धेस्तस्यान्नस्य हेतुः  
पर्जन्यः, वृष्टिभिरेवान्नसिद्धेस्तस्य पर्जन्यस्य हेतुर्यज्ञः—लोकैः  
कृतेन यज्ञेनैव समुचितवृष्टिप्रदमेघसिद्धेस्तस्य यज्ञस्य हेतुः कर्म—  
ऋत्विग्यजमानव्यापारात्मकत्वात् कर्मण एव यज्ञसिद्धेः ॥ १४ ॥

गी०भू०—प्रजापतिना परेशेन प्रजाः सृष्ट्वा तदुपजीवनाय  
तदेव यज्ञः सृष्टस्ततः परेशानुवर्त्तिनावश्यं सकार्यं इत्याह अन्ना-  
दिति द्वाभ्याम् । भूतानि प्राणिनोऽन्नाद्ब्रह्मादेर्भवन्ति । शुक्र-  
शोणितरूपेण परिणतास्तस्मात्तादेहानां सिद्धेः । तस्यान्नस्य  
सम्भवः पर्जन्याद्वृष्टिर्मवति ; पर्जन्यश्च यज्ञाद्भवति । यज्ञश्च  
ऋत्विगु यजमानादि—व्यापाररूपान् कर्मणः समुद्भवति सिध्य-  
तीत्यर्थः । “अग्नौ प्रस्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । “आदि-  
त्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजा” इति मनुस्मृतः ॥ १४ ॥

कर्म ब्रह्माद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।

तस्मान्मर्षगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

मारा०व०—तस्य कर्मणो हेतुर्ब्रह्म वेदः—वेदाक्तविधि-  
वाक्यश्रवणादेव यज्ञं प्रति व्यापारात्परोक्षतस्तस्य वेदस्य हेतुरक्षरं  
ब्रह्म—ब्रह्मत एव वेदात्परोक्षः ; तथा च श्रुतिः—“अग्न्य महतो  
भूतस्य निःश्वसितमेतद्गवेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः” इति ।  
तस्मान् सव्यगतं सव्येव्यापकं ब्रह्म यज्ञे प्रतिष्ठितमिति यज्ञेन

ब्रह्मापि प्राप्यत इति भावः । अत्र यद्यपि कार्यकारणभावेना-  
न्नाया ब्रह्मपर्यन्ताः पदार्था उक्तास्तदपि तेषु मध्ये यज्ञ एव विधे-  
यत्वेन शास्त्रेणोच्यत इति । स एव प्रस्तुतः, “अग्नौ प्रस्ताहुतिः  
सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः  
प्रजाः ॥” इति स्मृतेः ॥ १५ ॥

गी०भू०—तच्च ऋत्विगादिव्यापार-रूपकर्म ब्रह्माद्भवं विद्धि ।  
ब्रह्मवेदस्तस्मात्तन् प्रवृत्तिं जानीहीत्यर्थः । तच्च वेदरूपं ब्रह्म  
अक्षरात् परेशात् समुद्भवं प्रकटं विद्धि । “अस्य महतो भूतस्य  
निःश्वसितमेतद् यद्गवेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः” इत्यादि  
श्रवणात् । यस्मात् स्वसृष्टप्रजोपजीवनातिप्रियो यज्ञस्तस्मात्सव्य-  
गतं निःखिलव्यापकमपि ब्रह्म नित्यं सर्वदा यज्ञे प्रतिष्ठितं तेनैव  
तत् प्राप्यत इत्यर्थः ॥ १५ ॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।

अघायुर्निद्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥

मारा०व०—एतदननुष्ठाने प्रत्यवायमाह—एवमिति । चक्रं  
पूर्वपश्चाद्भागेन प्रवर्तितम्—यज्ञात् पर्जन्यः, पर्जन्यादन्नम्,  
अन्नात् पुरुषः, पुरुषात् पुनर्यज्ञः, यज्ञात् पर्जन्य इत्येवं चक्रं  
यो नानुवर्त्तयति—यज्ञानुष्ठानेन न परिवर्त्तयति, स अघायुः  
पापव्याप्तायुः । को नरके न मङ्गल्यनीति भावः ॥ १६ ॥

गी०भू०—यज्ञाकरणे दोषमाहैवेति । परस्माद् ब्रह्मणो वेदा-  
विर्भावस्तस्मात् ब्रह्म प्रतिबोधकान् यज्ञस्ततः पर्जन्यस्ततोऽन्नं  
ततो भूतानि पुनस्तथैव भूतानां कर्मप्रवृत्तिरित्येवं निःखिलजगन्नि-  
र्वाहकं परेशेन प्रजापतिना प्रवर्तितं चक्रं यो नानुवर्त्तयति  
स जनः परेशविमुखोऽघायुः पापजीवनो मोघं व्यर्थमेव जीवति ।  
हे पार्थ यद्सर्वान्द्रियैर्विषयेष्वेव रमते न तु परब्रह्माभिमतं यज्ञे  
तच्छ्रेयसाशने च ॥ १६ ॥



यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।

आत्मन्येव व संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

साराव०—तदेवं निष्कामत्वासामर्थ्ये सकामोऽपि कर्म-  
कुर्यादेवेत्युक्तम् । यस्तु शुद्धान्तःकरणत्वात् ज्ञानभूमिकामारुहः,  
स तु नित्यं काम्यञ्च न करोतीत्याह—यस्त्वात् द्वाभ्याम् ।  
आत्मरतिरात्मारामो यत आत्मतृप्त आत्मानन्दानुभवेन निवृत्तः ।  
न स्वात्मनि निवृत्तो बहिर्विषयभोगेऽपि किञ्चिन्निवृत्तो भवतु ।  
तत्र नैवेत्याह—आत्मन्येव, न तु बहिर्विषयभोगे तस्य कार्यं  
कर्त्तव्यत्वेन कर्म नास्ति ॥१७॥

गी०भू०—यस्तु मदुक्तेन निष्कामकर्मणा मदुपासनेन च  
विमृष्टे चित्तादर्पणे सञ्जातेन धर्मभूतज्ञानेनात्मानमदर्शयाम्य  
न किञ्चित् कर्म कर्त्तव्यमित्याह—यस्त्वात् द्वाभ्याम् । आत्मन्य-  
पहनपाप्मत्वादि - गुणाष्टकविशिष्टे स्वस्वरूपे अबलोकिते रति-  
र्यम्य सः । आत्मना स्वप्रकाशानन्देनावलोकितेन तृप्तो न त्वत्र-  
पानादिना । आत्मन्येव च तादृशे सन्तुष्टो न तु नृत्यगीतादी ।  
तस्यैवंभूतस्य तदवलोकनाय किञ्चित् कर्म कर्त्तव्यं न विद्यते  
सर्वदावलोकितात्मस्वरूपत्वात् ॥ १७ ॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।

न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥

साराव०—कृतेनानुष्ठितेन कर्मणा नार्थो न फलम् । अकृ-  
तेन कृतेन प्रत्यवायोऽपि न, यस्मादस्य सर्वभूतेषु ब्रह्माण्ड-  
स्थावरादिषु मध्ये कश्चिदप्यथैव स्वप्रयोजनार्थं व्यपाश्रय आश्र-  
यणीगो न भवति । पुराणादिषु व्यपाश्रयशब्देन तथैवोच्यते,  
यथा—“वासुदेवं भगवति भक्तिमुद्धतां नृणाम् । ज्ञानवैराग्य-

वीर्याणां नेह कश्चिद्व्यपाश्रयः ॥” इति, तथा “यदुपाश्रयाश्रयाः  
शुद्ध्यन्ति” इति, “संस्था-हतुरपाश्रयः” इत्यादावप्यपेत्युपसर्ग-  
स्यानधिकार्थं दृष्टम् ॥१८॥

गी०भू०—कृतेन तदवलोकनायानुष्ठितेन कर्मणार्थः फलं  
नैवास्ति । अकृतेन तदवलोकनासाधनेन कर्मणा कश्चनार्थश्च  
तदवलोकनक्षतिलक्षणे इह न भवति । स्वाभाविकात्मावलोक-  
नात् । न त्वीदृशोऽपि देवकृताद्विद्वन्नाद्विभ्यत्तत्तोपाय तत्पूजात्मकं  
कर्म कुर्यात् । श्रुतिश्च देवान् ज्ञानद्विपः प्राह—“तस्मात्तादेषां  
न प्रियं यदेतन्मनुष्या विदुः” इति । तत्राह न चेति । अस्य लब्धा-  
त्मावलोकस्य विदुषः सर्वभूतेषु देवेषु मानवेषु च मध्ये काश्च-  
दप्यथायात्मरतिनैर्विद्वन्नाय व्यपाश्रयः कर्मभिः मेव्यो न भवति ।  
ज्ञानोदयात् पूर्वमेव देवकृता विद्वन्नाः तेनात्मरतो सत्यान्तु  
न तत्कृतास्ते तत्प्रभावेण संभवन्ति । “नस्य हन देवाश्च नाभूत्या  
इशते आत्मा ह्येषां सम्भवता”ति श्रवणात् । हनेत्यप्यर्थे । नपातः ।  
देवा अपि तस्यात्मानुभविनोऽभ्यूत्यै आत्मरतिस्ततये नेशते,  
हि यस्मादेषां स आत्मा तद्वत् प्रेष्टो भवतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।

असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पुरुषः ॥१९॥

साराव०—तस्मात्ताव ज्ञानभूमिकारोहणे नास्ति योग्यता,  
काम्यकर्मणि तु मद्बिबेकवत्तस्तव नैवाधिकारः । तस्मान्निष्काम-  
कर्मैव कुर्यादित्याह—तस्मादिति । कार्यमवश्यकर्त्तव्यत्वेन विहितं  
परं मोक्षम् ॥१९॥

गी०भू०—यस्मात्तद्व्यात्मावलोकनस्यैव कर्मानुपयोगस्तस्मा-  
दतादृक्त्यं कार्यं कर्त्तव्यत्वेन विहितं कर्म समाचर । असक्तः  
फलेच्छाशून्यः सन् । परं देहादिभिन्नमात्मानमाप्नोत्यवलोकते  
याथात्म्येन ॥ १९ ॥

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।

लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हमि ॥२०॥

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥

साराव०—अत्र सदाचारं प्रमाणयति—कर्मणोति । यदि वा त्वमात्मानं ज्ञानाधिकारिणं मन्यसे, तदपि लोके शिक्षा प्रद-  
णार्थं कर्मैव कुर्वित्याह—लोकोति ॥२०॥

साराव०—लोकसंग्रहप्रकारमेवाह—यद्यर्थादिति ॥२१॥

गी०भू०—सदाचारमत्र प्रमाणयति कर्मणैवेति । कर्मणै-  
वोपायेन विशुद्धचित्ताः सन्तः संसिद्धिं स्वात्मावलोकनलक्षणा-  
मास्थिताः प्रापुः । कर्मणैवेति विशेषणमम्बन्ध एवकारस्तस्यायोगं  
व्यवच्छिन्नं शङ्खपाण्डुर एवेतिवत् । तेन श्रवणादेर्न व्युदामः ।  
कर्मणा यज्ञादिना सहैव श्रवणादिनेति केचित् । ननु सान्निध्य-  
त्मावलोकने सति कर्मानुष्ठानं नास्तीत्युक्तम् । मम परिनाष्ट-  
स्यावलोकितस्वपरात्मनः कर्मोपदेशः कुत इति चेत्तत्राह लोकोति ।  
सत्यं त्वमादृश एव तथापि लोकसंग्रहाय कर्मं कुर्वित्याह अञ्जुते  
मायं कर्म कुर्वीते सर्वलोकः कर्मं करिष्यति ; इतरथा मदृष्टा-  
न्तनाज्ञाऽपि लोकः कर्मं त्यजन् पतिष्यतीति लोकसंग्रहणं नत  
फलम् ॥ २० ॥

गी०भू०—लोकसंग्रहप्रकारमाह - यद्यर्थादिति । श्रेष्ठो मह-  
त्तमो यत् कर्म यथाचरति तत् कर्म तथैवेतरः कर्तिष्ठोऽप्य-  
चरति । स श्रेष्ठस्तस्मिन् कर्मणि यच्छास्त्रं प्रमाणं कुरुते मन्यते  
लोकः कर्तिष्ठोऽपि तदनुयायी तदेवानुवर्ततेऽनुसरति । शास्त्रो-  
पेतं श्रेष्ठाचरणं कल्याणलिप्सुना कनिष्ठेनानुष्ठेयमित्यर्थः  
इत्यर्थं तेजस्विनः श्रेष्ठस्य च यत् क्वचित् स्वैराचरणं तद्व्या-

वृत्ताम् । तस्य श्रेष्ठकृतत्वेऽपि शास्त्रोपेतत्वाभावात् ॥ २१ ॥

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।

नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्मणि ॥२२॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।

मत् वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥

साराव०—अत्राहमेव दृष्टान्त इत्याह त्रिभिः ॥२०॥

साराव०—अनुवर्त्तन्तेऽनुवर्त्तोरन्नित्यर्थः ॥२३॥

गी०भू०—श्रेष्ठः कर्मफलान्नपेक्षोऽपि लोकसंग्रहाय शास्त्रो-  
दितानि कर्माण्याचरोदित्यर्थं स्वं दृष्टान्तमाह-न मे पार्थेति त्रिभिः ।  
सर्वेशस्य सत्यसंकल्पस्य सत्यकामस्य मे कर्त्तव्यं नास्ति ।  
फलार्थिना शलु कर्मानुष्ठेयम् । न च निखिलफलाश्रयस्य भव्यं  
परमफलात्मनो मे कर्मापेक्ष्यमित्यर्थः । एतदर्थयति त्रिविधं ।  
यतः सर्वेषु लोकेषु कर्मणा यत् फलमवाप्तव्यं तदनवाप्तमलब्धं  
मम नास्ति सर्वं तन्मदीयमेवेत्यर्थः । तथापि शास्त्रोक्तं कर्माहं  
करोम्येवेत्याह—वर्त्त इति ॥ २२ ॥

गी०भू०—यदीति । अहं सर्वेश्वरः सिद्धमवर्त्तयामिऽपि  
यदुक्तावतीर्णां जातु कदाचित् तत्कुलोचिते शास्त्रोक्ते कर्मणि  
न वर्त्तेयं तन्न कुर्यामतन्द्रितः सावधानः मन तदिह मां  
दृष्टान्तं कृत्वा मनुष्याः श्रेष्ठस्य मम वर्त्तं कुलविहिताचारत्यागरूप-  
मनुवर्त्तन्तु ततो भ्रंशोरन्नित्यर्थः ॥ २३ ॥

उत्पीदेयुर्मिमे लोका न कुर्या कर्म चेदहम् ।

संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमां प्रजाः ॥२४॥

नक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।

कुर्याद्विद्वांसस्तथासक्तविकीर्णलोकसंग्रहम् ॥२५॥



सारा०व०--उत्सीदेयुर्मा दृष्टान्तीकृत्य धर्ममकुर्वीणा  
भ्रंश्येयुः । ततश्च वर्णसङ्करो भवेत्ताम्यायहमेव कर्त्ता भ्यामेव-  
महमेव प्रजा हन्याम--मालिनाः कुर्व्याम ॥२४॥

सारा०व०--तस्मात् प्रतिष्ठितेन ज्ञानिनापि कर्म कर्त्तव्य-  
मित्युपमंहरति--सक्ता इति ॥२५॥

गी०भू०--ततः किं स्यादित्याह उत्सीदेयुरिति । अहं सन्वे-  
शेष्टश्चेत्तां शास्त्रोक्तं कर्म न कुर्व्यां तर्हिमे लोका उत्सीदेयु  
विभ्रष्टमर्यादाः स्युः । तद्विभ्रंशे सति यः सङ्करः स्यात्तास्याप्यह-  
मेव कर्त्ता भ्याम । एवञ्च प्रजापतिर्हमिमाः प्रजाः साङ्कर्यदोषे-  
णोपहन्त्यां मालिनाः कुर्व्याम् । तथा च "एष संतुर्विधरण एषां  
लोकानां असंभेदाय" इति श्रुत्या लोकमर्यादाविधारकत्वेन परि-  
गीतस्य मे तन्मर्यादाभेदकत्वं स्यादिति । एवं उपदिशतोऽपि  
हरंर्यत किञ्चित् स्वभक्तसुखेच्छोः स्वैवाचारितं दृष्टं, तत् खलु  
विधायकेन नद्वचमानुपेतत्वादीश्वरीयत्वाच्चावगैर्नैवाचरणीयम्,  
यदुक्त श्रीमता शुकेन--"ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचारितं  
काचित् । तेषां यत् स्ववचं युक्तं बुद्धिमांस्तत्तदाचरेत् ॥ नैतत्  
समाचरेज्जातु मनसापि हनीश्वरः । विनश्यत्याचरन् मोह्याद्य-  
थाऽरुद्रोऽद्विजं विप्रम्" इति ॥२४॥

गी०भू०--तस्मान् परिनिष्ठितोऽपि त्वं लोकहिताय वेदोक्तं  
स्वधर्मं प्रकुर्वित्याशयेनाह--सक्ता इति । अज्ञा यथा कर्म्मणि  
सक्ताः फललिप्सयार्भानि विष्टास्तत् कुर्वन्त्येवं विद्वानपि कुर्व्यात्,  
किन्त्वसक्तः फललिप्साशून्यः सन् । स्फुटमन्यन् ॥ २५॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।

जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२६॥

सारा०व०--"अलं कर्मजदिम्ना, त्वं कर्मसन्न्यासं कृत्वा

ज्ञानाभ्यासेनाहमिव कृतार्थीभव' इति बुद्धिभेदं न जनयेत् कर्म-  
सङ्गिनामशुद्धान्तःकरणत्वेन कर्मस्वेवासक्तिमताम्, किन्तु 'त्वं  
कृतार्थीभविष्यन् निष्कामकर्म्मैव कुरु' इति कर्म्मार्थेयं 'योज-  
येत्' कार्येत्--अत्र कर्म्माणि समाचरन् स्वयमेव दृष्टान्ती-  
भवेत् । ननु "स्वयं निःश्रेयसं विद्वान् बक्त्यज्ञाय कर्म हि । न  
राति रोगिणोऽपश्यं बाञ्छतोऽपि भिषक्तमः ॥" इत्याजन्-  
वाक्येनैतद्विरुध्यते, सत्यम्, तत् खलु भक्त्युपदेष्टक-विषयमि-  
दन्तु ज्ञानोपदेष्टक-विषयमित्यविरोधः--ज्ञानस्यान्तःकरणशुद्धय-  
धीनत्वात्, तच्छुद्धेर्गु निष्काम-कर्म्माधीनत्वात्, भक्तेस्तु  
स्वतः प्रावल्यादन्तःकरणशुद्धिपर्यन्तानपेक्षत्वात् । यदि भक्तो  
श्रद्धामुत्पादयितुं शक्नुयात्, तदा कर्म्मिणां बुद्धिभेदमपि जन-  
येत्, भक्तो श्रद्धावतां कर्म्मनिधिकारात्--"तावत् कर्म्माणि  
कुर्वीत न निर्व्वियेत यावता । मत्कथा-श्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न  
जायते ॥" इति, "धर्म्मान् संत्यज्य यः सर्वान् मां भजेत् स च  
सत्तमः" इति, 'सर्वधर्म्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज' इति,  
"त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरे-भजन्नपकोऽथ पतत्ततो यदि"  
इत्यादिवचनेभ्य इति विवेचनीयम् ॥२६॥

गी०भू०--किञ्च, लोकहितेच्छुर्ज्ञानी सावहितः स्यादित्याह--  
न बुद्धीति । विद्वान् परिनिष्ठितोऽपि कर्म्मसङ्गिनां कर्म्मश्रद्धा-  
जाड्यभाजामज्ञानां बुद्धिभेदं न जनयेत्--किं कर्म्मभिरहमिव  
ज्ञानेनैव कृतार्थो भवेति कर्म्मनिष्ठातस्तद्बुद्धिं नापनयेदित्यर्थः ।  
किन्तु स्वयं कर्म्मसु युक्तः सावधानस्तान् सम्यक् सर्वज्ञोप-  
संहारेणाचरन् सर्वाणि विहितानि कर्म्माणि योषयेत् प्रीत्या  
सेवयेत् अज्ञान कर्म्माणि कार्येदित्यर्थः । बुद्धिभेदे सति कर्म्मसु  
श्रद्धा-निवृत्तौ ज्ञानस्य चानुदयादुभयविभ्रष्टास्ते स्युरिति भावः ।  
"स्वयं निःश्रेयसं विद्वान् न बक्त्यज्ञाय कर्म हि । न राति रोगि-

णोऽपश्यं वाच्छतोऽपि भिषक्तमः ॥” इत्यजितोक्तिस्तुः कर्मसङ्गी-  
तरपरतया नेया ॥२३॥

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥२४॥

सारा०व०—ननु यदि विद्वानपि कर्म कुर्यात्तर्हि विद्वद-  
विदुषोः को विशेष इत्याशङ्क्य तयोर्विशेषं दर्शयति—प्रकृतेर्गति  
द्वाभ्याम् । प्रकृतेर्गुणैः कार्यैरिन्द्रियैः सर्वशः सर्वप्रकारेण क्रिय-  
माणानि यानि कर्माणि, तान्यहमेव कर्ता करोमीत्यादिद्वान्  
मन्यते ॥२४॥

गी०भू०—कर्मत्वसाम्येऽपि विज्ञाज्ञयोर्विशेषमाह—प्रकृते-  
र्गति द्वाभ्याम् । अहङ्कारविमूढात्मा जनोऽहं कर्माणि कर्त्तुं  
मन्यते—“न लोकाव्ययनिष्ठा” इति सूत्रात् पृथोनिषेधः । कर्माणि  
लौकिकानि वैदिकानि च । तानि कीदृशानीत्याह—प्रकृतेर्गति-  
मायाया गुणैस्तत्कार्यैः शरीरेन्द्रियप्राणैरीश्वरप्रवृत्तितैः क्रिय-  
माणानीति । इदमत्र वेदितव्यम्—उपक्रमविनिर्णयान् सम्ब-  
द्धपुर्जवात्मास्मदर्थः कर्त्ता चानादिकालविषयभोगवामनाक्रान्त-  
भूद्भोगार्थिकां स्वमन्निहितां प्रकृतिमाश्रित्य तत्कार्येणाहङ्कारेण  
विमूढात्मा तादृशस्वविज्ञानशून्यः शरीराद्यहंभाववान् प्राकृतेः  
शरीरादिभिर्गति च मिथ्यान् कर्माणि मयैवैकेन कृतानीति  
मन्यते । कर्त्तुं रात्मनो यत् कर्त्तृत्वं तत् किल देहादिभिर्मिथ्याभिः  
परमात्मना च सर्वप्रवर्त्तकेन च मिथ्यान्, न त्वेकेन जीवेनैव ।  
तच्च मयैव मिथ्यान्तीति जीवो यन्मन्यते ततहङ्कारविमूढादेव-  
“अभिष्टानं तथा कर्त्ता” इत्यादिकाञ्चरमाध्यायवाक्यत्रयात् ।  
“कार्यकारणकर्त्ता त्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते” इत्यत्र शरीरेन्द्रियादि-  
कर्त्तृत्वं प्रकृतेर्गति यदुपार्जयिष्यते, तत्रापि केवलायास्तस्यास्तत्र

शक्य मन्तुं—पुरुषसंसर्गेणैव तत्प्रवृत्तौ गङ्गीकारात् । ततश्च पुरु-  
षस्य कर्त्तृत्वमवर्जनीयमिति व्याख्यास्यते ॥२५॥

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।

गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२६॥

सारा०व०—गुणकर्मणोर्यौ विभागौ, तयोस्तत्त्वं वेत्तीति  
सः । तत्र गुणविभागः सत्त्वरजस्तमांसि, कर्मविभागः सत्त्वादि-  
कार्यभेदा देवतेन्द्रियविषयाः, तयोस्तत्त्वं स्वरूपं तज्ज्ञस्तु तत्त्व-  
वित्तु । गुणा देवताः प्रयोज्यानीन्द्रियाणि चक्षुरादीनि गुणेषु  
रूपादपु विषयेषु वर्तन्ते । अहन्तु न गुणः, नापि गुणकार्यः  
कोऽपि, नापि गुणेषु गुणकार्येषु तेषु कोऽपि मे सम्बन्ध इति  
मत्वा विद्वान्तु न सज्जते ॥२६॥

गी०भू०—विज्ञस्तु न तथेत्याह—तत्त्ववित्तुविति । गुण-  
विभागस्य कर्मविभागस्य च तत्त्ववित्तु । गुणेष्वेव इन्द्रियेष्वेव  
कर्मेष्वेव तत्कृत्येभ्यो यः स्वस्य विभागो भेदस्तस्य तत्त्वं स्वरूपं  
तत्तद्वैधर्म्यपर्यालोचनया यो “नाहं गुणकर्मवपुः” इति वेत्ती-  
त्यर्थः । स हि गुणा इन्द्रियाणि गुणेषु शब्दादपु विषयेषु तत्तद्वै-  
वताप्रैरितानि प्रवर्त्तन्ते तान् प्रकाशयन्ति । अहं त्वमङ्गाविज्ञाना-  
नन्दत्वात्तादृशो, न तेषु ताद्रूप्येण वर्त्ते, न तान् प्रकाशयामीति  
मत्वा तेषु न सज्जते, किन्त्वात्मन्येव सज्जते । अत्रापि मत्वेन्यनेन  
कर्त्तृत्वं जीवस्योक्तं बोध्यम् ॥२६॥

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।

तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२७॥

सारा०व०—ननु यदि जीवा गुणेष्वेव गुणकार्येष्वेव प्रथ-  
ग्भूतास्तदसम्बन्धास्तर्हि कथं ते विषयेषु सज्जन्तो दृश्यन्ते—तत्राह



प्रकृतगुणैः नमूढास्तदावेशात् प्राप्तसंमोहा यथा भूताविष्टो मनुष्य  
आत्मानं भूतमेव मन्यते, तथैव प्रकृतिगुणाविष्टो जीवाः स्वान  
गुणानेव मन्यन्ते, अतो गुणकर्मसु गुणकार्येषु विषयेषु  
सज्जन्ते । तानकृत्स्नविदो मन्दमतीन कृत्स्नवित् सर्वज्ञो न विचा-  
लयेत्—‘त्वं गुणेभ्यः पृथग्भूतो जीवा न तु गुणः’ इति विचारं  
प्रापयितुं न यतते, किन्तु गुणावेशनिवर्त्तिकं निष्कामकर्मैव  
कारयेत् । न हि भूताविष्टो मनुष्यस्त्वं न भूतः, किन्तु मनुष्य  
एवेति शतकृत्वोऽप्युपदेशेन न स्वास्थ्यमापद्यते, किन्तु तान्नवत्ता-  
कोपधर्माणामन्त्रादिप्रयोगैर्वैति भावः ॥२६॥

गी०भू०—न बुद्धिभेदं जनयेदित्येतदुपसंहरति—प्रकृतेरिति ।  
प्रकृतगुणेन तत्कार्येणाहङ्कारेण मूढा भूतावेशन्यायेन देहादिक-  
मेवात्मानं मन्याना जनाः गुणानां देहेन्द्रियाणां कर्मसु व्यापा-  
रेषु सज्जन्ते । तानकृत्स्नविदाऽल्पज्ञान मन्दानात्मतत्त्वप्रहणाल-  
मान् कृत्स्नवित् पूर्णात्मज्ञानां न विचालयेत् गुणकर्मिन्यो विशु-  
द्धचैतन्यान्तद्वत्त्वाभावात् तत्त्वं प्रापयितुं नच्छेत् ; किन्तु तद्रूपि-  
मनुमृत्य वैदिककर्मणि श्रंश्याक्रमादात्मतत्त्वप्रवणं चिकीर्ष-  
दिति भावः ॥२६॥

मति सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।

निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

मारा०व०—तस्मात्त्वं मध्यध्यात्मचेतसात्मनीत्यर्थः । एव-  
मध्यात्ममव्ययीभावसमामात्, ततश्च आत्मनि यच्च तस्तदध्या-  
त्मचेतस्तेनात्मनिष्ठेनैव चेतसा, न तु विषयनिष्ठेनेत्यर्थः । मयि  
कर्मणि संन्यस्य समर्प्य निराशीर्निष्कामो निर्म्ममः सर्वत्र  
ममताशून्यो युध्यस्व ॥३०॥

गी०भू०—मयीति । यस्मादेवं तस्मात् परिनिष्ठितस्त्वमध्या-

त्मचेतः स्वात्मतत्त्वविषयवज्ज्ञानेन सर्व्वीणि कर्माणि राज्ञि भृत्य  
इव मयि परेशो मन्त्रयम्यार्पयित्वा युध्यस्व कर्त्ता न्वाभिनिवेश-  
शून्यः । यथा राजतन्त्रो भृत्यस्तदाज्ञया कर्माणि करोति, तथा  
मत्तन्त्रस्त्वं मदाज्ञया तानि कुरु लोकान मज्जयिष्यः । आत्मनि  
यच्चेतस्तदध्यात्मचेतस्तेन । ‘विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः’ । निराशीः  
स्वाम्याज्ञया करोमीति तत्फलेच्छाशून्यः । अतएव मत्फलमाध-  
नानि सदर्थममृति कर्माणीत्येवं समन्वयवर्जितः । विगतज्वर-  
स्त्यक्तबन्धुबन्धनिमित्तकमन्तापश्च भूत्वेति अर्जुनस्य शत्रिय-  
त्वाद्युध्यम्वेत्युक्तम् । स्वाश्रमाबाधितानि कर्माणि मुमुक्षुभः  
कार्याणीति वाक्यार्थः ॥ ३० ॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।

श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥

मारा०व०—स्यकृतोपदेशे प्रवर्त्तीयतुमाह—ये मे इति ॥३१॥

गी०भू०—श्रुतिरहस्ये स्वमतेऽनुवर्त्तिनां फलं ब्रूयन् तस्य श्रद्धयं  
व्यञ्जयति ये मे इति-नित्यं सर्व्वदा श्रुतिबोधतत्वेनानादिप्राप्तं वा ।  
श्रद्धावन्तो दृढाविश्वासाः । अनसूयन्तो मोचयन्तगुणवति तस्मिन्  
किममुना श्रमबहुलेन निष्फलेन कर्मणेत्येवं दोषारोपशून्याः ।  
तेऽपीत्यापि रवधारणे । यद्वा ये ममेदं मतमनुतिष्ठन्ति ये चानुष्ठा-  
तुमशक्नुवन्तोऽपि तत्र श्रद्धालवः ; ये च श्रद्धालवोऽपि तन्ना-  
सूयन्ते तेऽपीत्यर्थः । साम्प्रतानुष्ठानाभावेऽपि तस्मिन् श्रद्धयान-  
सूयया च क्षीणदोषागते किञ्चित् प्रान्ते तदनुष्ठाय मुच्यन्ते  
इति भावः ॥ ३१ ॥

ये त्येतदभ्यस्यन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।

सर्वज्ञाननिष्ठास्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥

साराव०--विपक्षे दोषमाह--ये त्विति ॥३२॥

गी०भू०--विपक्षे दोषमाह ये त्विति । ये तु मे सर्वेश्वरस्य सर्वसुहृद् एतच्छ्रुतिरहस्यभूतं मतमश्रद्धधानाः सन्तो नानु-  
तिष्ठन्ति किन्त्वसूयन्ति तान सर्वास्मिन् कर्मज्ञाने परमात्म-  
ज्ञाने च विमूढानतएव द्विचेतसाश्चाशून्यानतएव नष्टान पुरु-  
षार्थविभ्रष्टान् विद्धि ॥ ३२ ॥

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।

प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

साराव०--ननु राज्ञ इव तव परमेश्वरस्य मतमनुतिष्ठन्तो  
राजकृतादिव त्वत्कृतान्निग्रहान् किं न विभ्यति ? सत्यम्, ये स्वस्वि-  
न्द्रियाणि चारयन्तो वर्त्तन्ते, ते विवेकिनोऽपि राज्ञः परमेश्वरस्य  
च शासनं मनुं न शक्नुवन्ति । तथैव तेषां स्वभावोऽभूदित्याह--  
सदृशमिति । ज्ञानवानप्येवं पापे कृते सत्येवं नरको भविष्यत्येवं  
राजदण्डो भविष्यति, एवं दुर्यशश्च भविष्यतीति विवेकवानपि  
स्यस्याः प्रकृतेश्चरन्तनपापाभ्यासोत्थदुःखभारस्य सदृशमनुरूपमेव  
चेष्टते । तस्मात् प्रकृतिं स्वभावं यान्त्यनुसरन्ति । तत्र निग्रहस्त-  
च्छास्त्रद्वारा मत्कृतो राजकृतो वा तेनाशुद्धचित्तान् उक्तलक्षणो  
निकायकर्मयोगः, शुद्धचित्तान् ज्ञानयोगश्च संस्कर्त्तुं प्रबोध्यितुं  
च शक्नोति, न त्वत्यन्ताशुद्धचित्तान्, किन्तु तानपि पापिष्ठ-  
स्वभावान् यादृच्छिकमत्कृतोत्थभक्तियोग एव उद्धर्त्तुं प्रभवेत्,  
यदुक्तं स्कान्दे--“अहो धन्योऽसि देवर्षे कृपया यस्य ते क्षणात् ।  
नीचोऽप्युत्पुलको लेभे तुभ्यको रतिमच्युतं ॥” ३३॥

गी०भू०--ननु सर्वेश्वरस्य ते मतमतिक्रमतां दण्डः शास्त्रे-  
णान्यते तस्मात्तो किमु न विभ्यति इत्याह सदृशमिति । प्रकृति-  
रनादिकालप्रवृत्ता स्वदुर्व्यासना तस्याः स्वीयायाः सदृशमनु-

रूपमेव ज्ञानवान् शास्त्रोक्तं दण्डं जानन्नपि जनश्चेष्टते प्रवर्त्तते  
किमुताज्ञः । ततो भूतानि सर्वे जनाः प्रकृतिं पुरुषार्थविभ्रंश-  
हेतुभूतामपि तां यान्त्यनुसरन्ति । तत्र निग्रहः शास्त्रज्ञातो-  
ऽपि दण्डः सत्प्रसङ्गशून्यस्य किं करिष्यति । दुर्व्यासनायाः  
प्रावर्त्यतां निवर्त्तयितुं न शक्यतीत्यर्थः । सत्प्रसङ्गमाहितस्य तु  
तां प्रवृत्तामपि निहन्ति “मन्त एवाम्य छिन्दन्ति मनोव्यामङ्ग-  
मुक्तिभिः” गित्यादिस्मृतिभ्यः ॥ ३३ ॥

इन्द्रियम्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।

तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥

साराव०--यस्माद्दुःस्वभावेषु लोकेषु विधिनिषेधशास्त्रं  
न प्रभवति, तस्माद्द्यावत् पापाभ्यासोत्थदुःस्वभावो नाभूत्ता-  
वद्यथेष्टमिन्द्रियाणि न चारयेदित्याह--इन्द्रियस्येन्द्रियम्येति  
वीप्सा प्रत्येकम्, सर्वेन्द्रियाणामर्थं स्वस्वविषये परस्त्रामात्रगात्र-  
दर्शनस्पर्शन-तत्सम्प्रदानकद्रव्यदानादौ शास्त्रनिषिद्धेऽपि राग-  
स्तथा गुरुविप्रतीर्थातिथिदर्शनस्पर्शनपरिचरणा-तत्सम्प्रदानक-धन-  
वितरणदौ शास्त्रविहितेऽपि द्वेष इत्येतौ विशेषणावस्थितौ  
वर्त्तते, तयोर्वशमधीनत्वं न प्राप्नुयात्, यद्वा, इन्द्रियार्थं स्वीदर्श-  
नादौ रागस्तत्प्रतिघाते केनचित् कृते सति द्वेष इत्यस्य पुरु-  
षार्थसाधकस्य कश्चित् मनोऽनुकूलेऽर्थे सुरमस्निग्धानादौ रागो  
मनःप्रतिकूलेऽर्थे बिरस-रुक्षान्नादौ द्वेषस्तथा स्वपुत्रादिदर्शन-  
श्रवणादौ रागो वैरिपुत्रादिदर्शनश्रवणादौ द्वेषः--तयोर्वशं न  
गच्छेदिति व्याचक्षते ॥३४॥

गी०भू०--ननु प्रकृत्यधीना चेत्त पुरुषां प्रवृत्तामहि विधि-  
निषेधशास्त्रं व्यर्थ इति चेत्तत्राह इन्द्रियम्येति । वीप्सा सर्वेषां  
इत्युक्तम् । ततश्च ज्ञानेन्द्रियाणां श्रोत्रादीनामर्थं विषये शब्दादौ



कर्मेन्द्रियाणाञ्च वागादीनामर्थे वचनादौ अनुकूले शास्त्रनिषिद्धेऽपि परदारसंभाषण--तत्स्पर्शन तत्तोषणादौ रागः प्रतिकूले शास्त्र-विहितेऽपि सत्संभाषण-सत्सेवन-सत्तीर्थागमनादौ द्वेष इत्येवं रागद्वेषौ व्यवस्थितौ चानुकूल्यप्रातिकूल्ये व्यवस्थिता स्थितौ भवतो न त्वनियमेनेत्यर्थः । यद्यपि तदनुगुणा प्राणिनां प्रवृत्ति-गतापि श्रेयोनिष्पुर्जनस्तयो रागद्वेषयोर्विशं नागच्छेत् । हि यस्मात्तावम्य परिपन्थिनौ विप्लवकर्तारौ भवतः पान्थभ्ये-व दम्युः । एतदुक्तं भवति--कृतादिकालप्रवृत्ता हि बामना निष्ठानुबन्धित्व-ज्ञानाभाव-सहकृतेनेष्टसाधनत्वज्ञानेन निषिद्धे-ऽपि परदारसंभाषणादौ रागमुत्पाद्य पुंसः प्रवर्त्तयति । तथेष्टसाधनत्व--ज्ञानाभावसहकृतेनानिष्टसाधनत्वज्ञानेन विहि-तेऽपि सत्संभाषणादौ द्वेषमुत्पाद्य ततस्तान्निवर्त्तयति । शास्त्रं किल सत् प्रसङ्ग-श्रुतमनिष्ठानुबन्धित्वबोधनेन निषिद्धान्मनो-ऽनुकूलादपि निवर्त्तयति द्वेषमुत्पाद्य । इष्टानुबन्धित्वबोधनेन विहिते मनःप्रतिकूलेऽपि रागमुत्पाद्य प्रवर्त्तयतीति न विधि-निषेधशास्त्रयोर्द्वैतव्यापत्तिः ॥ ३४ ॥

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्विनुष्ठितात् ।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

सारा०व०--ततश्च युद्धरूपस्य धर्मस्य यथावद्वागद्वेषादि-राहित्येन कर्त्तुमशक्यत्वात् परधर्मस्य चाहिंसादेः मुक्तरत्वाद्-धर्मव्याविशेषाच्च तत्र प्रवृत्तिरुमिच्छन्तं प्रत्याह--श्रेयानिति । विगुणः किञ्चिदपि बिशेषोऽपि सम्यगनुष्ठानुमशक्योऽपि पर-धर्मान् स्विनुष्ठितान् साध्वेवानुष्ठानं शक्यादपि सर्वगुणपूर्ण-दपि सकाशात् श्रेयान् । तत्र हेतुः-स्वधर्म इत्यादि--“विधर्मः परधर्मश्च आभाम उपमा छलः । अधर्मशास्त्राः पञ्चे मा धर्म-

ज्ञोऽधर्मवत् त्यजेत् ॥” (भा ७ । १५ । १२) इति सप्तमांक्तेः ॥ ३५ ॥  
गी०भ०--ननु स्वप्रकृतिनिर्मितां रागद्वेषमयीं पश्चादि-साधारणीं प्रवृत्तिं विहाय शास्त्रोक्तं पु धर्मेषु वृत्तितव्यमित्युक्तम् । धर्मद्विगुणो तादृशप्रवृत्तिनिवर्त्तितः, धर्माश्च युद्धादिवदहिंसा-दयोऽपि शास्त्रेणोक्ताः । तस्माद्वागद्वेषादित्येन कर्त्तुमशक्याद्-युद्धादेरहिंसाशिलोच्छ्रवृत्तिलक्षणो धर्म उत्तम इति चेत्तत्राह श्रेयानिति । यस्य वर्णस्याधर्मस्य च यो धर्मः वेदेन विहितः स च विगुणः किञ्चिदङ्गविकलाऽपि स्विनुष्ठितान् सर्वविघ्नोपसंहारे-णाचरितादपि परधर्मात् श्रेयान् । यथा ब्राह्मणस्याहिंसादः स्वध-र्मः क्षत्रियस्य च युद्धादि । नहि धर्मो वेदातिरिक्तं न प्रमाणेन गम्य-ते । चक्षुर्भिन्नैन्द्रियेणैव रूपम् । यथाह जैमिनिः--“चोदना नक्षणा धर्मः” इति । तत्र हेतुः-स्वधर्मे निधनं मरणमपि श्रेयः प्रत्यवाया-भावात् परजन्मनि धर्माचरणसम्भवाच्चेष्टसाधकमित्यर्थः । पर-धर्मस्तु भयावहोऽनिष्टजनकः, तं प्रत्याविहितत्वेन प्रत्यवाय-सम्भवात् । न च परशुरामं विश्वामित्रं च व्यभिचारः । तयोस्त-त्तत्कुलोत्पन्नावपि तत्तच्छास्त्र--महिम्ना तत्कर्मादयान् । तथापि विगानं कष्टञ्च तयोः स्मर्यते । अतएव द्रोणादेः क्षात्रधर्मोऽमकृद्-विगीतः । ननु दैवरान्यादेः क्षत्रियस्य पारिव्राज्यं श्रेयने ततः कथमहिंसादेः परधर्मत्वमिति चेत् सत्यं पूर्वपृथ्वीधर्मः क्षीणवासनया पाण्डिवाज्याधिकारे सति तं प्रत्यहिंसादेः स्व-धर्मत्वेन विहितत्वात् । अतएव स्वधर्म स्थितस्येति शोध्यते ॥ ३५ ॥

अजुने उवाच-

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पुरुषः ।

अनिच्छन्नपि वाष्ण्य बलादिव नियोजितः ॥ ३६ ॥

सारा०व०--यदुक्तं रागद्वेषौ व्यवस्थितावित्यत्र शास्त्रनि-

विद्धेऽपीन्द्रियार्थे परस्त्रीमम्भोगादौ राग इत्यत्र पृच्छति--  
अथेति । केन प्रयोजककर्त्रानिच्छन्नपि विधिनिषेधशाम्प्रार्थज्ञान-  
बत्वात् पापे प्रवर्तितुमिच्छारहितोऽपि बलादिवेति प्रयोजक-  
प्रेरणवशात् प्रयोज्यस्यापीच्छा सम्यगुत्पद्यत इति भावः ॥३६॥

गी०भू०—इन्द्रियस्येत्यादौ शास्त्रनिषिद्धेऽपि परदारमं-  
भाषणादौ रागो व्यवस्थित इति यदुक्तं “तत्राञ्जुनः पृच्छति  
अथ केनेति । हे बाष्पण्य वृष्णवंशोद्भव ! शुभादिभ्यश्चेति ढक्”  
अयं ज्ञानयोगायाद्यतः पुरुषो जीवः केन प्रयोजकेन प्रयुक्तः  
प्रेरितः पापं चरति निषेधशाम्प्रार्थज्ञानात् तच्चरितमनिच्छन्नपि  
बलादिवेति । प्रयोजकेच्छापन्नतया प्रयोज्येऽपीच्छा प्रजायते ।  
स किमीश्वरः, पूर्वमंस्कारो वा ? तत्राद्यः--सार्द्धत्वात् काम-  
णिक्त्वाच्च न पापे प्रेरकः, न च परो जडत्वादिति प्रश्नार्थः ॥३६॥

श्रीभगवानुवाच

काम एव क्रोध एव रजोगुणसमुद्भवः ।

महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥

सारा०व०--एष काम एव बिषयाभिलाषात्मकः पुरुषं पापे  
प्रवर्तयति--तेनैव प्रयुक्तः पुरुषः पापं चरतीत्यर्थः । एष काम एव  
पृथक्त्वेन दृश्यमान एष प्रत्यक्षः क्रोधो भवति--काम एव केन-  
चित् प्रतिहतो भूत्वा क्रोधाकारेण परिणमतीत्यर्थः । कामो रजो-  
गुणसमुद्भव इति राजमान् कामादिव तामसः क्रोधो जायत  
इत्यर्थः । कामस्यापेक्षितपूरणेन निवृत्तिः स्यादिति चेन्नैत्याह--  
महाशनो महदशनं यस्य सः । “यत् पृथिव्यां ब्रीहियवं हिरण्यं  
पशवः स्त्रियः । नालमंकस्य तत् सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत् ॥”  
इति स्मृतः, कामस्यापेक्षितं पूरयितुमशक्यमेव । ननु दातेन  
सन्धातुमशक्यश्चेत् सामभेदाभ्यां स मन्त्रशाकर्तव्यः ? तत्राह--  
महापाप्माऽत्युग्रः ॥३७॥

गी०भू०--तत्राह भगवान् काम इति । कामः प्राक्तन-  
वामनाहंतुकः शब्दादिविषयकोऽभिलाषः पुरुषं पापे प्रेरयति तद-  
निच्छुर्मापि सोऽस्य प्रेरक इत्यर्थः । नन्वभिचागादौ क्रोधोऽपि  
प्रेरको दृष्टः स चेन्द्रियस्येत्यादौ भवतापि पृथगुक्त इति चेत्,  
मत्थम ; न स तस्मात् पृथक्, किन्त्वेव काम एव केनचित् तेनेन  
प्रतिहतः क्रोधो भवति । दुग्धमिवाम्लेन युक्तं दधि ;--कामजय  
एव क्रोधजय इति भावः । कीदृशः काम इत्याह--रजोगुणेति ।  
सत्त्ववृद्ध्या रजमि निजिते कामो निजितः स्यादित्यर्थः । न चापे-  
क्षितप्रदानेन कामस्य निवृत्तिरित्याह--महाशन इति । “यत् पृथि-  
व्यां ब्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः । नालमंकस्य तत् सर्वमिति  
मत्वा शमं व्रजेत् ॥” इति स्मरणात् । न च साम्ना भेदेन वा स  
वशाभवेदित्याह--महापाप्मेति । योऽत्युग्रो विवेकज्ञानविलोपेन  
निषिद्धेऽपि प्रवर्तयति तस्मादिह दानयागे एनं वैरिणं विद्धि  
तथा च ज्ञानादिभिस्त्रिभिर्भूपायैः सन्धातुमशक्यत्वाद्वयमारोह  
दण्डेन स हन्तव्य इति भावः । ईश्वरः कस्मान्तरितः पर्जन्यवत्  
सर्वत्र प्रेरकः । कामस्तु स्वयमेव पाप्माप्रे इति तथोक्तम् ॥३७॥

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।

यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

सारा०व०--न च कस्यचिद्देवाय वैश्यपि तु सर्वस्यैवेति  
मद्वैशान्तमाह--धूमेनेति । कामस्यागाढत्वं गाढत्वेऽतिगाढत्वं च  
क्रमेण दृष्टान्ताः--धूमेनावृतोऽपि मलिनो वह्निर्दाहादिलक्षणं  
स्वकार्यन्तु करोति । मलेनावृतो दर्पणस्तु स्वच्छता-धर्म-  
निरोधानाद्विम्बप्रदणं स्वकार्यं न करोति, स्वरूपतन्तूपलभ्यते ।  
उल्बेन जरायुनावृतो गर्भस्तु स्वकार्यं करचरणादिप्रसारणं न  
करोति, न वा स्वरूपत उपलभ्यत इति । एवं कामस्यागाढत्वं



परमार्थस्मरणं कर्त्तुं शक्नोति, गाढत्वे न शक्नोत्यतिगाढं  
त्वचंतनमेव स्यादित्ये जगद्वद ॥३८॥

गी०भू०—मृदुमध्यतीव्रभावेन त्रिविधस्य कामस्य धूममलो-  
न्वयंति क्रमेण दृष्टान्तानाह—धूमेनेति । यथा धूमेनावृतोऽनु-  
ज्ज्वलोऽपि बाह्योष्णादिकं किञ्चित् करोति मलेनावृतो दर्पणः  
स्वच्छता-तिरोधानात् प्रतिविम्बं न शक्नोति प्रहीतुमुन्वेन जरा-  
युणावृतो गर्भस्तु पादादिप्रसारं न शक्नोति कर्त्तुं न चोप-  
लभ्यते, तथा मृदुना कामेनावृतं ज्ञानं कथञ्चन तत्त्वार्थं प्रहीतुं  
शक्नोति मध्येनावृतं न शक्नोति । तीव्रेणावृतन्तु प्रसर्त्तुमपि  
न शक्नोति, न च प्रतीयत इत्यर्थः ॥३८॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।

कामरूपेण कान्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

सारा०व०—काम एव हि जीवस्याविद्येत्याह—आवृतामिति ।  
नित्यवैरिणेत्यतोऽसौ सर्वप्रकारेण हन्तव्य इति भावः । काम-  
रूपेण—कामाकारेणाज्ञानेनेत्यर्थः । च-कार द्वार्थः, अनला  
यथा हविषा पूरयितुमशक्यस्तथा कामोऽपि भोगेनेत्यर्थः, यदु-  
क्तम्—न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति । हविषा  
कृष्णवत्सव भूय एवाभवद्धति ॥ इति ॥३९॥

गी०भू०—उक्तमर्थं स्फुटयति—आवृतामिति । अनेन काम-  
रूपेण नित्यवैरिणा ज्ञानिनो जीवस्य ज्ञानमावृतामिति सम्बन्धः ।  
अस्य नित्यभोगसमये मुखत्वात् मुह्यति कामस्तत्कार्ये दुःखे  
मतिं प्राप्नोति स्याद्विज्ञस्य तु तत्समयेऽपि दुःखानुमन्धानाद्दुःख-  
तेतुमेति नित्यवैरिणेत्युक्तः, तस्मात् सव्येथा हन्तव्य इति भावः ।  
किञ्च दुष्पूरेणेति च-शब्द द्वार्थः । तत्रानला यथा हविषा पूर-  
यितुमशक्यस्तथा भोगेन काम इत्यर्थः । स्मृतिश्चैवमाह—“न

जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति । हविषा कृष्णवत्सव  
भूय एवाभवद्धति ॥ इति । तस्मात् सर्वेषां स नित्यवैरीति ॥३९॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।

एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

सारा०व०—कामो निष्ठत्यत आह—इन्द्रियाणीति । अस्य  
वैरिणः कामस्याधिष्ठानं महादुर्गराजधान्यः, शब्दादयो विषयास्तु  
तस्य राज्ञो देशा इति भावः । एतैरिन्द्रियादिभिर्देहिनं जीवम् ॥४०॥

गी०भू०—वैरिणः कामस्य दुर्गेषु निजितेषु तस्य जयः मुक्ता  
इति तान्याह—इन्द्रियाणीति । विषयश्रवणादिना मद्धरूपेणाध्य-  
वसायेन च कामस्याभिव्यक्तेः श्रोत्रादीनि च मनश्च बुद्धिश्च तस्या-  
धिष्ठानं महादुर्गराजधानीरूपं भवति विषयास्तु तस्य तस्य जन-  
पदा बोध्याः । एतैर्विषयमञ्ज्वाग्भिर्भारिन्द्रियादिभिर्देहिनं प्रकृतिसृष्ट-  
देहवन्तं जीवमारम्भज्ञानोद्यतमेव कामो विमोहयति—आत्मज्ञान-  
विमुखं विषयसंप्रवणञ्च करोतीत्यर्थः ॥४०॥

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।

पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

सारा०व०—वैरिणः स्वत्वाश्रये जिते सति वैरी जीयत इति  
नीतिरतः कामस्याश्रयेष्विन्द्रियादिषु यथोत्तरं दुर्जेयत्वाधिक्यम् ।  
अतः प्रथमप्राप्तानीन्द्रियाणि दुर्जेयान्यप्युत्तरापेक्षया मुजयानि,  
प्रथमं ते जीयन्तामित्याह—तस्मादिति । इन्द्रियाणि नियम्ये च  
यद्यपि परस्त्रीपरद्रव्याद्यपहरणे दुर्निवारं मनो गच्छत्येव, तदापि  
तत्र तत्र नेत्रश्रोत्रकरचरणादीन्द्रियव्यापारस्थ-गणनादिन्द्रियाणि  
न गमयेत्यर्थः । पाप्मानमत्युग्रं कामं जहीतीन्द्रियव्यापारस्थ-  
गणनमतिकालेन मनोऽपि कामाद्विच्युतं भवतीति भावः ॥४१॥

गी०भू०—यस्मादयं कामरूपो वैरी निखिलेन्द्रियव्यापारवि-  
तिरूपायात्मज्ञानायोद्यतस्य विषयरसप्रवणैरिन्द्रियैर्ज्ञानमावृणोति  
नम्भात्, प्रकृतिमृष्टदेहादिमांस्त्वमादावात्मज्ञानोदयायारम्भकाल  
पवेन्द्रियाणि सर्व्याणि तद्व्यापाररूपे निष्क्रामे कर्मयोगे नियम्य  
प्रदर्शानि कृत्वा एतं पाप्मानं वामं शत्रुं प्रजहि विनाशय । हि  
यस्माज्ज्ञानस्य शास्त्रीयस्य देहादिबाबत्तात्मविषयकस्य विज्ञानस्य  
च तादृगात्मानुभवस्य नाशनमात्रकम् ॥४१॥

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।

मनस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥

सारा०व०—न च प्रथममेव मनोबुद्धि-जये यतनीयमशक्य-  
त्वादित्याह—इन्द्रियाणि पराणीति । दश-दिग्विजयिभिरपि  
वीरैर्दुर्जयत्वादतिबलत्वेन श्रेष्ठानीत्यर्थः । इन्द्रियेभ्यः सकाशा-  
दापि प्रबलत्वान्मनः परम—रूपे खल्विन्द्रियेष्वपि नष्टेष्वनश्वर-  
त्वादाति भावः, मनसः सकाशादापि परा प्रबला बुद्धिर्विज्ञान-  
रूपा, सुषुप्तौ मनस्यपि नष्टेतस्याः सामान्याकाराया अतश्चरत्वा-  
दाति भावः । नम्या बुद्धेः सकाशादापि परतो बलाधिपत्येन यो  
वर्त्तते—तस्यामपि ज्ञानाभ्यासेन नष्टायां सत्यां यो विराजत  
इत्यर्थः ; स तु प्रसिद्धो जीवात्मा कामस्य जेता । तेन बन्धुतः  
मर्त्यतोऽप्यतिप्रबलेन जीवात्मनेन्द्रियादीन् विजित्य कामो  
विजितुं शक्य एवेति नात्रामम्भावना कार्येति भावः ॥४२॥

गी०भू०—तनु मुद्रितयन्त्राम्बुन्यायेन निष्कामकर्मप्रवणत-  
येन्द्रियानियमने कामदर्शानि त्वया प्रदर्शितम् । अथ दैहिककर्म-  
कांति मुक्तयन्त्राम्बुन्यायेनेन्द्रियवृत्तिप्रसारं कामस्य पुनरुज्जीवता-  
पात्ताः भ्यादिति तत्र 'रगोऽप्यस्य परं हृद्वा' इति पूर्वोपादिष्टेन  
विदित्तात्मानुभवेन निःशेषा तस्य क्षातिः स्यादिति दर्शयति—

इन्द्रियाणीति द्वाभ्याम् । पाञ्चभौतिकादेहादिन्द्रियाणि परा-  
ण्याहुः परिहृताः । तच्चालिकत्वात्ततोऽतिमृद्धमत्वाच्चान्निनाशोऽविना-  
शाच्च ; इन्द्रियेभ्यो मनः परं जागरे तेषां प्रवर्त्तकत्वात् स्वप्ने  
तेषु स्वप्निन विलीनेषु राज्यकर्त्तृत्वेन स्थितत्वाच्च । मनस्तु बुद्धिः  
परा, निश्चयात्मकबुद्धिर्बुद्धेः सङ्कल्पात्मकमनोवृत्तेः प्रसरात् ।  
यस्तु बुद्धेरपि परतोऽस्ति, स देही जीवात्मा चित्स्वरूपो देहादि-  
बुद्ध्यन्तर्विविक्ततयानुभूतः सन्निःशेषकामश्रुतिहेतुर्भवतीति । कटा-  
श्चैवं पठान्ति—“इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः । मन-  
स्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥” इत्यादि । अस्यार्थः—  
इन्द्रियेभ्योऽर्था विषयास्तदाकर्षित्वात् पराः प्रधानभूताः । विषये-  
न्द्रियव्यवहारस्य मनोमूलत्वादर्थेभ्यो मनः परं विषयभोगस्य  
निश्चयपूर्वकत्वात् संशयात्मकान्मनसो निश्चयात्मिका बुद्धिः परा  
बुद्धेर्भोगोपकरणत्वात्तस्याः सकाशाद्भोक्तात्मा जीवः परः स  
चात्मा महान् देहेन्द्रियान्तःकरणम्यामीति दैहिकं कर्म तु पूर्वा-  
भ्यासबशाच्चक्रभ्रमिवत् सेत्स्यति ॥४२॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्म-  
पर्वणि श्रीभगवद्गीतामृपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे  
श्रीकृष्णाञ्जुनसंवादे कर्मेयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ।

सारा०व०—उपसंहरति—एवमिति । बुद्धेः परं जीवात्मानं  
बुद्ध्वा सर्वोपाधिभ्यः पृथग्भूतं ज्ञात्वाऽऽत्मना स्वेनैवात्मानं स्वं  
संस्तभ्य निश्चलं कृत्वा दुरासदं दुर्जयमपि कामं जहि नाशय ॥४३॥

अध्यायेऽस्मिन् साधनस्य निष्कामस्यैव कर्मणः ।

प्राधान्यमूचे तत्साध्यज्ञानस्य गुणतां बधन् ॥(२)॥



इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम ।  
तृतीयः खलु गीतासु सङ्गतः सङ्गतः मनाम् ॥ (३)

—५५—

गी०भू०—एवमिति—एवं मदुपदेशविधया बुद्धेश्च परं देहा-  
दिनिर्वाणलजडवर्गप्रवर्त्तकत्वाद्विबिक्तं सुखाचिद्वचनं जीवात्मानं  
बुद्ध्यानुभूयेत्यर्थः । आत्मना ईदृशानिश्चयात्मिकया बुद्ध्यात्मानं  
मनः संस्तभ्य तादृश्यात्मनि स्थिरं कृत्वा कामरूपं शत्रुं जहि  
नाशय ; दुरामदं दुर्द्धर्ममपि । महाबाहो इति प्राग्वत् ॥४३॥

निष्कामं कर्म मुख्यं स्याद्गौणं ज्ञानन्तदुद्धवम् ।

जीवात्म-दृष्टावितोप तृतीयोऽध्याय-निर्णयः ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्भाष्ये तृतीयोऽध्यायः ।

### चतुर्थोऽध्यायः



श्रीभगवानुवाच—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।

विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥

सा०व०—तुभ्यं स्वाविर्भावहेतोर्नित्यत्वं जन्मकर्मणाः ।

स्वस्योक्तं ब्रह्मयज्ञादिज्ञानोत्कर्षप्रपञ्चनम् ॥ (१)

सा०व०—अध्यायद्वयेनोक्तं निष्कामकर्मसाध्यं ज्ञानयोगं  
स्तौति—इममिति ॥१॥

गी०भू०—

तुभ्यं स्वाभिख्याक्तिहेतुं स्वलीलानिभ्यत्वं सत्कर्मसु ज्ञानयोगम् ।  
ज्ञानभ्यापि प्राग्यन्माहात्म्यमुच्चैः प्राख्यद्देवो देवकीनन्दनोऽसौ ॥

गी०भू०—पूर्वार्धाध्यायाभ्यामुक्तं ज्ञानयोगं कर्मयोगश्चैक-  
फलत्वादेकीकृत्य तद्वंशं कीर्त्तयन् स्तौति—इममिति । इमं त्वां  
प्रत्युक्तं योगं पुरा भक्ताय सर्वश्रेष्ठत्रियान्ववाय बीजाय विवस्वते  
सूर्यायाहं प्रोक्तवान् । अव्ययं नित्यं वेदार्थत्वान्नयेति स्वफला-  
दित्यव्यभिचारिफलत्वाच्च । स च मच्छिष्यो विवस्वान् स्व-  
पुत्राय मनवे वैवस्वताय प्राह, स च मनुरिक्ष्वाकवे स्वपुत्राया-  
ब्रवीत् ॥ १ ॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।

स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥२॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुगतनः ।

भक्तोऽगि मे यत्ना चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

सा०व०—त्वां प्रत्येवास्य प्रोक्तत्वं हेतुः—भक्तो दामः  
सखा चेति भावद्वयमन्यन्त्वर्वाचीनं प्रत्येवावक्तव्यत्वे हेतुः—  
रहस्यमिति ॥३॥

गी०भू०—एवं विवस्वन्तमारभ्य गुरुशिष्यपरम्परया प्राप्तमिमं  
योगं राजर्षयः स्वपित्रादिभिरिक्ष्वाकुप्रभृतिभिरुपादिष्टं विदुः ।  
इह लोके, नष्टो विच्छिन्नसम्प्रदायः ॥ २ ॥

स एव तदानुपूर्विकवचनवाच्यां योगो मया त्वत्सख्येना-  
तिस्निग्धेन ते तुभ्यं मत्सखायेति स्निग्धाय प्रोक्तस्त्वं मे भक्तः  
प्रपन्नः सखा चासीति हेतोः न त्वन्यस्मै कस्मैचित् । तत्र  
हेतुः—रहस्यमिति । हि यस्मादुत्तमं रहस्यमिति गोप्यमतत् ॥३॥

अर्जुन उवाच—

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।

कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥४॥

सारा०व०—उक्तमर्थमसम्भवं पृच्छति—अपरमिदानीन्तनम्, परं पुरातनमतः कथमेतत् प्रत्येमीति भावः ॥४॥

गी०भू०—कृष्णस्य सनातनत्वे साव्वज्ञे च शङ्कमानानन-भिज्ञान निराकर्त्ता मञ्जुर्न उवाच—अपरमर्त्या-चीनं परं पराचीनं तस्मादाधुनिकत्वं प्राचीनाय विवम्बते योगमुक्तवानित्येतत् कथमहं विजानीयां प्रतीयाम् । अयमर्थः—न ग्वन्तु सर्वेश्वरत्वेन कृष्णमञ्जुर्नो न वेत्ति तस्य नराख्यतद-बतारत्वेन ताद्रूप्यात् “परं ब्रह्म परं धाम” इत्यादि तदुक्तेश्च । किन्तु देवक्यां जातत्वेन मनुष्यभावेन चाभ्युदितां तत्सनात-नत्वतस्मर्वज्ञविषयामज्ञशङ्कामपाकर्त्ता अपरमित्यादि पृच्छति । सर्वेश्वरः स यथा स्व—तत्त्वं वेत्ति न तथान्यः । ततस्तन्मुखा-ग्वुजादेव तद्रूपतज्जन्मादि प्रकाशनीयं लोकमङ्गलाय । तदर्थं स्वमहिमानं प्रवदनं विकथनतया स नाक्षेप्यः, किन्तु स्तवनीय एव कृपालुतया । तच्च मनुष्याकृतिपरब्रह्मणस्तव रूपं जन्मादि च लोकावलक्षणं किंविधं किमथकं किंकालकमिति विज्ञप्त्याप्या-ज्ञबत प्रश्नाऽयमज्ञशङ्का—निरासकप्रतिवचनार्थः ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।

तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्स्य परंतप ॥५॥

सारा०व०—अवतारान्तरेणोपदिष्टवानित्याभिप्रायेणाह बहू-नीति । तव चेति यदा यदैव समावतारस्तदा मत्पार्षदत्वात्ता-बाप्याविर्भावाऽभुदेवेत्यर्थः । वेद वेद्वि सर्वेश्वरत्वेन सर्वज्ञत्वान् । त्वं न वेत्स्य मयैव स्वलीलामिद्वयर्थं त्वज्ज्ञानावरणादितां भावः । अतएव हे परन्तप ! साम्प्रतिक-कुन्तीपुत्रत्वाभिमानमात्रेणैव परान शत्रून्तापयसि ॥५॥

गी०भू०—एक एवाहं “एकोऽपि मन बहुधा योऽवभाति” इत्यादि श्रुत्युक्तानि नित्यसिद्धानि बहूनि रूपाणि वैदूर्यबदा-त्मनि दधानः पुरा रूपान्तरेण तं प्रत्युपदिष्टवान् इति भावेनाह भगवान्—बहूनीति । तव चेति मत्सम्बत्वात्तावन्ति जन्मानि तवाप्यभूवान्नित्यर्थः । न त्वं वेत्स्येति । इदानीं मयैवाचिन्त्य-शक्त्या स्वलीला—मिद्वये त्वज्ज्ञानाच्छादनादितां भावः । एतेन साव्वज्ञ्यं स्वस्य दर्शितम् । अत्र भगवज्जन्मनां वास्तवत्वं बोध्यं—बहूनीत्यादि श्रीमुखोक्तं सत्यं चेति दृष्टान्ताच्च । न च जन्माख्यो विकारस्तस्याप्रमव्याख्यया प्रत्याख्यानात् ॥ ५ ॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥६॥

सारा०व०—स्वस्य जन्मप्रकारमाह—अजोऽपि जन्मरहितोऽपि सन् सम्भवामि, देवमनुष्यातिर्यग्गादपु आविर्भवामि । ननु किमत्र चित्रम् ?—जीवोऽपि बभूवोऽज एव स्थूलदेहनाशानन्तरं जायत एव ? तत्राह—अव्ययात्माऽनश्वरशरीरः । किञ्च, जीवस्य स्वदेह-भिन्नस्वस्वरूपेणाजत्वमेव, आविर्भावो देहसम्बन्धेनैव तस्य जन्म-वत्त्वम्, मम त्वीश्वरत्वात् स्वदेहाभिन्नस्याजत्वं जन्मवत्त्वमित्यु-भयमापि स्वरूपमिदम् । तच्च दुर्घटत्वात् चित्रमतव्यमेव । अतः पुण्यपापादिमतां जीवस्यैव सदसद्योनिषु न मे जन्माशङ्के-त्याह—भूतानामीश्वरोऽपि सन् कर्म-पारतन्त्र्यरहितोऽपि भूत्वे-त्यर्थः । ननु जीवो हि लिङ्गशरीरेण स्वबन्धकेन कर्मप्राप्यान् देवादि देहान् प्राप्नोति । त्वं परमेश्वरो लिङ्गरहितः सत्त्वव्यापकः कर्मकालादि-नयन्ता ; “बहु व्याम” इति श्रुतेः सर्वजगद्रूपा मय्येव । तदपि यादृशोपत एवम्भूतोऽप्यहं सम्भवामीति ब्रूय, जन्मन्ये सर्वजगाद्विलक्षणान् देहविशेषान् नित्यानेव लोके प्रकाश-



यितुं त्वज्जन्मेत्यवगम्यते । तत् खलु कथमित्यत आह-प्रकृतिं स्वा-  
मधिष्ठायेति । अत्र प्रकृति-शब्देन यदि बहिरङ्गा मायाशक्तिरुच्यते,  
तदा तदधिष्ठाता परमेश्वरस्तद्द्वारा जगद्रूपो भवत्येवेति न विशेष-  
णोपलब्धिः । तस्मात् “संमिद्धिप्रकृती त्वमे स्वरूपश्च स्वभावश्च”  
इत्याभिधानादत्र प्रकृतिशब्देन स्वरूपमेवोच्यते । न तत् स्वरूप-  
भूता मायाशक्तिः, स्वरूपश्च तस्य सच्चिदानन्द एव ; अतएव  
“मवां शुद्धमत्त्वात्मकां प्रकृतिम्” इति श्रीरवामिचरणाः ; “प्रकृति  
स्वभावं स्वमेव स्वभावमधिष्ठाय स्वरूपेण स्वेच्छया सम्भवा-  
मीत्यर्थः” इति श्रीरामानुजाचार्यचरणाः । प्रकृतिं स्वभावं  
सच्चिदानन्दघनैकरसम् ; मायां व्यावर्त्तयति—स्वामिति—निज-  
स्वरूपमित्यर्थः । “म भगवंः कस्मिन् प्रतिष्ठितः स्वमहिम्नि”  
इति श्रुतेः । “स्वस्वरूपमधिष्ठाय स्वरूपावस्थित एव सम्भवामि,  
देहदेहिभावमन्तरेणैव देहिवद्व्यवहरामि” इति श्रीमधुसूदनसर-  
स्वतीपादाः । ननु यद्यव्ययात्मा—अनश्वर-मत्स्यकूर्ममीदृशस्वरूप  
एव भवामि, तर्हि तव प्रादुर्भवत्स्वरूपं पूर्वप्रादुर्भूतस्वरूपाणि  
च युगपदेव किं नोपलभ्यन्ते ? तत्राह—आत्मभूता या माया तथा  
स्वस्वरूपावरणप्रकाशन-कर्म च यथा चिच्छात्तवृत्त्या योगमायये-  
त्यर्थः । तथा हि पूर्वकालावतीर्णस्वरूपाणि पूर्वमेवावृत्य वर्त्त-  
मानस्वरूपं प्रकाश्य सम्भवामि । “आत्ममायया सम्यक्प्रच्युत-  
ज्ञानबल-वीर्यादिशक्त्यैव भवामि” इति श्रीरवामिचरणाः ;  
आत्ममाययाऽऽत्मज्ञानेन—“माया बभूव ज्ञानम्” इति ज्ञान-  
पर्यायोऽत्र माया-शब्दः ; तथा चाभिद्युक्तप्रयोगः—“मायया  
सततं वेत्ति प्राचीनानां शुभाशुभम्” इति श्रीरामानुजाचार्य-  
चरणाः ; “माय भगवति वासुदेवे देहदेहिभावशून्ये तद्रूपेण  
प्रतीतिः मायामात्रम्” इति श्रीमधुसूदनसरस्वतीपादाः ॥६॥

गीःभूः—लोकावलक्षणतया स्वरूपं स्वजन्म च बदन सना-  
तनत्वं स्वम्याह-अजोऽपीति । अत्र स्वरूपावभाषणपर्यायः “प्रकृति”  
शब्दः, स्वां प्रकृतिं स्वं स्वरूपं आधिष्ठायालम्ब्य सम्भवामि आबि-  
भवामि । संमिद्धिप्रकृती त्वमे ; “स्वरूपश्च स्वभावश्च” इत्यमरः,  
स्वरूपेणैव सम्भवामीति । एतमर्थं विचारितुं विशिनाष्टि—अजो-  
ऽपीत्यादिना । ‘आपि’ अवधारणे । अपूर्वदेहयोगो जन्म, तद्वाहित  
एव मन । अव्ययात्मापि सन् अव्ययः परिणामशून्य आत्मा  
बुद्ध्यादिर्यस्य तादृश एव मन । ‘आत्मा पुमि’ इत्याद्युक्तेः । भूता-  
नामीश्वरोऽपि सन् स्वतरेषां जीवानां नियन्तैव सन् इत्यर्थः । अज-  
त्वादिगुणकं यद्विभुज्ञानमुखधनं रूपं तेनैवावतरामीति स्वरूपेणैव  
संभवामीत्यस्य विवरणं तादृशस्य स्वरूपस्य रवेर्गिवाभिव्यक्ति-  
मात्रमेव जन्मेति तत्स्वरूपस्य तज्जन्मनश्च लोकावलक्षणत्वं तं  
सनातनत्वञ्च व्यक्तम् ; कर्मतन्त्रादं निगन्तम् । श्रुतिश्चैवमाह—  
“अजायमानो बहुधा विजायते” इति । स्मृतिश्च—“प्रत्यक्षं च हरे-  
जन्मन बिकारः कथञ्चन” इत्याद्या । अतएव सूतिकागृहे दिव्यायुध-  
भूषणस्य दिव्यरूपस्य पदैश्वर्यसम्पन्नस्य तस्य बीक्षणं स्मर्यते ।  
प्रयोजनमाह—आत्ममाययेति—भजजीवानुकम्पया हेतुना तदुद्धारा-  
येत्यर्थः—“माया दम्भे कृपायाश्च” इति विश्वः, आत्ममायया स्व-  
सार्वज्ञेन स्वसङ्कल्पेनेति केचित्, “माया बभूव ज्ञानञ्च” इति  
निर्घण्टकोपात् । लोकः खलु राजादिः पूर्वदेहादीनि बिहाया-  
पूर्वदेहादीनि भजन्निरनुसन्धिरङ्गा जन्मी भवतीति तद्वैलक्षण्यं हरे-  
जन्मिनः प्रफुटम् । भूतानामीश्वरोऽपि सन्नित्यनेन लब्धासद्भयो  
योगिप्रभृतयोऽपि व्यावृत्ताः । सुखादिदूषणां हरिर्देहदेहिभेदेन  
गुणगुणिभेदेन च शून्योऽपि विशेषबलात्तत्ताद्भावेन विदुषां प्रती-  
तिरासीदिति ॥६॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥

मारावः—कदा संभवामीत्यपेक्षायामाह—यदेति । धर्मस्य ग्लानिर्हानिरधर्मस्याभ्युत्थानं वृद्धिर्गते द्वे सोढुं मशक्नुवन् तयो-  
र्वैपरीत्यं कर्तुमिति भावः । “आत्मानं देहं सृजामि, निज-  
मिदमेव तं सृष्टमिव दर्शयामि मायया” इति श्रीमधुसूदन-  
मरुस्वतीपादाः ॥७॥

गी०भू०—अथ सम्भवकालमाह—यदेति । धर्मस्य वेदो-  
क्तस्य ग्लानिविनाशः अधर्मस्य तद्विरुद्धस्याभ्युत्थानमभ्युदयः  
तदाहमात्मानं सृजामि प्रकटयामि, न तु निर्म्ममे—तस्य पूर्व-  
मिदमेवादिति नास्ति मत्सम्भवकालनियमः ॥७॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।

धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥८॥

मारावः—ननु त्वद्भक्ता राजर्षयो ब्रह्मर्षयोऽपि वा धर्म-  
हान्यधर्मवृद्धौ दूरीकर्तुं शक्नुवन्त्येव ; एतावदर्थमेव किं तवा-  
वतारेण ? इति चेत्, सत्यम् । अन्यदपि अन्यदुष्करं कर्म कदा  
सम्भवामीत्याह—परीति—साधूनां परित्राणाय मदेकान्तभक्त-  
महर्षेणोक्तं गङ्गास्फुटाचक्षानां यद्वैयर्थ्यरूपं दुःखम्, तस्मात्  
त्राणाय । तथा दुष्कृतां मद्भक्तलोकदुःखदायिनां मदन्वैरवध्य-  
रावणकंसकेश्यादीनां विनाशाय । तथा धर्मसंस्थापनार्थ-  
मदीयध्यानयजनपरिचर्यासकीर्तनलक्षणं परमधर्मं मदा-  
प्रवर्त्तीयतुमशक्यं सम्यक् प्रकारेण गृह्यार्पितुमित्यर्थः । युगे  
प्रातद्युगे प्रतिकल्पं वा । न चैवं दुष्टानुप्रहृतो भगवतो वैप-  
भाशङ्कनीयम्, दुष्टानामप्यसुराणां स्वकर्तृकबधेन विविधदुः-

कलान्नरकसहप्रणिपातान् संमाराञ्च परित्राणतस्तस्य स खलु  
निग्रहोऽप्यनुग्रह एव निर्णीतः ॥८॥

गी०भू०—ननु त्वद्भक्ता राजर्षयोऽपि धर्मग्लानिमधर्माभ्यु-  
त्थानं चापनेतुं प्रभवन्ति तावतेऽर्थाय किं सम्भवामीति चेदस्ति  
मदन्यदुष्करं कार्यं तदर्थं सम्भवामीति आह—परीति—साधूनां  
मद्रूपगुणानिरतानां मत्साक्षात्कारमाकाङ्क्षयतां तेन विनाशित्व-  
प्राणां तद्वैयर्थ्यरूपात् दुःखात् परित्राणार्थातिमनोज्ञस्वरूपसा-  
क्षात्कारेण । तथा दुष्कृतां दुष्टकर्मकारिणां मदन्वैरवध्यानां दश-  
प्रीव-कंसादीनां तादृग्भक्तद्रोहिणां विनाशाय धर्मस्य मदे-  
कार्जनध्यानादिलक्षणस्य शुद्धभक्तियोगस्य वैदिकस्यापि मदनिर-  
प्रचारयितुमशक्यस्य संस्थापनार्थाय संप्रचारायेत्येतत् त्रयं मत्स-  
म्भवस्य कारणमिति । युगे युगे तत्तत्समयेन च दुष्टबधेन हर्ष-  
वैषम्यं, तेन दुष्टानां मोक्षानन्दलाभे मति तस्यानुग्रहरूपत्वेन परि-  
णामात् ॥८॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥९॥

मारावः—उक्तलक्षणस्य मज्जन्मनस्तथा जन्मानन्तरं मन्क-  
र्मणश्च तत्त्वतो ज्ञानमात्रेणैव कृतार्थः स्यादित्याह—जन्मेति ।  
“दिव्यमप्राकृतम्” इति श्रीरामानुजाचार्यचरणाः श्रीमधुसूदन-  
मरुस्वतीपादाश्च ; “दिव्यमलौकिकम्” इति श्रीस्वामिचरणाः ।  
लोकानां प्रकृतिसृष्टत्वादलौकिक—शब्दस्याप्राकृतत्वमेवार्थस्तथा-  
मप्यभिप्रेतः । अतएवाप्राकृतत्वेन गुणातीतत्वादभगवज्जन्मकर्म-  
णोर्नित्यत्वम् । तच्च भगवत्सन्दर्भे—“न विद्यते यस्य च जन्म कर्म  
वा” इत्यत्र श्रीके श्रीजीव-गोस्वामिचरणैरुपपादितम् ; यद्वा,  
युक्त्यानुपपन्नमपि श्रुतिस्मृतिवाक्यबलादतर्कमेवेदं मन्तव्यम् ।



यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥

सारा०व०—कदा संभवामीत्यपेक्षायामाह—यदेति । धर्मस्य ग्लानिर्हीनिरधर्मस्याभ्युत्थानं वृद्धिर्भवेत् द्वे सोढुं शक्नुवन् तयो-  
र्वैपरीत्यं कर्तुं मिति भावः । “आत्मानं देहं सृजामि, नित्य-  
मिदमेव तं सृष्टमिव दर्शयामि मायया” इति श्रीमधुसूदन-  
सम्बतीपादाः ॥७॥

गी०भू०—अथ सम्भवकालमाह—यदेति । धर्मस्य वेदो-  
क्तस्य ग्लानिविनाशः अधर्मस्य तद्विरुद्धस्याभ्युत्थानमभ्युदयः  
तदाहमात्मानं सृजामि प्रवटयामि, न तु निर्ममं—तस्य पूर्व-  
मिद्वत्त्वादिति नास्ति मत्सम्भवकालनियमः ॥७॥

परित्राणाय माधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।

धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥८॥

सारा०व०—ननु त्वद्भक्ता राजर्षयो ब्रह्मर्षयोऽपि वा धर्म-  
हान्यधम्मवृद्धौ दृग्कर्त्ता शक्नुवन्त्येव ; एतावदर्थमेव किं तवा-  
वतारिणः ? इति चेत्, सत्यम् । अन्यदपि अन्यदुष्कर कर्म कर्त्तुं  
सम्भवामीत्याह—परीति—माधूनां परित्राणाय मदेकान्तभक्तानां  
महर्षीनां कण्ठाभ्युत्थितानां यद्वैयग्र्यरूपं दुःखम्, तामात-  
त्राणाय । तथा दुष्कृतां मद्भक्तलोकदुःखदायिनां मदन्त्यैरवध्यानां  
गबगकर्मकेश्यादीनां विनाशाय । तथा धर्मसंस्थापनार्थाय  
मदीयध्यानयजनपरिचर्यामकीर्त्तनलक्षणं परमधर्मं मदन्त्यै  
प्रवर्त्तयितुमशक्यं सम्यक् प्रकारेण स्थापयितुमित्यर्थः । युगे युगे  
प्रतिदुर्गं प्रतिवर्त्तयितुं वा । न चैवं दुष्टानि प्रहृतो भगवतो वैषम्य-  
माशङ्कनीयम्, दुष्टानामप्यसुराणां स्वकर्त्तृकबधेन विविधदुष्कृत-

फलान्नरकमहप्रणिपातान् संसाराच्च परित्राणतस्तस्य स खलु  
निग्रहोऽप्यनुग्रह एव निर्णीतः ॥८॥

गी०भू०—ननु त्वद्भक्ता राजर्षयोऽपि धर्मग्लानिमधर्माभ्यु-  
त्थानं चापनेतुं प्रभवन्ति तावतेऽर्थाय किं सम्भवामीति चेदस्ति  
मदन्यदुष्करं कार्यं तदर्थं सम्भवामीति आह—परीति—माधूनां  
मद्रूपगुणनिरतानां मत्साक्षात्कारमाकाङ्क्षयतां तेन विनानिव्य-  
प्राणां तद्वैयग्र्यरूपात् दुःखात् परित्राणायार्तिमनोज्ञस्वरूपसा-  
क्षात्कारेण । तथा दुष्कृतां दुष्टकर्मकारिणां मदन्त्यैरवध्यानां दश-  
ग्रीव-कंसादीनां तादृग्भक्तद्रोहिणां विनाशाय धर्मस्य मदे-  
कार्त्तनध्यानादिलक्षणस्य शुद्धभक्तियोगस्य वैदिकस्यापि मदितरैः  
प्रचारयितुमशक्यस्य संस्थापनार्थाय संप्रचारायैत्येतत् त्रयं मत्स-  
म्भवस्य कारणमिति । युगे युगे तत्तत्समयेन च दुष्टबधेन हर्षो  
वैषम्यं, तेन दुष्टानां मोक्षानन्दलाभे सति तस्यानुग्रहरूपत्वेन परि-  
णामात् ॥८॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥९॥

सारा०व०—उक्तलक्षणस्य मज्जन्मनस्तथा जन्मानन्तरं मत्क-  
र्मणश्च तत्त्वतो ज्ञानमात्रेणैव कृतार्थः स्यादित्याह—जन्मेति ।  
“दिव्यमप्राकृतम्” इति श्रीरामानुजाचार्यचरणाः श्रीमधुसूदन-  
सम्बतीपादाश्च ; “दिव्यमलौकिकम्” इति श्रीस्वामिचरणाः ।  
लोकानां प्रकृतिसृष्ट्वादलौकिक—शब्दस्याप्राकृतत्वमेवार्थस्तेपा-  
मर्षाभिप्रेतः । अतएवाप्राकृतत्वेन गुणातीतत्वाद्भगवज्जन्मकर्म-  
णोर्नित्यत्वम् । तच्च भगवत्सन्दर्भे—“न विद्यते यस्य च जन्म कर्म  
वा” इत्यत्र श्लोके श्रीजीव-गोस्वामिचरणैरुपपादितम् ; यद्वा,  
युक्त्यानुपपन्नमपि श्रुतिस्मृतिवाक्यबलादतर्क्यमेवेदं मन्तव्यम् ।

तत्र पिप्पलाद-शाखायां पुरुषबोधनी श्रुतिः—“एको देवो नित्य-  
लीलानुरक्तो भक्तव्यापी भक्तहृद्यन्तरात्मा” इति । तथा जन्म-  
कर्मणोर्नित्यत्वं श्रीभागवतामृते बहुश एव प्रपञ्चितम् । एवं ‘यो  
वेत्ति तत्त्वतः’ इति, ‘अजोऽपि सन्नव्ययात्मा’ इत्यस्मिन्तथा  
‘जन्म कर्म च मे दिव्यम्’ इत्यस्मिन् मद्वाक्य एवास्तिकतया  
सज्जन्मकर्मणोर्नित्यत्वमेव यो जानाति, न तु तयोर्नित्यत्वं  
काञ्चिदयुक्तमप्यपेक्षमाणो भवतीत्यर्थः ; यद्वा, तत्त्वतः ‘ॐ तत्  
सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः’ इत्यग्रिमोक्तेस्तच्छब्देन  
ब्रह्माच्यते ; तस्य भावस्तत्त्वं तेन ब्रह्मस्वरूपत्वेन यो वेत्तीत्यर्थः ।  
स वर्त्तमानं देहं त्यक्त्वा पुनर्जन्म नैति, किन्तु मामेवैति । अत्र  
देहं त्यक्त्वेत्यभ्याधिक्यादेयं व्याचक्षते स्म । स देहं त्यक्त्वा  
पुनर्जन्म नैति किन्तु देहमत्यक्त्यैव मामेति । “मदीयदिव्यजन्म-  
चष्टितयाथाश्रयज्ञानेन विध्वग्नसमस्तसमाश्रयणविरोधिपाप्मा  
अस्मिन्नेव जन्मनि मामाश्रित्य मदेकप्रियो मामेव प्राप्नोति” इति  
श्रीरामानुजाचार्यचरणाः ॥६॥

गी०भू०—बहुलायामैः साधनमहस्रैरपि दुर्लभो मोक्षो  
मज्जन्मचरितश्रवणेन मदेकान्तिपथानुवर्त्तिनां सुलभोऽस्त्वित्ये-  
तदर्थश्च सम्भवामीत्याशयाभग वानाह—जन्मेति । मम सर्व-  
श्रयस्य मन्यच्छस्य बैदिक्येवान्नित्यमिदं नृमिहर्घुनाथादिबहुरूपस्य  
तत्र तत्रोक्तलक्षणं जन्म तथा कर्म च तत्तद्वक्तृमम्बन्धं चरितं  
तदुभयं दिव्यमप्राकृतं नित्यं भवतीत्येवमेवैतदिति यस्त्वत्त्वतो  
वेत्ति यद्गतं भवश्च भाविष्यश्च “एको देवो नित्यलीलानु-  
रक्तो भक्तव्यापी भक्तहृद्यन्तरात्मा” इति श्रुत्या दिव्यमिति  
मदुक्त्या च दृढश्रद्धां युक्तिनिरपेक्षः मन्, हे अर्जुन ! स वर्त्त-  
मानं देहं त्यक्त्वा पुनः प्रापञ्चिकं जन्म नैति, किन्तु मामेव  
तत्तत्कर्ममनोज्ञमेति मुक्ता भवतीत्यर्थः, यद्वा मोचकत्वलिङ्गेन

“तत्त्वमसि” इति श्रुतेश्च मे जन्मकर्मणो नित्यतो ब्रह्मत्वेन यो  
वेत्तीति व्याख्येयम् । इतरथा “तमेव विदित्वानिमृत्युमेति नान्यः  
पन्था विद्यते अथनाय” इति श्रुतिर्व्याकुप्येत । समानमन्यत् ।  
जन्मादिनित्यतायां युक्तयस्त्वन्यत्र विस्तृता द्रष्टव्याः ॥६॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।

बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१०॥

मा०व०—न केवलमेक एवाधुनिक एव, मज्जन्मकर्मतत्त्वज्ञानमात्रे-  
णैव मां प्राप्नोत्यपि तु प्राक्तना अपि पूर्वपूर्वकल्पावतीर्णस्य  
मम जन्मकस्मेतत्त्वज्ञानवन्तो मामापुरेवेत्याह—वीतेति । “ज्ञान-  
गुक्तलक्षणं मज्जन्मकर्मणोस्तत्त्वतोऽनुभवरूपमेव तपस्तेन पूताः”  
इति श्रीरामानुजाचार्यचरणाः । यद्वा, ज्ञाने मज्जन्मकर्मणोर्नित्य-  
त्वानिश्चयानुभवे यन्नानाकुमतकुतर्ककुयुक्तमपीविपदादसदनरूपं  
तपस्तेन पूताः ; तथा च श्रीरामानुजभाष्यवृत्ता श्रुतिः—“तस्य  
धीराः परिजानन्ति योनिम्” इति—धीरा धीमन्त एव तस्य  
योनिं जन्मप्रकारं जानन्तीत्यर्थः । वीतास्त्यक्ताः कुमतप्रजन्ति-  
तेषु जनेषु रागाद्या यैस्ते न तेषु रागः प्रीतिर्नापि तेभ्यो भयं  
नापि तेषु क्रोधो मद्भक्तानामित्यर्थः । कुतो मन्मया मज्जन्म-  
कर्मनिध्यानमननश्रवणकीर्त्तिनादिप्रचुराः । मद्भावं मयि प्रेमा-  
णम् ॥ १० ॥

गी०भू०—इदानीमिव पुरापि मज्जन्मादिनित्यता-ज्ञानेन  
बहूनां विमुक्तिरभूदिति तन्नित्यतां दृढयितुमाह—वीतेति । बहवो  
जना ज्ञानतपसा पूताः सन्तः पुरा मद्भावमागता इत्यनुपङ्गः ।  
मज्जन्मादिनित्यत्वविषयकं यज्ज्ञानं तदेव दुर्गधगमश्रुतियुक्त-  
सम्पाद्यत्वात्तपस्तस्मिन् ज्ञाने वा यद्बिबिधकुमतकुतर्कादिनिवा-  
रणरूपं तपस्तेन पूता निधूताविद्या इत्यर्थः । मयि भावं प्रेमाणं



विद्यमानतां वा मत्साक्षात्कृतिम् । कीदृशास्ते इत्याह—वीतेति—  
वीताः परित्यक्तास्तन्नित्यत्वविरोधिषु रागादयो यैस्ते, न तेषु  
रागं न भयं न च क्रोधं प्रकाशयन्तीत्यर्थः । तत्र हेतुः—मन्मथा  
मदेकनिष्ठा उपाश्रिताः संसेवमानाः ॥१०॥

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥

सारा०व०—ननु त्वदेकान्तभक्ताः किल तज्जन्मकर्मणोर्नित्यत्वं  
मन्यन्ते एव, केचित्तु ज्ञानार्तामिद्वयर्थं त्वां प्रपन्ना ज्ञानिप्रभृ-  
तयस्त्वज्जन्मकर्मणोर्नित्यत्वं नापि मन्यन्ते इति तत्राह—य इति ।  
यथा येन प्रकारेण मां प्रपद्यन्ते भजन्ते अहमपि तांस्तथैव प्रकारेण  
भजामि भजनफलं ददामि । अयमर्थः—ये मत्प्रभोज्जन्मकर्मणो  
नित्ये एवेति मत्ताम कुर्वाणस्तत्तल्लीलायामेव कृतमनोरथविशेषा  
मां भजन्तः सुखयन्त्यहमपीश्वरत्वात् कर्त्ता सकर्त्ता मन्यथाकर्त्ता—  
मपि समर्थस्तेषामपि जन्मकर्मणोर्नित्यत्वं कर्त्ता तान स्वपार्षदी-  
कृत्य तैः साद्वैतमेव यथासमयमवतर्गन्तर्हन्तान् प्रतिक्रम-  
मनुगृह्णन्ते व तदभजनफलं प्रमाणमेव ददामि । ये ज्ञानिप्रभृतयो  
मज्जन्मकर्मणोर्नित्यत्वं मद्भिप्रहस्य मायामयत्वञ्च मन्यमानाः मां  
प्रपद्यन्ते अहमपि तान पुनः पुनर्नैश्वरजन्मकर्मवतां मायापाशपति-  
तानेव कुर्वाणस्तत्प्रतिफलं जन्ममृत्युदुःखमेव ददामि । ये तु मज्जन्म-  
कर्मणोर्नित्यत्वं मद्भिप्रहस्य च मच्चिदानन्दत्वं मन्यमाना ज्ञानिनः  
स्वज्ञानामिद्वयर्थं मां प्रपद्यन्ते, तेषां म्यदेहद्वयभङ्गमेवेच्छतां सुसु-  
क्ष्णामनश्चरं ब्रह्मानन्दमेव सम्पादयन् भजनफलमाविशकजन्म-  
मृत्युदुःखमेव ददामि । तस्मान्न केवलं मद्भक्ता एव मां प्रपद्यन्ते,  
अपि तु सर्वशः सर्वेऽपि मनुष्या ज्ञानिनः कर्मिणो योगिनश्च  
देवतान्तरोपासकाश्च मम वर्त्मानुवर्तन्ते—मम सर्वस्वरूपत्वात्

ज्ञानकर्मिदिकं सर्व्वं मामकमेव वर्त्तेति भावः ॥११॥

गी०भू०—तनु नित्यजन्मादिमनोज्ञः सर्व्वेश्वरत्वं मयावगत-  
कचित्त्वङ्गुष्ठमात्रादिरपीश्वरो जन्मादिशून्यः श्रूयते, तत् किं तव  
त्वदुपासनस्य च वैविध्यं भवेदिति चेदोमित्याह—ये यथाति । ये  
भक्ता मामेकं वैदूर्यमिव बहुरूपं सर्व्वेश्वरं यथा येन प्रकारेण  
भावेनेति यावत् प्रपद्यन्ते भजन्ति, तानहं तादृशस्तथैव तद्भावानु-  
सारिणा रूपेण भावेन च भजामि साक्षात् भवन्ननुगृह्णामि । नून-  
तामेवकारो निवर्त्तयति, अतो ममेकस्यैव बहुरूपस्य वत्स बहुविध-  
मुपासनमार्गमनादिप्रवृत्ततदुपासकपरम्परानुवम्पिता मनुष्याः  
सर्व्वे अनुवर्त्तन्ते अनुसरन्ति ॥११॥

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।

क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।

तस्य कर्त्तामपि मां विद्वद्यकर्त्तारमव्ययम् ॥१३॥

सारा०व०—तत्रापि मनुष्येषु मध्ये कामिनस्तु मम साक्षाद्-  
भूतमपि भक्तिमार्गं परिहाय शीघ्रफलसाधकं कर्मवर्त्म एवानु-  
वर्त्तन्ते इत्याह—काङ्क्षन्त इति । कर्मजा सिद्धिः स्वर्गादमयी ॥१२॥

सारा०व०—ननु भक्तिज्ञानमार्गौ सोच्यौ, कर्ममार्गस्तु  
बन्धक इति सर्व्वमार्गसिद्धिरित्याय परमेश्वरे वैषम्यं प्रसक्तम्,  
तत्र नहि तर्हीत्याह—चातुर्वर्ण्यमिति । चत्वारो वर्णा एव चातुर्व-  
र्ण्यम्—स्वार्थं पश्यन् । अत्र सत्त्वप्रधाना ब्राह्मणास्तेषां शम-  
दमादीनि कर्माणि ; रजःसत्त्वप्रधाना क्षत्रियान्तेषां शौर्य्ययुद्धा-  
दीनि कर्माणि, तमोरजःप्रधाना वैश्यास्तेषां कृषिगोरक्षादीनि  
कर्माणि, तमःप्रधानाः शूद्रास्तेषां परिचर्यात्मकं कर्मेत्येवं गुण-

कर्मविभागशो गुणानां कर्मणाञ्च विभागैश्चत्वारो वर्णा मया कर्ममार्गाश्चित्त्वेन सृष्टाः । किन्तु तेषां कर्त्तारं स्रष्टारमपि माम-कर्त्तारमस्रष्टारमेव विद्धि, तेषां प्रकृतिगुणसृष्टत्वात् प्रकृतेश्च मन्द्वाक्तत्वात्, स्रष्टारमपि मां वस्तुतस्त्वस्रष्टारम, मम प्रकृति-गुणातीतस्वरूपत्वादिति भावः । अतएवाव्ययम्—स्रष्टृत्वेऽपि न माम्यं किञ्चिदेवेत्यर्थः ॥१३॥

गी०भू०—एवं प्रासङ्गिकं प्रोच्य प्रकृतम्य निष्कामकर्मणा ज्ञानाकारत्वं ब्रदिष्यन्तदनुष्ठातुविरलत्वमाह—काङ्क्षन्त्यन्त इति । इह लोकेऽनादिभोगवासना-नियन्त्रिताः प्राणिनः कर्मणां मिद्धि पशुपुत्रादिकलनिष्पत्तिं काङ्क्षन्तोऽनित्यात्पलदानपीन्द्रादि-देवान् यजन्ते सकामैः कर्मभिर्न तु सर्वदेवेश्वर नित्यानन्द-फलप्रदमपि मां निष्कामैस्तैर्यजन्ते, हि यस्मादस्मिन्मानुषे लोके कर्मजा मिद्धिः क्षिप्रं भवति । निष्कामकर्मरहितान्मत्तो ज्ञानतो मांलक्षणा मिद्धिस्तु चिरंणैव भवतीति । सर्वे लोका भोग-वासनाग्रस्तमदसद्विवेकाः शास्त्रभोगेच्छबन्तदर्थं मद्भृत्यान् देवान् भजन्ति, न तु कश्चित् सदसद्विवेका संसारदुःखावत्रस्तदुःख-निवृत्तये निष्कामकर्मभिः सर्वदेवशं मां भजतीति विरलमद-विकारीति भावः ॥१३॥

गी०भू०—अथ निष्कामकर्मनुष्ठानविरोधि-भोगवासना-विनाशहेतुमाह—चातुर्वर्ण्यामिति द्वाभ्याम् । चत्वारो वर्णाश्चा-तुर्वर्ण्येभ्यः स्याथिकः प्यञ् । सत्त्वप्रधाना विप्रास्तेषां शमादीनि कर्माणि, रजःसत्त्वप्रधानाः क्षत्रियास्तेषां युद्धादीनि, तमोरजः-प्रधाना वैश्यास्तेषां कृष्यादीनि, तमःप्रधानाः शूद्रास्तेषां विप्रा-दित्रिकपरिचर्यादीनीति गुणविभागैः कर्मविभागैश्च विम-क्षाश्चत्वारो वर्णाः सर्वेश्वरेण मया सृष्टाः स्थितमंहृत्योत्प-लक्षणमेतत् । ब्रह्मादिस्तम्बान्तरम्य प्रपञ्चस्याहमेव सर्गादिकर्त्ताति,

यदाह सूत्रकारः—“जन्मानस्य यतः” इति । तस्य सर्गादेः कर्त्तारि-मपि मां तत्त्वकर्मन्तरितत्वादिकर्त्तारं विद्धीति स्वस्मिन् वैष-म्यादिकं परिहृतम्, एतत् प्राहाव्ययमिति स्रष्टृत्वेऽपि साम्यान् व्यमीत्यर्थः ॥१३॥

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।

इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥

सारा०व०—नन्वेतच्चावदास्ताम्, सम्प्रति त्वं क्षत्रियकुले-ऽवतीर्णः क्षत्रियजात्युचितानि कर्माणि प्रत्यहं करोष्येव, तत्र का वार्त्तित्यत आह—न मामिति । न लिम्पन्ति जीवमिव न लिप्तीकुर्वन्ति, नापि जीवस्येव कर्मफले स्वर्गादौ स्पृहा, पर-मेश्वरत्वेन स्वानन्दपूर्णत्वेऽपि लोकप्रवर्त्तनार्थमेव मे कर्मादिकर-णमिति भावः । इति—मामिति, यस्तु न जानाति स कर्मभिर्व-ध्यत इति भावः ॥१४॥

गी०भू०—एतद्विशदयति—न मामिति । कर्माणि विश्वसर्गा-दीनि मां न लिम्पन्ति वैषम्यादिदोषेण जीवमिव लिप्तं न कुर्वन्ति, यत्तानि सृज्यजीवकर्मप्रयुक्तानि न च सत्प्रयुक्तानि न च सर्गादिकर्मफले मम स्पृहास्त्यतो न लिम्पन्तीति । फल-स्पृहया यः कर्माणि करोति, स तत्फलैर्लिप्यते, अहन्तु स्वरूपा-नन्दपूर्णः प्रकृतिविलीनक्षेत्रज्ञबुभुक्षाभ्युदितदयः । पर्जन्यवर्तनि-मित्तमात्रः स न तत्त्वकर्माणि प्रवर्त्तयामीति । स्मृतिश्च “निमित्ता-मात्रमेवामो सृज्यानां सर्गेकर्मणि । प्रधानकारणीभूता यतो वै सृज्यशक्तयः ॥” इत्यादया ; सृज्यानां देवमानवादिभावभाजां क्षेत्रज्ञानां सर्गक्रियायाम्, मो परेशो निमित्तामात्रमेव देवादिभाव-वैचर्यां कारणीभूतास्तु सृज्यानां तेषां प्राचीनकर्मशक्तय एव भवन्तीति तदर्थः । एवमाह सूत्रकृत्—“वैषम्यनैर्घृण्येन” इत्या-



दिना । एवं ज्ञानस्य फलमाह—इति मामिति । इत्थम्भूतं मां योऽभिजानाति, स तद्विरोधिभिस्तद्धेतुभिः प्राचीनकर्मभिर्न बध्यते, तैर्विमुच्यत इत्यर्थः ॥१४॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।

कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वं पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

सारा०व०—एवमेवम्भूतमेव मां ज्ञात्वा पूर्वैर्जनकादिभि-  
रपि लोकप्रवर्त्तनार्थमेव कर्म कृतम् ॥१५॥

गी०भू०—एवमिति । मामेवं ज्ञात्वा तदनुसारिभिर्मच्छि-  
ष्यैः पूर्वैर्विवक्षदादिभिर्मुमुक्षुभिर्निष्कामं कर्म कृतं तस्मात्त्वं  
मपि कर्मैव तत् कुरु, न तु कर्ममन्यासम्, अशुद्धचित्तश्चे-  
ज्ज्ञानगर्भायै चित्तशुद्धयै शुद्धचित्ताश्चेल्लोकसंग्रहायेत्यर्थः ।  
कीदृशं पूर्वैस्तैः कृतं पूर्वतरमिति प्राचीनम् ॥१५॥

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।

तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्षयसेऽशुभान् ॥१६॥

सारा०व०—किञ्च, कर्मापि न गतानुगतिकन्यायेनैव केवलं  
विवेकिना कर्त्तव्यम्, किन्तु तस्य प्रकारविशेषं ज्ञात्वैवेत्यतस्तस्य  
प्रथमं दुर्ज्ञेयत्वमाह ॥१६॥

गी०भू०—ननु किं कर्मविषयकः काश्चित् सन्देहोऽप्यस्ति  
यतः पूर्वैः पूर्वतरं कृतमित्यतिनिर्वन्वाद्ब्रवीषीति चेदस्यैव  
व्याह—किं कर्मैति । मुमुक्षुभिरनुष्ठेयं कर्म किं रूपं स्यात्  
कर्म च कर्मान्यत् तदन्तर्गतं ज्ञानञ्च किं रूपमित्यर्थः । तद-  
नन्तश्च । अत्रार्थं कवयो धीमन्तोऽपि मोहितास्तद्व्याथात्म्यं न  
यासामध्यान्मोहं प्रापुः । अहं सर्वेशः सर्वज्ञस्ते तुभ्यं

कर्म अकारप्रश्लेषादकर्म च प्रवक्ष्यामि—यज्ज्ञात्वा नुष्ठाय प्राप्य  
चाशुभात् संसारात् मोक्षयसे ॥१६॥

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।

अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

सारा०व०—निषिद्धाचरणं दुर्गतिप्रापकमिति तत्त्वम्, तथा-  
ऽकर्मणः कर्माकरणस्यापि सन्न्यासिनः कीदृशं कर्माकरणं  
शुभमिति । अन्यथा निःश्रेयसं कथं हस्तगतं स्यादिति भावः ।  
कर्मण इत्युपलक्षणं कर्माकर्माविकर्मणाम्, गतिस्तत्त्वम्,  
गहना दुर्गमा ॥१७॥

गी०भू०—ननु कवयोऽपि मोहं प्रापुर्गति चेत्तत्राह—कर्मणो  
निष्कामस्य मुमुक्षुभिरनुष्ठानव्यस्य स्वरूपं बोद्धव्यं, विकर्मणो  
ज्ञानविरुद्धस्य काम्यकर्मणः स्वरूपं बोद्धव्यं, अकर्मणश्च कर्म-  
भिन्नस्य ज्ञानस्य च स्वरूपं बोद्धव्यम्, तत्तत् स्वरूपविद्भिः साद्धं  
विचार्यमित्यर्थः । कर्मणोऽकर्मणश्च गतिर्गहना दुर्गमा, अतः  
कवयोऽपि तत्र मोहिताः ॥१७॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।

स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

सारा०व०—तत्र कर्माकर्माणोस्तत्त्वबोधमाह—कर्मणांति ।  
शुद्धान्तःकरणस्य ज्ञानवत्त्वंऽपि जनकादेरिवाकृत-मन्यासस्य  
कर्मण्यनुष्ठीयमाने निष्काम-कर्मयोगे अकर्म कर्मैवं न भवतीति  
यः पश्येत्, तत्कर्मणो बन्धकत्वाभावादिति भावः, तथाऽशु-  
द्धान्तःकरणस्य ज्ञानाभावेऽपि शास्त्रज्ञत्वाज्ज्ञानबाधकस्य सन्न्या-  
सिनोऽकर्मणि कर्माकरणे कर्म पश्येत् दुर्गतिप्रापकं कर्मबन्ध-  
मेवापलभते, स एव बुद्धिमान्, स तु कृत्स्नकर्माण्येव करोति,

न तु तस्य ज्ञानबाधदूकस्य ज्ञानिमानिनः सङ्गेनापि तद्वचमापि  
मन्यासं करोतीति भावः । तथा च भगवद्वाक्यम्—“यस्त्व-  
संयतपद्बर्गः प्रचण्डेन्द्रियसमरथः । ज्ञानवैराग्यरहितस्त्रिदण्ड-  
मुपजीवति ॥ सुरानात्मानमात्मस्थं निहते माञ्च धर्मदा । अवि-  
पककषायोऽस्मादमुष्माञ्च विहीयते ॥” इति ॥१८॥

गी०भू०—कर्मकर्मणोर्वोद्भव्यं स्वरूपमाह—कर्मणीति ।  
अनुप्रायमाने निष्कामे कर्मणि योऽकर्म प्रस्तुतत्वात् कर्म-  
ण्यात्मज्ञानं पश्येत्, अकर्मण्यात्मज्ञाने यः कर्म पश्येत् । एत-  
दुक्तं भवति, यो मुमुक्षुर्द्विषुद्वये क्रियमाणं कर्मात्मज्ञानानु-  
सन्विगर्भत्वाज्ज्ञानाकारं, तच्च ज्ञानं कर्मद्वारकत्वात् कर्माकारं  
पश्येत्, उभयोरेकात्मोद्देश्यत्वादुभयमेकं विद्यादित्यर्थः । एवमेव  
वक्ष्यते—“सांख्ययोगी पृथग्वालाः” इत्यादिनेति । एवमनुप्राय-  
माने कर्मणि आत्मयाथात्म्यं योऽनुसंधत्ते, स मनुष्येषु बुद्धि-  
मान् परिहृतः । युक्तो मोक्षयोग्यः, कृत्स्नकर्मकृत् सर्वेषां कर्म-  
फलानामात्मज्ञानसुखान्तर्भूतत्वात् ॥१८॥

यस्य सर्वे समारम्भाः काममंकल्पवर्जिताः ।

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः परिहृतं बुधाः ॥१९॥

सारा०व०—उक्तमर्थं विवृणोति—यस्येति पञ्चभिः । सम्यगा-  
रम्भ्यन्त इति समारम्भाः कर्माणि, कामः फलं तत्संकल्पेन  
वर्जिताः । ज्ञानमेवाग्नस्तेन दग्धानि कर्माणि क्रियमाणानि  
विहितानि निषिद्धानि च यस्य सः—एतेन विकर्मणश्च बोद्ध-  
व्यामित्यापि विवृतम् । एतादृशाधिकारिणं कर्म यथा अकर्म  
पश्येत्, तथैव विकर्माप्यकर्मैव पश्येदिति पूर्वश्लोकस्यैव  
सङ्गातः । यदग्रे वक्ष्यते—“अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पाप-  
कृतामः । सर्वं ज्ञानसर्वेनैव विजितं सन्तरिष्यसि ॥ यथैधांसि

समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन । ज्ञानाग्निः सर्वकर्मणि  
भस्मसात् कुरुते तथा ॥” इति ॥१९॥

गी०भू०—कर्मणो ज्ञानाकारमाह—यस्येति पञ्चभिः । समा-  
रम्भाः कर्माणि काम्यन्त इति कामाः फलानि तत्संकल्पेन  
वर्जिताः शून्या यस्य कर्मभिरात्मोद्देशिनो भवन्ति तं बुधाः  
परिहृतमात्मज्ञमाहुः । तत्र हेतुः—ज्ञानेति । तैः समारम्भैः दृष्टि-  
शुद्धौ सत्यामाविर्भूतेनात्मज्ञानाग्निना दग्धानि सञ्चितानि  
कर्माणि यस्य तम् ॥१९॥

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।

कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥२०॥

सारा०व०—नित्यतृप्तो नित्यं निजानन्देन तृप्तः । निराश्रयः  
स्वयोगक्षेमार्थं न कमप्याश्रयते ॥२०॥

गी०भू०—उक्तमर्थं विशदयति—त्यक्त्वेति । कर्मफले सङ्गं  
त्यक्त्वा नित्येनात्मनानुभूतेन तृप्तो निराश्रयः योगक्षेमार्थमप्या-  
श्रयरहित ईदृशो योऽधिकारी स कर्मण्यभितः प्रवृत्तोऽपि नैव  
किञ्चित् करोति—कर्मानुष्ठानापदेशेन ज्ञाननिष्ठामेव संपादयती-  
त्यारुरुक्षोर्दशेयम् । एतेन विकर्मणः स्वरूपं वन्वक्तव्यं बोद्धव्य-  
मित्युक्तं भवति ॥२०॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।

शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

सारा०व०—आत्मा—स्थूलदेहः । शारीरं शरीरनिर्वाहार्थं  
कर्मासत्प्रतिग्रहादिकं कुर्वन्नपि किल्बिषं पापं नाप्नोतीत्येतदपि  
विकर्मणश्च बोद्धव्यमित्यस्य विवरणम् ॥२१॥

गी०भू०—अथारूढस्य दशमाह—निराशीरिति त्रिभिः ।



निर्गता आशीः फलेच्छा यस्मात् स यतचित्तात्मा बशीकृत-  
चित्तदेहस्यक्तमव्यपरिग्रह आत्मैकावलोकनार्थत्वात् प्राकृतेषु  
वस्तुषु समत्ववर्जितः । शरीरं कर्म शरीरनिर्व्याहार्थं कर्मा-  
संप्रतिग्रहादि कुर्वन्नपि कित्त्वप्यं पापं नाप्नोति ॥२१॥

यदृच्छालाभमंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।

समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निवध्यते ॥२२॥

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।

यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

साराऽव०—यज्ञो बध्यमाणलक्षणस्तदर्थं कर्माचरतस्तन  
कर्म प्रविलीयते—अकर्मभावमापद्यत इत्यर्थः ॥२३॥

गी०भू०—अथ शरीरनिर्व्याहार्थमन्नाच्छादनादिकं स्वप्रयत्नेन  
न संपाद्यमित्याह—यदृच्छयेति । याचञां विनैव लाभो यदृ-  
च्छालाभस्तेन सन्तुष्टुप्रः । द्वन्द्वानि शीतोष्णादीन्यतीतस्तत्स-  
हिष्णुः । विमत्सरोऽन्यैरुपद्रुतोऽपि तैः सह वैरमकुर्वन् यदृच्छा-  
लाभसिद्धौ हर्षय्य तदासिद्धौ बिषादस्य चाभावान् समः एवं-  
भूतः शरीरं कर्म कृत्वापि तेन तेन न बध्यते ज्ञाननिष्ठाप्रभावान्न  
तिष्यते ॥२२॥

गी०भू०—गतसङ्गस्य निष्कामस्य रागद्वेषादिभिर्मुक्तस्य  
न्यात्मविषयकज्ञानान्विष्टमनसः यज्ञाय विष्णुं प्रसादयितुं ताञ्च-  
न्तनमाचरतः प्राचीनं बन्धकं कर्म समग्रं कृतं प्रविलीयते ॥२३॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नी ब्रह्मणा हुतम् ।

ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४॥

साराऽव०—‘यज्ञायाचरतः’ इत्युक्तम्, स यज्ञ एव कीदृशः ?

इत्यपेक्षायामाह—ब्रह्मेति । अपर्यत अनेनेत्यर्पणं जुह्वादि, तदपि  
ब्रह्मैव ; अपर्यमाणं हविरपि ब्रह्मैव, ब्रह्माग्नाविति हवर्नाधि-  
करणमग्निरपि ब्रह्मैव, ब्रह्मणेति हवनकर्त्तापि ब्रह्मैव । एवं विवे-  
कवता पुंसा ब्रह्मैव गन्तव्यं प्राप्तव्यम्, न तु फलान्तरम् ।  
कुतः ? ब्रह्मात्मकं यत् कर्म तत्रैव समाधिश्चित्तैकाग्र्यं यस्य  
तेन ॥२४॥

गी०भू०—एवं विविक्त-जीवात्मानुसन्धिगर्भतया स्वर्वाह-  
तस्य कर्मणो ज्ञानाकारतामभिधाय साङ्गस्य तस्य परात्मरूप-  
तानुमन्धिना तदाकारतामाह—ब्रह्मार्पणमिति । अपर्यतेऽनेनाग्ने-  
वेति व्युत्पत्तेरर्पणं स्रुवं मन्त्राधिदैवतं चन्द्रादि तत्तच्च ब्रह्मैव,  
अपर्यमाणं हविश्चाज्यादि तदपि ब्रह्मैव, तच्च हविर्होमाधारंऽग्नीं  
ब्रह्माणं यजमानेनाध्वर्युणा च ब्रह्मणा हुतं त्यक्तं प्राक्षप्रश्च,  
अग्निर्यजमानोऽध्वर्युश्च ब्रह्मैवेत्यर्थः । ब्रह्माग्नावित्यत्र णिकार-  
लोपश्चान्दसः । न च समस्तं पदमिति वाच्यम्—अग्नौ ब्रह्म-  
दृष्टेर्विधेयत्वात् इत्यञ्च ब्रह्मरूपे साङ्गे कर्मणि समाधिश्चित्तै-  
काग्र्यं यस्य तेन मुमुक्षुणा ब्रह्मैव गन्तव्यं स्वस्वरूपं परम्वरू-  
पञ्च लभ्यमवलोकयमित्यर्थः । “विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद” इत्यादौ जीवे  
ब्रह्म-शब्दः, “विज्ञानमानन्दं ब्रह्म” इत्यादौ परमात्मानं च ब्रह्मा-  
र्पणत्वादिगुणयोगान्नाग्य प्रकरणस्य पौनरुक्तम् । ‘स्रुवादीनां  
ब्रह्मत्वं तदायत्तावृत्तिवत्त्वात्तादृशत्वाच्च’ इति व्याख्यातारः ।  
तादृशतयानुमन्धितं कर्मज्ञानाकारं सत्तादवलोकनाय कल्पयते । २४

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पयुषामते ।

ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुहति ॥२५॥

साराऽव०—यज्ञाः खलु भेदेनान्येऽपि बहवो वर्तन्ते, तांस्त्वं  
शृण्वित्याह—दैवमेवेत्यर्थाः । देवा इन्द्रवरुणादय इज्यन्ते

यस्मिन् तं दैवमिति । इन्द्रादिषु ब्रह्मबुद्धिरहित्यं दर्शितम्--  
“सास्य देवतेत्यण्” । योगिनः कर्मयोगिनः, अपरे ज्ञानयोगि-  
नस्तु ब्रह्म परमात्मैवाग्निस्तस्मिन्तत्-पदार्थं यज्ञं हविःस्थानांयं त्वं-  
पदार्थं जीवं यज्ञेन प्रणवरूपेण मन्त्रेणैव जुहति । अयमेव ज्ञान-  
यज्ञोऽप्रे स्तोप्यते । अत्र ‘यज्ञं’ ‘यज्ञेन’ इति शब्दौ कर्मकरण-  
साधनौ प्रथमातिशयोक्त्या शुद्धजीवप्रणवाबाहृतः ॥२५॥

गी०भू०--एवं ब्रह्मानुसन्धिगर्भतया च कर्मणो ज्ञानाकारतां  
निरूप्य कर्मयोगभेदानाह--दैवमिति । दैवमिन्द्रादिदेवार्चन-  
रूपं यज्ञमपरे योगिनः पर्युपासते तत्रैव निष्ठां कुर्वन्ति । अपरे  
“ब्रह्मार्पणम्” इत्यादिन्यायेन ब्रह्मभूतेऽग्नौ यज्ञेन स्रुवादिना  
यज्ञं घृतादि-हवीरूपं जुहति होम एव निष्ठां कुर्वन्तीत्यर्थः ॥२५॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियण्यन्यं संयमाग्निषु जुहति ।

शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुहति ॥२६॥

सारा०व०--अन्ये नैष्ठिकाः श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि, संयमः  
संयतं मन एवाग्नयस्तेषु जुहति--शुद्धे मनसीन्द्रियाणि प्रवि-  
लापयन्तीत्यर्थः । अन्ये ततो न्यूना ब्रह्मचारिणः शब्दादीन्  
विषयानिन्द्रियाग्निष्विन्द्रियाण्येवाग्नयस्तेषु जुहति-शब्दादीनी-  
न्द्रियेषु प्रविलापयन्तीत्यर्थः ॥२६॥

गी०भू०--श्रोत्रादीनीति-अन्ये नैष्ठिकब्रह्मचारिणः संयमाग्निषु  
तत्तानिन्द्रियसंयमरूपं पदार्थं श्रोत्रादीनि जुहति तानि निरुध्य  
संयमप्रदानाग्निष्ठन्ति । अन्ये गृहिण इन्द्रियाग्निष्वग्नित्वेन भावि-  
तेषु श्रोत्रादिषु शब्दादीनुपजुहति अनामक्त्या तान् भुञ्जाना-  
न्तानि तत्प्रवणानि कुर्वन्ति ॥२६॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।

आत्मसंयमयोगाग्नी जुहति ज्ञानदीपिते ॥२७॥

सारा०व०--अपरे--शुद्ध-त्वंपदार्थविज्ञाः । सर्वाणीन्द्रि-  
याणि तत्कर्मणि श्रवणदर्शनादीनि च, प्राणकर्मणि  
दशप्राणास्तत्कर्मणि च, प्राणस्य बहिर्गमनमपानस्याधोग-  
मनम् समानस्य भुक्तर्पातादीनां समीकरणम्, उदानस्योर्ध्व-  
नयनम्, व्यानस्य विश्वकूनयनम्--“उद्गारे नाग आख्यातः  
कूर्म उन्मीलने स्मृतः । कृकरः क्षुत्करो ज्ञेयो देवदत्तो विज-  
म्भणे । न जहति मृतञ्चापि सर्वव्यापी धनञ्जयः ॥” इत्येवं दश  
प्राणास्तत्कर्मणि । आत्मनस्त्वंपदार्थस्य संयमः शुद्धिरेवाग्नि-  
स्तस्मिन् जुहति--मनोबुद्ध्यादीन्द्रियाणि दशप्राणाश्च प्रविला-  
पयन्ति--एकः प्रत्यगात्मैवास्ति, नान्ये मन आदय इति भाव-  
यन्तीत्यर्थः ॥२७॥

गी०भू०--सर्वाणीति--अपरे इन्द्रियकर्मणि प्राणकर्मा-  
णि च आत्मसंयमयोगाग्नी च जुहति--आत्मनो मनसः संयमः  
स एव योगस्तस्मिन्नाग्नित्वेन भाविते जुहति । मनसा इन्द्रियाणां  
प्राणानाञ्च कर्मप्रवणतां निवारयितुं प्रयतन्ते । इन्द्रियाणां  
श्रोत्रादीनां कर्मणि शब्दप्रहणादीनि प्राणकर्मणि प्राणस्य  
बहिर्गमनं कर्म, अपानस्याधोगमनम्, व्यानस्य निखिलदेह-  
व्यापनमाकुञ्चनप्रसारणादि, समानस्याशितर्पातादिसमीकरणम्,  
उदानस्योर्ध्वनयनं चेत्येवं बोध्यानि सर्वाणि सामर्थ्येन ज्ञान-  
दीपिते आत्मानुसन्धानोज्ज्वलिते ॥ २७ ॥

द्रव्ययज्ञस्तपोयज्ञा योगयज्ञस्तथापरे ।

स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः शंसितव्रताः ॥२८॥

सारा०व०--द्रव्यदानमेव यज्ञो येषां ते ‘द्रव्ययज्ञाः’, तपः  
कृच्छ्रचान्द्रायणादि एव यज्ञो येषां ते ‘तपोयज्ञाः’, योगोऽष्टाङ्ग  
एव यज्ञो येषां ते ‘योगयज्ञाः’, स्वाध्यायो वेदस्य पाठस्तदर्थस्य



ज्ञानञ्च यज्ञो येषां ते, यतयो यत्नपराः— सर्वे एते सम्यक् शितं  
तीक्ष्णीकृतं व्रतं येषां ते ॥२८॥

गी०भू०—द्रवेऽति — केचित् कर्मयोगिनो द्रव्ययज्ञाः  
अन्नादिदानपराः, केचित्तापोयज्ञाः कृच्छ्रचान्द्रायणादिव्रतपराः,  
केचिद्योगयज्ञाः पुण्यतीर्थोदिसङ्गमपराः, केचित् स्वाध्यायज्ञान-  
यज्ञाः वेदाभ्यासपरास्तदर्थभ्यासपराश्च । यतयस्तत्र प्रयत्नशीलाः  
शांसतव्रतास्तीक्ष्णतत्तदाचरणाः ॥ २८॥

अपानं जुहति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।

प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ।

अपरे नियताहाराः प्राणाः प्राणेषु जुहति ॥२९॥

सारा०व०—अपरे प्राणायामनिष्ठाः—अपानेऽधोवृत्तौ प्राण-  
मूर्ध्ववृत्तं जुहति पूरक-काले प्राणमपानेनैकीकुर्वन्ति ; तथा  
रेचक-कालेऽपानं प्राणे जुहति ; कुम्भक-काले प्राणापानयोगेती  
रुद्ध्वा प्राणायाम—परायणा भवन्ति । अपरे इन्द्रियजयकामाः,  
नियताहाराः अल्पाहाराः, प्राणेष्वहारासङ्काचनेनैव जीव्य-  
मानेषु प्राणानांन्द्रियाणि जुहति । इन्द्रियाणां प्राणाधीनवृत्त-  
त्वान् प्राणदोर्वल्ये सति स्वयमेव स्व-स्व-विषयग्रहणासमर्था-  
नांन्द्रियाणि प्राणेष्वेवाल्पीयन्त इत्यर्थः ॥२९॥

गी०भू०—किञ्चापानं इति । तथापरे प्राणायामपरायणान्ते  
त्रिधा अधोवृत्तावपानं प्राणमूर्ध्ववृत्तिं जुहति,—पूरकेन प्राण-  
मपानेन सहैकीकुर्वन्ति । तथा प्राणोऽपानं जुहति,—रेचकेना-  
पानं प्राणेन सहैकीकृत्य वह्निर्निर्गमयन्ति; यथा प्राणापानयोगेती  
श्वासप्रश्वासां कुम्भकेन रुद्ध्वा वर्त्तन्ति इति । आन्तरम्य वायोर्ना-  
साम्येन वह्निर्निर्गमः श्वासः प्राणस्य गतिः; बिनिर्गतस्य तस्यान्तः

प्रवेशः प्रश्वासः अपानस्य गतिः; तयोर्निरोधः कुम्भकः; स  
द्विविधः—वायुमापूर्य श्वासप्रश्वासयोर्निरोधोऽन्तःकुम्भकः, वायुं  
विरेच्य तयोर्निरोधो वह्निःकुम्भकः । अपरे नियताहारा भोजन-  
सङ्काचमभ्यसन्तः प्राणान् इन्द्रियाणि प्राणेषु जुहति;—तत्त्व-  
त्पाहारेण जीर्यमाणेषु तदायत्तावृत्तिकानि तानि विषयग्रहणा-  
क्षमाणि तत्तायोनिपित्तादविन्दुवत्तेस्वेव विलीयन्ते ॥ २९ ॥

सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ।

यज्ञशिष्टामृतमुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ॥३०॥

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥

सारा०व०—सर्वेऽप्येते यज्ञविद उक्तलक्षणान् यज्ञान्  
विन्दमानाः सन्तः ज्ञानद्वारा ब्रह्म यान्ति । अत्राननुसंहितं फल-  
माह—यज्ञशिष्टं यज्ञावशिष्टं यदमृतं भोगैश्चर्येमिद्वयादिकं  
तद्भुञ्जते इति । तथा अनुसंहितं फलमाह—ब्रह्म यान्तीति ॥३०॥

सारा०व०—तदकरणे प्रत्यवायमाह—नायमिति । अयमल्प-  
मुखो मनुष्यलोकोऽपि नास्ति, कुतोऽन्यो देवादिलोकस्तेन प्राप्तव्य  
इत्यर्थः ॥३१॥

गी०भू०—एते स्वस्विन्द्रियविजयकामाः सर्वेऽपीति यज्ञविदः  
पूर्वोक्तान् देवादियज्ञान् विन्दमाना तैरेव यज्ञैः क्षपितकल्मषाः ।  
अननुसंहितं फलमाह,—यज्ञशिष्टेति । यज्ञशिष्टं यदमृतमन्नादि  
भोगैश्चर्येमिद्वयादि च तद्भुञ्जन्ताः । अनुसंहितं फलमाह,—या-  
न्येति । तत्साध्येन ज्ञानेन ब्रह्मोति प्राग्वत् ॥ ३० ॥

गी०भू०—तदकरणे दोषमाह,—नायमिति । अयज्ञम्योक्त-  
यज्ञाननुप्राप्तुरयं प्रकृता लोकस्तत्रत्यस्त्रिवर्गो नास्ति, अन्यो मोक्ष-  
लभ्यो लोकः कुतः स्यात् ? ॥ ३१ ॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।

कर्मजान्विद्धि नान्मर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

साराव्य०—ब्रह्मणो वेदस्य मुखेन वेदेन स्वमुखेनैव स्पष्ट-  
मुक्ता इत्यर्थः । कर्मज्ञान बाहुमनःकायकर्मजनितान् ॥३२॥

गी०भू०—एवमिति ब्रह्मणो वेदस्य मुखे वितता विविक्तात्म-  
प्राप्त्युपायतया स्वमुखेनैव तेन स्फुटमुक्ताः । कर्मजनिति बाहु-  
मनःकायकर्मजनितानित्यर्थः । एवं ज्ञात्वा तदुपायतया तेनोक्तान्  
तानवबुध्यनुश्रय तदुत्पन्नविज्ञानेनावलोकित्वात्मद्वयः संमारा-  
द्विमोक्ष्यसे ॥ ३२ ॥

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।

यत्र कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

साराव्य०—तत्रापि मध्ये ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविरिति लक्षणादपि  
द्रव्यमयाद्यज्ञाद् ब्रह्माग्नावित्यनेनाक्तो ज्ञानयज्ञः श्रेयान् ; कुतः ?  
ज्ञानं सति सर्वं कर्माखिलमव्यर्थं सत् परिसमाप्यते समाप्ती-  
भवति—ज्ञानानन्तरं कर्म न निष्ठतान्तर्यः ॥३३॥

गी०भू०—उक्ताः कर्मयोगा विविक्तात्मानुमन्विगर्भत्वाद-  
ख्यादिव उभयरूपास्तेषु ज्ञानरूपं संस्तौति,—श्रेयानिति ।  
द्विरूपे कर्माग्नौ कर्मद्रव्यमयादंशाज्ज्ञानमयोऽशः श्रेयान् प्रश-  
स्ततरः । द्रव्यमयान्युपलक्षणाभिन्द्रियसंयमादीनां तेषां तदु-  
पायत्वान् । एतद्विवृणोति,—हे पार्थ ! ज्ञाने सति सर्वं कर्माखिलं  
माह्वं परिसमाप्यते निवृत्तिमेति फले जाते साधननिवृत्तौ दर्श-  
नान् ॥ ३३ ॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन मेवया ।

उपदेक्ष्यामि ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

साराव्य०—तज्ज्ञानप्राप्तये प्रकारमाह—तदिति । प्रणिपातेन  
ज्ञानोपदेष्टरि गुरो तदण्डवन्नमस्कारेण, “भगवन् ! कुतोऽयं मे सं-  
सारः, कथं निवर्त्तिष्यते” इति परिप्रश्नेन च, मेवया तत्परिचर्यया  
च, “तद्विज्ञानार्थं म गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पारिणः श्रोत्रियं  
ब्रह्मनिष्ठम्” इति श्रुतेः ॥३४॥

गी०भू०—एवं जीवस्वरूपज्ञानं तत्साधनञ्च साङ्गमुपदिश्य पर-  
स्वरूपोपासनज्ञानमुपदिशन् सत्प्रसङ्गलभ्यत्वं तस्याह,—तदिति ।  
यदर्थं तदुभयं मया तवोपदिष्टं ‘अविनाशि तु तद्विद्धि’ इत्यादिना  
तन् परात्ममन्वन्विज्ञानं प्रणिपातादिभिः प्रसादितेभ्यो ज्ञानिभ्यः  
सद्भ्यस्तत्त्वमवगत-स्वरूपो विद्धि प्राप्नुहि । तत्र प्रणिपातो  
दण्डवन्नमः, सेवा भृत्यवत्तोषां परिचर्या, परिप्रश्नः तत्स्वरू-  
पतद्गुणतद्विभूतिविषयको विविधः प्रश्नः । ननु दासीनास्ते न  
बह्यन्तीति चेत्तत्राह,—उपेति । ते ज्ञानिनोऽधिगतस्वपरात्मानः  
प्रणिपातादिना तज्ज्ञानमुतामालक्ष्य ते तुभ्यं तादृशाय तत्-  
सम्बद्धि ज्ञानमुपदेक्ष्यामि तत्त्वदर्शिनस्तज् ज्ञानप्रचारकाः कारु-  
णिका इति यावत् । नन्वत्र तदिति जीवज्ञानं बाध्यं प्रकृतत्वादिति  
चेन्न,—“न त्वेवाहं जातु नासं” “युक्त आसीत् मत्परः” “अज्ञो-  
ऽपि मन्नव्ययात्मा” इत्यादिना परात्मनोऽप्याप्राकृतत्वात् तज्-  
ज्ञानायैव जीवज्ञानस्याप्युपदेश्यत्वात् । एवमाह सूत्रकारः—“अ-  
न्यार्थश्च परामर्शः” इति; अन्यथा श्रुतिसूत्रार्थसम्बादिनोऽग्नि-  
मस्य ज्ञानमहिम्नो विरोधः स्यात् उक्तमेव सुष्ठु ॥ ३४ ॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।

येन भूतान्यशेषेण द्रव्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥

साराव्य०—ज्ञानस्य फलमाह-यज्ज्ञात्वेति माद्वैस्त्रिभिः । यज्ज्ञानं  
देहादतिरिक्त एवात्मेति लक्षणं ज्ञात्वैवं मोहमन्तःकरणधर्मं न



प्राप्स्यसि, येन च मोह-विगमेन स्वाभाविकनित्यसिद्धात्मज्ञान-  
लाभादशेषाणि भूतानि मनुष्यतिर्य्यगादीन्यात्मनि जीवात्मन्यु-  
पाधित्वेन स्थितानि पृथक् द्रक्ष्यसि । अथो मयि परमकारणे च  
कार्यत्वेन स्थितानि द्रक्ष्यसि ॥३५॥

गी०भू०—उक्तज्ञानफलमाह,—यदिति । यज्जीवज्ञानपूर्वकं  
परमात्मसन्धिविज्ञानं ज्ञात्वोपलभ्य पुनरेवं बन्धुवधादिहेतुकं मोहं  
न यास्यसि । कथं न यास्यामीत्यत्राह,—येनेति । येन ज्ञानेन  
भूतानि देवमानवादिशरीराणि अशेषेण सामस्त्येन सर्वोणी-  
त्यर्थः । आत्मनि स्वस्वरूपे उपाधित्वेन स्थितानि तानि पृथक्-  
द्रक्ष्यसि, अतो मयि सर्वेश्वरे सर्वहेतौ कार्यत्वेन स्थितानि  
तानि द्रक्ष्यमीति । एतदुक्तं भवति,—देहद्वयविविक्ता जीवात्मा-  
नस्तेषां हरिविमुखानां हरिमाययैव देहेषु दैहिकेषु च ममत्वानि  
रचितानि, हन्तृहन्तव्यभावभावभासश्च तयैव । शुद्धस्वरूपाणां न  
तत्तत्सम्बद्धः । परमात्मा खलु सर्वेश्वरः स्वाश्रितानां जीवानां  
तत्तात्कर्मणुगुणतया तत्तादेहेन्द्रियाणि तत्तादेहयात्रां लोकान्त-  
रेषु तत्तत्सुखभोगांश्च सम्पादयत्युपामितस्तु मुक्तिमित्येव ज्ञानिनो  
न मोहावकाश इति ॥ ३५ ॥

अपि चेदमि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।

सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजितं संतरिष्यसि ॥३६॥

सारा०व०—ज्ञानस्य माहात्म्यमाह—अपि चेदिति । पापेभ्यः  
पापकृद्भ्योऽपि सकाशाद्यद्यप्यतिशयेन पापकारी त्वमसि, तथापि  
अत्रैतावत्पापसत्त्वे कथमन्तःकरणशुद्धिः ? तदभावे च कथं ज्ञानो-  
त्पत्तिः ? नाप्युत्पन्नज्ञानस्यैतद्दुराचारत्वं सम्भवेदतोऽत्र व्याख्या  
श्रीमभुसूदनमरस्वतीपादानाम्—“अपि चेदित्यसम्भावितान्युप-  
गमप्रदर्शनार्थो निपातो । यद्यप्ययमर्थो न सम्भवत्येव, तथापि

ज्ञानफलकथनायाभ्युपेत्योच्यते” इत्येषा ॥३६॥

गी०भू०—ज्ञानप्रभावमाह,—अपि चेदिति । यद्यपि सर्वेभ्यः  
पापकर्त्ताभ्यस्त्वमतिशयेन पापकृदसि, तथापि सर्वं वृजितं  
निखिलं पापं दुस्तरत्वेनार्णवतुल्यमुत्तलक्षणज्ञानप्लवेन संत-  
रिष्यसि ॥ ३६ ॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसान्कुरुतेऽर्जुन ।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।

तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥

सारा०व०—शुद्धान्तःकरणस्थोत्पन्नं तु प्रारब्धभिन्नं कर्म-  
मात्रं विनाशयतीति सदृशान्तमाह—यथेति । समिद्धः प्रज्वलितः ॥३७॥

सारा०व०—इह तपोयोगादियुक्तेषु मध्ये ज्ञानेन सदृशं  
पवित्रं किमपि नास्ति । तज्ज्ञानं न सर्वसुलभम् ; किन्तु योगेन  
निष्कामकर्मयोगेन सम्यक् सिद्ध एव, न त्वपरिपक्वः, सोऽपि  
कालेनैव, न तु सद्यः । आत्मनि स्वात्मन स्वयं प्राप्तं विन्दति, न  
तु सन्न्यासग्रहणमात्रेणैवेति भावः ॥३८॥

गी०भू०—ब्रह्मविद्यया पापकर्मणि नश्यन्तीत्युक्तम्; इदानीं  
पुण्यकर्मण्यापि नश्यन्तीत्याह,—यथेति । एधांसि काष्ठानि  
समिद्धः प्रज्वलितोऽग्निर्यथा भस्मसान् कुरुते, तथा ज्ञानाग्निः  
स्वपरात्मानुभववाहः सर्वार्णि कर्माणि पुण्याणि पापानि च  
प्रारब्धेतराणि भस्मसात् कुरुते । तत्र सञ्चितानि प्रारब्धेतराणी-  
पीकतुलबान्निर्दहति क्रियमाणानि पद्मपत्राम्बुविन्दुबद्धिलेपयाति  
प्रारब्धानि तु तत्प्रभावेनार्तजाणान्याप सत्पथप्रचारार्थया हरे-  
रिच्छयैवात्मानुभावव्यवस्थापयतीति । श्रुतिश्च—“उभे उहैवैष  
एते तरत्यमृतः साध्वसाधुनी” इति,—एष ब्रह्मानुभवी उभे

सञ्चित्य - क्रियमाणे एते साधुसाधुनी पुण्यपापे कर्मणि तरति  
क्रामतीत्यर्थः । एवमाह सूत्रकारः--“तदाधिगम उत्तरपूर्वाद्य-  
योगश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्” इत्यादिभिः ॥ ३७ ॥

गी०भू०--न हीति । हि यतो ज्ञानेन सदृशं पवित्रं शुद्धिकं  
तपस्तीर्थाटनादिकं नास्ति, अतस्तत् सर्वपापनाशकं तज्ज्ञानं  
न सर्वमुलभं, किन्तु योगेन निष्कामकर्मणा संसिद्धः परिपक्व  
एव कालेनैव, न तु सद्यः । आत्मानि स्वास्मिन् स्वयं लब्धं  
विन्दति, न तु पात्राज्यप्रहणमात्रेणेति ॥ ३८ ॥

श्रद्धावल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥

सारा०व०--तर्हि कीदृशः सन् कदा प्राप्नोतीत्यत आह--  
‘श्रद्धा’ निष्कामकर्मणैवान्तःकरणशुद्धयैव ज्ञानं स्यादिति  
शास्त्रार्थ आस्तक्यबुद्धिस्तद्वानेव ; तत्परस्तदनुष्ठाननिष्ठतादृशो-  
ऽपि यदा संयतेन्द्रियः स्यात्तदा परां शान्तिं ससारनाशम् ॥३९॥

गी०भू०--कीदृशः सन् कदा विन्दतीत्याह--श्रद्धावानिति ।  
निष्कामेण कर्मणा हृद्विशुद्धौ ज्ञानं स्यादिति । इदं विश्वासः  
श्रद्धा तद्वान तत्परस्तदनुष्ठाननिष्ठः तादृगापि यदा संयतेन्द्रि-  
यस्तदा परां शान्तिं मुक्तिम् ॥ ३९ ॥

अज्ञश्चाश्रद्धानश्च संशयात्मा विनश्यति ।

नायं लोकोऽस्मि न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

सारा०व०--ज्ञानाधिकारिणमुक्त्वा तद्विपरीताधिकारिणमाह--  
अज्ञः पश्चादिवन्मूढः ; अश्रद्धानः शास्त्रज्ञानवत्त्वेऽपि नानावा-  
दिनां परस्परविप्रतिपत्तिं दृष्ट्वा न कापि विश्रम्यतः ; अज्ञावत्त्वे-  
ऽपि संशयात्मा--समैतत् सिध्येन्न वेति सन्देहाक्रान्तमतिः ;  
तेष्वपि मध्ये संशयात्मानं विशेषतो निन्दति--नायमिति ॥४०॥

गी०भू०--ज्ञानाधिकारिणं तत्फलञ्चाभिधाय तद्विपरीतं  
तत्फलञ्चाह--अज्ञश्चेति । अज्ञः पश्चादिवच्छास्त्रज्ञानहीनः,  
अश्रद्धानः शास्त्रज्ञाने सत्यपि विबादिप्रतिपत्तिभिर्न कापि  
विश्रम्यतः, अश्रद्धानत्वेऽपि संशयात्मा समैतत् सिद्धयेन्न वेति  
सन्दिहानमना विनश्यति स्वार्थाद्विच्यवने । तेष्वपि मध्ये संशया-  
त्मानं विनिन्दति--नायमिति । अयं प्राकृतो लोकः परोऽप्राकृतः  
संशयात्मनः किञ्चिदपि सुखं नास्ति । शास्त्रीयकर्मजन्यं हि सुखं,  
तत्र कर्म विविक्तात्मज्ञानपूर्वकम्, तत्र सन्दिहानस्य कुतस्त-  
दित्यर्थः ॥ ४० ॥

योगसंन्यस्तकर्माणि ज्ञानसंछिन्नमंशयम् ।

आत्मवन्तं न कर्माणि निबन्धन्ति धनञ्जय ॥४१॥

सा०व०--नैष्कर्म्यं त्वेतादृशस्य स्यादित्याह-योगात्रिष्काम-कर्म-  
योगानन्तरमेव संन्यस्तकर्माणि संन्यासेन त्यक्तकर्माणि, ततश्च  
ज्ञानाभ्यामानन्तरं छिन्नमंशयम्, आत्मवन्तं प्राप्तप्रत्यगात्मानं  
कर्माणि न निबन्धन्ति ॥४१॥

गी०भू०--ईदृशस्य नैष्कर्म्यलक्षणासिद्धिः स्यादित्याह--  
योगेति । योगेन ‘योगस्थः कुरु कर्माणि’ इत्यत्रोक्तेन संन्यस्तानि  
ज्ञानाकारतापन्नानि कर्माणि यस्य तम्, मदुपादिष्टेन ज्ञानेन  
छिन्नमंशयो यस्य तम् । आत्मवन्तमवलोकित्वात्मानं कर्माणि  
न निबन्धन्ति--तेषां ज्ञानेन विगमात् ॥ ४१ ॥

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानायिनात्मनः ।

छिन्नैव न संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥

अति श्रीमदाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्म-



पर्वणि श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे  
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ।



साराव०—उपसंहरति तस्मादिति । हृत्स्थं हृद्गतं संशयं  
छित्त्वा योगं निष्कामकर्मयोगमातिष्ठान्नाश्रय, उत्तिष्ठ युद्धं कर्तुं-  
मिति भावः ॥४८॥

उक्तेषु सुकृत्युपायेषु ज्ञानमत्र प्रशस्यते ।

ज्ञानोपायन्तु कर्मैवेत्यध्यायार्थो निरूपितः ॥ ( २ )

इति सारार्थवर्णनं दर्पणं भक्तचेतसाम् ।

गीतास्वयं चतुर्थो हि सङ्गतः सङ्गतः मनाम् ॥

गी०भू०—तस्मादिति । हृत्स्थं हृद्गतमात्मविषयकं संशयं  
मदुर्पादितं ज्ञानासना छित्त्वा योगं निष्कामं कर्म मयोर्पादित-  
मातिष्ठ तदर्थमुत्तिष्ठेति ॥४८॥

द्वयंशकं धान्यवत् कर्म तुपांशादिव तण्डुलः ।

श्रेष्ठं द्रव्यांशतो ज्ञानमिति तुल्यस्य निर्णयः ॥

इति श्रीभगवद्गीतोपनिषद्भाष्ये चतुर्थोऽध्यायः ।



## पञ्चमोऽध्यायः



अर्जुन उवाच—

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।

यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि मुनिश्चितम् ॥१॥

सा०व०—प्रोक्तं ज्ञानादापि श्रेष्ठं कर्म तद्दर्शयिष्ये ।

तत्पदार्थस्य च ज्ञानं साग्याद्या अपि पञ्चमे ॥ ( १ )

साराव०—पूर्वाध्यायान्ते श्रुतेन वाक्यद्वयेन विरोधमा-  
शङ्कमानः पृच्छति—संन्यासमिति । “योगसंन्यस्तकर्माणां ज्ञान-  
संछिन्नमंशयम् । आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥”  
इति वाक्येन त्वं कर्मयोगेनोत्पन्नज्ञानस्य कर्मसंन्यासं ब्रूहि ;  
“तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः छित्त्वैनं संशयं योग-  
मातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥” इत्यनेन पुनस्तस्यैव कर्मयोगश्च ब्रूहि ।  
न च कर्मसंन्यासः कर्मयोगश्चैकस्यैकदेव सम्भवतः स्थिति-  
गतिवद्बिरुद्धस्वरूपत्वात् । तस्मात् ज्ञानी कर्मसंन्यासं  
कुर्यात् कर्मयोगं वा कुर्यादिति त्वदभिप्रायमनवगतोऽहं  
पृच्छामि—एतयोर्मध्ये यदेकं श्रेयस्त्वया सुनिश्चितं तन्मे ब्रूहि ॥१॥  
गी०भू०—ज्ञातवः कर्मणाः श्रेष्ठ्यं सुकरत्वादिना हरिः ।

शुद्धस्य तदकर्तृत्वं त्वेत्यादि प्राह पञ्चमे ॥

गी०भू०—द्वितीये सुमुक्तुं प्रत्यात्मविज्ञानं मोचकमभिधाय  
तदुपायतया निष्कामं कर्म कर्तव्यमभ्यधान । लब्धविज्ञानस्य  
न किञ्चित् कर्मास्तीति “यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्” इति तृतीयं,  
“सर्वं कर्मोत्थितं पार्थ” इति चतुर्थं चावादीत, अन्ते तु  
तस्मादज्ञानसम्भूतम्” इत्यादिना तस्यैव पुनः कर्मयोगं प्राबो-  
धत् । तत्रार्जुनः पृच्छति संन्यासमिति । हे कृष्ण ? कर्मणां  
संन्यासं सर्वेन्द्रियव्यापारविरतिरूपं ज्ञानयोगमित्यर्थः, पुनर्योगं  
कर्मानुष्ठानञ्च सर्वेन्द्रियव्यापाररूपं शंससि । न चेकस्य युग-  
पत्तौ संभवेतां स्थितिगतिवत्तामस्तेजोबच्च बिरुद्धस्वरूपत्वात् ।  
तस्मात्तद्विज्ञानः कर्म संन्यसेदनुतिष्ठेद्वेति भवदभिमतं वेत्तुम-  
शक्ताऽहं पृच्छामि । एतयोः कर्मसंन्यासकर्मोत्पन्नयोरेकं  
श्रेयस्त्वया सुनिश्चितं तत्त्वं मे ब्रूहि इति ॥ १ ॥

भगवानुवाच—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।

तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥

सारा०व०—कर्मयोगो विशिष्यत इति ज्ञानिनः कर्मकरणे न कोऽपि दोषः ; प्रत्युत निष्कामकर्मणा चित्तशुद्धिदाह्याज्ज्ञान-  
दाह्यमेव स्यात् ; संन्यासिनस्तु कदाचिच्चित्तवैगुण्ये सति तदु-  
पशमनार्थं किं कर्म निषिद्धम् ? ज्ञानाभ्यासप्रतिबन्धकस्तु चित्त-  
वैगुण्यमेव, विषयग्रहणे तु बान्ताशित्वमेव स्यादिति भावः ॥२॥

गी०भू०—एवं पृष्ठो भगवानुवाच,—संन्यास इति । निःश्रे-  
यसकरो मुक्तिहेतु कस्मै संन्यासाज् ज्ञानयोगाद्विशिष्यते श्रेष्ठो  
भवति । अयं भावः,—न खलु लब्धज्ञानस्यापि कर्मयोगो  
दोषावहः, किन्तु ज्ञानगर्भत्वाज् ज्ञानदाह्यकृदेव । ज्ञाननिष्ठतया  
कर्मसंन्यासिनस्तु चित्तदोषे सति तदोपविनाशाय कर्मानुष्ठेयं  
प्रतिषेधकशास्त्रात् । कर्मत्यागवाक्यानि त्वात्मनि रतौ सत्यां  
कर्माणि तं स्वयं त्यजन्तीत्याहुः । तस्मात् सुकरत्वादप्रमाद-  
त्वाज्ज्ञानगर्भत्वाच्च कर्मयोगः श्रेयानिति ॥२॥

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।

निर्व्वेन्दो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥३॥

सारा०व०—न च संन्यासप्राप्त्या मोक्षोऽकृतसंन्यासेनैव  
तेन न प्राप्य इति वाच्यामित्याह—ज्ञेय इति । स तु शुद्धचित्तः  
कर्मी नित्यसंन्यासी एव ज्ञेयः । 'हे महाबाहो' इति मुक्ति-  
नगरीं जेतुं स एव महावीर इति भावः ॥३॥

गी०भू०—कुतो विशिष्यते तत्राह—ज्ञेय इति । स विशुद्ध-  
चित्तः कर्मयोगी नित्यसंन्यासी स सर्वदा ज्ञानयोगनिष्ठा

ज्ञेयः, यः कर्मान्तर्गताभ्यानुभवानन्दपरितृप्तस्ततोऽन्यत् किञ्चित्  
न काङ्क्षति, न च द्वेष्टि, निर्व्वेन्दो द्वन्द्वमहिम्णुः सुखमनाथासेन  
सुकरकर्मानुष्ठेयत्वार्थः ॥३॥

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न परिहृताः ।

एकमप्यास्थितः सम्यग्भूयोविन्दते फलम् ॥४॥

सारा०व०—तस्माद्यच्छ्रेय एवैतयोरिति त्वदुक्तमपि  
वस्तुतो न घटते, विवेकिभिरुभयोः पार्थक्याभावस्य दृष्ट्वा-  
दित्याह—सांख्ययोगाविति । सांख्य-शब्देन ज्ञाननिष्ठावाचिना  
तद्वज्ज्ञः संन्यासी लक्ष्यते । संन्यास-कर्मयोगौ पृथक् स्वतन्त्रा-  
विति बाला वदन्ति न तु विज्ञाः, 'ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी'  
इति पूर्वोक्तेः, अत एकमपीत्यादि ॥४॥

गी०भू०—यः श्रेय एतयोरैकमिति त्वद्वाक्यञ्च न घटत  
इत्याह—सांख्येति—ज्ञानयोगकर्मयोगौ फलभेदान् पृथग्भूता-  
विति बालाः प्रवदन्ति, न तु परिहृताः । अतएव एकमित्यादि-  
फलमात्मावलोकलक्षणम् ॥४॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।

एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥५॥

सारा०व०—एतदेव स्पष्टयति—यदिति । सांख्यैः संन्यासेन  
योगैर्निष्कामकर्मणा, बहुवचनं गौरवेण, अतएव तद्वचनं पृथग्-  
भूतमपि यो विवेकेनैकमेव पश्यति स पश्यति—चक्षुष्मान् परिहृत  
इत्यर्थः ॥५॥

गी०भू०—एतद्विशदयति—यदिति । सांख्यैर्ज्ञानयोगिभिर्योगैः  
निष्कामकर्मभिः “अर्श आशुच” । स्थानमात्मावलोकलक्षणम्—  
'तिष्ठत्यस्मिन्', न तु कदाचित् प्रच्यवन्त इति व्युत्पत्तेः । अत-



एव तद्द्वयं निवृत्तिप्रवृत्तिरूपतया भिन्नरूपमपि फलैक्यादेकं यः पश्यति वेत्ति, स पश्यति स चक्षुष्मान् पण्डित इत्यर्थः ॥५॥

मन्यामस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।

योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥६॥

सारा०व०--किन्तु सम्यक्चित्ताशुद्धिमनिर्द्धारयतो ज्ञानिनः सन्न्यासो दुःखदः कर्मयोगस्तु सुखद एवेति पूर्वव्यञ्जितमर्थं स्पष्टमेवाह--सन्न्यासस्त्विति । चित्तावैगुण्ये मतीति शेषः । अयोगतः कर्मयोगाभावाच्चित्ता--वैगुण्यप्रशामककर्मयोगस्य सन्न्यासिन्यभावात् तत्रानधिकारादित्यर्थः । सन्न्यासो दुःखमेव प्राप्तुं भवति । तदुक्तं बार्तिककृद्भिः--“प्रमादिना बहिःश्चित्ताः पिशुनाः कलहोऽसुकाः । सन्न्यासिनोऽपि दृश्यन्ते देवसंदूषिताः शयाः ॥” इति, श्रुतिरपि--“यदि न समुद्धरन्ति यतया हृदि कामजटाः” इति, भगवतापि--“यस्त्वमयतप इवर्गः” ( भा ११ । १८ । ४० ) इत्याद्युक्तम् । तस्माद्योगयुक्तो निष्काम-कर्मवान् मुनिर्ज्ञानं सन्न ब्रह्म शीघ्रं प्राप्नोति ॥६॥

गी०भू०--ज्ञानयोगस्य दुष्करत्वात् मुकरकर्मयोगः श्रेयानित्याह--मन्यामस्त्विति । सन्न्यासः सर्वेन्द्रियव्यापारविनिवृत्तिरूपो ज्ञानयोग अयोगतः कर्मयोगं विना दुःखं प्राप्तुं भवति-दुष्करत्वात् सप्रमादत्वाच्च दुःखहेतुरेव स्यादित्यर्थः । योगयुक्तनिष्कामकर्म्म तु मुनिरात्ममननशीलः सन्नचिरेण शीघ्रमेव ब्रह्माधिगच्छति ॥६॥

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।

सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥७॥

सारा०व०--कृतेनापि कर्मणा ज्ञानिनस्तस्य न लेप इत्याह-

योगेति । योगयुक्तो ज्ञानी त्रिविधः--विशुद्धात्मा विजितबुद्धि-रंकः, विजितात्मा विशुद्धचित्तो द्वितीयः, जितेन्द्रियः तृतीय इति पूर्वपूर्वेषां साधनतारतम्यादुत्कर्षः । एतादृशे गृहस्थे तु सर्वेऽपि जीवा अनुरज्यन्तीत्याह--सर्वेषामपि भूतानामात्मभूतः प्रेमास्पदीभूत आत्मा देहो यस्य सः ॥७॥

गी०भू०--ईदृशो मुमुक्षुः सर्वेषां प्रेयानित्याह-योगेति-योगे निष्कामे कर्मणा युक्तो निरतः, अतएव विशुद्धात्मा निर्मल-बुद्धिः, अतएव विजितात्मा बशीकृतमनाः, अतएव जितेन्द्रियः शब्दादि-विषयरोगशून्यः, अतएव सर्वेषां भूतानां जीवाना-मात्मभूतः प्रेमास्पदतां गत आत्मा देहो यस्य सः । न चात्र पार्थसारथिना सर्वार्थैक्यमाभिमतम्,--“न त्वेवाहम्” इत्यादिना सर्वार्थानां मिथो भेदस्य तेनाभिधानात्, तद्वादिनापि विज्ञाज्ञाभेदस्य वक्तुमशक्यत्वाच्च । एवम्भूतः कुर्वन्नपि विविक्ता-त्मानुसन्धानादनात्मन्यात्माभिमानेन न लिप्यते अचिरेणात्मानमाधिगच्छति । अतः कर्मयोगः श्रेयान् ॥७॥

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्वविति ।

पश्यञ्शृण्वन्स्पृशजिघ्रक्षन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्चसन् ॥८॥

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्निमिषन्निमिषन्नपि ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥९॥

सारा०व०--येन कर्मणा लेपतं प्रकारं शिञ्चयति--नैवेति । युक्तः कर्मयोगी दर्शनादीनि कुर्वन्नपीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् बुद्ध्या निश्चिन्वन् निरभिमानः किञ्चिदप्यहं नैव करोमीति मन्येत ॥८-९॥

गी०भू०--शुद्धस्यात्मनोऽधिष्ठानादि-पञ्चापेक्षित-कर्मवर्त्तित्वं

नास्तीति उपदिशति—नैवेति । युक्तो निष्कामकर्म्मि प्राधानि-  
कदेहेन्द्रियादिसंसर्गदर्शनादीनि कर्म्माणि कुर्वन्नापि तत्त्वावत-  
र्त्तवित्तमात्मतत्त्वमनुभवन् इन्द्रियार्थेषु रूपादेषु इन्द्रियाणि  
चक्षुरादीनि मद्भासनानुगुणपरमात्मप्रेरितानि वर्त्तन्ति इति ध्या-  
यन्निश्चिन्वन्नहं किञ्चिदपि न करोमीति मन्यते । पश्यन् शृण्वन्  
स्पृशन् जिघ्रन्श्नन्ति चक्षुःश्रोत्रत्वग्घ्राणरसनानां ज्ञानेन्द्रियाणां  
दर्शनेश्रवणस्पर्शेनघ्राणाशनानां व्यापाराः, गच्छन् प्रलपन् विसृ-  
जन् गृह्णन् इति गमनादयः कर्म्मेन्द्रियव्यापाराः । तत्र गमनं  
पादयोः प्रलापो वाचः विसर्गनिन्दः पायूपस्थयोः प्रदणं हस्तयोः  
इति बोध्यम्, श्वसन्ति प्राणादीनामुन्मिषान्निषिषन्ति नागा-  
दीनां प्राणभेदानां, स्वपन्नित्यन्तःकरणानामित्यर्थः क्रमाद्व्या-  
ख्येयम् । विज्ञानसुखैकरसस्य भवमादिवासनाहेतुकप्राधान्यक-  
देहादिसम्बन्धानिम्मितं तदादृशकर्मकर्त्तृत्वम्, न तु स्वरूपैक-  
निम्मितमिति मन्यत इत्यर्थः । न स्वरूपप्रयुक्तमात्मनः कर्त्तृत्वं  
किञ्चिदपि नास्तीति शक्यमाभिधातुं निर्वृत्तिरिति मनने च तस्या-  
भिधानात् । तत्राज्ञं ज्ञानमेव तच्चात्मनो नित्यं—“न हि विज्ञातु-  
विज्ञातेर्विपरिन्तापो विद्यते” इति श्रुतेः । तस्मिन्निश्च—“हारेण  
धर्मभूतेन ज्ञानेन च” इत्याहुः ॥८-६॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।

लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥

सारा०व०—किञ्च, ब्रह्मणि परमेश्वरे मयि कर्म्माणि समर्प्य  
सङ्गं त्यक्त्वा माभिमानोऽपि कर्म्ममक्तिं विहाय यः कर्म्माणि  
करोति । पापेनैत्युपलक्षणम् । सोऽपि कर्म्ममात्रेणैव न लिप्यते ॥१०॥

गी०भू०—उक्तं विशदयन्नाह—ब्रह्मणीति । ब्रह्म-शब्देनात्र  
त्रिगुणावस्थं प्रधानमुक्तम्, “तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्त्रं

ज्ञायत” इति श्रवणात्, “मम योनिर्महद्ब्रह्म” इति ब्रह्ममा-  
णाच्च । देहेन्द्रियादीनि प्रधानपरिणामविशेषाणि भवन्ति तद्रू-  
पतया परिणते प्रधाने दर्शनादीनि कर्म्माण्याधाय तस्यैवैतानि,  
न तु तद्विबक्तस्य शुद्धस्य ममेति निर्वृत्त्यर्थेत्यर्थः । सङ्गं तत्त-  
फलाभिलाषं तत्कर्त्तृत्वाभिमानवेशं च त्यक्त्वा यस्तानि करोति,  
स तादृग्देहादिमत्ताया सन्नपि देहाद्यात्माभिमानेन पापेन न  
लिप्यते—यथोपरिनिर्दिष्टेनाम्भसा स्पृष्टमपि पद्मपत्रं तद्वत् । न  
च “मयि संन्यस्य कर्म्माणि” इति पूर्वोक्तस्य स्याद्ब्रह्मणि परमात्म-  
नीति व्याख्येयम् । प्राधानिकदेहादिसंसृष्टस्यैव जीवस्य दर्श-  
नादिकर्मकर्त्तृत्वं, न तु तद्विविक्तस्येत्यर्थस्य प्रकृतत्वात् ॥१०॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।

योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥११॥

सारा०व०—केवलैरपीन्द्रियैराति । ‘इन्द्राय स्वाहा’ इत्या-  
दिना हविराद्यर्पणकाले यद्यपि मनः काप्यन्यत्र तदपीत्यर्थः ।  
आत्मशुद्धये मनःशुद्धयर्थम् ॥११॥

गी०भू०—सदाचारं प्रमाणयन्नेतद्विवृणोति—कायेनेति ।  
कायादिभिः साध्यं कर्म कायाद्यहंभावशून्या योगिनः कुर्वन्ति ।  
केवलैर्विशुद्धैः । सङ्गं त्यक्त्वेति प्राग्वत् आत्मशुद्धये अनादि-  
देहात्माभिमाननिवृत्ताये ॥११॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।

अयुक्तः कामकारेण फले सत्तो निबध्यते ॥१२॥

सारा०व०—कर्मकरणेऽनासक्त्यासक्ती एव मोक्षबन्धहेतू  
इत्याह—युक्तो योगी निष्कामकर्म्मित्यर्थः । नैष्ठिकी निष्ठाप्राप्तां  
शान्तिं मोक्षमित्यर्थः । अयुक्तः सुकाम-कर्म्मित्यर्थः । काम-  
कारेण कामप्रवृत्त्या ॥१२॥



गी०भू०—युक्तं आत्मापितमनाः कर्मफलं त्यक्त्वा कुर्वन्ने-  
ष्टिकीं स्थिरां शान्तमात्मावलोकणामाप्नोति । अयुक्त आत्मा-  
नर्पितमनाः कर्मफले सक्तः कामकारेण कामतः कर्माणि प्रवृत्त्या  
निवध्यते संसरति ॥१२॥

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।

नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥

सारा०व०—अतोऽनासक्तः कर्माणि कुर्वन्नापि ज्ञेयः स  
नित्यसंन्यासी' इति पूर्वोक्तवत् बस्तुतः संन्यासी एतोच्यत  
इत्याह—सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्य कार्यादव्यापारेण वाह-  
ष्कुर्वन्नापि वशी जितेन्द्रियः सुखमास्ते । कुत्र ?—नवद्वारे पुरे  
पुरवदहं-भावशून्ये देहे देही उत्पन्नज्ञानो जीवो नैव कुर्वन्निति  
कर्मसुखस्य बस्तुतः कर्त्तृत्वं नैवास्तीति जानन्, न कारयन्निति  
नापि तेषु स्वस्य प्रयोजनकत्वमित्यापि जानन्नित्यर्थः ॥१३॥

गी०भू०—सर्व्वेति । विवेकवता मनसा तादृश प्रधाने सर्व-  
कर्माणि संन्यस्यार्पयत्वा देहादिना वहिस्तानि कुर्वन्नापि वशी  
जितेन्द्रियः सुखमास्ते । नवद्वारे पुरे पुरवदहंभाववर्जिते देहे-  
द्वे नेत्रे द्वे नासिके द्वे श्रोत्रे मुखञ्चेति शिरसि सप्त द्वाराणि  
अधस्तात् पायूपरिथार्ये द्वे इति नव द्वाराणि देही लब्धज्ञानो  
जीवः । नैवाति—देहादिर्वाचित्तस्यात्मनः कर्मेसु कर्त्तृत्वं कार-  
यितृत्वञ्च नास्तीति विजानन्नित्यर्थः ॥१३॥

न कर्त्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।

न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥

सारा०व०—ननु च यदि जीवस्य बस्तुतः कर्त्तृत्वादिकं  
नैवास्ति, तर्हि परमेश्वरसृष्टेर्जगति सर्वत्र जीवस्य कर्त्तृत्व-

भोक्तृत्वादि-दर्शनान्मन्ये परमेश्वरेणैव बलात्तस्य कर्त्तृत्वादिकं  
सृष्टम् । तथा सति तस्मिन् वैषम्य-नैर्घृण्ये प्रसक्ते, तत्र न हि  
न हीत्याह—न कर्त्तृत्वमिति । नापि तत्कर्त्तृव्यत्वेन कर्माण्यपि,  
न च कर्मफलैर्भोगैः संयोगमपि, किन्तु जीवस्य स्वभावोऽनाद्य-  
वियौ प्रवर्तते, तं जीवं कर्त्तृत्वाद्यभिमानमारोहयितुमिति  
भावः ॥१४॥

गी०भू०—एतद्द्वयं शुद्धस्य नास्तीति विशदयति—नेति ।  
प्रभुर्देहेन्द्रियादीनां स्वामी जीवो लोकस्य जनस्य कर्त्तृत्वं न सृज-  
तीति त्वं कुर्विति कारयिता न भवति, नापि तस्यैवेनतमानि  
कर्माणि मास्याम्बरादीनि सृजतीति स्वयं कर्त्तापि न भवति ।  
न च कर्मफलेन सुखेन दुःखेन च संयोगं सम्बन्धं सृजतीति  
भोजयिता भोक्ता च न भवतीत्यर्थः । यद्येवं, तर्हि कः कारयन्  
कुर्वन्श्च प्रतीयते ? तत्राह—स्वभावस्त्विति । अनादिप्रवृत्ता प्रधान-  
वासनात्र स्वभावशब्देनोक्तप्राधानिकदेहादिमान् जीवः कारयिता  
कर्त्ता चेति न विविक्तस्य तत्त्वमिति । शुद्धेऽपि किञ्चि-  
त्कर्त्तृत्वमस्त्येव पूर्वत्र सुखासने तत्त्वस्योक्तेः भानादाविवै-  
तदबोध्यं, धात्वर्थः खलु क्रिया, तन्मुख्यत्वं हि कर्त्तृत्वमुक्तम् ॥१४॥

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

सारा०व०—यस्मादसाधु-साधुकर्मणामीश्वरो न कारयिता,  
तस्मादेव न तस्य पापपुण्यभागित्वमित्याह—नादत्ते न गृह्णाति,  
किन्तु तदीया खलु या शक्तिरविद्या, सैव जीवज्ञानमावृणो-  
तीत्याह—अज्ञानेनाविद्यया । ज्ञानं जीवस्य स्वाभाविकम्, तेन  
हेतुना ॥१५॥

गी०भू०—ननु यदि विद्युदस्य जीवस्य तादृशकर्मकर्त्तृ-

त्वादि नास्तीति ब्रूये, तर्हि कौतुकाक्रान्तः परमात्मा प्रधानं तद्गले निपात्य तत्परिणामदेहेन्द्रियादिमतस्तस्य तद्रचितवानित्यापद्यते । युक्तञ्चैतत्, अन्यथा “एष उ ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीपते । एष उ एवामाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीपते” इति श्रुतिः । “अज्ञो जन्तुरनोशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः । ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वाश्चभ्रमेव च ॥” इति स्मृतिश्च व्याकुल्येत् । तथा च पापपुण्यमयीमवस्थां नयति । प्रयोजके तस्मिन् वैषम्यादिकं पापादिभागित्वञ्च स्यादिति चेत्तत्राह—नादत्त इति । विभुरपरिमितविज्ञानानन्दोऽनन्तशक्तिपूर्णः स्वानन्दैकरसिकस्ततोऽन्यत्रोदासीनः परमात्मानादिप्रधानवासनानिवन्धं बुभुक्षुं स्व-सन्निधिमात्रपरिणतप्रधानमयदेहादिमन्तं जीवं तद्वासनानुसारेण कर्माणि कारयन् कर्म्यचिज्जीवस्य पापं सुकृतञ्च नादत्ते न गृह्णाति, एवमुक्तं श्रीवैष्णवे—“यथा सन्निधिमात्रेण गन्धः ज्ञोभाय जायते । मनसो नोपकर्त्तृत्वात्तथासौ परमेश्वरः ॥ सन्निधानाद्यथाकाशकालाद्याः कारणं तरोः । तथैवापरिणामेन विश्वस्य भगवान् हरिः ॥” इति । औदासीन्यमात्रेऽयं गन्धादिदृष्टान्तो, न त्विच्छाया अभावे तस्याः—“सोऽकामयत” इति श्रुतत्वात् । तर्हि जीवास्तं विषमं कुतो वदन्ति, तत्राह—अज्ञानेनेति । अनादितद्वैमुख्येनाज्ञानेन जीवानां नित्यमपि ज्ञानमावृतं तिरोहितं तेन हेतुना जन्तवो जीवा मुह्यन्ति—सममपि तं विमूढा विषमं वदन्ति न विज्ञा इत्यर्थः । आह चैवं सूत्रकारः—“वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति”, “न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात्” इति ॥१५॥

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।

तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥

साराव०—यथाऽविद्या तस्य ज्ञानमावृणोति, तथैवापरा तस्य विद्याशक्तिरविद्यां विनाश्य ज्ञानं प्रकाशयतीत्यर्थः । ज्ञानेन विद्याशक्त्याऽज्ञानमविद्याम्, तेषां जीवानां ज्ञानमेव कर्त्तृ, आदित्यवदित्यादित्यप्रभा यथान्वकारं विनाश्य घटपटादिकं प्रकाशयति, तथैव विद्ययैवाविद्यां विनाश्य तज्जीवनिष्ठं ज्ञानं परमप्राकृतं प्रकाशयति । तेन परमेश्वरो न कमपि बध्नाति, नापि कमपि मोचयति । किन्त्वज्ञानज्ञाने प्रकृतेरेव धर्मः क्रमेण बध्नाति मोचयति च । कर्त्तृत्वभोक्तृत्व-तत्प्रयोजकत्वादयो बन्धकाः, अनासक्तिशान्त्यादयो मोचकाश्च प्रकृतेरेव धर्माः । किन्तु परमेश्वरस्यान्तर्यामिन्त्व एव प्रकृतेस्ते ते धर्मा उद्वुध्यन्त इत्येतदंशेनैव तस्य प्रयोजकत्वमिति न तस्य वैषम्य-नैर्घृण्ये ॥१६॥

गी०भू०—विज्ञा न मुह्यन्तीत्येतदाह—ज्ञानेनेति । “सर्व्वं ज्ञानसत्त्वेन” इति, “ज्ञानाग्निः सर्व्वकर्माणि” “न हि ज्ञानेन सदृशम्” इति चोक्तमहिम्ना सद्गुरुप्रसादलब्धेन स्वपरात्मविषयकेन ज्ञानेन येषां सत्प्रसङ्गिनां तद्वैमुख्यमज्ञानं नाशितं प्रध्वंसितं तेषां तज्ज्ञानं कर्त्तृपरं प्रकाशयति । देहादेः परं जीवं वैषम्यादिदोषात् परमीश्वरञ्च बोधयति । आदित्यवत् यथा रविरुदित एव तमां निगम्यन् यथाबद्धस्तु प्रदर्शयति, तथा सद्गुरुपदेशतव्यमात्मज्ञानं यथावदात्मवस्त्विति । अत्र विनष्टाज्ञानानां जीवानां बहुत्वं निगदता पार्थसारथिना मोक्षे तेषां तद्दर्शितं औपाधिकत्वं तस्य प्रत्युक्तं “नेमे जनाधिपाः” इत्युपक्रमात्तं च तत् सांपत्तिकमभूत् ॥१६॥

तद्वुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।

गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

साराव०—किन्तु विद्या जीवाणां ज्ञानमेव प्रकाशयति, न



तु परमात्मज्ञानम्—“भक्त्याहमेकया प्राह्यः” इति भगवदुक्तेः । तस्मात् परमात्मज्ञानार्थं ज्ञानिभिरपि पुनर्विशेषतो भक्तिः कार्य-  
त्यत आह—तद्वुद्ध्य इति । तत्पदेन पूर्वमुपक्रान्तो विभुः परा-  
मृश्यते । तस्मिन् परमेश्वर एव बुद्धिर्येषां ते, तन्मननपरा इत्यर्थः ।  
तदात्मानस्तन्मनस्कास्तमेव ध्यायन्त इत्यर्थः । तन्निष्ठाः “ज्ञानञ्च  
मयि मन्यसेत्” इति भगवदुक्तेः । देहाद्यतिरिक्तात्मज्ञानेऽपि  
सात्त्विके निष्ठां परित्यज्य तदेकनिष्ठास्तत्परायणास्तदीयश्रवण-  
कीर्त्तनपराः, यद्वदयते—“भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि  
तत्त्वतः । ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥” इति ।  
ज्ञाननिर्धूतकल्मषा ज्ञानेन विषयैव पूर्वमेव ध्यस्तसमस्ता-  
विद्याः ॥१७॥

गी०भू०—परमात्मन्यवैषम्यादि-ध्यायतां फलमाह—तदिति ।  
तस्मिन्मदवैषम्यादिके गुणगणे बुद्धिर्निश्चयात्मिका येषां ते ।  
तदात्मानस्तस्मिन्निविष्टमनसः तन्निष्ठास्तत्तात्पर्यवन्तस्तत्परा-  
यणास्तत्पराश्रयाः, एवमभ्यस्तेन तद्वैषम्यादिगुणज्ञानेन निर्धू-  
तकल्मषा विनष्ट-तद्वैमुख्याः सन्त अपुनरावृत्तिं मुक्तिं गच्छ-  
न्तीति ॥१७॥

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥

सारा०व०—ततश्च गुणातीतानां तेषां गुणमये बन्तुमात्र  
एव तारतम्यमयं विशेषमजिघृक्षुणां समबुद्धिरेव स्यादित्याह-  
विद्येति । ब्राह्मणे गवीति सात्त्विकजातित्वात्, हस्तिनि मध्यमे,  
शुनि च श्वपाके चैति तामसजातित्वाद्दधमेऽपि तत्तद्विशेषा-  
प्रदणान् समदर्शिनः पण्डिता गुणातीताः, विशेषाग्रहणमेव समं  
गुणातीतं ब्रह्म, तद्वद्गुणं शीलं येषां ते ॥१८॥

गी०भू०—तान् स्तौति—विद्येति । तादृशे ब्राह्मणे श्वपाके  
चैति कर्मण्येतौ विषमौ गवि हस्तिनि शुनि चैति जात्येते  
विषमाः, एवं विषमतया सृष्टेषु ब्राह्मणादिषु ये परमात्मानं समं  
पश्यन्ति, त एव पण्डिताः । तत्कर्मण्यनुसारिणी तेन तेषां तथा  
तथा सृष्टिः, न तु रागद्वेषानुसारिणीति,—पञ्चान्यवत् सर्वत्र समः  
परमात्मेति ॥१८॥

इहैव तैजितः सर्गो येषां साम्ये स्थित मनः ।

निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥

सारा०व०—समदृष्टत्वं स्तौति—इहैव इह लोक एव सृज्यत  
इति सर्गः संसारो जितः पराभूतः ॥१९॥

गी०भू०—इहैति—इह साधनदशायामेव तैः सर्गः संसारो  
जितः पराभूतः । कैः ?—येषां मनः साम्येऽवैषम्याख्ये ब्रह्मधर्मे  
स्थितं निविष्टम् । कुतो ब्रह्माविषमम् ? तत्राह—निर्दोषं हीति ।  
हि यतो ब्रह्म निर्दोषं रागद्वेषशून्यमतः सममाविषममित्यर्थः ।  
यतो ब्रह्मण्यवैषम्यादिकं निश्चक्युस्तस्मात् प्रपञ्चे तिष्ठन्तोऽपि  
ते ब्रह्मण्येव स्थिताः मुक्तिस्तेषां सुलभेत्यर्थः ॥१९॥

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।

स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

सारा०व०—एवं लौकिकप्रियाप्रियादिष्वपि तेषां साम्यमाह-  
न प्रहृष्येदिति । न प्रहृष्येत् न प्रहृष्यति, नोद्विजेत् नोद्विजते ।  
साधनदशायामेवमभ्यस्येदिति विवक्षया वा लिङ् । असंमूढो  
हर्षशोकादीनामभिमाननिबन्धनत्वेन संमोहमात्रत्वात् ॥२०॥

गी०भू०—ब्रह्मणि स्थितस्य लक्षणमाह—नेति । वर्त्तमाने देहे स्थितः  
प्रारब्धाकृष्टं प्रियमप्रियञ्च प्राप्य न प्रहृष्येन्न चोद्विजेत् । कुतः ?—

स्थिरा स्वात्मनि बुद्धिर्यस्य सः, असंमूढोऽनित्येन देहेन नित्य-  
मात्मानमेकीकृत्य मोहं न लब्धः, ब्रह्मबिम्बं तादृशं ब्रह्मानुभवन् ।  
एवंलक्षणो ब्रह्मणि स्थितो बोध्यः ॥२०॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।

स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥२१॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।

आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

साराव०--स च बाह्यस्पर्शेषु विषयसुखेष्वसक्तात्मा अना-  
सक्तमनास्तत्र हेतुः--आत्मनि जीवात्मानं परमात्मानं विन्दति  
सति प्राप्ते यत् सुखं तदक्षयं सुखम् । स एवाश्नुते प्राप्नोति, न हि  
निरन्तरममृतास्वादिने मृत्तिका रोचत इति भावः ॥२१॥

साराव०--विवेकवानेव बभूवुतो विषयसुखेनैव सज्ज-  
तीत्याह--ये हीति ॥२२॥

गी०भू०--पौर्वोक्तार्थेण स्वपरात्मानावनुभवतीत्याह--  
बाह्येति । बाह्यस्पर्शेषु शब्दादिविषयानुभवेष्वात्मना सन् यदा-  
त्मानं स्वस्वरूपेऽनुभूयमाने सुखं तदादौ विन्दति, तदुत्तरं ब्रह्मणि  
परमात्मानं योगः समाधिरतदुक्तात्मा सन् यदक्षयं महदनुभव-  
लक्षणं सुखं, तदश्नुते लभते ॥२१॥

गी०भू०--अदृष्टादृष्टेषु विषयभोगेष्वनित्यत्वाविनिश्चयान्न  
सज्जतीत्याह--ये हीति । संस्पर्शजा विषयजन्या विषयजन्या  
भोगाः सुखानि । स्फुटमन्यत् ॥२२॥

शङ्कातीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।

कामक्रोधोद्वेगं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

साराव०--संसारसिन्धौ पतितोऽप्येष एव योगी एष एव  
सुखीत्याह--शक्नोतीति ॥२३॥

गी०भू०--कामादि-वेगो हि ज्ञाननिष्ठा-प्रतिकूलोऽनस्तस्य  
सहने प्रयत्नवता भाव्यमित्याह--शक्नोतीति । कामात् क्रोधा-  
बोद्धवति यो वेगो मनोनेत्रक्षोभादिवपुस्तमिह तदुद्धवकाल एवा-  
त्मानुभवप्रीत्या यः सोढुं निरोद्धुं शक्नोति शरीरविमोक्षणात्  
प्राक् यावच्छरीरत्यागम्, स एव युक्तः कृतात्मसमाधिः, स एव  
सुखी आत्मानुभवानन्दवान् । तथा तद्वेगसहने तीव्रप्रयत्ना  
योग्यः ॥२३॥

योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।

स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥

साराव०--यस्तु संसारातीतस्तस्य तु ब्रह्मानुभव एव सुख-  
मित्याह--य इति । अन्तरात्मन्येव सुखं यस्य सः-यतोऽन्तरात्मा-  
न्येव रमते, अतोऽन्तरात्मन्येव ज्योतिर्दृष्टिर्यस्य सः ॥२४॥

गी०भू०--यत्प्रीत्या तं सोढुं शक्नोतीति-योऽन्तरिति ।  
अन्तर्व्यक्तिनानुभूतेनात्मना सुखं यस्य सः, तेनैवाराधः क्रीडा  
यस्य सः, तस्मिन्नेव ज्योतिर्दृष्टिर्यस्य सः । ईदृशो योगी निष्काम-  
कर्मी ब्रह्मभूतो लब्धशुद्धजैवस्वरूपो ब्रह्माधिगच्छति परमात्मानं  
लभते । निर्वर्णां मोक्षरूपं, तेनैव तत्त्वाभात् ॥२४॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।

द्विजद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥

साराव०--एवं बहव एव साधनसिद्धा भवन्तीत्याह--  
लभन्त इति ॥२५॥

गी०भू०--एवं साधनसिद्धा बहवो भवन्तीत्याह--लभन्त



इति । अपयस्तत्त्वद्रष्टारः, छिन्नद्वैधा विनष्टसंशयाः स्फुटमन्यत ॥२४॥

कामक्रोधविमुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।

अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२५॥

साराव्य०—ज्ञात 'त्वं' पदार्थानामप्राप्तपरमात्मज्ञानानां क्रियता कालेन ब्रह्मनिर्वाणसुखं स्यादित्यपेक्षायामाह—कामोत्त- यतचेतसामुपरतमनसां क्षीणलिङ्गशरीराणामित यावत्, अभितः सर्वतोभावेनैव वर्तते एवेति ब्रह्मनिर्वाणे तस्य नैर्वातावलम्ब- मिति भावः ॥ २५ ॥

गी०भू०—ईदृशान् परमात्माप्यनुवर्तते इत्याह—कामोत्त । यतीनां प्रयत्नवता तानाभितो ब्रह्म वर्तते इत्यर्थः । यदुक्तं— "दर्शनध्यानसंस्पर्शैर्मन्त्रयकूर्मविदङ्गमाः । स्वान्यपत्यानि पुष्पानि तथाहमपि पद्मज ॥" इति ॥२५॥

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्याश्चक्षुश्चैवान्तरे श्रुवोः ।

प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२६॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।

विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२७॥

साराव्य०—तदेवमीश्वरापितनिष्कामकर्मयोगेनान्तःकरण- शुद्धिः, ततो ज्ञानं 'त्वं' पदार्थोपपत्तिकम्, ततः 'तत्' पदार्थज्ञानार्थं भक्तिः, तदुत्थज्ञानेन गुणातीतेन ब्रह्मानुभव इत्युक्तम् । इदानीं निष्कामकर्मयोगेन शुद्धान्तकरणस्याष्टाङ्गयोगं ब्रह्मानुभवसाधनं ज्ञानयोगादप्युत्पद्येन पष्टाध्याये वक्तुं तत्सुत्ररूपं श्लोकत्रय- माह—स्पर्शान्कृत्वा । बाह्या एव शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः स्पर्श- शब्दवाच्याः । मनसि प्राविश्य ये वर्तन्ते तान्, तस्मान्मनस-

मकाशाद्वह्निष्कृत्य विषयेभ्यो मनः प्रत्याहृत्येत्यर्थः । चक्षुषी च श्रुवोरन्तरे मध्ये कृत्वा नेत्रयोः सम्पूर्णनिमीलने निद्रया मनो लीयत उन्मीलनेन बहिः प्रसरति । तदुभयदोषपरिहारार्थमर्द्ध- निमीलनेन भ्रूमध्ये दृष्टिं निवायोच्छ्वास-निश्वासरूपेण नामिक- योगभ्यन्तरे चरन्तौ प्राणापानावृद्धिर्वाधोगतिनिरोधेन समौ कृत्वा, यता बशीकृता इन्द्रियादयो येन सः ॥ २६-२७ ॥

गी०भू०—अथ कर्मणा निष्कामेण विशुद्धमनः समुद्दि- तात्मज्ञानस्तद्दर्शनाय समाधिं कुर्यादिति साङ्गं योगं सूचयन्नाह— स्पर्शानिति । स्पर्शः शब्दादयो विषयास्ते बाह्या एव स्मृताः सन्तो मनसि प्रविशन्ति, तांस्तस्मृतिपरित्यागेन बहिष्कृत्य विष- येभ्यो मनः प्रत्याहृत्येत्यर्थः । श्रुवोरन्तरे मध्ये चक्षुश्च कृत्वा नेत्रयोः सन्निमीलने निद्रया मनसो लयः, प्रोन्मीलने च बहिस्तस्य प्रसारः स्यात्, तदुभयविनिवृत्तायेऽर्द्धनिमीलनेन भ्रूमध्ये दृष्टिं निधायेत्यर्थः । तथा नासाभ्यन्तरचारिणौ प्राणापानावृद्धिर्वाधोगति- निरोधेन समौ तुल्यौ कृत्वा कुम्भयित्वेत्यर्थः । एतेनापायेन यता आत्मावनाकनाय स्थापिता इन्द्रियादयो येन सः, मुनिरात्ममनन- शीलः, मोक्षपरायणो मोक्षैकप्रयोजनः, अतो विगतेच्छादिः । ईदृशो यः सर्वदा फलकालवत् साधनकालेऽपि मुक्त एव ॥२६-२७॥

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२८॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्म- पर्वणि श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्री- कृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ।



सारा०व०—एवम्भूतस्य योगिनोऽपि ज्ञानिन इव भक्त्युत्थेन परमात्मज्ञानेनैव मोक्ष इत्याह—भोक्तारमिति । यज्ञानां कर्मि-  
कृतानां तपसाञ्च ज्ञानिकृतानां भोक्तारं पालयितारमिति कर्मिणां  
ज्ञानिनां चोपास्यम्, सर्वलोकानां महेश्वरं महानियन्तारमन्तर्या-  
मिनं योगिनामुपास्यम्, सर्वभूतानां सुहृदं कृपया स्वभक्तद्वारा  
स्वभक्त्युपदेशेन हितकारिणमिति भक्तानामुपास्यं मां ज्ञात्वैति  
सत्त्वगुणमयज्ञानेन निर्गुणस्य ममानुभवामम्भवात् “भक्त्याह-  
मेकया ग्राह्यः” इति भदुक्तेः । निर्गुणया भक्त्यैव योगी स्वापास्यं  
परमात्मानं मामपरोक्षानुभवगोचरीकृत्य शान्तिं मोक्षमृच्छति  
प्राप्नोति ॥ २६ ॥

निष्कामकर्मणा ज्ञानी योगी चात्र विमुच्यते ।  
ज्ञात्वात्मपरमात्मानावित्यध्यायार्थ ईरितः ॥  
इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् ।  
गीतासु पञ्चमोऽध्यायः सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥

—५२१२२—

गी०भू०—एवं समाधिस्थः कृतस्वात्मावलोकनः परमात्मान-  
मुपास्य मुच्यते इत्याह,—भोक्तारमिति । यज्ञानां तपसाञ्च भोक्तारं  
पालकम्, सर्वेषां लोकानां विधिरुद्रादीनामपि महेश्वरम्—“तमी-  
श्वराणां परमं महेश्वरम्” इत्यादिश्रवणात्, सर्वभूतानां सुहृदं  
निरपेक्षोपकारकम् । इदं मां ज्ञात्वा स्वाराध्यतयानुभूय शान्तिं  
संसारनिवृत्तिमृच्छति लभते । सर्वेश्वरस्य सुहृदश्च समाराधनं  
यत्तु सुखावहं सुखसाधनमिति ॥ २६ ॥

निष्कामकर्मणा योगशिरस्केन विमुच्यते ।

मनिष्ठा ज्ञानगर्भेणेत्येष पञ्चमनिर्णयः ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्भाष्ये पञ्चमोऽध्यायः ।

—५२१२३—

## पष्ठोऽध्यायः

—५२१२४—

श्रीभगवानुवाच—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।

स संन्यासी च योगी च न निरग्रिर्न चाक्रियः ॥ १ ॥

सारा०व०—पष्ठेषु योगिनो योगप्रकारविजितात्मनः ।

मनसश्चञ्चलस्यापि नैश्चल्योपाय उच्यते ॥ (१)

सारा०व०—अष्टाङ्गयोगाभ्यासे प्रवृत्तेनापि चित्तशोधकं  
निष्कामकर्म सहसा न त्याज्यमित्याह—कर्मफलमनाश्रितो-  
ऽनपेक्ष्यमाणः कार्यमवश्यकर्तव्यत्वेन शास्त्रविहितं कर्म यः  
करोति, स एव कर्मफलसंन्यासात् संन्यासी, स एव विषय-  
भोगेषु चित्ताभावाद्योगी चोच्यते । न च निरग्रिर्निरग्रिहोत्रा-  
दिकर्ममात्रत्यागवानेव संन्यास्युच्यते । न चाक्रियो दैहिकचेष्टा-  
शून्योऽर्द्धनिमीलितनेत्र एव योगी चोच्यते ॥ १ ॥

गी०भू०—पष्ठे योगविधिः कर्मशुद्धस्य विजितात्मनः ।

स्थैर्योपायश्च मनसोऽस्थिरम्यार्पाति कीर्त्यते ॥

गी०भू०—प्रोक्तं कर्मयोगमष्टाङ्गयोगशिरस्कमुपदेक्ष्यन्नाह-  
तौ तदुपायत्वात्तं कर्मयोगं स्तौति भगवान्—अनाश्रित इति  
द्वाभ्याम् । कर्मफलं पञ्चतन्त्रवर्गादि-कामनाश्रितोऽनच्छेद-  
कार्यमवश्यकर्तव्यतया विहितं कर्म यः करोति, स संन्यासी  
ज्ञानयोगनिष्ठः योगी चाष्टाङ्गयोगनिष्ठः स एव—कर्मयोगेनैव  
तयोः मिद्विरिति भावः । न निरग्रिर्निरग्रिहोत्रादिकर्मत्यागी यति-  
वेशः संन्यासी न चाक्रियः शारीरकर्मत्यागी अर्द्धमुद्रितनेत्रो  
योगी । अत्र योगमष्टाङ्गं चिकीर्षुणां सहसा कर्म न त्याज्य-  
मिति मतम् ॥ १ ॥



यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।

न ह्यन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥

सारा०व०—कर्मफलत्याग एव संन्यास-शब्दार्थः, वस्तु-  
तस्तथा विषयेभ्यश्चित्तनैश्चल्यमेव योग-शब्दार्थः । तस्मान्  
संन्यास-योग-शब्दयोरैकार्थ्यमेवागतमित्याह—यमिति । असंन्य-  
स्ता न संन्यस्तस्त्यक्तः संकल्पः फलाकाङ्क्षा विषयभोगस्पृहा  
येन सः ॥ २ ॥

गी०भू०—ननु सर्वेन्द्रियवृत्तिविरतिरूपायां ज्ञाननिष्ठायां  
संन्यासशब्दश्चित्तवृत्तिनिरोधे योगशब्दश्च पठ्यते । स च सर्वे-  
न्द्रियव्यापारात्मके कर्मयोगे स संन्यासी च योगी चेति ब्रूयता  
भवता कया वृत्त्या नीयत इति चेत्तत्राह—यमिति । यं कर्म-  
योगमर्थतात्पर्यज्ञाः संन्यासं प्राहुस्तमेव तं योगमष्टाङ्गं विद्धि ।  
हे पाण्डव ! ननु 'सिद्धो मानवकः' इत्यादौ शौर्यादिगुणसादृश्येन  
तथा प्रयोगः, प्रकृतेः किं सादृश्यामिति चेत्तत्राह—न हीति । असं-  
न्यस्तसङ्कल्पः कश्चन काश्चिदपि ज्ञानयोग्यप्राङ्गयोगी च न भव-  
त्यपि तु संन्यस्तसङ्कल्प एव भवतीत्यर्थः । संन्यस्तः परित्यक्तः  
सङ्कल्पः फलच्छेदा च येन सः । तथा फलत्यागसादृश्यात्पूणा-  
रूपचित्तवृत्तिनिरोधमादृश्याच्च कर्मयोगिनस्तदुभयत्वेन प्रयोगो  
योगवृत्त्याति ॥२॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।

योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥३॥

सारा०व०—ननु तर्ह्यष्टाङ्गयोगिनो यावज्जीवमेव निष्काम-  
कर्मयोगः प्राप्त इत्याशङ्क्य तस्यावधिमाह—आरुरुक्षोर्गित ।  
मुनेर्योगाभ्यासिनो योगं निश्चलध्यानयोगमारोढुमिच्छोन्मदारो

कारणं कर्म चोच्यते, चित्ताशुद्धिकरत्वात् । ततस्तस्य योगं  
ध्यानयोगमारूढस्य ध्याननिष्ठाप्राप्तः शमः विक्षेपकसर्वकर्मो-  
परमः कारणम् । तदेवं सम्यक्चित्तशुद्धिरहितो योगारुरुक्षुः ॥३॥

गी०भू०—नन्वेवमष्टाङ्गयोगिनो यावज्जीवं कर्मानुष्ठानं प्राप्त-  
मिति चेत्तत्राह—आरुरुक्षोर्गित । मुनेर्योगाभ्यासिनो योगं ध्यान-  
निष्ठामारूढोस्तदारोहे कर्म कारणं दृढशुद्धिकृत्वात् । तस्यैव  
योगारूढस्य ध्याननिष्ठस्य तदाह्ये शमो विक्षेपक-कर्मोपरतिः  
कारणम् ॥३॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुपज्जते ।

सर्वसंकल्पमंयासो योगारूढस्तदोच्यते ॥४॥

सारा०व०—सम्यक् शुद्धचित्तास्तु योगारूढस्तज्ज्ञापकं  
लक्षणमाह—यदेति । इन्द्रियार्थेषु शब्दादिषु कर्मसु तत्साधनेषु ॥४॥

गी०भू०—योगारूढज्ज्ञापकं चिह्नमाह—यदेति । इन्द्रियार्थेषु  
शब्दादिषु तत्साधनेषु कर्मसु च यदात्मानन्दरासकः सन्न  
सज्जते । तत्र हेतुः—सर्व्वेति । सर्व्वान् भोगाविषयान् कर्म-  
विषयाश्च सङ्कल्पानासक्तिमूलभूतान् संन्यासतुं परित्यक्तुं  
शीलं यस्य सः ॥४॥

उद्वेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥५॥

सारा०व०—यस्मादिन्द्रियार्थसक्त्यैवात्मा संसारकूपे पाति-  
तत्वं यत्नेनोद्धरेदिति । आत्मना विषयासक्तिरहितेन मनसा-  
ऽऽत्मानं जीवमुद्धरेत् । विषयासक्तिसहितेन मनसा त्वात्मानं  
नावसादयेत् न संसारकूपे पातयेत् । तस्मादात्मा मन एव  
बन्धुर्मन एव रिपुः ॥ ५ ॥

गी०भू०—इन्द्रियार्थाविनासकौ हेतुभावेनाह—उद्धरेदिति ।  
विषयाशक्तमनस्कतया संसारकूपे निमग्नमात्मानं जीवमात्मना  
विषयामक्तिरहितेन मनसा तस्मादुद्धरेत् उद्ध्वं हरेत् । विषया-  
सक्तेन मनसात्मानं नावसादयेत्तत्र न निमज्जयेत् । हि निश्चय-  
नैवमात्मैव मन एवात्मनः स्वस्य बन्धुग्नदेव रिपुः । स्मृतिश्च-  
“मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः । बन्धाय विषया-  
सङ्गां मुक्त्यै निविषयं मनः ॥” इति ॥५॥

बन्धुग्नमात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।

अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥

सारा०व०—कस्य स बन्धुः, कस्य स रिपुरित्यपेक्षाया-  
माह—बन्धुरिति । येनात्मना जीवेनात्मा मनो जितस्तस्य जीवस्य  
स आत्मा मनो बन्धुः, अनात्मनोऽजितमनसत्वात्मैव मन एव  
शत्रुवत् शत्रुत्वेऽपकारकत्वं वर्त्तते ॥ ६ ॥

गी०भू०—कीदृशस्य स बन्धुः, कीदृशस्य च रिपुरित्यपेक्षा-  
यामाह—बन्धुरिति । येनात्मना जीवेनात्मा मन एव जितस्तस्य  
जीवस्य स आत्मा मनो बन्धुस्तद्वदुपकारी । अनात्मनोऽजित-  
मनसस्तु जीवस्यात्मैव मन एव शत्रुवत् शत्रुत्वेऽपकारकत्वं  
वर्त्तते ॥६॥

जितामनः प्रशान्तरय परमात्मा समाहितः ।

शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥७॥

सारा०व०—अथ योगारूढस्य चिह्नानि दर्शयति त्रिभिः ।  
जितात्मनो जितमनसः प्रशान्तरय रागादिरहितस्य योगिनः  
परमांतशयेन समाहितः समाधिस्थ आत्मा भवेत् । शीतादिषु  
सर्वेषु मानापमानयोः प्राप्तयोरपि ॥ ७ ॥

गी०भू०—योगारम्भयोग्यामवस्थामाह—जितेति त्रिभिः ।  
शीतोष्णादिषु मानापमानयोश्च जितात्मनोऽविकृतमनसः प्रशा-  
न्तस्य रागादिशून्यस्यात्मा परमत्यर्थं समाहितः समाधिस्थो  
भवति ॥७॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।

युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाश्चनः ॥८॥

सारा०व०—ज्ञानमोक्षदेशिकं विज्ञानमपरोक्षानुभवस्ताभ्यां  
तृप्ता निराकाङ्क्ष आत्मा चित्तं यस्य सः । कूटस्थ एकेनैव स्व-  
भावेन सर्वकालं व्याप्य स्थितः, सर्ववस्तुष्वनासक्तत्वात् ।  
समाने लोष्ट्रादीनि यस्य सः । लोष्ट्रं मृत्पिण्डः ॥ ८ ॥

गी०भू०—ज्ञानेति । ज्ञानं शास्त्रजं विज्ञानं बिबिक्तात्मानु-  
भवस्ताभ्यां तृप्तात्मा पूर्णमनाः, कूटस्थ एकस्वभावतया सर्व-  
कालं स्थितः, अतो विजितेन्द्रियः,—प्रकृतिविबिक्तात्ममात्रनिष्ठ-  
त्वान्, प्राकृतेषु लोष्ट्रादिषु लोष्ट्रं मृत्पिण्डः । ईदृशा योगी  
निष्कामकर्मी युक्त आत्मदर्शनरूपयोगाभ्यासयोग्य उच्यते ॥८॥

सुहृन्मित्राण्युदामीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।

साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥

सारा०व०—सुहृत् स्वभावेन हिताशंसो मित्रं केनापि स्नेहेन  
हितकारी, आरिर्घातकः, उदासीनो विवदमानयोरुपेक्षकः, मध्यस्थो  
विवदमानयोर्विवादापहारार्थी, द्वेष्योऽपकारकत्वात् द्वेषार्हः,  
बन्धुः सम्बन्धी, साधवो धार्मिकाः, पापा अधार्मिकाः,—  
एतेषु समबुद्धिस्तु विशिष्यते । समलोष्टाश्मकाश्चनात् सकाशा-  
दपि श्रेष्ठः ॥ ९ ॥

गी०भू०—सुहृदिति । यः सुहृदादिषु समबुद्धिः, स समलो-



प्राश्नकाश्चनादपि योगिनः सकाशाद्वाशिष्यते श्रेष्ठो भवति । तत्र  
सुहृत् स्वभावेन हितेच्छुः, मित्रं केनापि स्नेहेन हितकृत्, अग्नि-  
निर्मित्रतोऽनर्थेच्छुः, उदासीनो विवदमानयोरनपेक्षकः, मध्य-  
स्थस्तयोर्विवादापहारार्थी, द्वेषोऽपकारकारित्वात् द्वेषार्हः, बन्धुः  
सम्बन्धेन हितेच्छुः, साधवो धार्मिकाः, पापा अधार्मिकाः ॥१॥

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः

एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

साराव०—अथ साङ्गं योगं विधत्ते—योगीत्यादिना, स  
योगी परमो मत इत्यन्तेन । योगी योगारूढ आत्मानं मनो  
युञ्जीत समाधियुक्तं कुर्यात् ॥ १० ॥

गी०भू०—अथ तस्य साङ्गं योगमुपदिशति—योगीत्यादि  
त्रयोविंशत्या । योगी निष्कामकर्मि । आत्मानं मनः सततमह-  
रहऽयुञ्जीत समाधियुक्तं कुर्यात् । रहसि निर्जने निःशब्दे देशे  
स्थितः तत्राप्येकाकी द्वितीयाशून्यस्तत्रापि यतचित्तात्मा यतो योग-  
प्रतिकूलव्यापारवर्जितो चित्तदेहो यस्य सः, यतो निराशी दृढ-  
वैराग्यतयैतत्र निस्पृहः, अपरिग्रहो निराहारः ॥१०॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।

नान्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।

उपविश्यामने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

साराव०—प्रतिष्ठाप्य स्थापयित्वा । चैलाजिनकुशोत्तरमिति  
कुशामनोपरि मृगचर्मामनम्, तदुपरि वस्त्रासनं निधायेत्यर्थः ।  
आत्मनोऽन्तःकरणस्य विशुद्धये विक्षेपशून्यत्वेनातिमुदमतया  
ब्रह्मसाक्षात्कारयोग्यतायै,—“दृश्यते त्वग्रथा बुद्ध्या” इति

श्रुतेः ॥ ११-१२ ॥

गी०भू०—आसनमाह—शुचाविति द्वाभ्याम् । शुचौ म्वतः  
संस्कारतश्च शुद्धे गङ्गातटगिग्गुहादौ देशे स्थिरं निश्चलम्, नान्यु-  
च्छ्रितं नान्युच्चम्, नातिनीचं दावर्वादिनिर्मितमासनं प्रतिष्ठाप्य  
संस्थाप्य चैलाजिने कुशेभ्य उत्तरे यत्र तत्-चैलं मृदुबस्त्रं, मृदु-  
मृगादिचर्म, कुशोपरि वस्त्रमास्तीर्येत्यर्थः । आत्मन इति पगा-  
मनस्य व्यावृत्तये परेच्छायौ अनियतत्वेन तस्य योगप्रतिकूल-  
त्वात् । तत्रेति - तस्मिन् प्रतिष्ठापिते आसने उपविश्य, न तु  
तिष्ठन् शयानो वेत्यर्थः । एवमाह सूत्रकारः—“आसीनः सम्भ-  
वात्” इति । यता निरुद्धाश्चिच्छादिक्रिया यस्य सः मन एकाग्र-  
भव्याकुलं कृत्वा योगं युञ्जीतसमाधिमभ्यसेत् । आत्मनोऽन्तः-  
करणस्य विशुद्धये अतिनेर्मलत्वेन सौक्ष्म्येणात्मदर्शनयोग्यतायै-  
“दृश्यते त्वग्रथा बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः” इति श्रव-  
णात् ॥११-१२॥

सुप्तं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।

संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।

मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥

साराव०—कायो देहमध्यभागः, सममवक्रम्, अचलं निश्च-  
लम्, धारयन् कुर्वन्, मनः संयम्य प्रत्याहृत्य मच्चित्तो मां  
चतुर्भुजं सुन्दराकारं चिन्तयन्, मत्परो मङ्गलक्तिपरायणः ॥१३-१४॥

गी०भू०—आसने तस्मिन् पदिष्टस्य शरीरधारणाविधिमाह—  
सममिति । कायो देहमध्यभागः, कायश्च शिरश्च ग्रीवा च तेषां  
समाहारः प्राण्यङ्गत्वात् । सममवक्रं, अचलमकम्पं धारयन्  
कुर्वन्, स्थिरा दृढप्रयत्नो भूत्वा स्वनासिकाग्रं संप्रेक्ष्य संप-

श्यन्मनोऽल्यविक्षेपनिवृत्तये भ्रममध्यदृष्टिः सन्नित्यर्थः । अन्तराङ्तरा-  
दिशश्चानवलोकयन् । एवम्भूतः सन्नार्मीतेत्युत्तरेण सम्बन्धः ।  
प्रशान्तात्मा अलुब्धमनः, बिगतभीर्निर्भयः, ब्रह्मचारिव्रते ब्रह्म-  
चर्ये स्थितः, मनः संयम्य विषयेभ्यः प्रत्याहृत्य, मच्चित्तः चतु-  
र्भुजं सुन्दराङ्गं मां चिन्तयन्, मत्परो मदकपुरुषार्थः, युक्तो  
योगी ॥१३-१४॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।

शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥

साराव०—आत्मानं मनो युञ्जन्, ध्यानयोगयुक्तं कुर्वन्,  
यतो नियतमानसो विषयोपरतच्चित्तः, निर्वर्णो मोक्ष एव  
परमः प्राप्यो यस्याम्, मय्येव निर्विशेषब्रह्मणि सम्यक् स्था-  
स्थितिर्यस्यां तां शान्तिं ममारोपरतिं प्राप्नोति ॥ १५ ॥

गी०भू०—एवमार्मीनस्य किं स्यात्तादाह—युञ्जन्निनि । योगी  
यदा प्रतिदिनमात्मानं युञ्जन्पर्ययन्, नियतमानसः मत्स्पर्शपरि-  
शुद्धतया नियतं निश्चलं मानसं चित्तं यस्य सः मत्संस्थां मद-  
र्थांतां निर्वाणपरमां शान्तिमधिगच्छति लभते—“तमेव विदि-  
त्वा तिसृषुमेति” इत्यादि श्रवणात्, निर्वाणपरमां मोक्षावधि-  
कार्माति मिदृशोऽपि योगफलानीत्युक्तम् ॥१५॥

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।

न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥

साराव०—योगाभ्यासनिष्ठस्य नियममाह द्वाभ्याम् ।  
आत्यश्नतोऽधिकं भुञ्जानस्य; यदुक्तम्—“पूरयेदशनेनाहं तृतीय-  
मुदकेन तु । वायोः सञ्चरणार्थं तु चतुर्थेऽवशेषयेत् ॥” इति ॥१६॥

गी०भू०—योगमभ्यसतो भोजनादिनियममाह—नार्ति

द्वाभ्याम् । अत्यश्नमनत्यश्नश्च, अतिस्वापोऽतिजागरश्च, योग-  
विराध्यतिविहारोऽपि चोत्तरात् ॥१६॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।

युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

साराव०—युक्तो नियत एवाहारो भोजनं विहारो गमनञ्च  
यस्य तस्य कर्मसु व्यवहारिक-पारमार्थिक-कृत्येषु युक्ता नियता  
एव चेष्टा वाग्व्यापाराद्या यस्य तस्य ॥ १७ ॥

गी०भू०—युक्तेति — मिराहारविहारस्य कर्मसु लौकिक-  
पारमार्थिककृत्येषु मितवागादिव्यापारस्य मितस्वापजागरस्य च  
सर्वदुःखनाशको योगो भवति, तस्माद्योगी तथा तथा  
वर्त्तते ॥१७॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।

निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥

साराव०—योगी निष्पन्नयोगः कदा भवेदित्याकाङ्क्षायामाह—  
यदेति — विनियतं निरुद्धं चित्तमात्मनि स्वस्मिन्नेवा-  
वतिष्ठते निश्चलीभवतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

गी०भू०—योगी निष्पन्नयोगः कदा स्यादित्यपेक्षायामाह—  
यदेति । योगमभ्यसतो योगिनश्चित्तं यदा विनियतं निरुद्धं  
सदात्मन्येव स्वस्मिन्नेवावस्थितं स्थिरं भवति, तदात्मनोऽसर्व-  
स्पृहाशून्यो युक्तो निष्पन्नयोगः कथ्यते ॥१८॥

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।

योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९॥

साराव०—निवातस्थो निर्वानदेशस्थितो दीपो नेङ्गते न



चलति यः स एव दीप उपमा यथा यथावदित्यर्थः । सोऽपि लोपे चेत् पादपूरणमिति सन्धिः, कस्योपमा इत्यत आह - योगिन इति ॥ १६ ॥

गी०भू०—तदा योगी कीदृशो भवतीत्यपेक्षायामाह—  
यथेति - निर्वर्तितदेशस्थो दीपो नङ्गते न चलति निश्चलः सप्रभ-  
स्तिष्ठति स दीपो यथा यथावदुपमा योगज्ञैः स्मृता चिन्तिता ।  
सोपमेत्यत्र—“सोऽचि लोपे चेत् पादपूरणम्” इति सूत्रात् सन्धिः,  
उपमा-शब्देनापमानं बोध्यम् । कस्येत्याह-योगिन इति । यत-  
चित्तास्य निरुद्धसर्वचित्तवृत्तेरात्मनो योगं ध्यानं युञ्जतोऽनुतिष्ठतः ।  
निवृत्तामकलेतरचित्तवृत्तिरभ्युदितज्ञानयोगी निश्चलसप्रभदीप-  
सदृशो भवतीति ॥ १६ ॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगमेव या ।

तत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥

मुखमात्यन्तिकं यत्तद्वुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।

वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।

यस्मिन्निश्चतो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ २२ ॥

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।

स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥

संकल्पप्रभवान्कामास्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।

मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ २४ ॥

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ २५ ॥

सारा०व०—“नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति” इत्यादौ ‘योग’-  
शब्देन समाधिरुक्तः । स च संप्रज्ञातोऽसंप्रज्ञातश्च । सवितर्क-  
सविचारादिभेदात् संप्रज्ञातो बहुविधः । असंप्रज्ञातसमाधिरूपो  
योगः कीदृश इत्यपेक्षायामाह—यत्रेत्यादि साद्वैस्त्रिभिः । यत्र  
समाधौ सति चित्तामुपरमते वस्तुमात्रमेव न स्पृशतीत्यर्थः ।  
तत्र हेतुः—विरुद्धमिति । तथा च पातञ्जलसुत्रम्—“योगश्चित्त-  
वृत्तिनिरोधः” इति । यत्रेत्यादिपदानां योगसंज्ञितं विद्यादिति  
चतुर्थेनान्वयः । आत्मना परमात्माकारान्तःकरणेनात्मानं पश्यन्  
तस्मिन् तुष्यति, तत्रत्यं सुखं प्राप्नोति । यदात्यन्तिकं सुखं  
प्रसिद्धम्, तदेव यत्र समाधौ सति वेत्ति । बुद्ध्यात्माकारस्यैव  
ग्राह्यम्; अतीन्द्रियं विषयेन्द्रियसम्पर्करहितम् । अतएव यत्र  
स्थितः सन् तत्त्वत आत्मस्वरूपात्रैव चलति, अतएव यं लाभं  
लब्ध्वा ततः सकाशादपरं लाभमधिकं न मन्यते । दुःखस्य  
संयोगेन स्पर्शमात्रेणापि वियोगो यस्मिन् तं योगसंज्ञितं योग-  
संज्ञां प्राप्तं समाधिं विद्यात् । यद्यपि शांतिं न सिध्यति तदप्ययं  
मे योगः संसेत्स्यत्येवेति यो निश्चयस्तेन । अनिर्विण्णचेतसैता-  
वतापि कालेन योगो न सिद्धः, किमतःपरं कष्टेनेत्यनुतापो  
निर्व्वदस्तद्रहितेन चेतसा । इह जन्मनि जन्मान्तरे वा सिध्यतु,  
किं मे त्वग्येति धैर्य्ययुक्तेन मनसत्यर्थः । तदेतद्गोडपादा  
उदाजहूः—“उत्सेक उद्धेयदुत् कुशाग्रेणैकविन्दुना । मनसो  
निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदतः ॥” इति;—उत्सेक उत्संचनम्, शोष-  
णाध्यवसायेन जलोद्धरणमिति यावत् । अत्र काचिदाख्यायि-  
कास्ति,—“कस्याचित् किल पक्षिणोऽण्डानि तीरस्थितानि तरङ्ग-  
वेगेन समुद्रो जहार । स च समुद्रं शोषयिष्याम्येवेति प्रतिज्ञाय  
स्वमुखाग्रणैकैकं जलविन्दुमुपरि प्राचक्षेप । तमश्च स बहुभिः पक्षि-  
भिर्वन्धुभिर्युक्त्या वाग्यमाणोऽपि नैवोपरराम । यदृच्छया च

तत्रागतेन नारदेन निवारितोऽप्यस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा समुद्रं शोषायप्याम्येवंति तदग्रेऽपि पुनः प्रतिजज्ञे । ततश्च दैवानु-  
कृत्यान् कृपालुर्नारदो गरुडं तत्साहाय्याय प्रेषयामास । समुद्र-  
स्वदीयज्ञातिद्रोहेन त्वामबमन्यत इति वाक्येन ततो गरुडपक्ष-  
बानेन शुष्यन् समुद्रोऽतिभीतस्तान्यण्डानि तस्मै पक्षिणे ददौ-  
इति । एवमेव शास्त्रवचनास्तिक्येने योगे ज्ञाने भक्तौ वा प्रवर्त्ति-  
मानमुत्साह्यन्तमध्यवसायिनं जतं भगवानेवानुगृह्णातीति निश्च-  
तव्यम् । एतादृशयोगाभ्यासे प्रवृत्तस्य प्रार्थामिकं कृत्यमन्त्यञ्च  
कृत्यमाह-मंकल्पेति द्वाभ्याम् । कामास्त्यक्त्वेति प्रार्थामिकं कृत्यम् ।  
न किञ्चिदपि चिन्तयेदित्यन्त्यं कृत्यम् ॥ २०-२५ ॥

गी०भू०—‘नात्यश्नतः’ इत्यादौ योग-शब्देनोक्तं समाधि-  
स्वरूपतः फलतश्च लक्षयति-यत्रत्यादि-साद्धेत्रयेण । यच्छब्दानां  
तं विद्याद्योगसंज्ञितमित्युत्तरेणान्वयः । योगस्य संबन्ध्यासेन  
निरुद्धं निवृत्तोत्तरवृत्तिकं चित्तं यत्रोपरमते महत् सुखमेतदिति  
सज्जति, यत्र चात्मना शुद्धेन मनसात्मानं पश्यन् तस्मिन्नात्मन्येव  
तुष्यति, न तु देहादि पश्यन् विषयेष्विति चित्तावृत्तिनिरोधेन  
स्वरूपेणैव प्राप्तिरूपेण फलेन च योगो दर्शितः । सुखमिति-यत्र  
समाधौ यत्तत् प्रमिद्धमात्यन्तिकं नित्यं सुखं वेत्त्यनुभवात् ।  
अतान्द्रियं विषयान्द्रियसम्बन्धरहितं, बुद्ध्यात्माकारया ग्राह्यम् ।  
अतएव यत्र स्थितस्तत्त्वत आत्मस्वरूपान्नैव चलात् यं योगं  
लब्ध्वैव ततोऽपरं लाभमाधिकं न मन्यते, गुरुणा गुणवत्पुत्र-  
विच्छेदादिना न विचार्यते तमिति । दुःखसंयोगस्य विनाशः  
प्रथमो यत्र तं योगसंज्ञितं समाधिम् ॥ २०-२३ ॥

गी०भू०—स योगः प्रारम्भदशायां निश्चयेन प्रयत्ने कृतं  
संयम्यत्येवंत्यध्यवसायेन यात्तव्योऽनुष्ठेयः । आत्मन्ययोगत्व-  
मननं निर्व्यदमद्रहितेन चेतसा हृताण्डावशोपकपक्षिबत्

सोत्साहेनेत्यर्थः । एतादृशं योगमारभमाणस्य प्रार्थामिकं कृत्य-  
माह-मंकल्पेति । सङ्कल्पात् प्रभवो येषां तान् योगाविरोधिनः  
कामान् विषयानशेषतः सवासनांस्यक्त्वा । स्फुटमन्यत । मनसा  
विषयदोषदर्शिना ॥ २४ ॥

गी०भू०—अन्तिमं कृत्यमाह-धृतिगृहीतया धारणावशी-  
कृतया बुद्ध्या मन आत्मसंस्थं कृत्वा आत्मानं ध्यात्वा समाधातु-  
परमेत् तिष्ठेत् ; आत्मनोऽन्यत् किञ्चिदपि न चिन्तयेत् । एतच्च  
शनैः शनैरभ्यासक्रमेण, न तु हठेन ॥ २५ ॥

यतो यतो निश्चलति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।

ततस्ततो नियम्यैतदान्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥

सारा०व०—यदि च प्राक्तनदोषोद्गमवशाद् रजोगुणस्पर्शं  
मनश्चञ्चलं स्यात्, तदा पुनर्योगमभ्यसेदित्याह-यतो यत इति ॥ २६ ॥

गी०भू०—यदि कदाचित् प्राक्तनसूक्ष्मदोषान्मनः प्रचलेत्  
तदा तत् प्रत्याहरेदित्याह-यत इति । यं यं विषयं प्राति मनो  
निर्गच्छति, ततस्तत एतन्मनो नियम्य प्रत्याहृत्यात्मन्येव निरति-  
शयसुखत्वभावनया वशं कुर्यात् ॥ २६ ॥

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।

उपैति शान्तरजसं ब्रह्ममूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥

सारा०व०—ततश्च पूर्ववदेव तस्य समाधिसुखं स्यादित्याह-  
प्रशान्तेति । सुखं कर्त्तुं, योगिनमुपैति प्राप्नोति ॥ २७ ॥

गी०भू०—एवं प्रयतमानस्य पूर्ववदेव समाधिसुखं स्या-  
दित्याह-प्रशान्तेति । प्रशान्तमात्मन्यचलं मनो यस्य तम्, अत-  
एवाकल्मषं दग्धप्राक्तनसूक्ष्मदोषम् ; अतएव शान्तरजसम् । ब्रह्म-  
भूतं साक्षात्कृत-विबिक्ताविर्भाविताष्टगुणकात्मस्वरूपं योगिनं



प्रत्युत्तममात्मानुभवरूपं महत् सुखं कर्त्ता स्वयमेवोपैति ॥२७॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।

सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥

सारा०व०--ततश्च कृतार्थ एव भवतीत्याह--युञ्जन्निति ।  
सुखमश्नुते जीवन्मुक्त एव भवतीत्यर्थः ॥ २८ ॥

गी०भू०--एवं स्वात्मसाक्षात्कारानन्तरं परमात्मसा-  
क्षात्कारश्च लभत इत्याह--युञ्जन्निति । एवमुक्तप्रकारेणात्मानं स्वं  
युञ्जन् योगेनानुभवन् तेनैव विगत-कल्मषो दग्धसर्वदोषो योगी  
सुखेनानायासेन ब्रह्मसंस्पर्शं परमात्मानुभवमत्यन्तमपरिमितं  
सुखमश्नुते प्राप्नोति ॥२८॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।

ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥

सारा०व०--जीवन्मुक्तस्य तस्य ब्रह्मसाक्षात्कारं दर्शयति-  
सर्वभूतस्थमात्मानामिति । परमात्मनः सर्वभूताधिष्ठातृत्व-  
मात्मनां परमात्मनः सर्वभूताधिष्ठानञ्च । ईक्षते अपरोक्ष-  
तयाऽनुभवात् । योगयुक्तात्मा ब्रह्माकारान्तःकरणः, समं ब्रह्मैव  
पश्यतीति समदर्शनः ॥ २९ ॥

गी०भू०--एवं निष्पन्नसमाधिः प्रत्यक्षितस्वपरात्मयोगी परा-  
त्मनः सर्वगतत्वं तदन्यात्मनां द्रुहिणादीनां सर्वेषां तदाश्रयत्वं  
तस्याविषमत्वञ्चानुभवतीत्याह--सर्वेति । योगयुक्तात्मा सिद्ध-  
समाधिस्तदात्मानम्--“आततत्वाच्च मातृत्वादात्मा हि परमा  
हरिः” इति स्मृतेः, ‘यो माम्’ इति विवरणाच्च परमात्मानं सर्व-  
भूतस्थं निखिलं जीवान्तर्गामीणमीक्षते ; आत्मानं तस्मिन्ना-  
श्रयभूतं सर्वभूतानि च तमेव सर्वजीवाश्रयं चेक्षते । कीदृशं

म इत्याह--सर्वत्रेति । तत्तत्कर्मणानुगुण्येनोच्चावचनया सृष्टेः  
सर्वेषु जीवेषु समं वैषम्यशून्यं परात्मानं पश्यतीति तथा ॥२९॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥

सारा०व०--एवमपरोक्षानुभवितः फलमाह--यो मामिति ।  
तस्याहं ब्रह्म न प्रणश्यामि नाप्रत्यक्षीभवामि । तथा मत्प्रत्य-  
क्षतायां शाश्वतिकयां सत्यां स योगी मे मदुपासको न प्रणश्यति  
न कदाचिदपि भ्रश्याति ॥ ३० ॥

गी०भू०--एतद्विवृण्वन् तथात्वदर्शिनः फलमाह--यो मा-  
मिति । तस्य तादृशस्य योगिनोऽहं परमात्मा न प्रणश्यामि  
नादृशो भवामि, स च योगी मे न प्रणश्यति नादृशो भवति ;--  
आवयोर्मिथःसाक्षात्कृतिः सर्वदा भवतीत्यर्थः ॥३०॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।

सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥३१॥

सारा०व०--एवं मदपरोक्षानुभवात् पूर्वदशायामपि सर्वत्र  
परात्मभावतया भजतो योगिनो न विधि--कैङ्कर्यमित्याह--  
सर्वेति । परमात्मैव सर्वकरणत्वादेकोऽन्तीत्येकत्वमास्थितः सन्  
यो भजति, श्रवणस्मरणादिभजनयुक्तो भवति, स सर्वथा  
शास्त्रोक्तं कर्म कुर्वन्नकुर्वन् वा वर्त्तमानो मयि वर्त्तते, न  
तु संसारे ॥ ३१ ॥

गी०भू०--स योगी ममाचिन्त्यस्वरूपशक्तिमनुभवन्नतिप्रियो  
भवतीत्याशयवानाह--सर्वेति । सर्वेषां जीवानां हृदयेषु प्रादेश-  
मात्रश्चतुर्बाहुरतर्मापुष्पप्रभश्चकादिवरोऽहं पृथक् पृथङ्निव-  
सापि ; तेषु बहूनां मद्भिप्रशणामेकत्वमभेदमाश्रितो यो मां

भर्जात ध्यायति, स योगी सर्वथा वर्त्तमानो व्युत्थानकाले स्व-  
र्बाहितं कर्म कुर्वन्नकुर्वन् वा मयि वर्त्तते ममाचिन्त्यशक्ति-  
कञ्चधर्मानुभवमहिम्ना निर्दग्धकामचारदोषो मत्सामीप्यलक्षणं  
मात्तं विन्दति, न तु संसारमित्यर्थः । श्रुतिश्च हरेर्वाचिन्त्य-  
शक्तिकतामाह—“एकोऽपि मन् बहुधा योऽबभाति” इति, स्मृ-  
तिश्च—“एक एव परो विष्णुः सर्वव्यापी न संशयः । ऐश्वर्या-  
द्रूपमेकञ्च सूर्यबहुधेयते ॥” इति ॥३१॥

आत्मोपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।

सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

सारा०ब०—किञ्च, साधनदशायां योगी सर्वत्र समः  
स्यादित्युक्तम् । तत्र मुख्यं साम्यं व्यचष्टे—आत्मोपम्येनेति ।  
सुखं वा दुःखं वेति—यथा मम सुखं प्रियं दुःखमप्रियम्,  
तथैवान्येषामपीति सर्वत्र समं पश्यन् सुखमेव सर्वेषां यो  
वाञ्छति, न तु कस्यापि दुःखम्, स योगी श्रेष्ठो ममाभिमतः ॥३२॥

गी०भू०—“सर्वभूताहते रता” इति यत् प्रागुक्तं तद्विशद-  
यति—आत्मोपम्येनेति । व्युत्थानदशायामात्मोपम्येन स्वसा-  
दृश्येन सुखं दुःखञ्च यः सर्वत्र समं पश्यति । स्वस्येव परस्य  
सुखमेवेच्छति, न तु दुःखं स स्वपरसुखदुःखसमदृष्टिः सर्वानु-  
कम्पी योगी मम परमः श्रेष्ठोऽभिमतः,—तद्विषमदृष्टिस्तु तत्त्वज्ञो-  
ऽप्यपरमयोगीति भावः ॥३२॥

अर्जुन उवाच—

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।

एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥३३॥

सारा०ब०—भगवदुक्तलक्षणस्य साम्यस्य दुष्करत्वमातदयो-

वाच—योऽयमिति । एतस्य साम्येन प्राप्तस्य योगस्य स्थिरां  
मावर्द्धिकीं स्थितिं न पश्यामि । एष योगः सर्वदा न तिष्ठति,  
किन्तु त्रिचतुरदिनान्येवेत्यर्थः । कुतः ?—चञ्चलत्वात् । तथा  
ह्यात्मसुखदुःखमममेव सर्वजगद्वर्त्तिजनानां सुखदुःखं पश्येदिति  
साम्यमुक्तम् । तत्र ये बन्धवस्तथाश्च तेषु साम्यं भवेदपि,  
ये रिपवो घातका द्वेष्टारो निन्दकाश्च तेषु न सम्भवेदेव । न  
हि मया स्वस्य यद्विष्टिरस्य दुर्व्योधनस्य च सुखदुःखे सर्वथा  
तुल्ये द्रष्टुं शक्यते । यदि च स्वस्य स्व-रिपूणाञ्च जीवात्म-  
परमात्मप्राणेन्द्रिय-दैहिकभूतानि समान्येवेति विवेकेन पश्येत्,  
तदा तन् खलु द्वित्रिदिनान्येव स्यात् विवेकेनानि प्रबलन्या-  
तिचञ्चलस्य मनसो निग्रहणाशक्यत्वात् । प्रत्युत विगयामक्तेन  
तेन मनसैव विवेकस्य प्रत्यमानत्वदर्शनादिति ॥ ३३ ॥

गी०भू०—उक्तमाक्षिपन्नर्जुन उवाच—योऽयमिति । साम्येन  
स्वपरसुखदुःखतुल्येन योऽयं योगस्त्वया सर्वज्ञेन प्रोक्तस्तस्य  
स्थिरां सावर्द्धिकीं स्थितिं निष्ठामप्यहं न पश्यामि, किन्तु द्वित्रि-  
त्येव दिनानीत्यर्थः ; कुतः ?—चञ्चलत्वात् । अयमर्थः—बन्धुपु-  
त्रदामीनेषु च तत्साम्यं कदाचित् स्यात् ; न च शत्रुषु निन्दकेषु  
च कदाचिदपि । यदि परमात्माविष्ठानत्वं सर्वत्राविशेषमिति  
विवेकेन तद्ग्राह्यं, तर्हि न तन् सावर्द्धिकम्—अतिचपलस्य  
वतिष्ठस्य च मनस्तत्तेन विवेकेन निग्रहीतुमशक्यत्वादिति ॥३३॥

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।

तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

सारा०ब०—एतदेवाह—चञ्चलमिति । ननु “आत्मानं रथिनं  
विद्धि शरीरं रथमेव च” इत्यादि श्रुतेः, “आहुः शरीरं  
स्थमिन्द्रियाणि दयानभीपून् मन इन्द्रियेशम् । बन्धानि मात्रा



धिपणञ्च सूतम्” इति ( भा ७ । १५ । ४१ ) स्मृतेश्च बुद्धेर्मनो-  
नियन्तृत्वदर्शनाद्विवेकवत्या बुद्ध्या मनो बशीकर्तुं शक्यमेवेति  
चेदत आह—प्रमाथि बुद्धिमपि प्रकर्षेण मन्थातीति । तत् कुत  
उति चेदत आह—बलवत् । स्वप्रशमकमौषधमपि बलवान्  
रोगो यथा न गणयति, तथैव स्वभावादेव बलिष्ठं मनो  
विवेकवतीमपि बुद्धिम । किञ्च, दृढमतिसूक्ष्मबुद्धिसूच्यापि लोह-  
मिव सहसा भेत्तामशक्यम् । बायोरित्याकाशो दोधूयमानस्य  
बायोनिग्रहं कुम्भकादिना निरोधमिव योगेनाष्टाङ्गेन मनसोऽपि  
निरोधं दुष्करं मन्ये ॥ ३४ ॥

गी०भू०—तदेवाह—चञ्चलं हीति । मनः स्वभावेन चञ्च-  
लम् । ननु “आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च । बुद्धिन्तु  
साग्धिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ इन्द्रियाणि हयानाहुर्विष-  
यांस्तेषु गांश्चरान् ॥ आत्मेन्द्रियमनोयुक्तो भाक्तेत्याहुर्मनी-  
षिणः ॥” इति श्रुतंबुद्धिनियम्यं मनः श्रूयते ततो विवेकिन्यां  
बुद्ध्या शक्यं तद्वशीकर्तुमिति चेत्तत्राह—प्रमाथीति । तादृशी-  
मपि बुद्धिं प्रमथति ; कुतः ?—बलवत् स्वप्रशमकमौषधं यथा  
बलवान् रोगो न गणयति, तद्वत् । किञ्च—दृढं सूच्या लोहमिव  
तादृश्यापि बुद्ध्या भेत्तामशक्यमतो योगेनापि तस्य निग्रहमहं  
बायोरिव सुदुष्करं मन्ये ;—न हि बायुर्मुष्टिना धर्त्तुं शक्यं,  
अनस्तत्रोपायं ब्रूहीति ॥ ३४ ॥

श्रीभगवानुवाच—

अमंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५ ॥

सारा०व०—उक्तमर्थमङ्गीकृत्य समदवाति—अमंशयमिति  
त्वयोक्तं मत्समं, किन्तु बलवानपि रोगस्तत्प्रशमकौषध-मेव

मद्वैद्यप्रयुक्तप्रकारया मुहुर्भ्यस्तथा यथा चिरकालेन शाम्यत्येव,  
तथा दुर्निग्रहमपि मनोऽभ्यासेन सद्गुरुपादप्रकारेण परमेश्व-  
रध्यानयोगस्य मुहुर्नुशीलनेन वैराग्येण विषयेष्वनासङ्गेन च  
गृह्यते स्वहस्तवशीकर्तुं शक्यत इत्यर्थः । तथा च पातञ्जल-  
सुत्रम्—“अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः” इति । महाबाहो इति  
सप्रामे त्वया यन्महावीरा अपि बिजीयन्ते, म च पिनाक-  
पाणिरपि बशीकृतस्तेनापि किम् ?—यदि महावीरशिरोमणि-  
र्मनोनामा प्राधानिको भटो महायोगास्त्रप्रयोगेण जेतुं शक्यते,  
तदैव महाबाहुतेति भावः । हे कौन्तेर्येति तत्र त्वं मा भैषीः—  
मत्पितुःस्वसुः कुन्त्याः पुत्रे त्वयि मया साहाय्यं दिधेयमिति  
भावः ॥ ३५ ॥

गी०भू०—उक्तमर्थं स्वीकृत्य भगवानुवाच—असंशयमिति ।  
तथापि स्वप्रकाशसुखैकतानत्वात्मगुणाभिमुख्येनाभ्यासेनात्म-  
व्यतिरिक्तेषु विषयेषु दोषदृष्टिर्जनितेन वैराग्येण च मनो निग्र-  
हीतुं शक्यते । तथा चात्मानन्दास्वादाभ्यासेन लयप्रतिबन्धा-  
द्विषयवैतृष्येण च विक्षेपप्रतिबन्धान्निवृत्ताचापलं मनः सुग्रहं यथा  
मदौषधानुसेवया सुपथ्येन च बलवानपि रोगः सुजेयस्तथैतद्-  
दृष्टव्यम् । हे महाबाहो ! इति—शौर्येण शात्रवमिव विवेकेन  
मनो जयेत्यर्थः ॥ ३५ ॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।

वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ३६ ॥

सारा०व०—अत्रायं परामर्श इत्यत आह—असंयतात्मना-  
भ्यास-वैराग्याभ्यां न संयतं मनो यस्य तेन । ताभ्यां तु  
वश्यात्मना बशीभूतमनसापि पुंसा यतता चिरं यत्नवतैव योगो  
मनो-निरोधलक्षणः समाधिरुपायतः साधनभुयस्वात् प्राप्तुं

शक्यः ॥ ३६ ॥

गी०भू०—असंयतेति । उक्ताभ्यामभ्यास-वैराग्याभ्यां न संयत आत्मा मनो यस्य तेन विज्ञेनापि पुंसां चित्तवृत्तानि रंग-लक्षणो योगो दुःप्रापः प्राप्तुमशक्यः । ताभ्यां वश्योऽधीत आत्मा मनो यस्य तेन पुंसां, तथापि यतता तादृशप्रयत्नवता स योगः प्राप्तुं शक्यः । उपायतो मदाराधनलक्षणाज्ज्ञाना-कारान् निष्कामकर्मयोगाच्च त मे मतिः ॥ ३६ ॥

अर्जुन उवाच—

अयतिः श्रद्धयापेतो योगाच्चालितमानसः ।

अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥ ३७ ॥

सारा०व०—नन्वभ्यास-वैराग्याभ्यां प्रयत्नवतैव पुंसां योगो लभ्यत इति त्वयाच्ययं । यस्यैतत् त्रितयमपि न दृश्यते, तस्य का गतिरिति पृच्छति । अर्थांतरल्पयत्नः, अनवर्णीय बागुरि-तिवदल्पार्थं नञ्, अथच श्रद्धयापेतो योगशास्त्रास्तिक्येन तत्र श्रद्धयापेतो योगाभ्यास प्रवृत्त एव, न तु लाकवश्चवत्वेन मिथ्याचारः । किन्त्वभ्यास—वैराग्ययोरभावेन योगाच्चालितं विषयप्रवर्णाभुतं मानसं यस्य सः । अतएव योगस्य संसिद्धिं सम्यक् सिद्धिमप्राप्येति यत् किञ्चित् सिद्धिन्तु प्राप्त एवेति योगारुरुक्षा-भूमिकातोऽप्रमां योगारोहभूमिकायाः प्रथमां दक्षां गत इति भावः ॥ ३७ ॥

गी०भू०—ज्ञानगर्भो निष्कामकर्मयोगोऽष्टाङ्गयोगाशिरस्का निष्प्रलोपसर्गाविमर्दनः स्वपरमात्मावलोकनोपायो भवतीत्य-मकृदुक्तं, तस्य च तादृशस्य नेहाभिक्रमनाशोऽस्तीति पूर्वोक्त-महिम्नस्तन्महिमानं श्रोतुमर्जुनः पृच्छति-अर्थांतरिति । अभ्यास-वैराग्याभ्यां प्रयत्नेन च योगं पुमान् लभेतैव । यस्तु प्रथमं श्रद्धया

तादृशयोगनिरूपकश्च तिविश्वासेनोपेनः किन्त्वयतिरल्पस्वधर्म-नुष्ठानयत्नवान्—“अनुदारा युवतिः” इतिवदल्पार्थेऽत्र नञ् ; शिथिलप्रयत्नत्वादेव योगादष्टाङ्गाच्चलितं विषयप्रवर्णं मानसं यस्य सः ; एवञ्च स्वधर्मनुष्ठानाभ्यासवैराग्यशैथिल्याद्बिचित्रस्य योगस्य सम्यक् सिद्धिं हृदिशुद्धिलक्षणात्मात्मावलोकनलक्षणां चाप्राप्तः किञ्चित् सिद्धिन्तु प्राप्त एव ; श्रद्धालुः किञ्चिदनुष्ठित-स्वधर्मः प्रारब्धयोगोऽप्राप्तयोगफलो देहान्ते कां गतिं गच्छति ? हे कृष्ण ॥ ३७ ॥

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।

अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।

त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

सारा०व०—कच्चिदिति प्रश्ने । उभयविभ्रष्टः कर्ममार्गाच्चुच्यतो योगमार्गश्च सम्यगप्राप्त इत्यर्थः । छिन्नाभ्रमिवेति यथा छिन्नमभ्रं मेघः पूर्वस्मादभ्राद्विश्लिष्टमभ्रान्तरं चाप्राप्तं सत मध्ये विलीयते तनास्य इहलोके योगमार्गे प्रवेशाद्विषयभोगत्यागेच्छा सम्य-ग्वैराग्याभावाद्विषयभोगेच्छा चेति कष्टम् । परलोके च स्वर्ग-साधनस्य कर्मणोऽभावात्, मोक्षसाधनस्य योगस्याप्यपरि-पाकान्न स्वर्गमोक्षावित्युभयलोक एवास्य विनाश इति द्योतितम् । अतो ब्रह्मप्रप्त्युपाये पथि मार्गे विमूढोऽयमप्रतिष्ठः प्रतिष्ठामास्पे-दमप्राप्तः सन् कच्चित् किं नश्यति न नश्यति त्वं पृच्छत्यसे ॥ ३८ ॥

सारा०व०—एतत् एतम् ॥ ३९ ॥

गी०भू०—प्रश्नाशयं विशदयति-कच्चिदिति प्रश्ने । निष्काम-तया कर्मणोऽनुष्ठानान्न स्वर्गादिफलम् ; योगासिद्धेर्नात्माव-लोकनञ्च तस्याभूत् । एवमुभयरमाद्विभ्रष्टोऽप्रतिष्ठो निरालम्बः



सन किं नश्यति, किम्वा न नश्यतीत्यर्थः । छिन्नाभ्रमिवेति अभ्रं  
मेघो यथा पूर्वस्मादभ्राद्विच्छिन्नं परमभ्रञ्चाप्राप्तमन्तरालं विली-  
यते, तद्वदेवेति नाशो दृष्टान्तः । कथमेवं शङ्का ? तत्राह-ब्रह्मणः  
पार्थ प्राप्युपाये यदसौ विमूढः ॥३८॥

गी०भू०—एतादृति क्लीबत्वमार्थम् । त्वदिति सर्वेश्वरात्  
सर्वज्ञात्त्वत्तोऽन्योऽनाश्वरोऽल्पज्ञः काश्चदपिः ॥३६॥

श्रीभगवानुवाच-

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशरतय विद्यते ।

न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥

सारा०ब०—इह लोके अमुत्र परलोकेऽपि कल्याणं कल्याण-  
प्रापकं योगं करोतीति सः ॥ ४० ॥

गी०भू०—एवं पृष्ठो भगवानुवाच-पार्थेति । तस्योक्तलक्ष-  
णस्य योगिन इह प्राकृतिकं लोकेऽमुत्राप्राकृतिकं च लोके विनाशः  
स्वर्गादिमुखविभ्रंशलक्षणः परमात्मावलोकनादिभ्रंशलक्षणश्च न  
विद्यते न भवति । किञ्चोत्तरत्र तत्प्राप्तमेवेदेव ; हि यतः, कल्याण-  
कृत् निःश्रेयसोपायभूतसद्धर्मयोगारम्भा दुर्गतिं तदुभयाभाव-  
रूपां दरिद्रतां न गच्छति । हे तातेत्यतिवात्सल्यात् सम्बो-  
धनम् । “तनोत्यात्मानं पुत्ररूपेण” इति व्युत्पत्तौ ततः पिता-  
“स्वार्थिकेऽणि”, तत एव तातः-पुत्रं शिष्यञ्चातिवृषया ज्येष्ठमथा  
सम्बोधयति ॥४०॥

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुपित्वा शाश्वतीः समाः ।

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

सारा०ब०—तर्हि कां गतिमसौ प्राप्नोतीत्यत आह—प्राप्येति  
पुण्यकृतान्श्वमेधादियाजिनां लोकानिति योगस्य फलं मोक्षं

भोगश्च भवति । तत्रापकयोगिनो भोगेच्छायां मत्यां योगभ्रंशे  
मति भोग एव । परिपक्वयोगिनस्तु भोगेच्छाया अमम्भवा-  
न्मांश्च एव । केचित् परिपक्वयोगिनोऽपि देवाद्भोगेच्छायां मत्यां  
कर्मसोभग्यादिदृष्ट्या भोगमप्याहुरिति । शुचीनां मदाचाराणां  
श्रीमतां धनिकवणिगादीनां राज्ञां वा ॥ ४१॥

गी०भू०—ऐहिकीं सुखसम्पत्तिं तावदाह-प्राप्येति । यादृशविषयस्पृह-  
या स्वधर्मे शिथिलो योगाच्च विच्युतोऽयं तादृशान विषयानात्मा-  
देश्यकनिष्कामस्वधर्मयोगारम्भमाहात्म्येन पुण्यकृतान्श्वमेधादि-  
याजिनां लोकान प्राप्य भुङ्क्ते तान भुञ्जानो यावतीभिस्तद्भाग-  
तृष्णाविनिवृत्तिस्तावतीः शाश्वतीः बह्वीः समाः सम्बत्सगंस्तेषु  
लोकेर्प्रापत्वा स्थित्वा तद्भोगवितृष्णस्तेभ्यो लोकेभ्यः शुचीनां  
सद्धर्मनिरतानां योगार्हाणां श्रीमतां धनिनां गेहे पूर्व्वारव्ययोग-  
माहात्म्यात् स योगभ्रष्टोऽभिजायत इत्यल्पकालारव्ययोगाद्भ्र-  
ष्टस्य गतिरियं दर्शिता ॥४१॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।

एतद्वि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥

सारा०ब०—अल्पकालाभ्यस्त-योगभ्रंशे गतिरियमुक्ता ।  
चिरकालाभ्यस्त-योगभ्रंशे तु पक्षान्तरमाह—अथवेति । योगिनां  
निमिप्रभृतीनामित्यर्थः ॥ ४२ ॥

गी०भू०—चिरारव्याद्योगाद्भ्रष्टस्य गतिमाह-अथवेति ।  
योगिनां योगमभ्यसतां धीमतां योगदेशिकानां कुले भवत्युत्पद्यते ।  
द्विविधं जन्म स्तोति-एतादृति । योगार्हाणां योगमभ्यसताश्च  
कुले पूर्व्वयोगसंस्कारबलकृतमेतज्जन्म प्राकृतानामतिदुर्लभम् ॥४२॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।

यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुन्दन ॥४३॥

सारा०व०—तत्र द्विविधेऽपि जन्मनि बुद्ध्या परमात्मनिष्ठया  
सह संयोगं पौर्वदेहिकं पूर्वजन्मभवम् ॥ ४३ ॥

गी०भू०—आमुत्रिकी सुखसम्पत्तिं बक्तुं पूर्वसंस्कारहेतुकं  
साधनमा हतव्रति-तत्र द्विविधे जन्मनि, पौर्वदेहिकं पूर्वदेहे भ-  
वम्, बुद्ध्या स्वधर्मस्वात्मपरमात्मविपगा संयोगं सम्बन्धं लभते ।  
ततश्च हृदिशुद्धिस्वपरमात्मावलोक्यरूपायां संसिद्धौ निमित्तं स्वापो-  
त्थितबद्धयो बहुतरं यतते, यथा पुनर्विघ्नहतो न स्यात् ॥ ४३ ॥

पूर्वाभ्यामेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।

जिज्ञासुर्गपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥

सारा०व०—ह्रियत आकृष्यते, योगस्य योगं जिज्ञासुरपि  
भवति । अतः शब्दब्रह्म वेदशास्त्रमतिवर्त्तते वेदात्कर्ममार्ग-  
मतिक्रम्य वर्त्तते, किन्तु योगमार्गे एव तिष्ठतीत्यर्थः ॥ ४४ ॥

गी०भू०—तत्र हेतुः—तेनैव योगविषयकेण पूर्वाभ्यासेन स  
योगी ह्रियते आकृष्यते—अवशोऽपि केनचिद्विघ्ननानिच्छन्नपी-  
त्यर्थः । हाति प्रसिद्धोऽयं योगमहिमा । योगस्य जिज्ञासुरपि तु  
योगमभ्यासितुं प्रवृत्ताः शब्दब्रह्म सकामकर्मनिरूपकं वेदमति-  
वर्त्तते, तं न शब्धानीत्यर्थः ॥ ४४ ॥

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धिकल्त्रिणः ।

अनेकजन्मसंसिद्धस्तयो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥

सारा०व०—एवं योगभ्रंशे कारणं यत्नशैथिल्यमेव—‘अर्थात्  
श्रद्धयापेतः’ इत्युक्तेः । तस्य च यत्नशैथिल्यवतो योगभ्रष्टस्य जन्मा-  
न्तरे पुनर्योगप्राप्तिरेवाक्ता, न तु संसिद्धिः । संसिद्धिस्तु यावद्भिज्जन्म-  
भिस्तस्य योगस्य परिपाकः स्यात्, तान्निरेवेत्यवसीयते । यस्तु  
न कदाचिदपि योगे शैथिल्यप्रयत्नः, स न योगभ्रष्टशब्दवाच्यः ।

किन्तु “बहुजन्मविपकैश्च सम्यग्योगसमाधिभिः । दृष्टुं यतन्ते  
यतयः शून्यागारेषु यत्पदम् ॥” इति कर्हमोक्तेः सोऽपि नैकेन  
जन्मना मिध्यतीत्याह—प्रयत्नाद्यतमानः प्रकृष्टयत्नादपि यत्न-  
वानित्यर्थः । तु-कारः पूर्वोक्ताद्योगभ्रष्टादस्य भेदं बोधयति ।  
संशुद्धिकल्त्रिणः सम्यक्परिपक्वकपायः । सोऽपि नैकेन जन्मना  
सिध्यतीति सः । परां गतिं मोक्षम् ॥ ४५ ॥

गी०भू०—अथामुत्रिकीं सुखसम्पत्तिमाह—प्रयत्नादिति ।  
पूर्वकृतादपि प्रयत्नादधिकमधिकं यतमानः पूर्वविघ्नभयात्  
प्रयत्नाधिक्यं कुर्वन् योगी तेनोपचितेन प्रयत्नेन संशुद्धिकल्त्रिणो  
निधौतानिखिलान्यवामनः, एवमनेकैर्जन्मभिः संसिद्धः परिपक्व-  
योगो योगपरिपाकादेव हेतोः परां स्वपरात्मावलोकलक्षणं गतिं  
मुक्तिं याति ॥ ४५ ॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।

कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ ४६ ॥

सारा०व०—कर्मज्ञानतपोयोगवतां मध्ये कः श्रेष्ठ इत्यपेक्षा-  
माह—तपस्विभ्यः कृच्छ्रचान्द्रायणादि--तपोनिष्ठेभ्यो ज्ञानिभ्यो  
ब्रह्मोपासकेभ्योऽपि योगी परमात्मोपासकोऽधिको मत इति समं-  
दमेव मतमिति भावः । यदि ज्ञानिभ्योऽप्यधिकस्तदा किमुन  
कर्मिभ्य इत्याह—कर्मिभ्यश्चेति ॥ ४६ ॥

गी०भू०—एवं ज्ञानगर्भो निष्कामकर्मयोगोऽप्राज्ञयोगशिरस्को  
मोक्षहेतुस्नादृशाद्योगाद्विभ्रष्टस्यान्ततस्तत्फलं भवेदित्यभिधाय  
योगिनं स्तौति—तपस्विभ्य इति । तपस्विभ्यः कृच्छ्रादितपःपरेभ्यः  
ज्ञानिभ्योऽर्थशास्त्रविद्भ्यः कर्मिभ्यः सकामेष्टापूर्तादिकृद्भ्यश्च  
योगी मदुक्तयोगानुष्ठाताधिकः श्रेष्ठोः मतः । आत्मज्ञानवैधुर्येण  
मोक्षानर्हेभ्यस्त्वापस्वादिभ्यो मदुक्तो योगी समुदितात्मज्ञानत्वेन



मोक्षार्हत्वात् श्रेष्ठः ॥४६॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।

श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

इति श्रीमद्भारते शतमहस्र्यां संहितायां वैयामिक्यां भीष्म-  
पर्वणि श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्री-  
कृष्णाञ्जुनसंवादे ध्यानयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ।



सारा०ब०--तर्हि योगिनः सकाशान्नास्त्यधिकः कोऽपीत्य-  
वर्मायते, तत्र मेवं वाच्यमित्याह--योगिनामिति, पञ्चम्यर्थे षष्ठी  
निर्द्धारणयोगात्--तपस्विभ्यो ज्ञानिभ्योऽधिक इति पञ्चम्यर्थ-  
क्रमाच्च योगिभ्यः सकाशादपीत्यर्थः । न केवलं योगिभ्य एक-  
विधेभ्यः सकाशात्, अपि तु योगिभ्यः सर्वेभ्यो नानाविधेभ्यो  
योगारूढेभ्यः संप्रज्ञातसमाधिमद्भ्योऽपीति, यद्वा, योगो उपायोः  
कर्मज्ञानतपोयोगभक्त्यादयस्तद्वतां मध्ये यो मां भजेत, मद्भक्तो  
भवति, स युक्ततम उपायवत्तमः । कर्म्मी तपस्वी ज्ञानी च  
योगी मतः, अप्राज्ञयोगी योगितरः, श्रवणकीर्त्तनादिभक्तिमांस्तु  
योगितम इत्यर्थः । यदुक्तं श्रीभागवते--“मुक्तानामपि सिद्धानां  
नारायणपरायणः । सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महा-  
मुने ॥” इति ॥ ४७ ॥

अग्रिमाध्यायपट्कं यद्भक्ति-योगनिरूपकम् ।

तस्य सूत्रमयं श्लोको भक्तकण्ठविभूषणम् ॥

प्रथमेन कथासूत्रं गीताशास्त्रशिर्षमाणः ।

द्वितीयेन तृतीयेन तुर्य्येणाकामकर्म च ॥

ज्ञानञ्च पञ्चमेनोक्तं यागः षष्ठेन कीर्त्तितः ।

प्राधान्येन तदप्येतत् पट्कं कर्मनिरूपकम् ॥

इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् ।

गीतासु षष्ठोऽध्यायोऽयं सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥

गी०भू०--तदित्यमाद्येन पट्केन सनिष्ठस्य साधनानि ज्ञान-  
गर्भाणि निष्कामकर्म्माणि योगशिरस्कान्याभिधाय मध्येन पार्श्व-  
निष्ठतादेर्भगवच्छरणादीनि साधनान्याभिधास्यन तस्मात्ताभ्य  
श्रेष्ठ्यावेदकं तत्सूत्रमाभिधत्ते-योगिनामिति-पञ्चम्यर्थे षष्ठीयम  
तपस्विभ्य इति पूर्वोपक्रमात् ; न च निर्द्धारणे षष्ठीयमस्तु-  
वक्ष्यमाणस्य योगिनस्तपस्व्यादीबलक्षणाक्रयत्वेन तेष्वनन्तर्भा-  
वात् । यद्यपि तपस्व्यादीनां मिथो न्यूनाधिकताभावाऽस्ति,  
तथाप्यत्र त्वं तस्मात् समानम्, स्वर्णागिरिग्व तदन्येषामुच्चा-  
वचानां गिरीणामिति । यः श्रद्धावान्मद्भक्तिनिरूपकेषु श्रुत्यादि-  
वाक्येषु दृढविश्वासः सन्, मां नीलोत्पलश्यामलमाजानुपीवर-  
बाहुं सवितृकरविकासतारविन्देक्षणं बिम्बुदुज्ज्वलवारुमं किरीट-  
कुण्डलकटककेयूरहारकोन्तुभनुपुरैः वनमालया च विभ्राजमानं  
स्वप्रभया दिशो वितमिम्बाः कुर्व्वाणं नित्यमिद्व-नृसिहरघुवर्ग्या-  
दिरूपं सर्वेश्वरं स्वयं भगवन्तं मनुष्यमनिर्वोशिविभुविज्ञानानन्द-  
मयं यशोदास्तनन्धयं कृष्णादिशब्दैराभधीयमानं सार्वभौमसर्व-  
श्रर्यसत्यसङ्कल्पाश्रितबात्मल्यादिभिः सौन्दर्यमाधुर्यलावण्या-  
दिभिश्च गुणरत्नैः पूर्णं भजते श्रवणादिभिः सेवते, मद्गतेन  
मदेकासक्तेनान्तरात्मना मनसा विशिष्टास्तलमात्रमपि मद्द्वियोगा-  
सहः सन्नित्यर्थः, मद्भक्तः सर्वेभ्यस्तपस्व्यादिभ्यो योगिभ्यो मे  
सर्वेश्वरस्य सर्वार्था वस्तूनि युगपत् पश्यतो युक्ततमोऽभि-  
मतः-तपस्यादियुक्तः निष्कामकर्म्मी युक्ततरः मदेकभक्तो युक्त-  
तम इत्यर्थः । अत्र व्याचष्टे-ननु योगिनः सकाशात् कोऽप्य-  
धिकोऽस्तीति चेत्तत्राह-योगिनामिति । योगारोहतारतम्यात्  
कर्मयोगिनो बह्वन्तेभ्यः सर्वेभ्योऽपीति ध्यानारूढो युक्तः

समाध्याहृदो युक्ततरः श्रवणादिभक्तिमांस्तु युक्ततम इति ।  
 “भक्ति”शब्दः—सेवाभिधायी—“भज इत्येष वै धातुः सेवायां परि-  
 कीर्तितः । तस्मात् सेवा वुधैः प्रोक्ता ‘भक्ति’शब्देन भूयसी”  
 इति स्मृतेः । एतां भक्तिं श्रुतिराह—“श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादेवेति”  
 इति, “यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैतं कथिता  
 ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥” इति, “भक्तिरस्य भजनं तदिहा-  
 मुत्रोपाधिनैरास्येनामुष्मिन् मनःकल्पनमेतदेव नैष्कर्म्यम्” इति,  
 “आत्मानमेव लोकमुपासीत” इति, “आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः  
 श्रोतव्यो मन्तव्यो निर्दिध्यासितव्यो मैत्रेयि” इति चैवमाद्याः ।  
 सा च भक्तिर्भगवत्स्वरूपशक्तिवृत्तिभूता बोध्या—“विज्ञानयना-  
 नन्दयना सच्चिदानन्दैकरसे भक्तियोगे तिष्ठति” इति श्रुतेः । तस्याः  
 श्रवणादिक्रियारूपत्वं तु चित्सुखमूर्त्तेः सर्वेश्वरस्य कुन्तलादि-  
 प्रतीकत्ववत् प्रत्येतव्यम्—श्रवणादिरूपाया भक्ते श्रिदानन्दत्वन्वनु-  
 वृत्त्यानुभाव्यं सितानुसेवया पित्तविनाशे तन्माधुर्यमिवेति ॥४७॥  
 गीताकथासूत्रमवोचदाद्ये कर्म द्वितीयादिषु कामशून्यम् ।  
 तत् पञ्चमे वेदनगर्भमाख्यन् पष्ठे तु योगोज्ज्वलितं मुकुन्दः ॥  
 इति श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्भाष्ये षष्ठोऽध्यायः ।

## सप्तमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।

अमंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥१॥

माराच—कदा सदानन्द-भुवो महाप्रभोः,

कृपामृताब्धेश्वरणीं श्रयामहे ।

यथा तथा प्रोज्झितमुक्तितत्पथा,  
 भक्त्यध्वना प्रेमसुधामयामहे ॥ (१)  
 सप्तमे भजनायस्य श्रीकृष्णैश्वर्यमुच्यते ।  
 न भजन्ते भजन्ते ये ते चाप्युक्ताश्चतुर्विधाः ॥ (२) ॥  
 प्रथमेनाध्यायपटकेनान्तःकरणशुद्ध्यर्थकानिष्कामकर्मसापेक्षौ  
 मोक्षफलसाधकौ ज्ञानयोगावुक्ता । इदानीमनेन द्वितीयाध्यायपटकेन  
 कर्मज्ञानादिविमिश्र-श्रवणान्निष्कामत्व-सकामत्वाभ्यां च साक्षात्-  
 क्त्वादि-साधकस्तथा सर्वमुख्यः कर्मज्ञानादिनिरपेक्ष एव प्रेम-  
 वत्पारिदत्यलक्षणमुक्तिफलसाधकस्तथा “यत् कर्मभिर्यत्तपमा  
 ज्ञानवैराग्यतश्च यत्” इत्यादी “सर्वं मद्भक्तियोगेन गच्छते  
 लभतेऽञ्जसा । स्वर्गापवर्गं मद्धाम” इत्याद्युक्तेर्विनापि साध-  
 नान्तरं स्वर्गापवर्गादिनिखिलसाधकश्च परमः स्वतन्त्रः सर्वसुकरो-  
 ऽपि सर्वदुष्करः श्रीमद्भक्तियोग उच्यते । ननु “तमेव विदित्वा  
 अतिमृत्युमेति” इति श्रुतेः, ज्ञानं विना केवलया भक्त्यैव कथं  
 मोक्षः व्रूषे ? मैवं, ‘तमेव तत् पदार्थं परमात्मानमेव विदित्वा  
 साक्षादनुभूय, न तु त्वं-पदार्थमात्मानं नापि प्रकृतिं नापि वस्तु-  
 मात्रं विदित्वा मृत्युमत्येति’—इति अस्याः श्रुतेरर्थः । तत्र  
 मितशर्करा-रसग्रहणे यथा रसनैव कारणं न तु चक्षुःश्रोत्रा-  
 दिकं तथैव परब्रह्मास्वादे भक्तिरेव कारणम् । भक्तेर्गुणाती-  
 तत्वात्तथैव गुणातीतस्य ब्रह्मणो ग्रहणं सम्भवेत्, न तु देहा-  
 यतिरिक्तात्मज्ञानेन सात्त्विकेन । “भक्त्याहमेकया प्राह्यः” इति  
 भगवदुक्तेरिति, “भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि  
 तत्त्वतः” इत्यत्र साविशेषं प्रतिपादयिष्यामः । ज्ञानयोगयोर्मुक्ति-  
 साधनत्वप्रसिद्धिस्तु तत्रस्थ-गुणीभूतभक्तिप्रभावादेव, तथा विना  
 तयोर्कारिद्रव्यत्वस्य बहुशः श्रवणात् । किञ्च, अस्यां श्रुतौ  
 विदित्वा इत्यनन्तरम् एव-कारस्याप्रयोगादेव । योगव्यवच्छेदा-



भावे ज्ञापिते मति, तस्मादेव परमात्मनो विदितान् कांचिद-  
विदितादपि मोक्ष इत्यर्थो लभ्यते । ततश्च भक्त्युत्थं निर्गुणं  
परमात्मज्ञानेन मोक्षः । कश्चित् भक्त्युत्थं तज्ज्ञानं विनापि  
केवलेन भक्तिमात्रेण मोक्ष इत्यर्थः पर्यवस्यति । यथा मत्स्य-  
खण्डकापिण्डादूरमनादोषेणालब्धस्वादादपि भुक्तात् तदेक-  
नाश्या व्याधिर्नश्यत्येवात्र न सन्देहः । “मत्स्यखण्डकानि ते खण्ड-  
विकारे शर्करासिते” इत्यमरः । श्रीमदुद्धवेनाप्युक्तं (भा. १०।  
४७।५६।) — “नन्वीश्वरोऽनुभजतोऽविदुषोऽपि साक्षाच्छ्रयस्त-  
नोत्पद्यते राज ईवोपयुक्तः” इति । मोक्षधर्मे नारायणेऽप्युक्तं—  
“या वै साधनसम्पत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये । तथा विना तदाप्नोति  
नरो नारायणाश्रयः” इति । एकादशेऽप्युक्तं “यत् कर्मभिर्यत्त-  
पमा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्” इत्यादौ “सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो  
लभतेऽञ्जसा” इति । अतएव “यन्नाम सकृदश्रवणात् पुंसोऽपि  
विमुच्यते संसारान्” इत्यादौ बहुशो वाक्यैर्भक्त्यैव मोक्षः  
प्रतिपाद्यत इति । अथ प्रकृतमनुसरामः,—“योगिनामपि सर्वेषां  
मदगतेनान्तरात्मना । श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो  
मतः ॥” इति त्वद्वाक्येन त्वन्मनस्कत्वे सति त्वज्जनावपय-  
कश्रद्धावत्वमिति त्वया स्वभक्ताविशेषलक्षणमेव कृतमित्यवगम्यते ।  
किन्तु स च कीदृशो भक्तस्त्वदीयज्ञानविज्ञानयोरधिकारो  
भवत इत्यपेक्षायामाह—मय्यासक्तेति द्वाभ्याम् । यद्यपि “भक्तिः  
परशानुभवो विर्गतिरन्यत्र चैव त्रिक एककालः । प्रपद्यमानस्य  
यथाश्नतः भ्युस्तुष्टः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुवासम ॥” इत्युक्तेर्मदभ-  
जनप्रक्रमत एव मदनुभवप्रक्रमोऽपि भवति, तदप्येकग्राममात्र-  
भोजिनो तथा तुष्टिपुष्टौ न स्पष्टे भवतः, किन्तु बहुतरंगाम  
भोजिन एव । तथैव मयि श्यामसुन्दरे पीताम्बरे आसक्तम्  
च सांत्तभूमिकारुढं मनो यस्य तथाभूत एव त्वं मां ज्ञास्यसि ।

यथा स्पष्टमनुभविष्यसि, तत् शृणु कीदृशं योगम् मया सह  
मयोगं युञ्जन् शनैः शनैः प्राप्नुवन् मदाश्रयः, मामेव, न तु  
ज्ञानकर्मादिकमाश्रयमाणोऽनन्यभक्त इत्यर्थः । अत्रामंशयं मम-  
प्रमं इति पदाभ्यां मदीयनिर्विशेषब्रह्मस्वरूपज्ञानं “क्लेशोऽ-  
धिकतरगतेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् । अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं  
देहवर्द्धिरवाप्यते ॥” इत्यादिप्रसङ्गेः समंशयमेव । तथा ज्ञानि-  
नामुपास्यं यद्ब्रह्म परममहतो मम महिमस्वरूपमेव । यदुक्तं  
मयैव मत्प्रवृत्तं प्रति मत्स्वरूपेण—“मदीयं महिमानञ्च परं  
ब्रह्मेति शब्दितम् । वेत्स्यस्यानुगृहीतं मे” इति, अत्रापि “ब्रह्मणो  
हि प्रतिष्ठाहम्” इति । अतो मज्ज्ञानापेक्षया तज्ज्ञानमममप्र-  
मिति द्योतितम् ॥ १ ॥

गी०भू०—सप्तमे भजनीयस्य स्वम्यैश्वर्यं प्रकीर्त्यते ।

चातुर्विध्यञ्च भजतां तथैवाभजतामपि ॥

गी०भू०—आद्येन षट्केनापामकस्य जीवस्य स्वरूपं तत्प्रा-  
प्तिसाधनञ्च प्राधान्येनोक्तम् । मध्येन तूपास्यस्य स्वस्य तत्तच्च  
तथोच्यते ; तत्र षष्ठान्तर्निर्दिष्टं तव भजनीयं रूपं कीदृशं,  
कथं वा भजतोऽन्तरात्मा तद्गतः स्यादित्येतत् पार्थेनाष्टमपि  
कृपानुवेन स्वयमेव बिबलुभेगवानुवाच—मर्याति । व्याख्यात-  
लक्षणे स्वोपास्ये मय्यासक्तमतिमात्रानिरतं मनो यस्य स त्वमन्यो  
वा तादृशो मदाश्रयो महास्यसख्याद्येकतमेन भावेन मां शरणं  
गतो योगं मच्छरणादिलक्षणं युञ्जन् कर्तुं प्रवृत्तः । असंशयं  
यथा स्यात्तथा—कृष्ण एव परं तत्त्वमतोऽन्यद्वेति सन्देहशून्यो  
मत्पारतम्यनिश्चयवानित्यर्थः । समग्रं साधिष्ठानं सविभूतिं  
सपरिकरं च मां सर्वेश्वरं येन ज्ञानेन ज्ञास्यसि तन्मयोच्यमान-  
सर्वहितमनाः शृणु । हे पार्थ ! न च समग्रमिति कात्स्न्येन स  
ज्ञानमादिशतीति वाच्यमनन्तरं तस्य तथाज्ञानासम्भवात् ।

स्मृतिश्च—“कात्स्न्येन नाजोऽप्यभिधातुमीशः” इति ॥१॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।

यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥२॥

सारा०ब०—तत्र सद्भक्तेरासक्तिभूमिकातः पूर्व्वेर्मापि मे ज्ञानमैश्वर्यमयं भवेत् । तदुत्तरं विज्ञानं माधुर्यानुभवमयं भवेत् । तदुभयमपि त्वं शृण्वत्याह—ज्ञानमिति । अन्यज्ज्ञातव्यं नावशिष्यत इति भन्निर्विशेषब्रह्मज्ञानविज्ञाने अप्येतदन्तर्भूत एवेत्यर्थः ॥ २ ॥

गी०भू०—वक्ष्यमाणं ज्ञानं स्तौति—ज्ञानमिति—इदं चिद-  
चिच्छक्तिमत्स्वरूपविषयकं ज्ञानं, तच्च सविज्ञानं वक्ष्यामि ।  
तच्छक्तिद्वयविभक्तस्वरूपविषयकं ज्ञानं विज्ञानं तेन सहितं ते  
तुभ्यं प्रपन्नायाशेषतः सामग्र्येणोपदेक्ष्यामीत्यर्थः । यत्स्वरूपं सर्व्व-  
कारणं यच्च ध्येयं तदुभयविषयकं ज्ञानमत्र वक्तुं प्रविज्ञानं  
यज्ज्ञानं ज्ञात्वेह श्रियोवर्त्मनि निविष्टस्य जिज्ञासोस्तवान्यज्-  
ज्ञातव्यं नावशिष्यते, सर्व्वमप्य तदन्तर्भावात् ॥२॥

मनुष्याणां महस्त्रेषु कश्चिद्यतति मिद्वये ।

यततामपि मिद्वानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥३॥

सारा०ब०—एतच्च सविज्ञानं मज्ज्ञानं पूर्व्वमध्यायपटके प्रोक्त-  
लक्षणेर्ज्ञानिभिर्योगिभिरपि दुर्लभमिति ब्रूयन् प्रथमं विज्ञानमाह-  
मनुष्याणामिति । असंख्यानानां जीवानां मध्ये कश्चिदेव मनुष्यो  
भवति । मनुष्याणां महस्त्रेषु मध्ये कश्चिदेव श्रेयसि यतते ।  
तादृशानामपि मनुष्याणां महस्त्रेषु कश्चिदेव मां श्याममुदगा-  
कारं तत्त्वतो वेत्ति साक्षादनुभवतीति निर्विशेषब्रह्मानुभवा-  
नन्दात् महस्त्रगुणाधिकः सविशेषब्रह्मानुभवानन्दः स्यादात-  
भावः ॥ ३ ॥

गी०भू०—स्वज्ञानस्य दोर्लभ्यमाह—मनुष्याणामिति । उच्चा-  
वचदेहात्मसंख्याता जीवास्तेषु कतिचिदेव मनुष्यास्तेषां शास्त्राधि-  
कारयोग्यानां महस्त्रेषु मध्ये कश्चिदेव सत्प्रसङ्गवशान् मिद्वये  
स्वपरात्मावलोकनाय यतते, न तु सर्व्वे । तादृशानां यततां यत-  
मानानां मिद्वानां लब्धस्वपरात्मावलोकनानां महस्त्रेषु मध्ये  
कश्चिदेवैकां मां कृष्णं तत्त्वतो वेत्ति । अयमर्थः—शास्त्रीयार्थ-  
नुष्ठायितो बहवो मनुष्याः परमाणुचैतन्यं स्वान्मानं प्रादेशमात्रं  
मत्स्वांशं परमात्मानं चानुभूय विमुच्यन्ते । मां तु यशोदास्त-  
नन्वयं कृष्णमधुना तत्सारथिं कश्चिदेव तादृशमत्प्रसङ्गाद्यप्र-  
सङ्गस्त्वत्त्वतो याथात्म्येन वेत्ति—अविचिन्त्यानन्तशक्तिकत्वेन  
निग्वलकारगुणत्वेन सार्व्वज्ञ्यसार्व्वैश्वर्य्यस्वभक्त्यासत्याद्यसंख्ये-  
यकल्याणगुणरत्नाकरत्वेन पूर्णब्रह्मत्वेन चानुभवतीत्यर्थः ।  
वक्ष्यति च—“म महात्मा सुदुर्लभः”, “मान्तु वेद न कश्चन” इति ॥३॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।

अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥४॥

सारा०ब०—अथ भक्तिमते ज्ञानं नाम भगवदैश्वर्य्यज्ञानमेव,  
न तु देहाद्यतिरिक्तात्मज्ञानमेवेति । अतः स्वीयैश्वर्य्यज्ञानं निरूप-  
यन् परापरभेदेन स्वीयप्रकृतिद्वयमाह—भूमिरिति द्वाभ्याम् ।  
भूम्यादिशब्दैः पञ्चमहाभूतानि सूक्ष्मभूतैर्गन्वादिभिः सहैकाकृत्य  
संगृह्यन्ते, अहङ्कार-शब्देन तत् सार्व्वभूतानीन्द्रियाणि; तत्कारण-  
भूत-महत्तात्त्वमपि गृह्यते, बुद्धिमनसोः पृथगुक्तिस्तत्त्वेषु तयोः  
प्राधान्यात् ॥ ४ ॥

गी०भू०—एवं श्रोतारं पार्थमभिमुखीकृत्य स्वस्य कारण-  
स्वरूपं चिदचिच्छक्तिमद्वक्तुं ते शक्ती प्राह—भूमिरिति द्वाभ्याम् ।  
चतुर्विंशतिवा प्रकृतिभूम्याद्यात्मनाष्टधा भिन्ना मे मदीया  
बांध्या तन्मात्रादीनां भूम्यादिष्वन्तर्भावाद्विहापि चतुर्विंशति-



धैबाबसेया । तत्र भूम्यादिषु पञ्चषु भूतेषु तत्कारणानां गन्धानां पञ्चानां तन्मात्राणामन्तर्भावः ; अहङ्कारे तत्कार्याणामेकादशानामिन्द्रियाणाम् ; 'बुद्धि'शब्दो महत्तत्त्वमाह ; मनःशब्दस्तु मनो-गम्यमव्यक्तरूपं प्रगणमिति । श्रुतिश्चैवमाह—“चतुर्विंशति-मंरुथानां अव्यक्तं व्यक्तमुच्यते” इति । स्वयञ्च क्षेत्राध्यायं बधयति—“महाभूतान्यहङ्कारः” इत्यादिना ॥४॥

अपरेयमितस्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् । ५॥

मारा०ब०—इयं प्रकृतिर्वहिरङ्गाख्या शक्तिरपरानुकृष्टा जडत्वात् । इतोऽन्यां प्रकृतिं तटस्थां शक्तिं जीवभूतां परामुकृष्टां विद्धि चैतन्यत्वात् । अस्या उत्कृष्टत्वं हेतुः—यथा चेतनया इदं जगत् चेतनं धार्यते स्वभागार्थं गृह्यते ॥ ५ ॥

गी०भू०—एषा प्रकृतिरपरा निकृष्टा जडत्वाद्भोग्यत्वाच्चैतो जडायाः प्रकृतेरन्यां परां चेतनत्वाद्भोक्तृत्वाच्चोत्कृष्टां जीवभूतां मे मदीयां प्रकृतिं विद्धि । हे महाबाहो पार्थ ! परत्वे हेतुः—ययेति । यथा चेतनया इदं जगत् स्वकर्मद्वारा धार्यते शय्यामनादि-वन स्वभागाय गृह्यते ; श्रुतिश्च हरेरेवेयं शक्तिस्त्वयीत्याह—“प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः” इति ॥५॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्पुपधारय ।

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥६॥

मारा०ब०—एतच्छक्तिद्वयद्वारैव स्वस्य जगत्कारणत्व-माह—एतदिति । एते मायाशक्तिजीवशक्ती क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-रूपे योना कारणभूते येषां तानि स्थावरजङ्गमात्मकानि भूतानि जानीहि । अतः कृत्स्नस्य सर्वस्यास्य जगतः प्रभवो मच्छक्तिद्वयप्रभूतत्वात्

अहमेव स्रष्टा, प्रलयतच्छक्तिमति मय्येव प्रलीनभाचित्वादह-मेवास्य संहर्ता ॥ ६ ॥

गी०भू०—एतच्छक्तिद्वयद्वारैव सर्वजगत्कारणतां स्वस्याह-एतदिति । सर्व्वर्षिणि स्थिरचराणि भूतान्येतद्योनीनि उपधारय विद्धि । एतेऽपरपरे क्षेत्रक्षेत्रज्ञशब्दवाच्ये मच्छक्ती योनी कारण-भूते येषां तानीत्यर्थः । ते च प्रकृती मदीये मत्त एव सम्भूते । अतः कृत्स्नस्य सप्रकृतिकस्य जगतोऽहमेव प्रभव उत्पत्तिहेतुः—‘प्रभव-त्यस्मात्’ इति व्युत्पत्तोः तस्य प्रलयसंहर्ताप्यहमेव—‘प्रलीयते-ऽनेन’ इति व्युत्पत्तोः ॥६॥

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदगति धनं जय ।

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥७॥

मारा०ब०—यस्मादेवं तस्मादहमेव सर्वमित्याह—मत्तः परतरमन्यत् किञ्चिदापि नास्ति कार्य्य-कारणयोरैक्यात् शक्ति-शक्तिमतोरैक्याच्च । तथा च श्रुतिः—“एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म”, “नेह नानास्ति किञ्चन” इति । एवं स्वस्य सर्व्वरामकत्वमुक्त्वा सर्व्वान्तर्यामिन्त्वाच्चाह—मयीति । सर्व्वमिदं चिज्जडात्मकं जगत् मत्कार्य्यत्वात् मदात्मकमापि पूनर्मय्यन्तेर्य्यामिनि प्रोतं प्रथितं यथा सूत्रे मणिगणाः प्रोताः । मधुसूदन-सरस्वतीपादास्तु सूत्रे मणिगणा इवेति दृष्टान्तस्तु प्रथितत्वमात्रे, न तु कारणत्वे कनकं कुण्डलादिबादति तु योग्यो दृष्टान्त इत्याहुः ॥ ७ ॥

गी०भू०—ननु स्थिरचरयोरपरपरयोः प्रकृत्योरपि त्वमेव तच्छक्तिमान् योनीनिर्गद्युवतेर्निखिलजगद्बीजत्वं तव प्रतीतं, न तु सर्व्वपरत्वम् ; तच्च तद्बीजात्त्वतोऽन्यस्यैव—“ततो यदुत्तरतरं तद्रूपमनामयं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापि यन्ति” इति श्रवणादिति चेत्तत्राह—मत्त इति । मत्तास्त्वत्सखात्

कृष्णात् परतरं श्रेष्ठमन्यत किञ्चिदपि नास्त्यहमेव सर्वत्र  
बन्धित्यर्थः । ननु “ततो यदुत्तरतरम्” इत्यादाबन्यथा श्रुतास्मि  
चेन्मन्दमेतत् श्रोदाक्षमत्वात् ; तथा हि “वेदाहमेतं पुरुषं महान्-  
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् । तमेव विद्वानमृत इह भवति  
नान्यः पन्था विद्यते अयनाय” इति श्रुताश्चतरैः सर्वजगद्दी-  
जस्य महापुरुषस्य विष्णोर्ज्ञानममृतस्य पन्थाम्ततो नाम्नीत्यु-  
पादिश्य तदुपपादनाय “यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चिद-  
स्मान्नाणीथो न ज्यायोऽस्मि किञ्चित्” इति तस्यैव परमत्वं  
तदितरस्य तदसंभवञ्च प्रतिपाद्य, “ततो यदुत्तरतरम्”  
इत्यादिना पूर्वोक्तमेव निगमितम् ; न तु ततोऽन्यच्छ्रेष्ठमस्तीति  
उक्तम्-तथा सति तेषां मृषाबादित्वापत्तिः । एवमाह सूत्रकारः-  
“तथान्यप्रतिपेक्षात्” इति । मदन्त्यस्य कस्यचिदपि श्रेष्ठ्या-  
भावादहमेव मदन्त्यमन्वाश्रय इत्याह-मयीति । प्रोक्तं प्राथितं  
स्फुटमन्यत-एतेन विश्वपालकत्वं स्वस्योक्तम् ॥७॥

रसोऽहमप्सु कोन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।

प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृपु ॥८॥

साराव०—स्वकार्ये जगत्पत्र यथाहमन्तर्यामिरूपेण प्रविष्टो  
वर्त्तते, तथा क्वचित् कारणरूपेण क्वचित् कार्येषु मनुष्यादेषु  
साररूपेणाप्यहं वर्त्तते इत्याह—रसोऽहमिति चतुर्भिः । अप्सु  
रमस्तत् कारणभूतो मद्भिभूतिरित्यर्थः । एवं सर्वत्राप्येव  
प्रभास्यः प्रणवः “ॐकारः”—सर्ववेदकारणम् । खे आवशे  
शब्दस्तत्कारणं, नृपु पौरुषं सफल उद्गमविशेष एव मनु-  
ष्यसारः ॥ ८ ॥

गी०भू०—तत्त्वं दर्शयति-रसोऽहमिति पञ्चभिः । अप्सु  
रसोऽहं रमदन्मात्रया विभूत्या ताः पालयन् तास्वहं वर्त्तते,

तां विना तामामस्थितेः । शशिसूर्ये बाहं प्रभास्मि प्रभया  
विभूत्या तौ पालयन् तयोस्वहं वर्त्तते ; एवं परत्र द्रष्टव्यम् । वैखरी-  
रूपेषु सर्ववेदेषु तन्मूलभूतः प्रणवोऽहम्, खे तमसि शब्द-  
स्तन्मात्रलक्षणोऽहम्, नृपु पौरुषं सफलवानुद्यमोऽहम्-तेनैव तेषां  
स्थितेः ॥८॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चाग्निं विभावसौ ।

जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥९॥

साराव०—“पुण्योऽविकृतो गन्धः पुण्यस्तु चार्त्तपि”  
इत्यमरः । च कारो रसादीनामपि पुण्यत्वसमुच्चयार्थः । तेजः  
सर्ववस्तुपचनप्रकाशनशीतत्राणादिसामर्थ्यरूपः सारः ; जीवन-  
मायुरेव सारः, तपो द्वन्द्वसहनादिकमेव सारः ॥ ९ ॥

गी०भू०—पुण्योऽविकृतो गन्धस्तन्मात्रलक्षणः । चकारो  
रसादीनामहमपि पुण्यत्वसमुच्चयकः । विभावसौ बन्धो तेजः  
सर्ववस्तुपचनप्रकाशनशीतत्राणादिसामर्थ्यरूपश्च शब्दाद्वार्यो यः पुण्यः  
स्पर्श उष्णस्पर्शव्याकुलानामापायकः सोऽहमिति बोध्यम् । जीव-  
नमायुस्तपो द्वन्द्वसहन्तम् ॥९॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।

बुद्धिबुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥

साराव०—बीजमविकृतं कारणं प्रधानाख्यानित्यर्थः । सनातनं  
नित्यं बुद्धिमतां बुद्धिरेव सारः ॥ १० ॥

गी०भू०—सर्वभूतानां चराचराणां यदेकबीजं सनातनं  
नित्यं, न तु प्रतिव्याक्तिभिन्नमनित्यं वा तत् प्रधानारयं सर्व-  
बीजं मामेव विद्धि तद्रूपया विभूत्या तान्यहं पालयामि तत्परेण  
हि तानि पुण्यन्ते । बुद्धिः सारासारविवेकवती, तेजः प्रागल्भ्यं



पराभिभवसामर्थ्यं परानभिभाव्यत्वञ्च ॥१०॥

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥

सारा०ब०—कामः स्वजीविकाव्यभिलाषः, रागः क्रोधस्तद्विवर्जितम्, न तद्वयोत्थमित्यर्थः । धर्माविरुद्धः स्वभाष्यायां पुत्रोत्पत्तिमात्रोपयोगी ॥११॥

गी०भू०—कामः स्वजीविकाव्यभिलाषः रागस्तु प्राप्तोऽप्यभिलाषितेऽर्थे पुनस्ततोऽप्यधिकेऽर्थे चित्तरञ्जनात्मवोऽतितृष्णापरतामा, ताभ्यां त्रिवर्जितं बलं स्वधर्मानुष्ठानसामर्थ्यमित्यर्थः । धर्माविरुद्धः स्वपत्न्यां पुत्रोत्पत्तिमात्रहेतुः ॥११॥

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।

मत्त एवेति तान्बिद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

सारा०ब०—एवं वस्तुकारणभूता वस्तुसारभूताश्च राक्षसाद्याश्च विभूतयः कार्श्वदुक्ताः; किन्त्वलमतिबिस्तरेण । मदधीनं वस्तुमात्रमेव साद्विभूतिरित्याह—ये चैवेति । सात्त्विकभावाः शमदमादयो देवाद्याश्च, राजसा हृषेर्दोषादयोऽसुराद्याश्च । तामसाः शोकमोहादयो राक्षसाद्याश्च, तान् मत्त एवेति मदीयप्रकृतिगुणकार्यत्वात् । तेष्वहं न वर्त्ते, जीववत्तादधीनोऽहं न भवामीत्यर्थः । ते तु मयि मदधीनाः सन्त एव वर्त्तन्ते ॥१२॥

गी०भू०—एवं कार्श्वद्विभूतिरभिधाय समासेन सर्वभावाः प्राह ये चैवेति । ये मिथो बिलक्षणस्वभावाः सात्त्विकादयो भावाः प्राणिनां शरीरान्द्रियविषयात्मना तत्कारणत्वेन चावागतास्तान् सर्वान् तत्तच्छक्त्युपेतान्मत्ताण्योपपन्नान् बिद्धि । न त्वहं तेषु वर्त्ते नैवाहं तदधीनस्थितः—ते मयि मदधीना इत्यर्थः ॥१२॥

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।

मोहितं नाभिजानति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥

सारा०ब०—नन्वेवम्भूतं त्वां परमेश्वरं कथमयं जनो न जानातीत्यत आह—त्रिभिरिति । गुणमयैः शमदमादि-हर्षादि-शोकाद्यैर्भावैः स्वाभावीभूतैर्जगत् जगज्जात-जीववृन्दं मोहितं सत् मां त्रिगुणत्वादेभ्यः परमव्ययं निर्विकारम् ॥१३॥

गी०भू०—अथ शक्तिद्वयविक्रान्तं स्वस्थ ध्येयस्वरूपं दर्शयन् तस्याज्ञाने तदासक्तिमेव हेतुमाह—त्रिभिरिति । एभिः पूर्वोदितैर्गुणमयैर्मन्मायागुणकार्यैस्त्रिविधैः सात्त्विकादिभिर्भावैर्भवन्धर्माभिः क्षणपरिणामिभिस्तत्तात्कर्मणुगुणशरीरान्द्रियावप्यात्मनावास्थितैर्मोहितमविवेकितां नीतं सत् सर्वमिदं जगत् सुरासुरमनुष्याद्यात्मनावस्थितं जीववृन्दं वर्त्तु एभ्यः सात्त्विकादिभ्यो भावेभ्यः परं तैरस्पृष्टमनन्तवत्याणुगुणरत्नाकरं विज्ञानानन्दघनं सर्वेश्वरमव्ययमप्रच्युतस्वभावं मां कृष्णं नाभिजानाति प्रत्युतासूयति ॥१३॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥

सारा०ब०—ननु तर्हि त्रिगुणमयमोहात् कथमुत्तीर्णा भवन्ति ? तत्राह—दैवी विषयानन्देन दीव्यन्तीति देवा जीवास्तदीया तेषां मोहायत्रीत्यर्थः । गुणमयी श्लेषेण त्रिवेष्टनमहापाशरूपा । मम परमेश्वरस्य माया बाहिरङ्गाशक्तिदुरत्यया दुरतिव्रमा । पाशपक्षे, हेत्ताम् उदग्रार्थयितुं वा केनाप्यशक्येत्यर्थः । किन्तु मद्भावि विश्वसिहि इति स्ववक्तुः स्पृष्टाह—मां श्यामसुन्दराकारमेव ॥१४॥

गी०भू०—ननु त्रिगुणायस्तन्मायाया नित्यत्वात्तद्वैतकस्य मोहस्य विनिवृत्तिर्दुर्घटेति चेत्तत्राह—दैवीति । मम सर्वेश्वर-स्यावितर्क्यातिविचित्रानन्तविश्वस्रष्टुरेपा माया दैवी । अतो-किञ्चन्यद्भुतेत्यर्थः, तादृक् विश्वसर्गोपकरणत्वात् । अतिश्चैव-माह—“मायां तु प्रवृत्तिं विद्यान्मार्गान्तु महेश्वरम”त्यादया । गुणमयी सत्त्वादिगुणत्रयात्मिका, श्लेषेण त्रिगुणिता रज्ज्, रिवानि-दृढतया जीवानां बन्धुहेतुः । अतो दुरत्यया तेषां दुरतिक्रमा, रज्ज्-पक्षे नृद्धेत्तमुद् ग्रथितुं च तैरशक्येत्यर्थः । यद्यप्येतादृशी तथापि मद्भक्त्या तद्भिनिवृत्तिः स्यादित्याह मार्गमिति । मां सर्वेश्वरं मायानियन्तारं स्वप्रपन्नवात्सल्यनीरधि कृपणं ये तादृशसत्प्रसङ्गात् प्रपद्यते शरणं गच्छन्ति ते एतामर्णवमियापागं मायां गोप्सदोद-काञ्जलिमिवाश्रमेण तरन्ति । तां तीर्त्वा नन्दैकरसं प्रमादाभिमुखं स्वस्वामिनं मां प्राप्नुवन्तीति । मामेवेत्येवकारो मदन्त्येषां विधिमुद्रा-दीनां प्रपत्त्या तस्यान्तराणं नेत्याह अतिश्चैवमाह तमेव विदित्वे-त्याद्या, मुचुकुन्दं प्रति देवाश्च—“वरं ऋणीष्व भद्रं ते ऋते कैवल्य-मद्य नः । एक एवेश्वरस्तस्य भगवान् विष्णु रव्यय इति । वण्टा-कर्णं प्रति शिवश्च—“मुक्तप्रदाता सर्वेषां विष्णुरेव न संशयः” इति ॥१४॥

न मां दुष्कृतिनां मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।

माययापहतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥१५॥

साग०ब०—ननु तर्हि पण्डिता अपि केचन किमिति त्वां न प्रपद्यन्ते ? तत्र ये पण्डितास्ते मां प्रपद्यन्त एव; पण्डित-मार्गिन एव न मां प्रपद्यन्त इत्याह—न मार्गमिति । दुष्कृतिनः दुष्टाश्च ते कृतिनः पण्डिताश्चेति ते दुष्पण्डिता इत्यर्थः । ते च चतुर्विधाः—एके मूढाः पशुतुल्याः कर्मिणः; यदुक्तं—“ननु

दैवेन निहता ये चाच्युतकथासुधाम । हित्वा शृण्वन्त्यसद्गथाः पुरीषमिव बिड्भुजः ॥” इति, “मुकुन्दं को वै न सेवेत विना नरेतरम्” इति च । अपरे नराधमाः कश्चित् कालं भक्तिमत्त्वेन प्राप्तनरत्वा अप्यन्ते फलप्राप्ती न साधनोपयोग इति मत्वा स्वेच्छयैव भक्तित्यागिनः—स्वकर्त्ता कभक्तित्यागलक्षणमेव तेषाम-धमत्वमिति भावः । अपरे शास्त्राध्यापनादिमत्त्वेऽपि मायया-पहतं ज्ञानं येषां ते । वैकुण्ठबिराजिनां नारायणमूर्तिरेव सार्वकालिकी भक्तिप्राप्या, न तु कृष्णरामादिमूर्तिर्मानुषीति मन्यमाना इत्यर्थः; यद्वदयते,—“अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्” इति । ते खलु मां प्रपद्यमाना अपि न मां प्रपद्यन्त इति भावः । अपरे आसुरं भावमाश्रिताः । असुराः जरामन्वाद्यः मद्रिग्रहं लक्ष्मीकृत्य शरैर्विद्धयन्ति । तथैव दृश्यत्वादिहेतुमन्-कुतर्कैर्मद्विग्रहं वैकुण्ठस्थमपि खण्डयन्त्येव, न तु प्रपद्यन्त इत्यर्थः ॥ १५ ॥

गी०भू०—ननु चेत्त्वामेव प्रपन्ना विमुच्यन्ते तर्हि पण्डिता अपि केचित् किमिति त्वां न प्रपद्यन्ते तत्राह न मार्गमिति । दुष्कृतिनः शास्त्रार्थकुशलाश्चेति दुष्कृतिनः कुपण्डितास्ते मां न प्रप-द्यन्ते । अतिश्चैवमाह—“अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः । दंष्ट्रम्यमानाः परिव्रजन्ति मूढा अन्धेनैव नीय-माना यथान्धाः” इति । ते चतुर्विधाः—एके मायया मूढाः कर्म्म-जडा इन्द्रादिवन्मामपि विष्णुं कर्म्मार्ज्जं जीवन् कर्म्मधीनं मन्यमानाः; अपरे मायया नराधमा विप्रादिकुलजन्मना नरोत्त-मतां प्राप्याप्यसत् काव्यार्थमिच्छया पामरताभाजः । यदुक्तं—“तूतं दैवेन निहता ये चाच्युतकथासुधाम । हित्वा शृण्वन्त्यसद्गथाः पुरीषमिव बिड्भुज इति । अन्ये माययापहतज्ञानाः सांख्यादयः ते हि सार्वज्ञसांश्वर्यसर्वसृष्ट्व-मुक्तिरत्वादि धर्म्मैः



श्रुतिसहस्रप्रसिद्धमपि मामीश्वरमपलपन्तः प्रकृतिमेव सर्वस्रष्टां  
भोक्षुदात्रीं च कल्पयन्ति । तत्र तादृशकुटिलकुयुक्तिशतान्युद्भाव-  
यन्ती मायैव हेतुः । केचित्तु माययैवासुरं भावमाश्रिता निर्विशे-  
षाचन्मात्रवादिनः—असुरा यथा निखिलानन्दकरं माद्विग्रहं शरैर्वि-  
ध्यन्ति तथादृश्यत्वादहेतुभिस्ते नित्यचैतन्यात्मतया श्रुतिप्रसि-  
द्धमपि तं खण्डयन्तीति तत्रापि तादृशबुद्धयुतपादनी मायैव  
हेतुरिति ॥१५॥

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भक्तपरो भ ॥१६॥

सारा०ब०—तर्हि के त्वां भजन्त इत्यत आह—चतुर्विधा  
इति । सुकृतं वर्णाश्रमाचारलक्षणो धर्मस्तद्वन्तः सन्तो मां  
भजन्ते; तत्र आर्तो—रोगाद्यापद्प्रस्तस्तन्निवृत्तिकामः, जिज्ञासुः  
आत्मज्ञानार्थी व्याकरणादिशास्त्रज्ञानार्थी वा, अर्थार्थी द्वा-  
गजतुरगकामिनीकनकाद्यै हिकपारत्रिकभोगार्थीति,—एते त्रयः,  
मकामा गुहम्याः, ज्ञानी विशुद्धान्तःकरणः सन्न्यासीति चतुर्थो-  
ऽयं निष्कामः, इत्येते प्रधानीभूत-भक्त-वधिकारिणश्चत्वारो  
निरूपिताः । तत्रादिमेषु त्रिषु कर्ममिश्रा भक्तिः, अन्तिमे चतुर्थे  
ज्ञानमिश्रा, “सर्वद्वाराणि संयम्य” इत्यग्रिमग्रन्थे योगमिश्रापि  
बह्यते । ज्ञानकर्ममिश्रा केवला भक्त्या सा तु सप्रमाध्या-  
यारम्भे एव “मय्यासक्तमनः पार्थ” इत्यनेन उक्ता । पुनश्चाष्ट-  
मेऽप्यध्याये “अनन्यचेताः सततम्” इत्यनेन, नवमे “महात्मा-  
नन्तु मां पार्थ” इति श्लोकद्वयेन “अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्”  
इत्यनेन च निरूपयितव्याः । ‘प्रधानीभूता’ ‘केवला’ इति द्वौ-  
भक्तिर्मध्यमेऽस्मिन् अध्याये पटुके भगवतोक्ता । सा तु तृतीय-  
शुणीभूता भक्तिः कर्मिणा, ज्ञानिनि, योगिनि च कर्मिणि

फलसिद्धयर्थं दृश्यते, तस्याः प्राधान्याभावात् न भक्तित्वव्य-  
पदेशः, किन्तु तत्र तत्र कर्ममिदानीमेव प्राधान्यात् । प्राधान्येन  
व्यपदेशा भवन्ति’ इति न्यायेन कर्मत्व-ज्ञानत्व-योगत्व-व्यपदेशः,  
तद्वतामपि कर्मित्व-ज्ञानित्व-योगित्व-व्यपदेशः, न तु भक्तत्व-  
व्यपदेशः । फलञ्च सकामकर्मणः स्वर्गोः निष्कामकर्मणो  
ज्ञानयोगो ज्ञानयोगोर्निर्व्याणभोक्ष इति । अथ द्विधाया भक्तेः  
फलमुच्यते, तत्र प्रधानीभूतासु भक्तिषु मध्ये आर्तोदिषु त्रिषु  
याः कर्ममिश्रास्तिस्रः सकामा भक्तयस्तामां फलं तत्तत्काम-  
प्राप्तिः, विषयमाद्गुण्यात् तदन्ते सुखैश्वर्यप्रधानमालोक्य-  
मांक्षप्राप्तिश्च; न तु कर्मफलस्वर्गभोगान्त इव पातः, यद्वह्यते,—  
“यान्ति मद्याजिनो माम्” इति । चतुर्थ्या ज्ञानमिश्रायास्तत  
उत्कृष्टायास्तु फलं शान्तरतिः सनकादिष्वेव । भक्तभगवत्कारु-  
ण्याधिक्यवशात् कस्याश्चित् तस्याः फलं प्रेमात्कपश्च श्रीशुका-  
दिष्वेव । कर्ममिश्रा भक्तिर्यदि निष्कामा स्यात् तदा तस्याः  
फलं ज्ञानमिश्रा भक्तिः, तस्याः फलमुक्तमेव । कांचिच्च स्वभावा-  
देव दासादिभक्तमङ्गोत्थ-वासना वशाद्वा ज्ञानकर्ममिश्राभक्ति-  
मतामपि दास्यादिप्रेमा स्यात्, किन्तु ऐश्वर्यप्रधानमेवेति । अथ  
ज्ञानकर्ममिश्राभक्तिमिश्रायाः शुद्धाया अनन्याकिञ्चनोत्तमादिपर्यायाः  
भक्तेर्बहुप्रभेदाया दास्यसरूपादिप्रेमवत् पार्षदत्वमेव फलमित्या-  
दिकं श्रीभागवतटीकायां बहुशः प्रतिपादितम् । अत्रापि प्रसङ्ग-  
वशात् साध्य—भक्तिर्विवेकः संक्षिप्य दर्शितः ॥ १६ ॥

गी०भू०—तर्हि त्वां के प्रपद्यन्ते तत्राह चतुर्विधा इति । सु-  
कृतिनः सुपाण्डिताः स्ववर्णाश्रमोचितकर्मणा मद्वेकान्तिभावेन च  
सम्पन्ना जना मां भजन्ते । ते च चतुर्विधाः—तत्रार्तिः शत्रुक्ते शत्र्या-  
पद्प्रस्तस्ताद्विनाशच्छुर्गजन्द्रादिः, जिज्ञासुर्विविक्तात्मस्वरूपज्ञाने-  
च्छुः शौनकादिः, अर्थार्थी राज्यादिसम्पादच्छुः ध्रुवादिः, ज्ञानी

शेषत्वेन स्वात्मानं शेषित्वेन परात्मानश्च मां ज्ञातवान् शुकादिः ।  
एवात्तादयः सकामाः ज्ञानी तु निष्कामः । आर्त्तार्थार्थिनोः  
परत्र जिज्ञासुता-सम्पत्ताये तयोरन्तराले जिज्ञासोरुपन्यासः ॥१६॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिविशिष्यते ।

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥

सारा०ब०—चतुर्णां भक्त्याधिकारिणां मध्ये कः श्रेष्ठः  
इत्यपेक्षायामाह—तेषां मध्ये ज्ञानी विशिष्यते श्रेष्ठः । नित्ययुक्तो  
नित्यां मयि युज्यत इति सः ज्ञानाभ्यासवशीकृत-चिरात्मान्म-  
नस्यैकाग्रचित्त इत्यर्थः । आर्त्ताद्यास्तु नैवभूता इति भावः ।  
ननु सर्वोऽपि ज्ञानी ज्ञानवैयर्थ्यमयात् त्वां भजते एव ?  
तत्राह—एका मुख्या प्रधानभूता भक्तिरेव, न तु अन्येषां  
ज्ञानिनामिव ज्ञानमेव प्रधानीभूतं यस्य सः, यद्वा—एका भक्तिरेव  
तथैवाभक्तिमत्त्वात् यस्य स नाममात्रेणैव ज्ञानाति भावः ।  
एवम्भूतस्य ज्ञानिनोऽहं श्यामसुन्दराकारोऽत्यर्थमतिशयेन प्रियः  
साधनसाध्यदशयोः परिहातुमशक्यः । ‘ये यथा मां प्रपद्यन्ते’  
इति न्यायेन ममापि स प्रियः ॥ १७ ॥

गी०भू०—चतुर्षु ज्ञानिनः श्रेष्ठ्य-माह तेषामिति । ज्ञानी विशि-  
ष्यते श्रेष्ठो भवति, यदसौ नित्ययुक्त एकभक्तिश्च । आर्त्तादिनाशा-  
दि कामनाविग्नान्नित्यं मया योगवान् । आर्त्तादिस्तु यावत्कामितप्रा-  
प्ति मद्योग एकस्मिन् भव्येव ज्ञानिनो भक्तिरार्त्तादिस्तु स्वकामितं  
तत् प्रदातृत्वेन मयि चातो ज्ञानी ततः श्रेष्ठः । अतृप्यन्नाह—प्रियो  
हीति । ज्ञानिनो हृदयमत्यर्थं प्रियः प्रेमास्पदम्, स हि मत्प्रियतामुपा-  
सिन्धुतिमग्नो नान्यत् किञ्चिदनुसन्धत्ते तस्य मत्प्रियतापरिमि-  
तेति बोधायितुमत्यर्थशब्दः, सर्वज्ञोऽनन्तशक्तिश्चाऽयं वक्तुं  
न शक्नोमीत्यर्थः । सच ज्ञानी ये यथा मामित्यादि न्यायेन तेषां

मम प्रियः, ममापि तत् प्रियता तद्वदपरिमितेत्यर्थः ॥१७॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।

आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥

सारा०ब०—तर्हि किमार्त्ताद्यास्तव न प्रियास्तत्र न हि,  
न हीत्याह—उदारा इति । ये मां भजन्ते मत्ताः किञ्चित्  
कामितं मयापि दत्तिसत् गृह्णन्ति, ते भक्तवत्सलाय मह्यं बहु  
प्रदायिनः प्रिया एवेति भावः । ज्ञानी त्वात्मैवेति, स हि  
भजन्नथ च मत्तः किमपि स्वर्गापवर्गादिकं नाकाङ्क्षत इति,  
अतस्तदधीनस्य मम स आत्मैवेति मम मतं मति, यतः स मां  
श्यामसुन्दराकारमेवानुत्तमां सर्वोत्तमां गतिं प्राप्यास्थितः  
निश्चितवान्; न तु मम निर्विशेषस्वरूपब्रह्मनिर्वाणमिति भावः ।  
एवञ्च निष्कामप्रधानीभूतभक्तिमान् ज्ञानी भक्तवत्सलेन भगवता  
स्वात्मत्वेनाभिमन्यते, केवलभक्तिमानन्यस्तु आत्मनोऽप्याधि-  
क्येन । यदुक्तं—“न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः ।  
न च सङ्क्षेपो न श्रीनैवात्मा च यथा भवान् ॥” इति, “नाह-  
मात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्बिना” इति, “आत्मारामोऽप्य-  
रीरमत्” इत्यादि ॥ १८ ॥

गी०भू०—नन्वात्तादयस्तव प्रिया न भवन्ति मैवमत्यर्थमिति विशे-  
षणादित्याह उदारा इति । सर्वे एवैते आर्त्तादय उदारा वंदा-  
न्याः । “उदारो दातृमहतोरि”त्यमरः । ये मां भजन्तो मया दित-  
सितं किञ्चित् स्वाभीष्टं मत्तो गृह्णन्ति ते भक्तवात्सल्यं मह्यं प्रय-  
च्छन्तो मम बहु प्रदाः प्रिया एवेति भावः । ज्ञानी तु ममात्मैवेति  
मतम् । हियस्मात् स ज्ञानी युक्तात्मा मदपितमना मत्तोऽन्यत्  
किञ्चिदप्यनिच्छन्नतिप्रियेण मया बिना लवमपि स्थातुमसमर्थो  
मामेव सर्वोत्तमां गतिं प्राप्यमास्थितः निश्चितवान् अतस्तेन तादृ-



शेन विना लवमपि स्थातुमसमर्थस्य ममात्मैव सः । न च ज्ञानि-  
जीवस्य हरिः स्वेनाभेदमाहेति वाच्यम् । ज्ञानिभजत्वामिद्वे-  
र्भजतां चातुर्विध्यामिद्वे र्भजते भेदवाक्यव्याकोपाच्च । तस्मा-  
दतिप्रियत्वादेव तत्रात्मेत्युक्तिर्ममात्मा भद्रसेन इतिवत् । आत्मैव  
मन एव मतमित्यपरे ॥१८॥

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥

सारा०ब०—ननु मामेवानुत्तमां गतिमास्थित इति ब्रूय  
अतः स ज्ञानिभक्तत्वामेव प्राप्नोति, किन्तु कियतः समयाद-  
न्तरं स ज्ञानी भक्त्यधिकारी भवतीत्यत आह—बहूनामिति ।  
वासुदेवः सर्वमिति—सर्वत्र वासुदेवदर्शी ज्ञानवान् बहूनां  
जन्मनामन्ते मां प्रपद्यते । तादृश—साधुर्याद्विच्छेदकसङ्गवशात्  
मत्प्रपत्तिं प्राप्नोति, स च ज्ञानी भक्तो महात्मा सुस्थिरचित्तः  
सुदुर्लभः—“मनुष्याणां सहस्रेषु” इति मदुक्तेः । ऐकान्तिक-  
भक्तस्तु किमुतेति, स तु अति सुदुर्लभ एवेति भावः ॥१९॥

गी०भू०—नन्यार्त्तादीनामन्ते का निष्ठेति चेत्तादृह—बहूना-  
मिति । आर्त्तादिस्त्रिविधा मद्भक्तः कृतमद्भक्तिमहिम्ना बहूनां जन्मा-  
न्युत्तमान विषयानन्दाननुभूय तेषु वितृष्णोऽन्ते जन्मनि मत्स्वरूप-  
ज्ञमत्प्रसङ्गात् ज्ञानवान् प्राप्तमत्स्वरूपज्ञानः सन् मां प्रपद्यते, ततो  
विन्दतीत्यर्थः । ज्ञानाकारमाह—वासुदेवेति । वसुदेवसुतः कृष्ण  
एव सर्व-वृष्णायत्ताम्वरूपस्थितिप्रवृत्तिकं सर्वं वास्तव्यर्थः । यो  
यदधीनस्वरूपस्थितिकं तत्तादात्म्यं व्यपदिश्यते, यथा प्राणा-  
धीनस्वरूपस्थितिकत्वात् प्राणरूपं बागादि व्यपदिष्टं ह्यादौम्ये-  
“न वै बाधो न चक्षुःपि न श्रोत्राणि न मनांसित्याचक्षते प्राण  
इत्येवाचक्षते प्राणो ह्येवैतानि सर्वानि भवन्ति” इति तत्राहुः-

सर्वं वस्तु वासुदेवेन व्याप्यमतः सर्वं वासुदेव इत्यर्थः । “सर्वं  
ममाप्रोपि ततोऽसि सर्वम्” इति पार्थो ब्रूयतीति । स हि  
निखिलस्पृहानिवृत्तिपूर्वकं मत्स्पृहो मदात्मात्युदारमना मन्नि-  
वेदितात्मा ज्ञानिकोऽपि सुदुर्लभः । एष ज्ञानवान् ‘प्रियो हि  
ज्ञानिनोऽत्यर्थम्’ इत्याद्युक्तलक्षणो बोध्यः ॥१९॥

कामैस्तैर्भूतैर्ह तज्ज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।

तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥

सारा०ब०—ननु आर्त्तादयः सकामा अपि भगवन्तं त्वां  
भजन्तः कृतार्था इव इत्यवगतम्, ये तु आर्त्तादयः  
आर्त्तिहानादिकामनया देवतान्तरं भजन्ते, तेषां का गतिरित्य-  
पेक्षायामाह—कामैरिति चतुर्भिः । हतज्ञाना इति रोगाद्यार्त्ति-  
हराः शीघ्रं यथा सूर्यादयस्तथा न विष्णुरिति नष्टबुद्धयः ।  
प्रकृत्येति स्वया प्रकृत्या नियता वशीकृताः सन्तस्तेषां दुष्टा  
प्रकृतिरेव मत्प्रपत्तौ पराङ्मुखीति भावः ॥२०॥

गी०भू०—तदित्थं कामनयापि मां भजन्तो मद्भक्तिमहिम्ना  
ते विमुच्यन्त इत्युक्तम् । ये तु शीघ्रसुखकामा देवतान्तर-  
भक्तास्ते संसरन्त्येवेत्याह—कामैरित्यादिभिश्चतुर्भिः । तैर्भूतैर्भूतै-  
विनाशादिबिषयकैः कामैर्हतज्ञाना यथादित्यादयः शीघ्रमेव रोग-  
विनाशादिकरास्तथा न विष्णुरिति नष्टधिय इत्यर्थः । तं तम-  
माधारणं स्वया प्रकृत्या वासनया नियता नियन्त्रितास्तेषां  
प्रकृतिरेव तादृशी-या मत्प्रपत्तौ वैमुख्यं करोतीति भावः ॥२०॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।

तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥

सारा०ब०—ते ते देवाः पूजां प्राप्य प्रसन्नास्तेषां स्वस्व-

पूजकानां हितार्थं त्वद्भक्तौ श्रद्धामुत्पादयिष्यन्तीति मा बादीर्यं-  
तस्ते देवाः स्वभक्तावपि श्रद्धामुत्पादयितुमशक्ताः किं पुनर्महभक्ता-  
वित्याह--यो य इति । यां यां तनुं सूर्य्यादिदेवरूपां मदीयां  
मूर्तिं विभूतिमर्चितुं पूजयितुम्, तामेव तत्तद्देवताविषयामेव,  
न तु स्वविषयां श्रद्धामहमन्तर्याग्येव विदधामि, न तु सा  
सा देवता ॥ २१ ॥

गी०भू०—सर्वान्तर्यामी महाविभूतिः सर्वहितेच्छुरहमेव  
तत्तद्देवतासु श्रद्धामुत्पाद्य ताः पूजयित्वा तत्तदनुरूपाणि फलानि  
प्रयच्छामि, न तु तासां तत्र तत्र शक्तिरस्तीत्याशयवानाह—य  
इति द्वाभ्याम् । यो य आर्चादिभक्तो यां यामादित्यादिरूपां  
मत्तानुं श्रद्धयार्चितुं बाञ्छति, तस्य तस्य तामेव तत्तद्देवता-  
विषयामेव, न तु मद्विषयाम्, अचलां स्थिराम् । विदधाम्यु-  
त्पादयाम्यहमेव, न तु सा सा देवता, श्रुतिश्च तत्तद्देवतानां  
मत्तनुत्वमाह—“य आर्चित्ये तिष्ठत्यादित्यादन्तरो यमादित्यो न  
वेद यस्यादित्यः शरीरम्” इत्याद्या ॥ २१ ॥

स तथा श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।

लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥ २२ ॥

सारा०ब०—ईहते करोति, स तत्तद्देवताराधनात् कामान्  
आराधनफलानि लभते । न च ते ते कामा अपि तैस्तैर्देवैः  
पूर्णाः कर्तुं शक्यन्त इत्याह--मयैव विहितान् पूर्णीकृतान् ॥ २२ ॥

गी०भू०—स तयेति । ईहते करोति, ततो मत्तानुभूत-तत्तद्-  
देवताराधनात् । कामान् फलानि तत्र तत्रोक्तानि । मयैवेति विहि-  
तान् रचितान्—यद्यपि तस्य तस्याराधकस्य तथा ज्ञानं नास्ति  
तथापि मत्तनुविषयेयं श्रद्धेत्यनुसन्धायाहं फलान्यर्पयामीति  
भावः ॥ २२ ॥

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।

देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ २३ ॥

सारा०ब०—किन्तु तेषां देवतान्तरभक्तानां फलं तत्तद्देवता-  
राधनजन्यमन्तवत् नश्वरं कैश्चित्कालिकं भवति । ननु आराधने श्रमे  
तुल्येऽपि देवतान्तरभक्तानां फलं नश्वरं करोषि, स्वभक्तानान्त्व  
नश्वरं करोषीति त्वयि परमेश्वरेऽयमन्यायस्तत्र नायमन्याय इत्याह-  
देवानिति । देवयजो देवपूजकाः देवानेव यान्ति प्राप्नुवन्ति,  
मत्पूजका अपि माम् । अयमर्थः--ये हि यत्पूजकास्ते तान्  
प्राप्नुवन्त्येवेति न्याय एव । तत्र यदि देवा अपि नश्वरास्तदा  
तद्भक्ताः कथमनश्वरा भवन्तु, कथन्तरां वा तद्भजनफलं वा न  
नश्यतु, अतएव, तद्भक्ता अल्पमेधसा उक्ताः । भगवांस्तु  
नित्यस्तद्भक्ता अपि नित्यास्तद्भक्तिर्भक्तिफलञ्च सर्वं नित्य-  
मेवेति ॥ २३ ॥

गी०भू०—ननु देवाश्चेत् त्वत्तानवस्तर्हि देवभक्तानां तद्भक्तानां  
च समानं फलं स्यादिति चेत्तत्राह—अन्तवदिति । तेषामल्पमेधसा-  
मादित्यादिमात्रबुद्ध्या, न तु मत्तानुबुद्ध्याराधयतां तत्तत्फल-  
मल्पमन्तवद्विनाशि च भवति, मत्तानुबुद्ध्याराधयतां तु फल-  
मनन्तमविनाशि चेति भावः । यस्मादादित्यादिदेवयजिनस्तान्  
स्वेज्यान् मितभोगान् मितायुषो यान्तीति, मद्भक्तास्तु मामेव नित्या-  
परिमितस्वरूपगुणविभूतिमदाराधनफलमनन्तमविनाशि चेति  
महदन्तरमित्यर्थः ॥ २३ ॥

अव्ययं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।

परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ २४ ॥

सारा०ब०—देवतान्तरभक्तानामल्पमेधसां वार्त्ता दूरे तावदा



स्ताम्, वेदादिसमस्तशास्त्रदर्शिनोऽपि मत्तत्त्वं न जानन्ति ।  
 “अथापि ते देव पदाम्बुजद्वयप्रसादलेशानुगृहीत एव हि ।  
 जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो न चान्य एकोऽपि चिरं विचि-  
 न्वन् ॥” इति ब्रह्मणापि मां प्रत्युक्तम् । अतो मद्भक्तान विना  
 मत्तत्त्व-ज्ञाने सर्वत्र बालपबुद्धय इत्याह—अव्यक्तं प्रपञ्चातीतं  
 निराकारं ब्रह्मैव मां मायिकाकारत्वेनैव व्यक्तिं वसुदेवगृहे जन्म  
 प्राप्तं निर्व्युद्धयो मन्यन्ते, मायिकाकारस्यैव दृश्यत्वादिति  
 भावः ; यतो मम परं भावं मायातीतं स्वरूपजन्मकर्मलीलादि-  
 कमजानन्तः । भावं कीदृशम् ? अव्ययं नित्यमनुत्तमं सर्वोत्त-  
 मकृष्टम् “भावः सत्ता स्वभावाभिप्रायचेष्टात्मजन्मसु । क्रिया-लीला-  
 पदार्थेषु” इति मेदिनी । भगवत्स्वरूप-गुणजन्मकर्मलीलाना-  
 मनाद्यन्तत्वेन नित्यत्वं श्रीरूप-गोस्वामिचरणैर्भागवतामृतप्रस्थं  
 प्रतिपादितम् । “मम परं भावं स्वरूपमव्ययं नित्यविशुद्धोर्जित-  
 मत्त्वमूर्तिम्” इति स्वामिचरणैश्चोक्तम् ॥ २४ ॥

गो०भू०—अथ का वार्त्ता मदन्यदेवयाजिनामल्पमेधमामुप-  
 निषन्निष्णातानामपि मद्भक्तिरिक्तानां मत्तत्त्वधीनं स्यादित्याशये-  
 नाह—अव्यक्तमिति । अव्युद्धयो मत्तत्त्वयाथात्म्यबुद्धिशून्या जना  
 अव्यक्तं स्वप्रकाशात्मविप्रदत्त्वादिन्द्रियाविषयं मां व्यक्तिमापन्नं  
 तद्विषयां मन्यन्ते । देवक्यां वसुदेवात् मत्त्वोत्कृष्टेन कर्मणा  
 सञ्जातमितगराजपुत्रतुल्यं मां बदन्ति, यतस्तं मदांभक्तमत्प्रमङ्गा-  
 भावान्मम भावं परमव्ययमनुत्तममजानन्तः—“भावः सत्ता स्व-  
 भावाभिप्रायचेष्टात्मजन्मसु । क्रियालीलापदार्थेषु विभूतिवृ-  
 जन्तुषु” इति मेदिनीकारः, मद्भक्तिहीनास्ते मम स्वरूपगुणजन्म-  
 लीलादिलक्षणभावं मायादितः परमतोऽव्ययं नित्यमनुत्तमं सर्वो-  
 त्तमं न, किन्त्वन्यबन्मायिकमनित्यं साधारणञ्च गृह्णन्त इत्यर्थः ।  
 स्वरूपं हरेर्विज्ञानानन्दैकरसं—“विज्ञानमानन्दं ब्रह्म” इत्यादेः । सार्व-

ज्ञादिगुणगणस्तस्य स्वरूपानुबन्धी—“अनन्तकल्याणगुणात्मको-  
 ऽसौ” इत्यादेः । अभिव्यक्तिमात्रं जन्म—“अजोऽपि सन्” इत्यादेः,  
 परन्तु अव्यक्तस्यैव भजत्सु प्रसादेनैवाभिव्यक्तिशीलं—“न शक्यः  
 स त्वया द्रष्टुमर्माभिर्वा बृहस्पते । यस्य प्रसादं कुरुते स वै तं  
 द्रष्टुमर्हति ॥” इत्यादेः ॥ २४ ॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।

मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥ २५ ॥

सारा०व०—ननु यदि त्वं नित्यरूपगुणलीलोऽसि, तदा ते  
 तथाभूता माव्येकालिकी स्थितिः कथं न दृश्यते ? तत्राह—  
 नाहमिति । अहं सर्वस्य सर्वदेशकालवर्त्तिनो जनस्य न प्रकाशो  
 न प्रकटः । यथागुणलीलापरिकरत्वेन सदैव विराजमानोऽपि  
 कदाचिदेव केपुचिदेव ब्रह्माण्डेषु । किञ्च सूर्यो यथा सुमेरु-  
 शैलावरणवशात् सर्वदा लोकदृश्यो न भवति, किन्तु कदाचिदेव  
 तथैवाहमपि योगमायया समावृतः । न च ज्योतिश्चक्रवर्त्ति-  
 मानानां प्राणिनां ज्योतिश्चक्रमध्ये सामस्येन सदैव विराज-  
 मानोऽपि सूर्यः सर्वकालदेशवर्त्तिजनस्य न प्रकटः, किन्तु  
 कदाचित्केषु च भारतादिषु खण्डेषु वर्त्तमानस्य जनस्यैव,  
 तथैवाहमपि । स्वधामसु स्वरूपसूर्यो यथा सदैव दृश्यस्तथैव  
 श्रीकृष्णधामनि मथुराद्वारकादौ स्थितानाभिदानीन्तनानां जनानां  
 तत्रस्थः कृष्णः कथं न दृश्यो भवति ? उच्यते—यदि ज्योतिश्च-  
 क्रमध्ये सुमेरुभाविष्यत्तादा तत्रापि तदावृतः सूर्यो दृश्यो  
 नाभविष्यत् । तत्र तु मथुराद-कृष्णधामनि सुमेरुस्थानीया  
 योगमायैव सदा वर्त्तन्ते उत्पन्नस्तदावृतः कृष्णाकः सदा न  
 दृश्यते किन्तु कदाचिदेवेति सर्वमनवयम् । अतो मूढो लोको  
 मां श्याममुन्दराकारं वसुदेवात्मजमव्ययं मायिकजन्मादिशून्यं

नाभिजानाति । अतएव कल्याणगुण-वारिधिं मामप्यन्त-  
तस्त्यक्त्वा मन्निर्विशेषस्वरूपं ब्रह्मैवोपासत इति ॥ २५ ॥

गी०भू०—ननु भक्ता इवाभक्ताश्च त्वां प्रत्यक्षीकुर्वन्ति प्रसा-  
दादेव भजत्स्वभिव्यक्तिरिति कथम् ? तत्राह-नाहमिति । भक्ता-  
नामेवाहं नित्यविज्ञामसुखधनोऽनन्तकल्याणगुणकर्म प्रकाशो-  
ऽभिव्यक्तो, न तु सर्वेषामभक्तानामपि । यदहं योगमायया समा-  
वृतो मद्विमुखव्यामोहकत्वयोगयुक्त्या मायया समाच्छन्नपरिसर  
इत्यर्थः, यदुक्तं—“मायाजबनिकाच्छन्नमहिम्ने ब्रह्मणे नमः” इति ।  
मायामूढोऽयं लोकोऽति-मानुषदैवतप्रभावं विधिरुद्रादिबन्धित-  
मपि मां नाभिजानाति । कीदृशम् ? अजं जन्मशून्यं यतो-  
ऽव्ययमप्रच्युतस्वरूपसामर्थ्यसार्वज्ञ्यादिकमित्यर्थः ॥ २५ ॥

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।

भविष्याणि च भूतानि मान्तु वेद न कश्चन ॥ २३ ॥

सारा०व०—किञ्च मायायाः स्वाश्रयव्यामोहकत्वाभावाद्-  
बहिरङ्गा माया, अन्तरङ्गा योगमाया च मम ज्ञानं नावृणो-  
तीत्याह—वेदाहमिति । मान्तु कश्चन प्राकृतोऽप्राकृष्ट लोको  
महारुद्रादिर्महासर्वज्ञोऽपि न कर्तन्येन वेद, यथायोगं मायया  
योगमायया च ज्ञानावरणादिति भावः ॥ २६ ॥

गी०भू०—ननु मायावृतत्वात्तव जीवबद्धज्ञतापत्तिरिति चेत्-  
त्राह-वेदाहमिति । न हि मदधीनया मत्तोजसाभिभूतया दूरतो  
जवानिकयैव मां सेवमानया मायया मम काचिद्विकृतिरित्यर्थः ।  
मान्तु वेदेति मज्ज्ञानी कोटिष्वपि सुदुर्लभ इत्यर्थः ॥ २६ ॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।

सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥ २७ ॥

सारा०व०—त्वन्मायया जीवाः कदारभ्य मुह्यन्तीत्यपेक्षाया-  
माह—इच्छेति । सर्गे जगत्सृष्ट्यारम्भकाले सर्वभूतानि सर्वे  
जीवाः सम्मोहयन्ति, केन ? प्राचीनकर्मोद्बुद्धौ यावच्छाद्वेषौ  
इन्द्रियाणामनुकूले विषये इच्छाऽभिलाषः, प्रतिकूले द्वेषः, ताभ्यां  
समुत्थः समुद्भूतो यो द्वन्द्वे मानापमानयोः शीतोष्णाद्योः  
सुखदुःखयोः स्त्रीपुंसयोर्मोहः ‘अहं सम्मानितः सुखी’ अहम-  
बमानितो दुःखी, ममेयं स्त्री, ममायं पुरुषः—इत्याद्याकारक  
आविश्यको यो मोहस्तेन सम्मोहं स्त्रीपुत्रादिष्वत्यन्तासक्तिं प्राप्नु-  
वन्ति, अतएवात्यन्तासक्तानां न मद्भक्तावधिकारः, यदुद्धवं प्रात  
मयैव वक्ष्यते—“यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान् ।  
न निर्विण्णो नातिसक्ता भक्तियोगोऽस्य मिद्विदः ॥” इति ॥ २७ ॥

गी०भू०—त्वज्ज्ञानी कुतः सुदुर्लभस्तत्राह—इच्छेति । सर्गे  
स्वोत्पत्तिकाले एव सर्वभूतानि सम्मोहं यान्ति । केनेत्याह—द्वन्द्व-  
मोहेनेति । मानापमानयोः सुखदुःखयोः स्त्रीपुरुषयोर्द्वन्द्वैर्यो  
मोहः मत्कृतोऽहं सुखी म्यामसत्त्वस्तु दुःखी ममेयं पत्नी ममायं  
पतिरित्येवमभिनिवेशलक्षणस्तेनेत्यर्थः । कीदृशेनेत्याह—इच्छेति—  
पूर्वजन्मनि यत्र यत्र यावच्छाद्वेषावभूतां ताभ्यां संस्कारात्मना  
स्थिताभ्यां समुत्तिष्ठति परजन्मनि तत्र तत्रोत्पद्यत इत्यर्थः । इच्छा  
रागः, एवं सर्वेषां भूतानां समूढत्वान्मज्ज्ञानी सुदुर्लभः ॥ २७ ॥

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।

ते द्वन्द्वमोहानिमुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ २८ ॥

सारा०व०—तर्हि केषां भक्तावधिकार इत्यत आह—येषां  
पुण्यकर्मणां पापं त्वन्तं गतमन्तकालं प्राप्तं नश्यदवस्थम्,  
न तु सम्यक् नष्टमित्यर्थः । तेषां सत्त्वगुणोद्रेके मति तमो-  
गुणहासः । तस्मिन् सति तत्कार्यो मोहोऽपि हसति । मोहहासे



सति ते खल्वत्यासक्तिरहिता यादृच्छिकमद्भक्तसङ्गेन भजन्ते  
मात्रम् । ये तु भजनाद्यभ्यासतः सन्यक् नष्टपापास्ते मोहेन  
निःशेषेण मुक्ता दृढव्रताः प्राप्तिनिष्ठाः सन्तो मां भजन्ते । न  
चैवं पुण्यकर्मैव सर्वविधाया भक्तेः कारणमिति मन्तव्यम्,  
“सन्न्यासादेन सांख्येन दानव्रततपोऽध्वरैः । व्याख्या-स्वाध्याय-  
सन्न्यासैः प्राप्नुयाद्यत्नवानपि ॥” इति भगवदुक्तेः । केवल-  
भक्तियोगस्य पुण्यादिकर्माश्रयं नैव कारणमिति बहुशः प्रति-  
पादनात् ॥ २८ ॥

गी०भू०—ननु केपाश्चित् त्वद्भक्तिः प्रतीयते सा न स्यात्  
सर्वभूतानि सर्गे संमोहं यान्तीत्युक्तेरिति चेत्तत्राह-येषां  
प्राणिनां यादृच्छिकमहत्तामदृष्टिपातात् पापमन्तगतं नाशं प्राप्तम-  
भूत्—“विष्णोर्भूतानि भूतानां पावनाय चरन्ति हि” इति स्मृतं ।  
कीदृशानामित्याह-पुण्येति । पुण्यं मनोज्ञं कर्म महत्तामर्वाक्ष-  
रूपं येषां—“पुण्यं तु चाव्ययम्” इत्यमरः । ते दृढव्रता महत्प्रसङ्ग-  
प्राप्तिनिष्ठा द्वन्द्वमोहेन निर्मुक्ता मत्तात्त्वज्ञाः सन्तो मां भजन्ते । २८॥

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।

ते ब्रह्म तद्धिदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२९॥

सारा०ब०—तदेवमार्त्ताद्यास्त्रयः सकामा मां भजन्तः कृतार्था  
भवन्तीति । देवतान्तरं भजन्तस्तु च्यवन्त इत्युक्त्वा स्वस्या-  
भजनेऽप्याधिकारिणश्चोक्ता भगवता । इदानीमन्यः सकामः  
चतुर्थोऽपि मद्भक्तोऽस्तीत्याह—जरेति । जरामरणयोर्मोक्षाय  
नाशाय ये योगिनो यतन्ति यतन्ते, ते मोक्षकामा मां भजन्तीति  
फलितोऽर्थः, ते नत्प्रसिद्धं ब्रह्म तथा कृत्स्नमात्मानं देहमधिकृत्य  
भोक्तृतया वर्त्तमानमध्यात्मं जीवात्मानमाखिलं कर्म च नाना-  
विधकर्मजन्यं जीवस्य संसारश्च मद्भक्तिप्रभावादेव विदुर्जा-  
नन्ति ॥ २९ ॥

गी०भू०—तदेवमार्त्तादयः सकामा मद्भक्ताः कामाननुभूयान्ते  
मां प्रपद्य विन्दन्ति मदन्यदेवभक्तास्तु संसरन्तीत्युक्तम् । अथ  
तेभ्योऽन्योऽपि सकामो मद्भक्तोऽस्तीत्युच्यते—जरेति—ये जराम-  
रणाभ्यां विमोक्षाय तन्मात्रकामाः सन्तो मामाश्रित्य मदर्त्ता  
मेवित्वा यतन्ते—तत्प्रणामादि कुर्वन्ति, ते तत् प्रसिद्धं ब्रह्म  
कृत्स्नं सपरिकरं विदुरध्यात्मं चाखिलं कर्म च विदुः । ब्रह्मादि-  
शब्दानामधिभूतादिशब्दानाञ्चार्थाः परस्मिन्नध्याये भगवतैव  
व्याख्यास्यन्ते । मदर्त्ता-मेवया विज्ञेयं विज्ञाय मुक्तिं लभन्ते, न  
तु मद्वश्यताकरी मत्प्रियतामित्यर्थः । स्मृतिश्चैवमाह—“सकृद्य-  
दङ्ग प्रतिमान्तराहिता मनोमयी भागवती ददा गतिम्”  
इत्याद्या ॥२९॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।

प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्मुक्तचेतसः ॥३०॥

इति महाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्म-  
पर्वणि श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्री-  
कृष्णाञ्जुनसंवादे ज्ञान-विज्ञान-योगो नाम सप्तमोऽध्यायः ।



सारा०ब०—मद्भक्तिप्रभावाद्वेषामीदृशं मज्ज्ञानं स्यात्तोपा-  
मन्तकालेऽपि तदेव ज्ञानं स्यात्, न त्वन्येषामिव कर्मोपस्थापिता  
भाविदेहप्राप्तचतुरुपा मनिरित्याह—साधिभूतेति । अधिभूता-  
दयोऽग्रिमाध्याये व्याख्यास्यन्ते । भक्ता एव हरेस्तत्त्वविदो  
मायां तरन्ति, ते चोक्ताः षड्विधा अत्रेत्यध्यायार्थो निरूपितः ॥३०॥

इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् ।

गीतासु सप्तमोऽध्यायः सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥ (३)

गी०भू०—न च तत्सेवया प्राप्तं तज्ज्ञानं कदाचिदपि भ्रंश-  
तेत्याह—साधीति । अधिभूतेनाधिदैवेनाधियज्ञेन च महितं मां  
ये विदुः सत्प्रसङ्गाज्ज्ञानन्ति, ते प्रयाणकाले मृत्युसमयेऽपि मां  
विदुर्न तु तदन्यवद्व्यग्राः सन्तो मां विस्मरन्तीत्यर्थः ॥३०॥

मां विदुस्तत्त्वतो भक्ता मन्मायामुत्तारन्ति ते ।

ते पुनः पञ्चधेत्येष सप्तमस्य विनिर्णयः ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्भाष्ये सप्तमोऽध्यायः ।

—५२१—

## अष्टमोऽध्यायः

—५२२—

अर्जुन उवाच—

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।

अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥१॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।

प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥२॥

सारा०ब०—पार्थप्रश्नोत्तरं योगं मिश्रां भक्तिं प्रमङ्गतः ।

शुद्धाश्च भक्तिं प्रोवाच द्वे गती अपि चाष्टमे ॥ (१)

पूर्वार्धाध्यायान्ते ब्रह्मादिसप्तपदार्थानां ज्ञानं भगवतोक्तम् ।  
अत्र तेषां तत्त्वं जिज्ञासुः पृच्छति द्वाभ्याम्—अत्र देहे कोऽधियज्ञो  
यज्ञाधिष्ठाता, स चास्मिन् देहे कथं ज्ञेय इत्युत्तरम्यानुषङ्गी ॥१-२॥

गी०भू०—उक्तान् पृष्ठः क्रमाद्व्याख्यद्ब्रह्मादीन् दार्ष्टम्यं ।

योगमिश्राश्च शुद्धाश्च भक्तिमार्गद्वयं तथा ॥

गी०भू०—पूर्वार्धाध्यायान्ते मुमुक्षुणां ज्ञेयतयोद्दिष्टान् ब्रह्मादीन्  
सप्तार्थान् विबोद्धुमर्जुनः पृच्छति—किं तद्ब्रह्मेति—किं पर-  
मात्मचैतन्यं वा, किं जीवात्मचैतन्यं वा तद्ब्रह्मेत्यर्थः । किम-  
ध्यात्ममिति—आत्मानं देहमधिकृत्येति निरुक्तेः, श्रोत्रादीन्द्रिय-  
वृन्दं वा सूक्ष्मभूतवृन्दं वा तदिति । किं कर्ममिति—लौकिकं  
वैदिकं वा तदिति । आवयोस्तौल्यात् किमिति मां पृच्छामीति  
शङ्कां निवर्त्तयितुं सम्बोधनं—हे पुरुषोत्तमेति, परेशत्वात्तव  
सर्वं सुविदितं, न तु ममेति भावः । अधिभूतञ्च किमिति—भूता-  
न्यधिकृत्येति निरुक्तेर्घस्यादिकार्यं वा स्थूलशरीरं वा तदिति ।  
अधिदैवं किमिति—देवताविषयकमनुष्ठानं वा समष्टिबिराट् वा  
तदिति ॥१॥

गी०भू०—अधियज्ञः क इति—यज्ञमधिगत इन्द्रादिर्वा  
विष्णुर्वा स इति, कथामिति तस्याधियज्ञभावः कथमित्यर्थः ।  
एतत् सर्वं मत्सन्देहनिवारणं तवेष्टकरमिति बोधयितुं सम्बो-  
धनं—हे मधुसूदनेति । प्रयाणेति—तदा सर्वेन्द्रियव्यग्रतया  
चित्तासमाधानासम्भवादिति भावः ॥२॥

श्रीभगवानुवाच—

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।

भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥३॥

सारा०ब०—उत्तरमाह—अक्षरमिति । न क्षरतीत्यक्षरं नित्यं  
यत् परमं तद्ब्रह्म—“एतद्वे तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति”  
इति श्रुतेः । स्वभावः स्वमात्मानं देहाध्यासवशाद्भावयति जनय-  
तीति स्वभावो जीवः, यद्वा स्वं भावयति परमात्मानं प्रापय-  
तीति ‘स्वभावः’ शुद्धजीवोऽध्यात्ममुच्यते—अध्यात्म-शब्दबाच्य  
इत्यर्थः । भूतैरेव भावानां मनुष्यादिदेहानामुद्भवं करोतीति स



विसर्गो जीवस्य संसारः कर्मजन्यत्वात् कर्मसंज्ञः, कर्मशब्देन जीवस्य संसार उच्यते इत्यर्थः ॥ ३ ॥

गी०भू०—एवं पृष्ठो भगवान् क्रमेण सप्तानामुत्तरमाह—  
अक्षरमिति । न क्षरतीति निरुक्तेरक्षरं यत् परमं देहादिबिभक्तं  
जीवात्मचैतन्यं तन्मया ब्रह्मेत्युच्यते । तस्याक्षरशब्दत्वं ब्रह्मशब्द-  
त्वञ्च—“अव्यक्तमक्षरे लीयतेऽक्षरं तमसि लीयते तम एका-  
भवति पश्मिन्निति विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद” इति च श्रुतेः । स्वभाव  
इति—स्वस्य जीवात्मनः सम्बन्धी यो भावो भूतसूक्ष्मतद्भावा-  
तक्षणपदार्थः । पञ्चाग्निविद्यायां पठितस्तदात्मानं संवध्यमान-  
त्वान्मयाध्यात्ममुच्यते । भूतेति—तेषां सूक्ष्माणां भूतानां स्थूलैस्तैः  
संपृक्तानां भावो मनुष्यादिलक्षणस्तदुद्भवकरस्तदुत्पादको यो  
विसर्गः स कर्मसंज्ञितः—ज्योतिष्टोमादिकर्मणा स्वर्गमाभाय  
तस्मिन् देवदेहेन तत्कर्मोपभुज्यमाणसंक्रान्तधृतशेषबद्धो गोव्य-  
रितो यः कर्मशेषो भुवि मनुष्यादिदेहलाभाय विसृष्टस्तन्मया  
कर्मचिन्तितः । छान्दाग्ये—य पर्जन्यपृथिवी पुरुषयोपित्सु पञ्च-  
स्वाग्निषु श्रद्धासोमवृष्ट्यन्नरंतामि क्रमान् पञ्चाहुतयः पच्यन्ते ।  
तत्रायमर्थः—वैदिको जीव इहलोकेऽस्मयानि दध्यादीनि श्रद्धया  
जुहोति । ता दध्यादिमग्नयः पञ्चीकृतत्वात् पञ्चभूतरूपा आपः  
श्रद्धया हुतत्वात् श्रद्धाख्याहुतित्वरूपेण तस्मिन् जीवे संवद्धा-  
स्तिष्ठन्ति—अथ तस्मिन् मृते तदिन्द्रियाधिष्ठातारो देवास्ता-  
व्युत्पन्नो जुहोति । तद्वन्तं जीवं दिवं नयन्तीत्यर्थः । हुतास्ताः  
सोमराजाख्य-दिव्यदेहतया परिणमन्ते, तेन देहेन स तत्र कर्म-  
फलानि भुङ्क्ते । तद्भोगावमानेऽस्मयो जीववान् देहैस्तैर्देवैः  
पर्जन्याग्नी हुतो वृष्टिर्भवाति । वृष्टिभूतास्ताः सजीवाः पृथिव्यग्नी  
तैर्हुता ब्रह्माद्यन्नभावं लभन्ते । अन्नभूताः सजीवास्ताः पुरु-  
षाग्नी हुता रंताभावं भजन्ते । रंताभूताः संजीवास्ता योपिदग्नी

तैर्हुता गर्भित्पिता स्थिता मनुष्यभावं प्रयान्तीति तद्भावहेतु-  
रनुशयशब्दवाच्यः कर्मशेषः कर्मेति । एवमेवोक्तं सूत्रकृता-  
“तदन्तरप्रतिपत्तौ” इत्यादिभिः ॥ ३ ॥

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।

अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥

सारा०ब०—क्षरो नश्वरो भावः पदार्थो घटपटादिरधि-  
भूतमधिभूतशब्दवाच्यः, पुरुषः सर्माष्टविराड्विदैवतमधिदैवत-  
शब्दवाच्यः—“अधिवृत्य वर्त्तमानानि सूर्यादिदैवतानि यत्र”  
इति तान्निरुक्तेः । अत्र देहेऽधियज्ञो यज्ञादिकर्मप्रवर्त्तिको-  
ऽन्तर्याम्याहं मदंशकत्वादहमेत्येव-कारेण कथं ज्ञेय इत्यम्यो-  
त्तरमन्तर्यामित्वेऽहमेव, मदभिन्नत्वे नैव ज्ञेयो न त्वध्यात्मादि-  
ग्विदं मद्भिन्नत्वेनेत्यर्थः । देहे देहभृतां वरोति त्वन्तु साक्षान्मत्-  
सखत्वात् सर्वश्रेष्ठ एव भवसीति भावः ॥ ४ ॥

गी०भू०—अधीति । क्षरः प्रतिक्षणपरिणामी भावः स्थूलो  
देहः स मयाधिभूतमित्युच्यते-भूतं प्राणिनमाधिवृत्य भवतीति  
व्युत्पत्तेः । पुरुषः सर्माष्टविराट् स मयाधिदैवमित्युच्यते-अधि-  
वृत्य वर्त्तमानान्यादित्यादीनि दैवतान्यत्रेति व्युत्पत्तेः । अत्र  
देहेऽधियज्ञो-यज्ञमधिकृत्य वर्त्तते इति व्युत्पत्तेस्तत्प्रवर्त्तिकस्तत्फल-  
प्रदश्चाहमेव । प्रत्याख्येयानि तु स्वयमेवोद्धारानि । एव कारेण स्व-  
स्मात्तस्य भेदो निराकृतः । अनेन ‘कथम्’ इत्यस्याप्युत्तरमुक्तं—  
प्रादेशमात्रवपुर्वत्वेनान्तर्नियमयन्नहं यज्ञादिप्रवर्त्तिक इत्यर्थः । तथा  
च मदर्थमिवनादेतान् ब्रह्मादीन् सप्तार्थान् स्वरूपतोऽश्रमेण विन्द-  
तीति ; तत्र ब्रह्माधियज्ञो प्राप्यतयाध्यात्मादीनि तु हेयतयेति ॥ ४ ॥

अन्तर्काले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।

यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥

सारा०ब०—प्रयाणकाले कथं ज्ञेयोऽसीत्यस्योत्तरमाह—  
अन्तकाले चेति । मामेव स्मरन्निति मत्स्मरणमेव मज्ज्ञानम्,  
न तु घटपटादिरिबाहं केनापि तत्त्वतो ज्ञातुं शक्य इति भावः ।  
स्मरणरूपज्ञानस्य प्रकारस्तु चतुर्दशश्लोके वक्ष्यते ॥ ५ ॥

गी०भू०—प्रयाणकाले कथं ज्ञेयोऽसीत्यस्योत्तरमाह—अन्तेति—  
अत्र स्मरणात्मकेन ज्ञानेन ज्ञेयो भवन्मद्भावापोपलम्भनञ्च तत्फलं  
प्रयच्छामीत्युक्तम् । तत्र मद्भावं मत्स्वभावमित्यर्थः । यथाहमप-  
हृतपाप्मत्वादiguणाष्टर्काविंशष्टस्वभावस्तादृशः स मत्स्मर्त्ता  
भवतीति ॥ ५ ॥

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥

सारा०ब०—मामेव स्मरन्मां प्राप्नोतीतिबन्मदन्यगपि  
स्मरन्मदन्यमेव प्राप्नोतीत्याह—यं यमिति । तस्य भावेन भावने-  
नानुचिन्तनेन भावितो बासितगतन्मयीभूतः ॥ ६ ॥

गी०भू०—न च मत्स्मर्त्तौव मद्भावं यातीति नियमः, किन्त्व-  
न्यस्मर्त्ताप्यन्यभावं यातीत्याह—यं यमिति । भावं पदार्थम् ; तं  
तमेव भावदेहत्यागोत्तरमेवैति—यथा भरतो देहान्ते मृगं चिन्त-  
यन् मृगोऽभूत् । अन्तमस्मृतिश्च पूर्वमृतविषयैव भवतीत्याह—  
सदेति । तद्भावभावितस्तत्स्मृतिवासितचिन्ताः ॥ ६ ॥

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्यस्व ।

मय्यर्पितमनोबुद्धिर्ममिवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥

सारा०ब०—मनः सङ्कल्पकात्मकम्, बुद्धिर्व्यवसायात्मिका ॥ ७ ॥

गी०भू०—यस्मात् पूर्वमृतविषयैव अन्तमस्मृतिहेतुस्तस्मात् त्वं  
सर्वेषु कालेषु प्रतिक्षणं मामनुस्मर युध्यस्व च लोकसंग्रहाय

युद्धानीनि स्वाचितानि कर्माणि कुरु । एवं मय्यर्पितमनो-  
बुद्धिस्त्वं मामेवैष्यसि, न त्वन्यदित्यत्र सन्देहस्ते माभूत् ॥ ७ ॥

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।

परमं पुरुषं दिव्यं याति पर्यानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥

सारा०ब०—तस्मात् स्मरणाभ्यासेन एवान्तकाले स्वतएव  
मत्स्मरणं भवति, तेन च मां प्राप्नोतीत्यतश्च तस्यो मत्स्मरणमेव  
परमो योग इत्याह—अभ्यासयोग इति । अभ्यासो मत्स्मरणस्य  
पुनः पुनरावृत्तिरेव योगस्तद्युक्तेन चेतसा, अतएव नान्यं  
विषयं गन्तुं शीलं यस्य तेन, स्मरणाभ्यासेन चित्तस्य स्व-  
भावविजयोऽपि भवतीति भावः ॥ ८ ॥

गी०भू०—सात्त्विकी स्मृतिरेवान्तिमस्मृतिकरीत्येवं द्रष्टव्यं—अ-  
भ्यासेति । अभ्यासः स्मरणावृत्तिरेव योगस्तद्युक्तेनातएवानन्य-  
गामिना, ततोऽन्यत्राचलता तदेकाग्रेण चेतसा दिव्यं पुरुषं परमं  
सश्रीकं नारायणं बासुदेवमनुचिन्तयन् तमेव कीदृशमन्यायेन  
तत्तुलाः सन् याति लभते ॥ ८ ॥

कविं पुराणमनुशासितार मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।

मर्क्स्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः पररताम् ॥ ९ ॥

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन

भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।

श्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्

स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ १० ॥

सारा०ब०—योगाभ्यासं विना मनसो विषयप्रामात्रिबुद्धि-



दुर्घटा, यच्च बिना सातत्येन भगवत्स्मरणमपि दुर्घटमिति युक्तम् । केनचित् योगाभ्यासेन सहितैव भाक्तिः क्रियत इति तां योगमिश्रां भक्तिमाह—कर्त्विमिति पञ्चभिः । कवि सर्वज्ञं सर्वज्ञोऽप्यन्यः सनकादिः सार्वकालिको न भवत्यत आह—पुराण-मनादि सर्वज्ञोऽनादिरप्यन्तर्गामी स भक्त्युपदेशा न भवत्यत आह—अनुशासितारम्, कृपया स्वभक्तिशिक्षकं कृष्णरामादि-स्वरूपमित्यर्थः । तादृशकृपालुरपि सुदुर्बिज्ञेयतत्त्व एव इत्याह-अणोः सकाशादप्यणीयांसम् । तर्हि स किं जीव इव परमाणु-प्रमाणस्तत्राह—सर्वस्य धातारं सर्ववस्तुमात्रधारकत्वेन सर्व-व्यापकत्वात् परं महापरिमाणमपीत्यर्थः, अतएवाचिन्त्यरूपम् । पुरुषविधत्वेन मध्यमपरिमाणमपि तस्यानन्यप्रकाश्यत्वमाह—आदित्यवर्णमादित्यवत् स्वपरप्रकाशको वर्णः स्वरूपं यस्य, तथा तमसः प्रकृतेः परस्तात् वर्त्तमानं मायाशक्तिमन्तमपि मायातीतस्वरूपमित्यर्थः । प्रयाणकालेऽन्तकालेऽचलेन निश्चलेन मनसा या सततस्मरणमयी भाक्तिस्तया युक्तः । कथं मनसा नैश्वर्यम् ? अत आह—योगस्य योगाभ्यासस्य बलेन । योग-प्रकारं दर्शयति—भ्रुवोर्मध्ये आज्ञाचक्रे ॥ ६-१० ॥

गी०भू०—योगादृते चेतसोऽनन्यगामिता दुष्करोति योग-मिश्रां भक्तिमाह—कर्त्विमत्यादिभिः पञ्चभिः । कवि सर्वज्ञम्, अनुशासितारं रघुनाथारूपेण हितोपदेशारम् ; अणोरणीयांसं तेन चाणुर्माप जीवमन्तः प्रविशतीति सिद्धम् ; आह चैवं श्रुतिः—“अन्तःप्रावृष्टः शास्ता जनानाम्” इति । अणीयमोऽपि तस्य व्याप्तिमाह—सर्वस्येति । कृत्स्नस्य जगतो धातारं धारकम्, ननु कथमेवं संगच्छते तत्राह—आचिन्त्यरूपमचित्त्वस्वरूपं “एकमेव ब्रह्म पुरुषाविधत्वेन मध्यमपरिमाणमणोरणीयांसम्” इत्युक्तेः, “परमाणुपरिमाणं सर्वस्य धातारम्” इत्युक्तेः, “परं महापरि-

माणं” चेति ; नात्र युक्तेरवकाशः । स्वप्रकाशतामाह—आदि-त्येति सूर्यवत् स्वपरप्रकाशकमित्यर्थः । मायागन्धास्पर्शमाह—तमस इति, तमसो मायायाः परस्तात् स्थितं—मायिनमपि माया-तीतमित्यर्थः । एतादृशं पुरुषं योऽनुक्षणं स्मरेत्, स तं परं पुरुष-मुपैति इति परेणान्वयः । यो जनो भक्त्या परमात्मप्रेम्णा योगबलेन समाधिजनितसंस्कारनिचयेन च युक्तः प्रयाणकाले मरणसमयेऽचलेनैकाप्रेण मनसा तं पुरुषमनुस्मरेत् । योगप्रकार-माह—भ्रुवोर्मध्ये आज्ञाचक्रे प्राणमावेश्य संस्थाप्य सम्यक् सावधानः सन्न स तं पुरुषमुपैति ॥ ६-१० ॥

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति

विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति

तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥

सार०ब०—ननु भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य, इत्येतावन्मा-त्रोक्त्या योगो न ज्ञायते, तस्मात् तत्र योगे प्रकारः कः, किं जप्यम्, किं वा ध्येयम्, किं वा प्राप्यमित्यपि संक्षेपेण ब्रूही-त्यपेक्षायामाह—यदिति त्रिभिः । यदेवाक्षरं ओमित्येकाक्षरवाच्यं ब्रह्म यतयो विशन्ति, तत्पदं पद्यत गम्यते इति पदं प्राप्यम् सम्यक्तया गृह्यतेऽनेनेति संग्रहस्तदुपायस्तेन सह प्रवक्ष्ये शृणु ॥ ११ ॥

गी०भू०—ननु भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्येतावता योगो नाव-गम्यते, तस्मात्तस्य प्रकारं तत्र जप्यं प्राप्यं ब्रूहीत्यपेक्षायामाह—यदक्षरमिति त्रिभिः । एकमेव ब्रह्म—द्विरूपं, वाचकं वाच्यञ्च तं स्थितम् । तत्र वेदविदो यद्ब्रह्म अक्षरमोमिति वाचकं वदन्ति, वीतरागा विनष्टाविद्या यतयो यद्ब्रह्म तद्वाच्यभूतं विज्ञानैकरमं विशन्ति प्राप्नुवन्ति । तदुभयरूपं ब्रह्म ज्ञातुमिच्छन्तो नैष्ठिका

गुरुकुलवासादिलक्षणं ब्रह्मचर्यं चरन्ति । तत्पदं प्राप्यं संप्रहे-  
शोपायेन सह प्रवक्ष्ये प्रकर्षेण ब्रह्मामि-यथानायासेन त्वं तद्विद्यां  
प्राप्नुयाः । “सम्यक् गृह्यते तत्त्वमनेन” इति निरुक्तेः संप्रह-  
रपायः ॥११॥

मर्त्यद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।

मूढान्याध्यायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥१२॥

आमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।

यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥१३॥

मारा०ब०—उक्तमर्थं वदन् योगे प्रकारमाह—सर्व्वीणि  
चतुरादीन्द्रियद्वाराणि संयम्य बाह्यविषयेभ्यः प्रत्याहृत्य मनश्च  
हृदयं निरुध्य विषयान्तरेष्वसंकल्प्य मूढान् भ्रुवोर्मध्ये एव  
प्राणमाधाय यागधारणामानर्थाशय-मन्मूर्तिभावनामाश्रितः  
मन आमित्येकमेवाक्षरं ब्रह्मस्वरूपं व्याहरन्नुच्चारयन्, तद्वच्यं  
मामनुस्मरन्नुध्यायन् परमां गतिं सत्सालोक्यम् ॥१२-१३॥

गो०भू०—योगप्रकारमाह—सर्व्वेति । सर्व्वीणि बहिर्ज्ञान-  
द्वाराणि श्रोत्रादीनि संयम्य शब्दादिभ्यो विषयेभ्यः प्रत्याहृत्य  
देहदर्शनाभ्यासेन तद्विमुखैस्तेभ्यो गृह्णन् श्रोत्रादिभ्योऽपि  
मनः प्रचरेदित्यत्र आह—हृदि स्थितं मयि अन्तर्ज्ञानद्वारं मनो  
निरुध्य निवेश्य मनमापि तान् स्मरन् । अथ क्रियाद्वारं प्राणश्च  
मूढान्याध्यायादौ हृत्पद्मे वशीकृत्य तस्माद्दर्ध्वगतया मुपुस्तया  
गुरुपादिष्टवर्त्मना भूमिजयक्रमेण भ्रुवोर्मध्ये तदुपरि ब्रह्मरूपं  
च संस्थाप्य आत्मानां मम यागधारणामापादाशयं मद्भान्त-  
मास्थितः कुर्वन् । आमिति वाचकं ब्रह्म, तत्र व्याहरन् अन्त-  
रुच्चारयन् ; तन् आमि-एकाक्षरमिति । एकं प्रधानञ्च तदक्षरम-

विनाशि चेति तथा तद्वाच्यं मां परमात्मानमनुस्मरन् ध्यायन्  
यो देहं त्यजन् प्रयाति, स परमां गतिं सत्सालोकतां याति ॥१२-१३॥

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।

तभ्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥

मारा०ब०—तदेवं ‘आर्त्ताः’ इत्यादिना कर्ममिश्राम्, जग-  
मरणमोक्षाय’ इत्यनेनापि कर्ममिश्राम्, ‘कविं पुराणम्’ इत्यादि-  
भिर्योगमिश्राञ्च सपरिकरां प्रधानाभूतां भक्तिमुक्त्वा सर्व्वश्रेष्ठां  
निर्गुणां केवलां भक्तिमाह—अनन्यचेता इति । न विवर्ते-  
ऽन्यस्मिन् कर्मणि ज्ञानयोगे बानुष्ठेयत्वेन, तथा देवतान्तरे  
वाराध्यत्वेन, तथा स्वर्गापवर्गादावपि प्राप्यत्वेन चेतो यस्य ।  
सततं सदेति कालदेशपात्रशुद्ध्याद्यनपेक्षतयैव नित्यशः प्रार्त्तादिन-  
मेव यो मां स्मरति, तस्य तेन भक्तेनाहं सुलभः सुखेन लभ्यः ।  
योगज्ञानाभ्यासादिदुःखमिश्रणाभावादिति भावः । नित्ययुक्तस्य  
नित्य-मद्योगाकाङ्क्षिण आशंसायां भूतवच्चेति भावित्यपि  
योग आशंसिते क्त-प्रत्ययः । योगिनो भक्तियोगवतः, यद्वा योग-  
सम्बन्धो दास्यमुख्यादिस्तद्वतः ॥१४॥

गो०भू०—एवंमोक्षमात्रकाङ्क्षिणां योगमिश्रां भक्तिमुपादिश्य स्व-  
ज्ञानिनां स्वमेवाकाङ्क्षतामेव भक्तिरित्युक्तां शुद्धां भक्तिं उप-  
दिशति—अनन्येति-यो जनोऽनन्यचेता न सत्तोऽन्यस्मिन् कर्म-  
योगादिके साधने स्वर्गमोक्षादिके साध्ये वा चेतो यस्य स सदे-  
काभिनापवान् सततं सर्व्वदा देशकालादिबिगुह्यैरपेक्षेण  
नित्यशः प्रत्यहं मां यशोदास्तनन्वयं नृसिंहघुनायादिरूपेण  
बहुधाविभूतं सर्व्वेश्वरमतिमात्रप्रियं स्मरत्यज्ञानजपादिष्वनु-  
सन्वरो, तस्याहं तत्प्रीतिज्ञः सुलभः सुखेन लभ्यः कर्म्मनुष्ठा-  
नयोगाभ्यासादिदुःखसम्पर्काभावान् । तस्येति—“सम्बन्धसा-



मान्ये पृष्ठी", "न लोकाव्यय" इत्यादिना कर्त्तारि तस्याः प्रति-  
पेधात् । तादृशस्य तस्य वियोगमसहिष्णुरहमेव तमात्मानं दर्श-  
यामि तत्साधनपरिपाकं तत्प्रतिकूलनिरामश्च कुर्वन् । श्रुतिश्चैव-  
माह—"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनू-  
स्वाम्" इति ; स्वयञ्च ब्रूयति—"ददमि बुद्धियोगं तं येन मामुप-  
यान्ति ते" इत्यादिना । कीदृशस्येत्याह—नित्येति सर्वदा मद-  
योगं बाञ्छतः—"आशंसायां भूतवच्च" इति सूत्रादार्शंसिते योगे  
भविष्यत्यपि क्तप्रत्ययः ; योगिनो महास्यसख्यादिसम्बन्ध-  
वतः ॥१४॥

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशान्तम् ।  
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥१५॥

सारावब०—त्वां प्राप्तवतस्तस्य किं स्यादित्याह—मार्मिति । दुःखा-  
लयं दुःस्वपूर्णं अशाश्वतम् अनित्यञ्च जन्म नाप्नुवन्ति, किन्तु सुख-  
पूर्णं जन्म मज्जन्मनुत्थं प्राप्नुवन्ति, "शाश्वतस्तु ध्रुवो नित्यः सदा-  
तनः सनातनः" इत्यमरः । यदा वसुदेवगृहे सुखपूर्णं नित्यभूतम्  
अप्राकृतं मज्जन्म भवेत्तादेव तेषां मद्भक्तानामपि मार्मितीति  
जन्म स्यान्नान्यदा इति भावः । परमार्मिति अन्ये भक्ताः  
संसिद्धिं प्राप्नुवन्ति अनन्यचेतसस्तु परमां संसिद्धिं मल्लीला-  
परिवरतामित्यर्थः । तेनोक्तलक्षणेभ्यः सर्वभक्तेभ्यो दृश्य-श्रैष्ठ्यं  
द्योतितम् ॥ १५ ॥

गी०भू०—तां लब्धवतः किं फलं स्यादित्यपेक्षायामाह—  
मार्मिति । मामुक्तलक्षणमुपेत्य प्राप्य पुनः प्रपञ्चे जन्म नाप्नु-  
वन्ति नावर्त्तन्ति इत्यर्थः । कीदृशं जन्मेत्याह—दुःखालयं गर्भ-  
बामादिबहुलं शपूरम् ; अशाश्वतमनित्यं दृष्टन्प्रप्रायम्—"शाश्व-  
तस्तु ध्रुवो नित्यः" इत्यमरः । यतस्तं परमां सर्वोत्कृष्टां संसिद्धिं

गतिं मामेव गता लब्धवन्तः—'अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः  
परमां गतिम्' इति ब्रूयति । कीदृशास्ते महात्मानोऽन्युदारमनसः  
विज्ञानानन्दनिधि भक्तप्रसादाभिमुखं भक्तायत्तसर्वस्वं मां विना-  
न्यत् साष्टर्थादिकमगणयन्तो मदेकजीवातवो भवन्त्यतस्ते मामेव  
संसिद्धिं गताः । अत्रानन्यचेतसोऽस्य स्वैकान्तिनः स्वनिष्ठेभ्यः  
स्वभक्तेभ्यः श्रैष्ठ्य-मुच्यते ॥१५॥

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽजुने ।

मामुपेत्य तु कोन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥

सारावब०—सर्व एव जीवा महासुकृतिनोऽपि जायन्ते  
मद्भक्तान्तु तद्वन्न जायन्त इत्याह—आब्रह्मेति । ब्रह्मणो भुवनं  
सत्यलोकस्तमांभव्याप्य ॥ १६ ॥

गी०भू०—मद्विमुखास्तु कर्मविशेषैः स्वर्गादिलोकान् प्राप्ता  
अपि तेभ्यः पतन्तीत्याह—आब्रह्मेति । आभिनिधावाकारः, ब्रह्म  
भुवनं व्याप्येत्यर्थः । ब्रह्मलोकेन सह सर्वे स्वर्गादयो लोकास्त-  
त्तद्वर्त्तिनो जीवास्तत्तत्कर्मक्षये सति पुनरावर्त्तिनां भूमां पुन-  
र्जन्म लभन्ते । मामुपेत्येति पुनः कथनं दृढीकरणार्थम् । अत्रेदं  
बोध्यं—पञ्चाग्निविद्यया महाहवमरणदिना ये ब्रह्मलोकं गता-  
स्तेषां भोगान्ते पातः स्यात् ; ये तु सनिष्ठाः परेशभक्ताः स्वर्गा-  
दिलोकान् क्रमेणानुभवन्तस्तत्र गतास्तेषां तु न तस्मात् पातः,  
किन्तु तल्लोकाविनाशे तत्पतिना सह परेशलोकप्राप्तिरेव—"ब्रह्मणा  
सह ते सर्वे संप्राप्ते प्राप्तिश्चरन् । परस्यान्ते कृतात्मानः प्रवि-  
शन्ति परं पदम् ॥" इति स्मरणादिति ॥१६॥

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्षद्ब्रह्मणो विदुः ।

रात्रिं शुगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७॥

सारा०ब०--ननु "अमृतं क्षेममभयं त्रिमुद्भर्तोऽवापि मूर्धसु" इति ( भा २ । ६ । १६ ) द्वितीतस्कन्धोक्त्या, केषांश्चिन्मते ब्रह्मलोकस्य अभयत्वश्रवणात्, सन्न्यासिभिरपि जिगमिषितत्वात् तद्व्यानां पातो न सम्भाव्यते ? मैवम्, तल्लोकस्वामिना ब्रह्मणोऽपि पातः स्यात् त्रिमुतान्येषाम् इति व्यञ्जयन्नाह--सहस्रं युगानि पर्यन्तोऽवसानं यस्य तद्ब्रह्मणोऽहर्दिनं यद्ये शास्त्राभिज्ञा विदुर्जानन्ति, तेऽहोरात्रविदो जनाः रात्रिर्मात्रं तस्य युगसहस्रान्तां विदुः । तेन तादृशाहोरात्रैः पक्षमामादिक्रमेण वर्षशतं ब्रह्मणः परमायुरिति । एतदन्ते तस्यापि पातो न कस्यचिद्वैष्णवस्य, तस्य ब्रह्मणो मोक्षश्चेति व्यञ्जितम् ॥ १७ ॥

गी०भू०--स्वर्गादयः सत्यान्ताः सर्वे लोकाः कालपरिच्छिन्नत्वाद्बिन्नश्यन्तीति भावेनाह-सहस्रेति । यद्ये ब्रह्मणश्चतुर्मुखस्याहर्दिनं नृमाणेन सहस्रयुगपर्यन्तं विदुः--"चतुर्युगसहस्रन्तु ब्रह्मणो दिनमुच्यते" इति स्मृतेः । सहस्रं चतुर्युगानि पर्यन्तोऽवसानं यस्य तत्, तस्य रात्रिश्च चतुर्युगसहस्रान्तां विदुस्त एव योगिनो जना अहोरात्रविदो भवन्ति ; न त्वन्ये चन्द्रार्कगतिविदो महर्लोकादिस्थितानामुपलक्षणमेतत् । अयमर्थः--नृणां वर्षं देवानामहोरात्रं तादृशैरहोरात्रैः पक्षमामादिगणनया द्वादशभिर्वर्षमहस्यैश्चतुर्युगं चतुर्युगानां सहस्रन्तु ब्रह्मणो दिनं रात्रिश्च तावत्येव तादृशैश्चाहोरात्रैः पक्षादिगणनया वर्षशतं तस्य परमायुरिति ; तदन्ते तल्लोकस्य तद्वर्तिनाश्च विनाशादवृत्ताः सिद्धेति ॥ १७ ॥

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।

राज्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तमंजकं ॥ १८ ॥

सारा०ब०--ये तु ततोऽव्यर्चीनास्त्रिलोकरथास्तं पास्तु तस्या-

हन्यहन्यपि पात इत्याह-अव्यक्तादिति । "अत्र दैनन्दिनसृष्टिप्रलययोगाकाशादीनां सत्त्वादव्यक्तशब्देन स्वापापरस्थः प्रजापतिर्योच्यते" इति मधुसूदनसम्भर्तीपादाः ततश्च अव्यक्तान् स्वापापरस्थान् प्रजापतेः सकाशादव्यक्तयः शरीरावपयादिरूपा भोगभूमयो भवन्ति व्यवहारक्षमाः स्युः । राज्यागमे तस्य स्वापकाले प्रलीयन्ते तस्मिन्नेव तिरोभवन्ति ॥ १८ ॥

गी०भू०--ये तु तस्मादव्यर्चीनास्त्रिलोकरथास्तं पास्तु तस्या-  
दिने पातः स्यादित्याह-अव्यक्तादिति । अहरागमे ब्रह्मणो जागरममये अव्यक्तान् स्वापावपयात् तस्मान् सर्वाः शरीरेन्द्रियभोग्यभोगस्थानरूपा व्यक्तयः प्रभवन्तुत्पद्यन्ते । राज्यागमे तस्य स्वापममये तत्रैव ब्रह्मण्यव्यक्तमंजकं स्वापावस्थे कारणेनाः प्रलीयन्ते तिरोभवन्ति । अत्राव्यक्त-शब्देन प्रधानं नाभिधेयं--दैनन्दिनसृष्टिप्रलययोरुपक्रमान्, तदा विद्यदादीनां स्थितत्वाच्च ; किन्तु स्वापावस्थो ब्रह्मैव तस्यार्थः ॥ १८ ॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।

राज्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ १९ ॥

सारा०ब०--एवमेव भूतानां चराचरप्राणिनां ग्रामः समूहः ॥ १९ ॥

गी०भू०--ये प्रलीनास्ते पुनर्न भविष्यन्तीति कृतहान्याकृताभ्यागमशङ्का स्यात्तां निरस्यन्नाह-भूतेति । भूतग्रामः स्थिरचरप्राणिममूहोऽवशः कर्माधीनः मन तथा चेदृशजन्ममृत्युप्रवाहसङ्कले प्रपञ्चोऽस्मिन् विवेकिना वैराग्यं युक्तमित्युक्तम् ॥ १९ ॥

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्मनातनः ।

यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्यु न विनश्यति ॥ २० ॥

सारा०ब०--तस्मादुक्तलक्षणादव्यक्तात् प्रजापतेरिहिरण्यगभात्



मकाशात् परः श्रेष्ठः । हिरण्यगर्भस्यापि कारणभूतो योऽन्यः  
खल्वव्यक्तो भावः सनातनोऽनादिः ॥ २० ॥

गी०भू०—तदेवं कर्मतन्त्राणां जन्मविनाशदर्शनेन 'आवृत्त-  
भुवनात्' इत्येतद्विवृतम् । अथ मामुपेत्यैतद्विवृणोति—परस्तस्मा-  
दिति । तस्मादुक्तरूपादव्यक्ताद्ब्रह्मणो हिरण्यगर्भादन्यो यो  
भावः पदार्थः परः श्रेष्ठस्ततोऽत्यन्तविलक्षणस्तस्योपास्य इत्यर्थः ।  
आतवैलक्षण्यमाह—अव्यक्त इति, आत्माविप्रहृत्वात् प्रत्यक् इत्यर्थः ।  
प्रसादितस्तु प्रत्यक्षोऽपि भवतीत्युक्तं प्राक् । सनातनोऽनादिः,  
स खलु हिरण्यगर्भपर्यन्तेषु सर्वेषु भूतेषु न विनश्यति ॥ २० ॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।

यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ २१ ॥

सारा०ब०—पूर्वश्लोकोक्तमव्यक्तशब्दं व्याचष्टे—अव्यक्त  
इति । न क्षरतीत्यक्षरो नारायणः "एको नारायण आमीन  
ब्रह्मा न च शङ्करः" इति श्रुतेः, मम परमं धाम ब्रह्मैव मह्यम  
मत्तेजोरूपम् ॥ २१ ॥

गी०भू०—ये भावो मयेहाव्यक्त इत्यक्षर इति चोच्यते, तं  
वेदान्ताः परमां गतिमाहुः—'पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा  
परमा गतिः' इत्यादौ । यं भावं प्राप्योपेत्य जनाः पुनर्न निवर्तन्ते  
जन्म नाप्रवृन्ति, स गावोऽहमेवेत्याह—तदिति । तन्ममैव धाम  
स्वरूपं परमं श्रामन्त-पृथगं चैतन्यमात्मनः स्वरूपमिति ब्रह्म-  
गन्तव्या ॥ २१ ॥

पुरुषः न परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यथा ।

यस्यान्तः स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ २२ ॥

सारा०ब०—स च सर्वशः परमः पुरुषः, न विशतेऽन्यत्

कर्मज्ञानयोगकामनादिकं यस्यां तथैव । अतएव पूर्वं मयोक्तम्  
—'अनन्यचेताः सततम्' इति भावः ॥ २२ ॥

गी०भू०—तत्प्राप्तो भक्तेः सृषायत्वमाह—पुरुषः स इति । स  
मल्लक्षणः पुरुषोऽनन्यथा तदेकान्तया 'अनन्यचेताः सततम्' इति  
पूर्वोदितया भक्त्यैव लभ्यो लब्धुं शक्यो—योगभक्त्या तु  
दुःशक्या तत्प्राप्तिरित्यर्थः । तल्लक्षणमाह—यस्येति । सर्वमिदं  
जगत् येन तत् व्याप्तम् ; श्रुतिश्चैवमाह—'एको बर्षी सर्व्वेभ्यः  
कृष्ण ईदृश एकोऽपि सन् बहुवा योऽवभाति वृक्ष इव मूलेभ्यो  
दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्व्वम्' इत्याद्या ॥ २२ ॥

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।

प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ २३ ॥

सारा०ब०—ननु 'यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम'  
इति त्वदुक्त्या त्वद्भक्तास्त्वां प्राप्ता न पुनरावर्तन्ति इत्युक्तं, न  
तत्र त्वत्प्राप्तो कश्चिन्मार्गेनियम इत्युक्तः, त्वद्भक्तानाञ्च गुणा-  
तीतत्वात्तन्मार्गोऽपि गुणातीत एवावसीयते, न तु सार्व्विको-  
र्द्धिरादिः, यस्तु मार्गो योगिनो ज्ञानिनः कस्मिणश्चाम्ति, तमहं  
जिज्ञासे इत्यपेक्षायामाह—यत्रेति । प्राणोत्क्रमणानन्तरं तत्र कालं  
कालोपलक्षिते मार्गे प्रयाता अनावृत्तिमावृत्तिश्च यान्ति तं कालं  
मार्गं वक्ष्य इत्यन्वयः ॥ २३ ॥

गी०भू०—स्वभक्तानामनावृत्तिः स्वविमुखानां त्वावृत्तिरुक्ता,  
सा सा च केन पथा गतानां भवेदित्यपेक्षायामाह—यत्रेति ।  
योगिना भक्ताः कास्यकस्मिणश्च । अत्र 'काल'शब्देन कालाभि-  
मानिना देवताक्ता, अग्निधूयः कालत्वाभावान् 'काल'शब्दे-  
नोक्तिन्तु भूयसा महदादिशब्दानां रात्र्यादिशब्दानाञ्च काल-  
वाचित्वान् तथा वार्द्धिरादिभूमादिभिश्च देवः पानितः पन्थाः

‘काल’शब्देनोक्तो बोध्यः ॥२३॥

अग्निज्योतिरहः शुक्लः परमात्मा उत्तरायणम् ।

तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥

सारा०ब०—अत्रानावृत्तिमार्गमाह—अग्निरिति । अग्निज्योतिःशब्दाभ्यां “तेऽक्षिपमभिसम्भवन्ति” इति श्रुत्युक्त्या अक्षिपमभिमानिनी देवतोपलक्ष्यते । अहरित्यहरभिमानिनी, शुक्ल इति पञ्चाभिमानिनी, उत्तरायणरूपाः परमात्मा इत्युत्तरायणाभिमानिनी देवता, एतद्रूपो यो मार्गस्तत्र प्रयाता ब्रह्मविदो ज्ञानिनो ब्रह्म प्राप्नुवन्ति । तथा च श्रुतिः “तेऽक्षिपमभिसम्भवन्त्यक्षिपोऽहरह आपूर्यमाणपञ्चमापूर्यमाणपक्षाद्यान् परमासात्र दङ्ङ्गादत्य एति मामेभ्यो देवलोकम्” इति ॥ २४ ॥

गा०भू०—तत्रानावृत्तिपथमाह—अग्निरिति । अग्निज्योतिःशब्दाभ्यां श्रुत्युक्त्या अक्षिपमभिमानिनी देव उपलक्ष्यते, अहरिति दिवसाभिमाना, शुक्ल इति शुक्लपञ्चाभिमाना, यणमात्मा उत्तरायणाभिमाना, यणमासात्मकोत्तरायणाभिमाना । एतच्चान्येषां सम्बन्धरादानां श्रुत्युक्तानामुपलक्षणम् । छान्दोग्याः पठन्ति—“अथ यदु चैवास्मिन् शब्दं कुर्वन्ति यदि च नाक्षिपमेवाभिसम्भवन्त्यक्षिपोऽहरह आपूर्यमाणपञ्चमापूर्यमाणपक्षाद्यान् पङ्कदण्डांत मामांस्तान्मामेभ्यः सम्बन्धनरादादित्यमादित्याश्चन्द्रमसं चन्द्रमसो वैद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयत्येव देवपथा ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमान उमं मानवमावर्त्त नावर्त्तन्ति” इति । अस्यार्थः—अस्मिन्नक्षिपमपञ्चमापूर्यमाणे मृते सति यदि पुत्रशिष्यादयः शब्दं शवसम्बन्धेन कस्मिन् दाहादि कुर्वन्ति, यदि च न कुर्वन्ति, उभयथाप्यक्षतोपास्तिकलास्ते तदुपायका अक्षिगदिभिर्देवतमुपायं प्रयान्तीति — श्रुत्युक्तमन्यन् । अत्र सम्बन्ध-

रादित्ययोर्मध्ये वायुलोको निवेश्यः, विद्युतः परत्र क्रमाद्वरुणेन्द्रप्रजापतयो बोध्याः, श्रुत्यन्तरादित्याकरं विस्तरः । अमानवो नित्यपार्षदः परेशस्य हरेः पुरुषः । एतेऽक्षिरोदयो देवा इत्याह सूत्रकारः—“आतिवाहिकास्नास्मिन्नित्तिज्ञात्” इति । तथा अक्षिगदिभिर्भगवन्निर्देशस्थैर्द्वाद्दशभिर्देवैः मन्त्र्यमानेन पथा भगवन्तं तद्भक्ताः प्रयान्ति ततः पुनर्नावर्त्तन्ति इति । एवमुक्तं निर्णेतृभिः—“अक्षिदितमिनपक्षे रिहोत्तारायणशरनमरुद्रविभिः । विद्युविद्युद्वरुणेन्द्रद्रुहिणैश्चागात पदं हरेर्मुक्तः” इति ॥ २४ ॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः परमात्मा दक्षिणायनम् ।

तत्र चान्द्रमसं ज्योतिषोङ्गी प्राप्य निवर्त्तते ॥२५॥

सारा०ब०—कर्मिणामावृत्तिमार्गमाह—धूम इति । धूमाभिमानिनी देवता, रात्र्यादिशब्दैश्च पूर्ववदेव तत्तदभिमानिन्यस्मिन्सा देवता लक्ष्यन्ते । एताभिर्देवताभिरुपलक्षितो यो मार्गस्तत्र प्रयातः कर्मयोगी चान्द्रमसं ज्योतिस्तदुपलक्षितं स्वर्गलोकं प्राप्य तत्र कर्मफलं भूक्त्वा निवर्त्तते पुनरावर्त्तते ॥ २५ ॥

गा०भू०—अथावृत्तिपथमाह—धूमो रात्रिरिति । तत्रापि पूर्ववत् धूमरात्रिकृष्णपञ्चपरमासात्मकदक्षिणायनानामभिमानिनी देवा लक्ष्याः, सम्बन्धनरादादित्यमादित्याश्चन्द्रमसं चन्द्रमसो वैद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयत्येव देवपथा ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमान उमं मानवमावर्त्त नावर्त्तन्ति” इति । अस्यार्थः—अस्मिन्नक्षिपमपञ्चमापूर्यमाणे मृते सति यदि पुत्रशिष्यादयः शब्दं शवसम्बन्धेन कस्मिन् दाहादि कुर्वन्ति, यदि च न कुर्वन्ति, उभयथाप्यक्षतोपास्तिकलास्ते तदुपायका अक्षिगदिभिर्देवतमुपायं प्रयान्तीति — श्रुत्युक्तमन्यन् । अत्र सम्बन्ध-



अन्द्रलोकं प्राप्य भोगक्षये मतिं तस्मात् पुनर्निवर्त्तन्ते इति ॥२५॥

शुक्लकृष्णे गती लोके जगतः शाश्वते मते ।

एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥२६॥

सारा०व०—उक्तौ मार्गावुपसंहरति—शुक्लकृष्णे इति । शाश्वते अनादी, संसारस्यानादित्वात्, एकया शुक्लयाऽनावृत्तिं मोक्ष-  
मन्यया कृष्णयाऽऽवर्त्तते पुनः पुनरत्र जायते ॥ २६ ॥

गी०भू०—उक्तौ पन्थानावुपसंहरति—शुक्लेति । अचिरादि-  
गतिः शुक्ला प्रकाशमयत्वात् धूमादिका गतिः कृष्णा प्रकाश-  
शून्यत्वात् । गतिः पन्थाः एते गता ज्ञानकर्माधिकारिणो जगतः  
शाश्वतं अनादी सम्मते तस्यानादित्वात् । स्फुटमन्यत् ॥२६॥

नैते मृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥

सारा०व०—एतन्मार्गद्वयज्ञानं विवेकात्पादकमतस्तद्वन्तं  
स्तौति नैते इति । योगयुक्तः समाहितचित्तो भव ॥ २७ ॥

गी०भू०—एतयोः पथोर्बोधा विवेकहेतुर्भवतीति तं स्तौति—  
नैत इति । मृती पन्थानो जानन् अचिरादिमोक्षाय धूमादिः  
संमार्गयेति स्मरन् कश्चिदपि योगी मद्भक्तो न मुह्यति—धूमादि-  
प्रापकं कर्म कर्त्तव्यत्वेन न निश्चिनोतीत्यर्थः । योगयुक्तः सदाधि-  
निष्ठा भवापुनरावृत्तये ॥२७॥

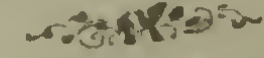
वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव

दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।

अभ्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा

योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्म  
पर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे  
श्री कृष्णाञ्जुनसंवादे तारकब्रह्म-योगो नामाष्टमोऽध्यायः ।



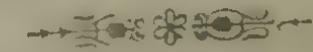
सारा०व०—एतदध्यायोक्तार्थज्ञानफलमाह—वेदेष्विति । तत्  
सर्वमन्येति, अतिक्रम्य च योगी भक्तमान, ततोऽपि श्रेष्ठं  
स्थानमाद्यमप्राकृतं नित्यं प्राप्नोति ॥ २८ ॥

भक्तानां सर्वतः श्रेष्ठ्यं पूर्वोक्तं तेष्वपि स्फुटम् ।

अनन्यभक्तस्येत्यर्थोऽत्राध्यायं व्यञ्जितोऽभवत् ॥ (२)

इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् ।

श्रीगीतास्वष्टमोऽध्यायः सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥ (३)

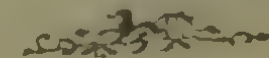


गी०भू०—सप्तमाष्टमाध्यायद्वय-ज्ञानप्रकारमाह—वेदेष्विति ।  
वेदेषु ब्रह्मचर्य्यगुरुश्रुपणादिबिधिना सम्यगधीतेषु सर्व-  
ज्ञापसंहारेण सम्यगनुष्ठितेषु, तपःसु शास्त्रोक्तेन विधिना सम्यक्-  
चरितेषु, दानेषु देशकालपात्रपरीक्षया श्रद्धया च सम्यग्दर्शनेषु  
यत् पुण्यफलं स्वर्गराज्यादिलक्षणं प्रदिष्टमुक्तम् । तत् सर्वं  
अभ्येत्यतिक्रमति । किं कृत्वेत्याह—इदमिति । इदमध्यायद्वयोक्तं  
भगवतो मम मद्भक्तेषु माहात्म्यं सत्प्रसङ्गेन विदित्वा तद्वेदन-  
मुखातिरिक्तं तत् सर्वं तृणाय मन्यत इत्यर्थः । ततो योगी  
मद्भक्तमान् भूत्वाद्यमनादिपरममार्गिकं मत्स्थानमुपैति ॥२८॥

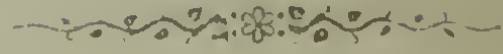
कृष्णांशः पुरुषो योगभक्त्या लभ्योऽचिरादिभिः ।

कृष्णस्त्वनन्यभक्त्यैवेत्यष्टमस्य विनिर्णयः ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे तारकब्रह्म-योगो नामाष्टमोऽध्यायः ।



## नवमोऽध्यायः



श्रीभगवानुवाच--

इदं तु ते गुह्यतं प्रवयाद्याम्यनसूयवे ।

ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्षयसेऽशुभात् ॥१॥

सारा०ब०--आराध्यत्वे प्रभोर्दीर्घैरैश्वर्य्यं यदपेक्षितम् ।

तत्शुद्धभक्तेरुत्कर्षश्चोच्यते नवमे स्फुटम् ॥ (१)

कर्मज्ञानयोगादिभ्यः सकाशात् भक्तेरेव उत्कर्षः । सा च भक्तिः 'प्रधानीभूता' 'केवला' चेति सप्तमाष्टमयोरुक्तम् । तत्रापि केवलाया अतिप्रवलाया ज्ञानबदन्तःकरणशुद्ध्याद्यनपेक्षण्या भक्तेः स्पष्टतया एव सर्वोत्कर्षः । तस्यामपेक्षितमैश्वर्य्यञ्च बक्तं नवमोऽयमध्याय आरभ्यते । सर्वशास्त्रसार--भूतस्य गीता-शास्त्रस्यापि मध्यममध्यायाष्टकमेव ( मध्यममध्यायपट्टकमेव ) सारम्, तस्यापि मध्यमो नवमदशमावेव सारावित्यतोऽत्र निरूपयिष्यमाणमर्थं नोति-इदन्तिवति त्रिभिः । द्वितीयतृतीयाध्यायादिषु यदुक्तं साक्षापयोगिज्ञानं 'गुह्यम्', सप्तमाष्टमयोर्मतप्राप्त्यपयोगि-ज्ञानम्-ज्ञायतेऽनेन भगवत्तत्त्वार्थमिति ज्ञानं भक्ति-तत्त्वम् गुह्यतरं, अत्र तु केवलशुद्धभक्तिलक्षणं ज्ञानं 'गुह्यतमं' प्रवपेक्षेव तुभ्यं वक्ष्यामि । अत्र तु ज्ञान-शब्देन भक्तिरवश्यं व्याख्या, न तु प्रथमपट्टकोक्तं प्रसिद्धं ज्ञानम्, परश्लोकेऽव्ययमनश्चरमिति विशेषणदानाद्गुणातीतत्वलाभाद्गुणातीता भक्तिरेव, न तु ज्ञानम्, तस्य सार्चिकत्वात् । 'अश्रद्धानाः पुरुषा धर्मस्यास्य' इत्यादिमश्लोके धर्मशब्देनापि भक्तिरेवोच्यते । अतस्तृयेऽतस्मिन्महायेत्यन्योऽपीदममत्स्मरायैवापदिशेदिति विधि-

व्याजितः । विज्ञानसहितं मदपरोक्षानुभवपर्यन्तमित्यर्थः । अशु-  
भान् संसाराद्भक्तिप्रतिबन्धकादन्तरायाद्वा ॥ १ ॥

गी०भू०--भक्त्युद्दीप्तिकरं स्वस्य पारमैश्वर्य्यमद्भुतम् ।

स्वभक्तेश्च महोत्कर्षं नवमे हरिरुचिवान् ॥

गी०भू०--विज्ञानानन्दघनोऽसंख्येयकल्याणगुणरत्नालयः स-  
र्वेश्वरोऽहं शुद्धभक्तिमुलभ इति सप्तमादिभ्यामभिधायेदानीं  
भक्तेरुद्दीपकं निजैश्वर्य्यं तस्याः प्रभावं चाभिधायन्नादौ तां  
नोति-इदमिति त्रिभिः । इदं ज्ञानं मत्कीर्त्तनादिलक्षणभक्ति-  
रूपम्-परत्र 'धर्मस्यास्य' इत्युक्तेः कीर्त्तनादेश्चच्छक्तिवृत्तित्वात्,  
'ज्ञायतेऽनेन' इति निरुक्तेश्च, तत् किल गुह्यतमम् । द्वितीयादा-  
वुपदिष्टं मदैश्वर्य्यज्ञानं गुह्यतरं, नवमादावुपदेश्यं तु केवलभक्ति-  
लक्षणमिदं ज्ञानं गुह्यतममित्यर्थः । तच्च विज्ञानसहितं मदनु-  
भवावसानं ते वक्ष्यामि । कीदृशायेत्याह-अनसूयव इति । मद-  
गुणेषु दोषारोप-रहिताय दुर्गमस्य स्वरहस्यस्यानुकम्पयोपदेश्यार-  
मयि निजैश्वर्य्यप्रस्थापनेनात्मानं प्रशंससीति दोषदृष्टिशून्याये-  
त्यर्थः । तेनान्योऽप्येतदनसूयं प्रति ब्रूयादिति दर्शितम् । यज-  
ज्ञात्वा त्वमशुभान् संसारान्मोक्षसे ॥१॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।

प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥२॥

सारा०ब०--किञ्च, इह ज्ञानं राजविद्या, विद्या उपामना  
विविधा एव भक्तयः, तासां राजा राजदन्तादित्वात् परानि-  
पातः । गुह्यानां राजेति भक्तिमात्रमेवातिगुह्यं तस्य बहुविधस्या-  
पि राजेत्यतिगुह्यतमं पवित्रमिदमिति सर्वपापप्रायश्चित्तात्त्वात् ।  
त्वं-पदाथेज्ञानाच्च सकाशादपि पाबिध्यकरम् । अनेकजन्मसहस्र-



सञ्चितानां सर्वेषामपि पापानां स्थूलसूक्ष्मावस्थानां तत्कारण-  
म्याज्ञानस्य च सद्य एवोच्छेदकम्, अतः सर्वोत्तमं पावन-  
मिदमेवेति सधुसूदनमरस्वतीपादाः । प्रत्यक्ष एवावगमोऽनुभवा-  
यस्य तत् । “भर्कतः परंशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक-  
णककालः । प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायो-  
ऽनुघामम् ॥” इत्येकादशोक्तेः प्रतिपदमेव भजनानुरूपभगवद-  
नुभवलाभात् । धर्म्यं धर्मादनपेतं सर्वधर्माकरणोऽपि सर्व-  
धर्ममिद्धेः “यथा तरोर्मूलनिपेचनेन, तृप्यन्ति तत्कन्धभुजो-  
पशाखाः । प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां, तथैव सर्वार्हण-  
मच्युतेऽप्या ॥” इति नारदोक्तेः । कर्त्ता सुमुखमिति कर्मज्ञाना-  
दाविव नात्र कोऽपि कायवाङ्मानस-क्लेशातिशयः, श्रवण-  
कीर्त्तनादिभक्तेः श्रोत्रादीन्द्रियव्यापारमात्रत्वादव्ययं कर्मज्ञाना-  
दिबन्धनश्वरं निर्गुणत्वात् ॥ २ ॥

गी०भू०—राजविद्योति । विद्यानां शाण्डिल्यवैश्वानरदह-  
गादिशब्दपृच्छाणां राजा राजविद्या, गुह्यानां जीवात्मयाथात्म्या-  
दिरहस्यानां राजा राजगुह्यामिदं भक्तिरूपं ज्ञानम्—“राजदन्ता-  
दित्वादुपसर्जनस्य परानपातः ।” तथात्वं प्रातपादयितुं विश-  
नष्टि-उत्तमं पवित्रं लिङ्गदेहपर्यन्तसर्वपापप्रशमनात्, यदुक्तं  
पादो—“अप्रारब्धफलं पापं कूटं बीजं फलोन्मुखम् । क्रमेणैव  
प्रलीयन्ते विष्णुभक्तिरतात्मनाम् ।” इति । क्रमोऽत्र पणशतक-  
वेधवदबोध्यः । प्रत्यक्षावगमम्—अवगम्यत इत्यवगमो विषयः, स  
यार्गमनः प्रत्यक्षोऽस्ति—श्रवणादिकेऽभ्यस्यमाने तस्मिन्तद्विषयः पुरु-  
षोत्तमोऽहमाविर्भावाम्, एवमाह सूत्रकारः—“प्रकाशश्च कर्मण्य-  
स्यामात्” इति । धर्म्यं धर्मादनपेतं गुरुशुश्रूषादिवर्त्मनित्यं  
पुण्यमाणम्, श्रुतिश्च—“आचार्यवान् पुरुषो वेद” इत्याद्या ।  
कर्त्ता सुमुखं सुखसाध्यम्—श्रोत्रादिव्यापारमात्रत्वात् तुलसी-

पात्राम्बुचुलुक्पात्रोपकरणत्वाच्च । अव्ययमविनाशि-मोक्षेऽपि  
तस्यानुवृत्तेः । एवं वक्ष्यति—‘भक्त्या मामभिजानाति’ इत्यादिना,  
कर्मयोगादिकं तु नेदृशमतोऽस्य राजविद्यात्वम्, तत्राहुः—राज्ञां  
विद्या, राज्ञां गुह्यमिति राज्ञामिबोदारचेतसां कारुणिकाना-  
मिव दिवमपि तुच्छीकुर्वन्तामियं विद्या, न तु शीघ्रं पुत्रादि-  
लिप्सया देवानभ्यर्चितां दीनचेतसां कर्मिणाम्, राजानां हि  
मदारत्नादिमम्पदप्यनिह्वानाः स्वमन्त्रं यथार्तियत्नान्निह्वयन्ते  
तथान्यां विद्यामनिह्वयन्तानां मद्भक्ता एतामनियत्नान्निह्वयन्ति,  
समानमन्यत ॥ २ ॥

अश्रद्धाणां पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।

अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

माराव०—नन्वेवमस्य धर्मस्यातिमृकत्वे सति को नाम  
संमारी स्यात् ? तत्राह—अश्रद्धाणां । अम्येति कर्मणि पठ्ठी  
आर्षी । इमं धर्ममश्रद्धाणां शास्त्रवाक्यैः प्रतिपादितं भक्तेः  
सर्वोत्कर्षं स्तुत्यर्थवादमेव मन्यमाना आस्तिक्येन न स्वीकुर्वन्ति  
ये, त उपायान्तरैर्मत्प्राप्तये कृतप्रयत्ना अपि मामप्राप्य मृत्यु-  
व्याप्ते संसारवर्त्मनि नितरामतिशयेन वर्त्तन्ते ॥ ३ ॥

गी०भू०—नन्वेवं सुकरं धर्मं स्थितं न कोऽपि संमरेदिति  
चेत्तत्राह—अश्रद्धाणा इति । धर्मस्येति कर्मणि पठ्ठी । इमं  
मद्भक्तिनक्षरणं धर्मं श्रुत्यादिप्रसिद्धप्रभावमप्यश्रद्धाणां दृढविश्वा-  
सेन न समृद्धन्तः स्तुतिमात्रमेवैतदिति ये मन्यन्ते, ते मत्प्राप्तये  
साधनान्तराण्यनुतिष्ठन्तोऽपि भक्त्यवहेनानामप्राप्य मृत्युयुक्ते  
संसारवर्त्मनि नितरां वर्त्तन्ते ॥ ३ ॥

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥

सारा०ब०—महास्यभक्तावेतन्मात्रं मदैश्वर्यज्ञानं मद्भक्तैः-  
पेक्षितव्यमित्याह सप्तभिः । अव्यक्ता अतीन्द्रिया मूर्तिः स्वरूपं  
यस्त तेन मया कारणभूतेन सर्वमिदं जगत् तत् व्याप्तम् ।  
अतएव मत्स्थानि मयि कारणभूते पूर्णचैतन्यस्वरूपे स्थितानि  
सर्वाणि भूतानि चराचराणि सन्ति । एवमपि घटादिषु स्व-  
कार्येषु मृदादिबन्धेषु भूतेषु नाहमवस्थितोऽसङ्गत्वात् ॥ ४ ॥

गी०भू०—अथ स्वभक्त्युदीपकमद्भुत-स्वैश्वर्यमाह-मयेति ।  
अव्यक्ता इन्द्रियाग्राह्या मूर्तिः स्वरूपं यस्य तेन मया सर्वमिदं  
जगत्तत् धर्तुं नियन्तुं च व्याप्तम् । अतएव सर्वाणि चरा-  
चराणि भूतानि व्यापके धारके नियामके च मयि स्थितानि  
भवन्तीति तेषां स्थितिमेदधीना, तेषु सर्वेषु भूतेष्वहं न चाव-  
स्थितो मम स्थितिस्तदधीना नेत्यर्थः । इह नास्त्वलजगदन्तर्या-  
मिणा स्यांशेनान्तः प्रविश्य नियच्छामि दधामि चेत्युक्तम्, आह  
चैवं श्रुतिः—“यः पृथिव्यां तिष्ठत्” इत्यादिना, इहापि वदयति-  
“विप्रभ्याहमिदं कृत्स्नम्” इत्यादि ॥ ४ ॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।

भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥

सारा०ब०—तत एव मयि स्थितान्यपि भूतानि न मत्स्थानि  
समामङ्गत्वादेवेति भावः । ननु तर्हि तव जगद्व्यापकत्वं जगदा-  
श्रयत्वञ्च पूर्वोक्तं विरुद्धमित्याह—पश्य मे योगमैश्वरम् अमा-  
धारणं योगैश्वर्यमघटित-घटना-चातुर्यमयम् । अन्यदप्या-  
श्रयं पश्येत्याह-भूतानि विभर्त्ति धारयति इति भूतभृत्,  
भूतानि भावयति पालयतीति भूतभावनः । एवम्भूतोऽपि  
ममात्मा भूतस्थो न भवति ममेति भगवति देहिदेह-विभागा-  
भावात् ‘राहोः शिरः’ इतिवत् अभेदेऽपि षष्ठी । अयं भावः-

यथा जीवो देहं दधत् पालयन्नपि तस्मिन्नात्मकत्वा देहस्य एव  
भवति, एवमहं भूतानि दधत् पालयन्नपि मायिकसर्वभूत-  
शरीरोऽपि त तत्रस्थो निःसङ्गत्वादिति ॥ ५ ॥

गी०भू०—नन्यतिगुरुं भारं बहतस्ते महान खेदः स्यादिति  
चेत्तत्राह-न चेति । घटादाबुदकादीनीव भारभूतानि च भूतानि  
संसृष्टानि मयि न सन्ति । तर्हि मत्स्थानि सर्वभूतानीत्युक्ति-  
विरुद्धेति चेत्तत्राह-पश्येति । ममश्वरं मदसाधारणं योगं पश्य  
जानीहि—“युज्यतेऽनेन दुर्घटेषु कार्येषु” इति निरुक्तेर्योगोऽवि-  
चिन्त्यशक्तिवपुः सत्यसङ्कल्पता-लक्षणो धम्मस्त्वमित्यर्थः । एतदेव  
बिम्बुदयति-भूतभृदिति भूतभृत् भूतानां धारकः पालकश्चाहं  
भूतस्थो भूतसंपृक्तो नैव भवामि, यतो मामात्मा मन एव भूत-  
भावनः सत्यसङ्कल्पता-लक्षणेनैश्वरेण योगेनैवाहं भूतानां धारणं  
पालनञ्च करोमि, न तु स्वमूर्तिव्यापारेणेत्यर्थः । श्रुतिश्चैवमाह—  
“एतस्य वा अक्षरस्य प्रशामने गार्गी सूर्याचन्द्रमसौ विधृता  
तिष्ठन् एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गी वावापृथिव्यौ विधृते  
तिष्ठन्” इत्यादिना । यद्यपि स्वहृत्पात्र मनो भिन्नं, तथापि  
सत्ता सतीत्यादिवद्विशेषाद्वास्तवं भेदकार्यमादायैव तथोक्तं  
बोध्यम् ॥ ५ ॥

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।

तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥

सारा०ब०—असङ्गे मयि भूतानि स्थितान्यपि न स्थितानि  
तेष्वपि अहं स्थितोऽपि न स्थित इत्यत्र दृष्टान्तमाह-यथेति ।  
यथैवासङ्गस्वभावे आकाशे स्थितो नित्यं वार्तीति वायुः सर्वदा  
चलनस्वभावः, अतएव सर्वत्र यच्छतीति सर्वत्रगः, महान्  
परिमाणतः यथा स्वाकाशस्य असङ्गत्वात् तत्र स्थितोऽपि न



स्थितः, आकाशोऽपि बायौ स्थितोऽपि न स्थितोऽसमङ्गत्वान्  
एव, तथैव असङ्गस्वभावे माय सर्वानि भूतानि आकाशा-  
दीनि महान्ति सर्वत्रगानि स्थितानि नापि स्थितानि इत्यु-  
पधारय विमृश्य निश्चिनु । ननु तर्हि “पश्य मे योगमैश्वरम्”  
इति भगवदुक्तं योगेश्वर्यस्यातक्यत्वं कथं सिद्धमभूत् दृष्टान्त-  
लाभात् ? उच्यते— आकाशस्य जडत्वादेवामङ्गत्वम्, चेतनस्य  
तु असङ्गत्वं जगदधिष्ठानाधिष्ठातृत्वं परमेश्वरं विना नान्य-  
त्रास्तोत्यतकेयत्वं सिद्धमेव, तदप्याकाशदृष्टान्तो लोकवृद्धि-  
प्रवेशार्थ एव ज्ञेयः ॥ ६ ॥

गी०भू०—चराचराणां सर्वेषां भूतानां मत्संकल्पायत्ता  
स्थितिर्वृत्तिश्चेत्यत्र दृष्टान्तमाह—यथेति । यथा निरालम्बो मह-  
त्याकाशो निरालम्बो महान् बायुः स्थितः सर्वत्र गच्छति, तस्य  
तस्य च निरालम्बतया स्थितिर्मत्सङ्कल्पादेव प्रवृत्तिश्चेत्यन्तर्या-  
मित्रात्मणान्—“यद्वापा वातः पवते” इति श्रुत्यन्तराशेषधार-  
यति, तथा सर्वानि स्थिरचराणि भूतानि मत्स्थानि तैरमंसृष्टे-  
मायि स्थितानि मयैव सङ्कल्पमात्रेण धृतानि नियमितानि चेत्यु-  
पधारय, अन्यथा आकाशादीनि बिभ्रंशोरत्रिति ॥ ६ ॥

सर्वभूतानि कीन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।

कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विमृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

सारा०व०—ननु अधुना दृश्यमानानि एतानि भूतानि त्वयि  
स्थितानि इत्यवगम्यते महाप्रलये क् याम्यन्तान्यपेक्षायामाह-  
सर्वेति । मामिकां मदीयां मम त्रिगुणात्मिकायां मायाशक्तौ  
लीयन्त इत्यर्थः । पुनः कल्पक्षये प्रलयान्ते सृष्टिकाले तानि  
विशेषेण सृजामि ॥ ७ ॥

गी०भू०—समंकल्पादेव भूतानां स्थितिरुक्ता । अथ तस्मा-

देव तेषां सर्गप्रलयाबाह-सर्वेति । हे कौन्तेय, कल्पक्षये चतु-  
र्मुखावमानकाले सर्वानि भूतानि मत्सङ्कल्पादेव मामिकां  
प्रकृतिं यान्ति । प्रकृतिशक्तिकं मायि विलीयन्ते कल्पादौ पुनस्ता-  
न्यहमेव ‘बहु म्याम्’ इति सङ्कल्पमात्रेण वैविध्येन सृजामि ॥ ७ ॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विमृजामि पुनः पुनः ।

भूतग्राममिमं कृत्स्नमवश प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

सारा०व०—ननु असङ्गो निर्विकारश्च त्वं कथं सृजसी-  
त्यपेक्षायामाह—प्रकृतिमिति । स्वां स्वीयाम् अवष्टभ्य अधिष्ठाय  
प्रकृतेर्वशान् स्वीयस्वभाववशात् प्राचीनकर्मनिमित्तादीनि  
यावत् अवशं कर्मादि-परतन्त्रम् ॥ ८ ॥

गी०भू०—प्रकृतिमिति । स्वामात्मीयां त्रिगुणां प्रकृतिमवष्ट-  
भ्याधिष्ठाय सङ्कल्पमात्रेण महदाद्यात्मना परिणमय्येमं चतुर्विधं  
भूतग्रामं विमृजामि पुनःपुनः काले काले । कीदृशमित्याह—  
प्रकृतेः प्राचीनकर्मवामनाया वशात् प्रभावाद्भवशं परतन्त्रं तथा  
चाचिन्त्यशक्तेरसङ्गस्वभावस्य मम सङ्कल्पमात्रेण तत्तान् कुर्व्यतो  
न तत्संसर्गान्धा, न च कोऽपि खेदलेश इति ॥ ८ ॥

न च मां तानि कर्माणि निवध्नन्ति धनंजय ।

उदामीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

सारा०व०—नन्वेवञ्च नाना-कर्माणि कुर्वेत्ततश्च जीवबद्धः  
कथं न स्यादत आह—न चेति । तानि सृष्ट्यादीनि । कर्मो-  
मात्तर्हि बन्धहेतुः, स चाप्तकामत्यान्मम नास्ति उदामीनव-  
दिति । अन्य उदामीनां यथा विवदमानानां दुःख-शोकादि-  
मंसृष्टो न भवति, तथैवाहमित्यर्थः ॥ ९ ॥

गी०भू०—ननु विषमाणि सृष्टिपालनलक्षणानि कर्मणि

वैषम्यादिना त्वां बध्नीयुरिति चेत्तत्राह-न चेति । तानि विषम-  
सृष्ट्यादीनि कर्माणि न मयि वैषम्यादि प्रमञ्जयन्ति । तत्र हेतु-  
गर्भविशेषणम्-उदासीनवदिति । जीवानां देवमानवार्तिग्यर्गादि-  
भावे तत्तादभ्युदयतारतम्ये च तेषां पूर्वोज्जितानि कर्माण्येव  
कारणानि, अहं तु तेषु विषमेषु कर्मस्वौदासीन्येन स्थितोऽमक्त-  
इति न मयि वैषम्यादि-दोषगन्धः । एवमाह सूत्रकारः-“वैषम्य-  
नैवृण्ये न” इत्यादिना । उदासीनत्वे कर्तृत्वं न सिद्धयेदन्  
उक्तम्-उदासीनवदिति ॥६॥

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।

हेतुनानेन कान्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥१०॥

मारा०व०-ननु सृष्ट्यादिकर्तुस्तवेदमौदामीन्यं न प्रत्येमि  
इत्यत आह-मयेति । अध्यक्षेण मम निमित्तभूतेन प्रकृतिः  
सचराचरं जगत् सूयते प्रकृतिरेव जगत् जनयति, मम अत्रा-  
ध्यक्षता-मात्रम् ;—यथा कस्यचित् अम्बरीषादेरिव भूपतेः  
प्रकृतिभरेव राज्यकृत्यं निर्वह्यते, अत्रोदासीनस्य भूपतेः सत्ता-  
मात्रमिति यथा तस्य राजमिहासने सत्तामात्रेण विना प्रकृतिभिः  
किमपि न शक्यते कर्तुम्, तथैव ममाधिष्ठानलक्षणमध्यक्षत्वं  
विना प्रकृतिरपि जडा किमपि कर्तुं न शक्नोतीति भावः । अनेन  
मदधिष्ठानेन हेतुनेन जगत् विपरिवर्तते पुनः पुनर्जायते ॥१०॥

गी०भू०-तत् प्रतिपादयति-मयेति । सत्यसङ्कल्पेन प्रकृत्य-  
ध्यक्षेण मया सर्वेश्वरेण जीवपूर्वपूर्वकर्मनुगुणतया बोधिता  
प्रकृतिः सचराचरं जगत् सूयते जनयति विषमगुणा सती-अनेन  
जीवपूर्वकर्मनुगुणेन मदीक्षणेन हेतुना तज्जगद्विपरिवर्तते  
पुनः पुनरुद्भवति । हे कान्तेय ! श्रुतिश्चैवमाह-“विकारजननीम-  
ज्ञामष्टरूपामजां ध्रुवाम् । व्यायतेऽध्यामिता तेन तन्यते प्रेरिता

पुनः । सूयते पुरुषार्थश्च तेनैवाधिष्ठिता जगत् ॥” इति मन्त्रिधि-  
मात्रेणाधिष्ठातृत्वात् कर्तृत्वमुदासीनश्च न विरुद्धम् । ‘यथा सान्नि-  
धिमात्रेण गन्धः क्षोभाय जायते’ इत्यादि स्मरणाच्चैतदेवं मद-  
धिष्ठातृमात्रं खलु प्रकृतेरपेक्ष्यम् । माद्विना किमपि कर्तुं न सा  
प्रभवत्-न ह्यसति राज्ञः मिहासनाधिष्ठातृत्वे तदमात्याः कार्य्यं  
प्रभवः ॥१०॥

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।

परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥

मारा०व०-ननु च, सत्यमनन्तकोटीब्रह्माण्डव्यापी सच्चिदा-  
नन्दाविग्रहः कारणार्णवशायी महापुरुषः स्वप्रकृत्या जगत् सृजतीति  
यः प्रसिद्धः, स एव हि भवान् ; किन्तु बसुदेवसूनोस्तवेयं  
मानुषी तनुमिह तदंशेनैव केचित्तव निकर्षं वदन्तीत्यत आह-  
अवजानन्तीति । मम मानुष्यास्तनोरस्याः परं भावं कारणार्ण-  
वशायिमहापुरुषादिभ्योऽप्युत्कृष्टं स्वरूपमजानन्त एव ते ।  
कीदृशम् ? भूतं सत्यं यद्ब्रह्म, तच्च तन्महेश्वरश्चेति, तन्महेश्वरपदं  
सत्यान्तरव्यावर्तिकमत्र ज्ञेयम्--“युक्तं दमादावृते भूतम्”  
इत्यमरः । “तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहं वृन्दावनसुरभूरुह-  
भावनासीनं सदतं समरुद्गणोऽहं परमया मृत्या नोषयामि”  
इति श्रुतेः ; “नराकृति परब्रह्म” इति स्मृतेश्च, ममास्याः  
मानुष्यास्तनोः सच्चिदानन्दमयत्वं मदभिज्ञभक्तैरुच्यते एव, तथा  
सर्वब्रह्माण्डव्यापित्वञ्च बाल्ये मन्मात्रा श्रीयशोदया दृष्टमेव ;  
यद्वा, मानुषीं तनुमेव विशिनष्टि-परमुत्कृष्टं भावं सत्तां  
विशुद्धं सत्त्वं सच्चिदानन्दस्वरूपमित्यर्थः । ‘भावः सत्ता स्व-  
भावाभिप्रायः’ इत्यमरः । परं भावमपि विशिनष्टि-मम  
भूतमहेश्वरं मम सृजयानि भूतानि ये ब्रह्मावास्तवामपि महान्त-



मीश्वरम् । तस्माज्जीवस्येव मम परमेश्वरस्य तनुर्न भिन्ना ;  
तनुरेवाहम्, अहमेव तनुः, साक्षाद्ब्रह्मैव—“शाब्दं ब्रह्म दधद्वयुः”  
इति मर्दाभज्ञशुकोक्तेरिति भवादृशैस्तु विश्वम्यतामिति भावः ॥११॥

गी०भू०—नन्वीदृशमहिमानं त्वां किमिति केचिन्नाद्रियन्ते ?  
तत्राह—अवजानन्तीति । भूतमहेश्वरं निखिलजगदेकस्वामित्वं  
सत्यसङ्कल्पं सर्वज्ञ महाकारुणिकञ्च मां मृदास्तेऽवजानन्ति ।  
अत्र प्रकारं दर्शयन् बिंशतिपट्ट-मानुषीमिति मानुषसन्निवेशिनी  
मानुषचैष्टाबहुलां तनुं श्रीमूर्तिमाश्रितं तादात्म्यसम्बन्धेन नित्यं  
प्राप्तं मामितरराजकुमारतुल्यः कश्चिदुपपुण्यो मनुष्योऽयमिति  
बुद्ध्यावमन्यन्त इत्यर्थः । मानुषी तनुः खलु पाञ्चभौतिक्येव, न  
च भगवत्तनुस्तादृक्—“सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णाय” इति “तमेकं  
गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहम्” इति श्रवणात्, तथात्वे तदवज्ञा-  
तृणां भौक्त्यान्धयोगाद्ब्रह्मादिवन्द्यत्वायोगाच्च । एवंवृद्धिस्तेषां  
कुतो यया ते मृदा भण्यन्ते ? तत्राह—परमिति परमसाधारणं  
भावं स्वभावमजानन्तः मानुषावृत्तस्तस्य ज्ञानानन्दात्मत्व-सर्व-  
शत्व-मोक्षदत्त्वादिस्वभावानां भिन्नानादित्यर्थः । एवञ्च सात तनुमा-  
श्रितमित्युक्तिविशेषविभातं भेदकार्यमादाय बोध्या । यत्तु बभु-  
देवमृनाद्वैकाधिपतेः सृजकागृहाविभूतमेव स्वरूपं नैजं चतु-  
र्भुजत्वात्ततो ब्रजं गच्छतः स्वरूपन्तु मानुषं द्विभुजत्वाद्  
उक्तम्—“वभुव प्राकृतः शिशुः” इतिवत्, अस्ति तान्निरवधानम्—  
‘मानुषी तनुमाश्रितम्’ इति तदुक्तेः, ‘तेनैव रूपेण चतुर्भुजे’  
इति पार्थप्राथन्या चतुर्भुजं तं प्राति ‘दृष्ट्वेदं मानुषं रूपम्’ इत्यादि  
पार्थवाक्याच्च तस्मान्मानुष्यमिति वाशत्वमेव तत्तानोभितुल्यत्व-  
मित्युक्तम्—“यत्रावतीर्णं कृष्णारूपं परं ब्रह्म नराकृति” इति श्री-  
वैष्णवे, “गृहं परं ब्रह्म मनुष्यालिङ्गम्” इति श्रीभागवते च  
मनुष्यचैष्टाप्राप्त्युक्त्या तस्यास्तत्त्वम् । यथा मनुष्योऽपि राजादे-

वत् मिहवच्च विचैष्टानां देवो नृसिंहश्च व्यपदिश्यते, तस्माद्-  
द्विभुजश्चतुर्भुजश्च स मनुष्यभावेनाक्तहेतुद्वयाद्व्यपदिश्यः न खलु  
भुजभूम्ना परेशत्वम्—कार्त्तिकीर्त्यादीं व्यभिचारात्, विभुचैतन्य-  
त्वं जगज्जन्मादिहेतुत्वं वा परशत्वम्, तच्च द्विभुजेऽपि तस्मिन्न-  
स्येव तच्छतम् न च द्विभुजत्वं सादि—“मत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं  
वैद्यताम्बरम् । द्विभुजं मौजमुद्राढ्यं वनमालिनमीश्वरम्” इति  
तस्यानादिसिद्धत्वश्रवणात् प्राकृतः शिशुरित्यत्र—प्रकृत्या स्वरूपे-  
णैव व्यक्तः शिशुरित्येवार्थः । तस्माद्द्वैदूर्यमणौ नानारूपाणि  
इव नस्मिन् द्विभुजत्वादीनि युगपत् सिद्धान्येव यथारुच्युपास्या-  
नीति शान्तोदितत्व-नित्योदितत्व-कल्पना दूरात्सारिता ॥११॥

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।

राक्षसीमामुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

मारा०व०—ननु ये मानुषीं मायामयीं तनुमाश्रितोऽय-  
मीश्वर इति मत्वा त्वामवजानन्त, तेषां का गतिस्तत्राह—मोघाशा  
इति । यदि भक्ता अपि स्युस्तदपि मोघाशा भवन्ति, मत्मा-  
लोक्यादिमभिवाञ्छितं न प्राप्नुवन्ति । यदि ते कस्मिणस्तदा  
मोघकर्माणः कर्मफलं स्वर्गदिकं न लभन्ते ; यदि ते ज्ञानिन-  
स्तर्हि मोघज्ञाना ज्ञानफलं मोक्षं न विदन्ति, नर्हि ते किं  
प्राप्नुवन्तीत्यत आह—राक्षसीमिति । ते राक्षसीं प्रकृतिं राक्षसानां  
स्वभावं श्रिताः प्राप्ता भवन्तीत्यर्थः ॥ १२ ॥

गी०भू०—ननु पाञ्चभौतिक-मानुषतनुमानुपपुण्यः पुरुतेजाः  
कोऽप्ययमात भावेन त्वामवजानतां का गतिः स्यात्तत्राह—  
मोघांति । यदि ते ईश्वरभक्ता अपि स्युस्तदपि मोघाशा निष्फल-  
माक्षबाञ्छाः स्युः, यदि तेऽग्निहोत्रादिकर्मनिष्ठास्तदा मोघ-  
कर्माणः परिश्रमरूपाग्निहोत्रादिकाः स्युः, यदि ते ज्ञानाय वेदा-

न्तादिशास्त्रपरिशीलिनस्तदा मोघज्ञाना निष्फलतद्बोधाः स्युः । एवं कुतः ? यतस्ते विचेतसः नित्यमिद्धमनुध्यसन्निवेशि-माश्नान्-परब्रह्ममद्वयज्ञानितपापप्रतिबद्धविवेकज्ञाना इत्यर्थः । अतएव-मुक्तं बृहद्वैष्णवे-“यो वेत्ति भौतिकं देहं कृष्णस्य परमात्मनः । स सर्व्वस्माद्बहिष्कार्य्यः श्रोतस्मार्त्तविधानतः । मुयं तस्याव-लोक्यापि सचेलं स्नानमाचरेत्” इति । तर्हि ते किं फलं लभन्ते ? तत्राह-राक्षसीं हिमादिप्रचुरां तामसीं आसुरीं कामगव्यादि-प्रचुरां राक्षसीं मोहिनीं बिबेकाबलोपनीं प्रकृतिस्वभावं श्रिता नरके निवामार्हास्तिष्ठन्ति ॥१२॥

महान्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।

भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥

मारा०व०—तस्माद् ये महात्मानो यादृच्छिक-मद्भक्तिकृपया महात्मत्वं प्राप्तान्ते तु मानुषा अपि दैवीं प्रकृतिं देवानां स्वभावं प्राप्ताः सन्तो मां मानुषाकारमेव भजन्ते । न विद्यतेऽन्यत्र ज्ञानकर्म्मन्यकामनादौ मनो येषां ते । मां भूतादि ‘मया तत-मिदं सव्येम्’, इत्यादि मदैश्वर्य्यज्ञानेन भूतानां ब्रह्मादिस्तम्बपर्य्य-न्तानां कारणम् । अव्ययं सच्चिदानन्दविग्रहत्वादनश्वरं ज्ञात्वा तं ममाराध्यत्वे मद्भक्तैरंताबन्मात्रं मज्ज्ञानमपेक्षितव्यम् । इयमेव त्वं--पदार्थज्ञानकर्म्माद्यनपेक्षा भक्तिरनन्या सर्व्वश्रेष्ठा राजाविद्या राजगुह्यामिति द्रष्टव्यम् ॥ १३ ॥

गी०भू०—तर्हि के त्वामाद्रियन्ते ? तत्राह-महात्मान इति । ये नराकृतिपरब्रह्ममत्तात्त्वावित्प्रमङ्गेन तादृशमन्निष्ठया बिम्बी-णीगाधमनसो मदीयेऽपि सहस्रशीर्षाकारेऽरुचयन्ते मनुष्या अपि दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः सन्तो नराकृति मां मध्यभूतादिबि-विरुद्धादि-सर्व्वकारणमव्ययं नित्यञ्च ज्ञात्वा निश्चित्य भजन्ति

सेवन्ते, अनन्यमनसो नराकार एव मां निश्चितचित्ताः ॥१३॥

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।

नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपायते ॥१४॥

मारा०व०—भजन्तीत्युक्तं तद्भजनमेव किमित्यत आह-सततं मदेति नात्र कर्मयोग इव कालदेशपात्रशुद्धाद्यपेक्षा कर्त्तव्येत्यर्थः, -“न देशनियमस्तत्र न कालनियमस्तथा । नाच्छि-ष्टादौ निषेधाऽस्ति श्रीहरं नमिन् लुब्धक ॥” इति स्मृतेः । यतन्तो यतमानाः—यथा कुटुम्बपालनार्थं दीनाः गृहस्थाः धनिकद्वारादौ धनार्थं यतन्ते तथैव मद्भक्ताः कीर्त्तनादिभक्तिप्राप्त्यर्थं माधु-मभादौ यतन्ते, प्राप्य च, भक्तिमधीयमानं शास्त्रं पठतः इव पुनः पुनरभ्यस्यन्ति च । एतावन्ति नामग्रहणानि एतावत्यः प्रगतयः एतावत्यः परिचर्याश्चावश्यकर्त्तव्याः इत्येवं दृढानि व्रतानि नियमाः येषां ते, यद्वा, दृढानि अपातितानि एकादश्यादि-व्रतानि नियमा येषां ते । नमस्यन्तश्च इति चकारः श्रवण-पादसेवनाद्यनुक्तसर्व्वभक्तिसंग्रहार्थः । नित्ययुक्ता भावितं मन्त्रि-त्वमयोगमाकाङ्क्षन्तः आशंमायां भूतवच्चोति वर्त्तमानेऽपि भूतकालिकः क्त-प्रत्ययः । अत्र मां कीर्त्तयन्त एव मामुपासत इति मत्कीर्त्तनादिकमेव मद्गुपामनमिति वाक्यार्थः । अता मामिति न पानरुक्त्यमाशङ्कनीयम् ॥ १४ ॥

गी०भू०—भक्तिप्रकारमाह-सततमिति द्वयेन । सततं सव्येदा देशकालादिबिशुद्धिनैरपेक्षेण मां कीर्त्तयन्तः सुधा-मधु-गाण भगवत्कल्याणगुणकर्म्मनुबन्धीनि गोविन्द-गोवर्द्धनाद्वर्णा-दीनि नामान्युच्चैरुच्चारयन्तो मामुपासते, नमस्यन्तश्च मदीयाना-निकेतेषु गत्वा धूलिपङ्कामे पु भूतलेषु दण्डवत् प्रणिपतन्तो भक्त्या प्रतिभरेण । कीर्त्तयन्तो मामुपासत इति मत्कीर्त्तनादिकमेव



मदुपासनमिति वाक्यार्थः । अतो मामिति न पौनरुक्त्यम् । 'च' शब्दोऽनुक्तानां श्रवणार्चनबन्दनार्दीनां समुच्चायकः । यतन्तः समानाशयैः साधुभिः साद्धं मत्स्वरूपगुणादियाथात्म्यानिर्ग-  
याय यतमानाः, दृढव्रता दृढान्यस्त्रलितान्येकादशीजन्माष्टमु-  
पोपणादीनि व्रतानि येषां ते, नित्ययुक्ता भाविनं मन्त्रित्यमंयेन  
वाञ्छन्तः "आशंसायां भूतवच्च" इति सूत्रादृक्तीमानेऽपि भूत-  
कालिक-क्तप्रत्ययः ॥१४॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।

एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥

सारा०व०—तदेवं अत्राध्याये पूर्वार्ध्याये च अनन्यभक्त-  
एव महात्म-शब्दवाच्यः, आर्त्तादिसर्वभक्तेभ्यः श्रेष्ठ इति  
दर्शितम् । अथान्येऽपि अनुक्तपूर्वार्धे त्रिविधा भक्ताः पूर्वोक्ता-  
न्यूनाः अहंप्रहोपासकाः प्रतीकोपासका विश्व-रूपोपासका-  
स्ताव दर्शयति । ज्ञानयज्ञेनति अन्ये न महात्मनः पूर्वोक्त-  
साधनानुष्ठानाममर्था इत्यर्थः, ज्ञानयज्ञेन "तं वा अहमस्मि  
भगवो देवता अहं वै त्वमस्मि" इत्यादि-श्रुत्युक्तमहंप्रहोपासन  
ज्ञानं स एव परमेश्वरयजनरूपत्वात् यज्ञस्तेन, चकार एवार्थः,  
आप-शब्दः साधनान्तरत्यागार्थः, एकत्वेन उपास्योपासकयोरभेद-  
चिन्तनरूपेण । ततोऽपि न्यूना अन्ये पृथक्त्वेन भेदाचिन्तनरूपेण  
"आदित्यां ब्रह्मेत्यादेशः" इत्यादि श्रुत्युक्तेन प्रतीकोपासनेन  
ज्ञानयज्ञेन । "अन्ये ततोऽपि मन्दा बहुधा बहुभिः प्रकारं विश्व-  
तोमुखं विश्वरूपं सर्वोत्तमानं मामेवोपासते" इति मधुसूदन-  
नरन्वर्तीपादानां व्याख्या । अत्र 'नादेवो देवमर्चयेत्' इति  
तान्त्रिकदृष्ट्या गोपालोऽहम् इति भावनावस्थेया गोपालो-  
पासना, सा अहंप्रहोपासना । तथा यः परमेश्वरं विष्णुः स

हि सूर्य एव नान्यः ; स हि इन्द्र एव नान्यः, स हि सोम  
एव नान्यः" इत्येवं भेदेन एकस्या एव भगवद्विभूतेर्या उपासना  
सा 'प्रतीकोपासना' । विष्णुः सर्वः इति समस्त-विभूत्यु-  
पासना विश्वरूपोपासनेति ज्ञानयज्ञस्य त्रैविध्यम्, यद्वा, एकत्वेन  
पृथक्त्वेन इत्येक एव 'अहंप्रहोपासना'—'गोपालोऽहं' 'गोपालस्य  
दामोऽहम्' इत्युभयभावनामयी समुद्रगामिनी नदीव समुद्राभिन्ना-  
ऽभिन्ना चेति । तदा च ज्ञानयज्ञस्य द्वैविध्यम् ॥ १५ ॥

गी०भू०—एवं केवलस्वरूपनिष्ठान कीर्त्तनादिशुद्धभक्तिप्रधा-  
नान्महात्मशब्दितानभिधाय गुणीभूत-तत्कीर्त्तनादिज्ञानप्रधानान्  
भक्तानाह-ज्ञानेति । पूर्वोक्तोऽन्ये केचन भक्ताः पूर्वोक्तेन कीर्त्ति-  
नादिज्ञानयज्ञेन च यजन्तो मामुपासते । तत्र प्रकारमाह—बहुधा  
बहुप्रकारेण पृथक्त्वेन प्रपञ्चाकारेण प्रधानमहदाद्यात्मना विश्वतो-  
मुखमिन्द्रादिदेवतात्मना चावस्थितं मामेकत्वेनापासते । अयमत्र  
निष्कर्षः—सूक्ष्माचिदाचिच्छक्तिमान् सत्यसङ्कल्पः कृष्णो "बहु-  
स्याम्" इति स्वीयेन सङ्कल्पेन स्थूलाचिदाचिच्छक्तिमानेक एव  
ब्रह्मादिभूतान्तराविचित्रजगद्रूपतयावतिष्ठत इत्यनुमान्यना तादृ-  
शस्य मम कीर्त्तनादिना च मामुपासत इति ॥१५॥

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमोपधम् ।

मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हृतम् ॥१६॥

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।

वेद्यं पवित्रमोकार ऋक्साम यजुरेव च ॥१७॥

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं मुहूर्त् ।

प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१८॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।

अमृतं चैव मृत्युश्च सदसंचाहमर्जुन ॥१६॥

सारांशः—बहुधोपासते कथं त्वामेव इत्याशङ्क्य आत्मनो विश्वरूपत्वं प्रपञ्चयति चतुर्भिः । क्रतुः श्रोतोऽग्निष्टोमादिः, यज्ञः स्मार्तो वैश्वदेवादिः, औषधम् औषधि-प्रभवमन्नम्, पिता व्याघ्र-सर्पादिः सर्वजगदुत्पादनात्, माता जगतोऽस्य स्वकुक्षि—मध्य एव धारणात्, धाता जगतोऽस्य पोषणात्, पितामहः जगत्स्रष्टुः ब्रह्मणोऽपि जनकत्वात्, वेद्यं ज्ञेयं वस्तु, पवित्रं शोधकं वस्तु, गतिः फलं, भर्ता पतिः, प्रभुर्नियन्ता, माक्षी शुभाशुभदृष्टा, निवासः आस्पदं, शरणं विपद्भयस्त्राता, मुहूर्त-निर्मापकः, प्रभवाद्याः सृष्टिसंहार-स्थितयः क्रियाश्चाहं, निधानं निधिः पद्मशङ्खादिः, बीजं कारणम्, अव्ययम् अविनाशि, न तु ब्रह्मादिवन्नश्वरम्, आदित्या भूत्या निदाघे तपामि, प्रावृषि वर्षम् उत्सृजामि, कदाचिच्चैव ग्रहरूपेण वर्षं निगृह्णामि च । अमृतं मोक्षः, मृत्युः संसारः, सदमन स्थूलसूक्ष्मः, --एतत् सर्वम् अहमेव इति मत्वा विश्वतोमुखं मामुपासते इति पूर्वोक्तान्वयः ॥ १६-१६ ॥

गीःभूः—अहमेव जगद्रूपतयावस्थित इत्येतत् प्रदर्शयति—अहमिति चतुर्भिः । क्रतुर्ज्योतिष्टोमादिः श्रोतो, यज्ञो वैश्वदेवादिः स्मार्तो, स्वधा पित्रर्थं आद्धादिः, औषधं भेषजमौषधिप्रभव-मन्नं वा, मन्त्रो “याज्यापुरो नु” वाक्यादिर्येनादिश्य हविर्दे-वेभ्यो दीयते, आज्यं घृतहोमादिसाधनम्, अग्निर्होमादिकारण-माहवनीयादिः, हुतं होमो हविःप्रेक्षेयः, एतत् सर्वमिदमेवा-स्थितः । पिताहमिति—अस्य स्थिरचरस्य जगतस्तत्र तत्र पितृत्वेन मातृत्वेन पितामहत्वेन चाहमेव स्थितः, धाता धारकत्वेन पोषकत्वेन

च तत्र तत्र स्थितो गजादिश्चाहमेव—चिदचिच्छक्तिमतस्तदन्तर्या-मिणो मत्तोपासनतिरेकात्, वेद्यं ज्ञेयं वस्तु, पवित्रं शुद्धिकरं गङ्गादिवाग्, ज्ञेयं ब्रह्मणि ज्ञानहेतुरोङ्कारः सर्ववेदबीजभूतः, ऋगादिस्त्रिविधो वेदश्चशब्दादथर्व्यं च ग्राह्यम्—तेषु नियताक्षरः पादा ऋक्, मैव गीतिर्विशिष्टा माम, सामपदं तु गीतिमात्र-मैव वाचकमित्यन्यत्, गीतिशून्यमामनाक्षरं यजुः, एतत्त्रिविधं कर्मोपयोगिमन्त्रजातमहमेवेत्यर्थः । गतिः माध्यसाधनभूता ‘गम्यते इयमनया च’ इति निरुक्तेः, भर्ता पतिः, प्रभुर्नियन्ता, माक्षी शुभाशुभदृष्टा, निवासः भोगस्थानं—‘निबसत्यत्र’ इति निरुक्तेः, शरणं प्रपन्नार्चिहृत—‘शीर्ष्यते दुग्धमम्मिन’ इति निरुक्तेः, मुहूर्तमिच्छाहितकृत्, प्रभवादयः स्वर्गप्रलयस्थितयः क्रिया, निधानं निर्धिर्महापद्मादिर्नवविधः, बीजं कारणमव्ययमविनाशि, न तु ब्रह्मादिवद्बिनाशि । तपामीति—सूर्यरूपेणाहमेव निदाघे जग-त्तपामि, प्रावृषि वर्षं जलं विसृजामि मेघरूपेण, कदाचिद्वग्रह-रूपेण वर्षं निगृह्णामि आकर्षामि, अमृतं मोक्षः, मृत्युः संसारः, सत् स्थूलम्, असत् सूक्ष्मम्, एतत् सर्वमहमेव तथा चैवं बहु-विधनामरूपावस्थ निखिलजगद्रूपतया स्थित एक एव शक्तिमान-वामदेव इत्येकत्वानुसन्धिना ज्ञानयज्ञेन चैकं यजन्तो मामु-पासते ॥१६-१६॥

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्टा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।

ते पुण्यमावाध मुनेन्द्रलोकं मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवमोगान् ॥२०॥

सारांशः—एवं त्रिविधोपासनाबन्तोऽपि भक्ता एव मामेव परमेश्वरं जानन्तो मुच्यन्ते । ये तु यस्मिन्मते न मुच्यन्ते एव इत्याह द्वाभ्यां—त्रैविद्या इति । ऋग्यजुःसामलक्षणास्तिस्रो



विद्या अधीयन्ते जानन्ति वा त्रैविद्या वेदत्रयोक्तकर्मपरा  
इत्यर्थः । यज्ञैर्भूमिष्ठा इन्द्रादयो समैव रूपाणीत्यजानन्तोऽपि  
वस्तुत इन्द्रादिरूपेण सामेव इष्ठा यज्ञशेषं सोमं पिबन्तीति  
सोमपारस्ते पुण्यं प्राप्स्य ॥ २० ॥

गी०भू०—एवं स्वभक्तानां वृत्तिर्माभधाय तेषामेव विशेषं  
बोधायितुं स्वाविमुखानां वृत्तिमाह-त्रैविद्येति द्वाभ्याम् । तिसृणां  
विद्यानां समाहारस्त्रिविद्यः, तद्येऽधीयते विदन्ति च ते त्रैविद्याः-  
“तदधीते तद्वेद” इति सूत्रादण-ऋग्यजुःसामोक्तकर्मपरा  
इत्यर्थः । त्रयीविहितैर्व्योतिष्टोमादिगिर्यज्ञैर्भूमिष्ठा-इन्द्रादयो  
समैव रूपाण्यविद्वन्तोऽपि वस्तुतस्तत्ताद्रूपेणावस्थित सामेवारा-  
ध्येत्यर्थः । सोमपा यज्ञशेषं सोमं पिबन्तः, पूतपापा विनष्टवर्गादि-  
प्राप्ताविरोधिकल्मषाः सन्तो ये स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ते पुण्यामि-  
त्यादि विस्फुटार्थः । मयैव दत्तामिति शेषः ॥ २० ॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।  
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥

सारा०ब०—गतागतं पुनः पुनर्मृत्युजन्मनी ॥ २१ ॥

गी०भू०—ततश्च, ते तस्मात् ते स्वर्गप्रार्थकाः प्रार्थितं तं  
स्वर्गलोकं भुक्त्वा तत्प्रापके पुण्ये क्षीणे मात मर्त्यलोकं विशन्ति  
पञ्चाग्निविद्योक्तरीत्या भुवि ब्राह्मणादिजन्मानि लभन्ते पुनरप्ये-  
वमेव त्रयीविहितं धर्ममनुनिष्ठन्तः कामकामाः स्वर्गभोगेच्छवो  
गतागत लभन्ते संसरन्तीत्यर्थः ॥ २१ ॥

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ २२ ॥

शारा०ब०—मदनन्यभक्तानां सुखन्तु न कर्मप्राप्यं किन्तु

मदत्तमेव इत्याह—अनन्या इति । नित्यमेव मदैवाभियुक्तानां  
परिडतानामिति तदन्ये नित्यमपरिडता इति भावः ; यद्वा  
नित्यमयोगस्पृहावतां योगध्यानादिलाभः क्षेमं तत्पालनञ्च  
तैर्नपेक्षितमप्यहमेव वहामि, अत्र करोमीत्यप्रयुज्य वहामीति-  
प्रयोगात् तेषां शरीरपोषणभारो मयैवोह्यते, यथा स्व-कलत्र-  
पुत्रादिपोषणभारो गृहस्थेनैति भावः । न चान्येषामिव तेषामपि  
योगक्षेमं कर्म प्राप्यमेवेत्यत आत्मारामस्य सर्वत्रोदामी-  
नस्य परमेश्वरस्य तव किं तद्वहनेनेति वाच्यम्—“भक्तिरस्य  
भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैराभ्येनामुष्मिन् मनःकल्पनमेतदेव नैष्क-  
र्म्यम्” इति श्रुतेर्मदनन्यभक्तानां निष्कामत्वेन नैष्कर्म्यात्  
तेषु दृष्टं सुखं मदत्तमेव तत्र मम सर्वत्रोदासीनस्यापि स्व-  
भक्तवात्महत्यमेव हेतुर्ज्ञेयः । न चैवं त्वयि स्वेष्टदेवे स्वनिर्व्विह-  
भारं ददानास्ते भक्ताः प्रेमशून्या इति वाच्यम् ; तैर्मयि स्व-  
भारस्य सर्वथैवानर्पणात् मयैव स्वच्छया ग्रहणान् । न च  
मद्व्यपमात्रेण विश्वसृष्ट्यादिकर्त्तुं ममायं भारो ज्ञेयः, यद्वा  
भक्तजनासक्तस्य मम स्वभोग्यकान्ताभारवहनमिव तदीय-योग-  
क्षेमवहनमातिसुखप्रदमिति ॥ २२ ॥

गी०भू०—अथ स्वभक्तानां विशेषं निरूपयति—अनन्या  
इति । ये जना अनन्या मदकप्रयोजना मां चिन्तयन्तो ध्यायन्तः  
परितः कल्याणगुणरत्नाश्रयतया विचित्राद्भुतलीलापायूपाश्रय-  
तया दिव्यविभूत्याश्रयतया चोपासते भजन्ति तेषां नित्यं सर्व-  
दैव मय्यभियुक्तानां विस्मृतदेहयात्राणामहमेव योगक्षेमसन्नाया-  
हारणं तत्संरक्षणञ्च वहामि । अत्र करोमीत्यनुक्त्वा वहामीत्यु-  
क्तिस्तु तत्पोषणभारो मयैव बोद्धव्यो गृहस्थस्येव कुटुम्बपोषण-  
भार इति व्यनक्ति । एवमाह सूत्रकारः—“स्वामिनः फलश्रुते-  
रित्यात्रेयः” इति । अत्राहु-तेषां नित्यं मया सार्द्धमभियोगं

बाञ्छतां योगं सत्प्राप्तितक्षणं क्षेमञ्च सत्तोऽपुनरावृत्तिलक्षण-  
महमेव वहामि, तेषां सत्प्रापणभागे ममैव, न त्वर्षिरादेर्देवगण-  
स्येति । एवमेवाभिधास्यति द्वादशे—‘ये तु सर्वानि कर्माणि’  
इत्यादिद्वयेन । सूत्रकारोऽप्येवमाह—‘वशेषञ्च दर्शयति’ इति ॥ २३ ॥

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।

तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ २४ ॥

सारा०ब०—ननु च ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये इत्यनेन त्वया  
स्वस्यैवोपासना त्रिविधाक्ता, तत्र बहुधाः विश्वतोमुखमिति  
तृतायाया उपामनाया ज्ञापनार्थम् “अहं कर्तुरहं यज्ञः” इत्यादिना  
स्वस्य विश्वरूपत्वं दर्शितम्, अतः कर्मयोगेन कर्माङ्गभूते-  
न्द्रादियाजकाम्तथा प्राधान्येनैव देवतान्तरभक्ता अपि त्वद्भक्ता  
एव । कथं तर्हि ते न मुच्यन्ते ? यदुक्तं—त्वया “गतागतं  
कामकामा लभन्ते” इति, “अन्तवत्तु फलं तेषाम्” इति च  
तत्राह—येऽपीति । सत्यां मामेव यजन्तीति किन्त्वविधि-  
पूर्वकं—सत्प्रापकं विधिं विनैव यजन्त्यपुनरावर्त्तन्ते ॥ २३ ॥

गी०भू०—तन्विन्द्रादियाजिनोऽपि वस्तुतस्तद्व्याजिन एव  
तेषां कुतो गतागतमिति चेत्तत्राह—येऽपीति । ये जना अन्यदेव-  
ताभक्ताः केबलेष्विन्द्रादिषु भक्तिमन्तः श्रद्धया अत एव फलप्रदा  
इति दृढविश्वासेनापेताः सन्तो यजन्ते यज्ञैस्तानर्चयन्ति, तेऽपि  
मामेव यजन्ति इति सत्यमेतन्, किन्त्वविधिपूर्वकं ते यजन्ति-  
येन विधिना गतागतनिवर्त्तीका सत्प्राप्तिः स्यात् तं विधिं विनैव  
अतस्तत्तो लभन्ते ॥ २३ ॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुर्देव च ।

न तु मामभिजानन्ति तस्येनानश्चयन्ति ते ॥ २४ ॥

सारा०ब०—अविधिपूर्वकत्वमेवाह—अहमिति । देवतान्तर-  
रूपेणाहमेव भोक्ता प्रभुः स्वामी फलदाता चाहमेवेति । सान्तु  
तत्त्वेन न जानन्ति—यथा सूर्यस्याहमुपासकः सूर्ये एव मयि  
प्रसीदत, सूर्य एव मदभीष्टं फलं ददातु—सूर्ये एव परमेश्वर  
इति तेषां बुद्धिर्न तु परमेश्वरो नारायण एव सूर्यः स एव  
तादृशश्रद्धोत्पादकः, स एव मह्यं सूर्योपासनाफलप्रद इति  
बुद्धिगन्तव्यतो मदभिज्ञानाभावात्तो च्यवन्ते भगवान्नारायण एव  
सूर्यादिरूपेणागध्यत इति भावनया विश्वतोमुखं मामुपासी-  
नाम्नु मुच्यन्ते एव । तस्मान्माद्विभूतषु पूजा सूर्यादिषु मदिभू-  
तिज्ञानपूर्विकैव कर्त्तव्या न त्वन्यथेति द्योतितम् ॥ २४ ॥

गी०भू०—अविधिपूर्वकतां दर्शयति—अहं हीति । अहमेव-  
न्द्रादिरूपेण सर्वेषां यज्ञानां भोक्ता प्रभुः स्वामी पालकः फल-  
दश्चेत्येवं तत्त्वेन मां नाभिजानन्ति, अतस्ते च्यवन्ति संसरन्ति ॥ २४ ॥

यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृव्रताः ।

भूतानि यान्ति भूतज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥ २५ ॥

सारा०ब०—ननु च तत्तद्देवतापूजापद्धतौ यो यो विधि-  
स्तत्तन्नेव विधिना सा सा देवता पूज्यत एव । यथा विष्णु-  
पूजापद्धतौ य एव विधिस्तेनैव वैष्णवा विष्णुं पूजयन्त्यतो  
देवतान्तरभक्तानां को दोषः इति चेत् ? सत्यं, तां तां देवतां  
तद्भक्ताः प्राप्नुवन्त्येव इत्ययं न्याय एव इत्याह—यान्तीति । तेन त-  
त्तद्देवतानामपि नश्वरत्वात् तत्तद्देवताभक्ताः कथमनश्वरा भवन्तु ।  
अहन्त्वनश्वरो नित्यो भद्भक्ता अप्यनश्वराः इति ते नित्या  
एवेति द्योतितम्—भवानेकः शिष्यते शेषसंज्ञः इति, “एको  
नारायण एवासीन्न ब्रह्मा न च शङ्कर” इति, परार्द्धान्ति सोऽ-  
बुध्यत गोपसुपो मे पुरस्तादाभिर्वभूव इति, न च्यवन्ते च



मद्भक्ता महत्यां प्रलयादपि इत्यादि-श्रुतिभ्यः ॥ २५ ॥

गी०भू०—वस्तुतो मम तत्तद्देवतादिरूपतया स्थितत्वेऽपि तद्रूपतया भज्ज्ञानाभावादेव ते मां नाप्नुवन्तीत्याह—यान्तीति । अत्राप्यप्यर्थे व्रत-शब्दः पूजाभिधायो परब्रह्मा-शब्दात् । देव-व्रता देवपूजकाः सार्विकदर्शपूर्णमास्यादिकर्मभिरिन्द्रादीन् यजन्तस्तानेव यान्ति, पितृव्रता राजमाः श्राद्धादिकर्मभिः पितृन् यजन्तस्तानेव यान्ति, भूतेभ्यस्तामसास्तत्तद्दालभिर्यक्षरक्षोविना-यकान् पूजयन्तस्तान्येव भूतानि यान्ति । मद्याजिनस्तु निर्गुणाः सुलभैर्द्रव्यैर्माभिर्चयन्तो मामेव यान्ति । अपिरवधारणे । अय-मर्थः—इन्द्रादीनां वयमुपासकास्त एवास्माकमीश्वराः पूजाभिः प्रसीदन्तः फलान्यभीष्टानि ददुरिति मदन्यदेवसेवकानां भावना, सर्वशक्तिः सर्वेश्वरो वामुदेवस्तदेवतादिरूपेणावस्थितोऽस्म-त्प्रार्थी सुलभोपचारैः कर्मभिराराधितः सर्वार्थस्य मदीष्टानि दद्यादिति मत्सेवकानां भावना । ततश्च समानान्येव कर्माण्य-नुतिष्ठन्तोऽपि देवादिसेविना मद्भावना-यैमुख्यात्तात्रिजेष्टानेवाचि-रायुषोऽल्पविभूतिनामाद्य तैः सह परिमितान् भोगान् भुक्त्वा तद्विनाशं विनश्यन्ति । मत्सेविनस्तु मामनादिनिधनं सत्य-मङ्कल्पमनन्तविभूतिं विज्ञानानन्दमयं भक्तवत्सलं सर्वेश्वरं प्राप्य मत्तः पुनर्न निवर्त्तन्ते—मया माकमनन्तानि सुखानि अनुभवन्ते मद्भास्ति दिव्ये विलसन्तीति ॥ २५ ॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।

तदहं भक्त्युपहतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥

सारा०व०—वरं देवतान्तरभक्तवायामाधिक्यं, न तु मद्भक्ता-वित्याह—पत्रमिति । अत्र भक्त्येति करणं,—तृतीयायां भक्त्यु-पहतामिति पोतरुक्त्यं प्यात्, अतः सहायं तृतीया, भक्त्या

सहिता मद्भक्ता इत्यर्थः । तेन मद्भक्तभिन्नो जनस्तात्कालिक्या भक्त्या यत् प्रयच्छति, तत् तेनोपहतमपि पत्रपुष्पादिकं नैवा-श्नामीति द्योतितम् । ततश्च मद्भक्त एव पत्रादिकं यद्दाति तत् तस्याहमश्नामि यथोचितमुपयुञ्जे । कीदृशम् ? भक्त्या उपहतं न तु कस्याचिदनुरोधादिना दद्यामित्यर्थः । किञ्च मद्भक्तस्याप्यपवित्रशरीरत्वे सति नाश्नामीत्याह—प्रयतात्मनः शुद्धशरीरस्येति रजस्वलादयो, व्यावृत्ताः, यद्वा प्रयतात्मनः शुद्धान्तःकरणस्य, मद्भक्तं विना नान्यः शुद्धान्तःकरण इति । “धातात्मापुरुषः कृष्णपादमूलं न मुञ्चति” इति परीक्षितुक्तेर्मत्त-पादसेवात्यागासामर्थ्यमेव शुद्धाचिन्तावाचिहम्, अतः काचित् काम-क्राधादिसत्त्वेऽपि उत्स्वातदंष्ट्रोरगदंशवत्तास्याकिञ्चित्करत्वं ज्ञेयम् ॥ २६

गी०भू०—एवमक्षयानन्तफलत्वान्मद्भक्तिः कार्येत्युक्त्वा सुखसाध्यत्वाच्च मा कार्येत्याह—पत्रमिति । पत्रं वा पुष्पं बान्यद्वा, यत्सुलभं वस्तु यो भक्त्या प्रीतिभरेण मे सर्वेश्वराय प्रयच्छति, तस्य भक्त्युपहतं प्रीत्यर्पितं तत्तदनन्तविभूतिः पूर्णकामोऽप्यहम-श्नामि यथोचितमुपयुञ्जे, तत्प्रीत्युदितक्षुत्तृप्णाः मन तद्भक्त्यावे-शात्तत् सर्वमश्नोति वा । तस्य कीदृशस्येत्याह—प्रयतात्मनो विशुद्धमनसो निष्कामस्येत्यर्थः । तथा च निष्कामेण मदनुरक्ते-नापितं तदश्नामि, तद्विपरीतेनार्पितं तु नाश्नामीत्युक्तम्, ‘भक्त्या’ इत्युक्त्वापि पुनर्भक्त्युपहतमित्युक्तिर्भक्तिरेव भक्तोपिका, न तु द्विजत्व-तपस्वित्वादिति सूचयति । इह ‘मततम्’, ‘अनन्यः’ ‘पत्रम्’ इत्यादिभिस्त्रिभिर्भक्ता कीर्त्तनादिरूप-विशुद्धभक्तिरर्पि-तैव क्रियेत, न तु कृत्वापितेति । “इति पुंभाषिता विष्णो भक्तिश्चेन्नबलभ्रणा । क्रियेत भगवत्यद्वा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्” इति प्रह्लादवाक्यात् ; अतस्तथात्र नाक्तेः ॥ २६ ॥

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददामि यत् ।

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥२९॥

मारा०ब०—ननु च “आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी” इत्या-  
रभ्य एतावतीषु तदुक्तासु भक्तिषु मध्ये खल्वहं कां भक्तिं  
करयै इत्यपेक्षायां, भा० अजु० न ! साम्प्रतं तावत्तावत् कर्मज्ञाना-  
दीनां त्यक्तमशक्यत्वात् सर्वोत्कृष्टायां केवलायामनन्यभक्तौ  
नार्थकारिणा अपि निष्कृष्टायां सकामभक्तौ, तस्मात्त्वं निष्कामां  
कर्मज्ञानमिश्रां प्रधानीभूतामेव भक्तिं कुर्वित्याह-यत् करोषीति  
द्विभ्याम् । लौकिकं वैदिकं वा यत् कर्म त्वं करोषि, यदश्नासि  
व्यवहारतो भोजनपानादिकं यत् करोषि, यत्तपस्यसि तपः करोषि,  
तत् सर्वं मय्यर्पणं यस्य तद् यथा स्यात्, तथा कुरु । न चायं  
निष्कामकर्मयोग एव न तु भक्तियोग इति वाच्यम् । निष्काम  
कर्मभिः शास्त्रविहितं कर्मैव भगवत्पश्येते, न तु व्यवहारिकं  
किमपि कृतम्, तथैव सर्वत्र दृष्टेः । भक्तैस्तु स्वात्ममनः  
प्राणेन्द्रियव्यापारमात्रमेव रवेष्टदेवे भगवत्पश्यते । यदुक्तं भक्ति-  
प्रकरणे एव—“कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना बानु-  
सृतस्वभावात् । करोति यद् यत् सकलं परस्मै नारायणायैति  
ममर्पयेत्तान् ॥” इति । ननु च जुहोषीति हवनमिदमर्चन-  
भक्त्यङ्गभूतं विष्णुहोष्यकमेव, तपस्यतीति तपोऽप्येतदेवादित्या-  
दिभूतरूपमेव अत इयमनन्यैव भक्तिः किमिति नोच्यते ?  
स यत् अनन्या भक्तिरिह कृत्वापि न भगवत्पश्यते किन्तु भगवत्प-  
श्यतेव क्रियते, यदुक्तं श्रीप्रल्हदेन—“श्रद्धां कीर्त्तनं विष्णोः  
स्मरणम्” इत्यत्र “इति पुंसापिता विष्णो भक्तिश्चेन्न ब्रह्मणा  
क्रियेत” इत्यस्य व्याख्या च श्रीश्वामिचरणानां—“भगवात् विष्णो  
भक्तिः क्रियते, सा चापि तैव मती यदि क्रियते न तु ह्वा  
मती पश्चादप्येत इत्यतः पर्यामिदं न केवलायां पर्यवस्येति ॥२९॥

गी०भू०—सततम् इत्यादिभिर्निर्गपेक्षाणां भक्तिर्मया त्वां  
प्रत्युक्ता, त्वया तु परिनिष्ठितेन कीर्त्तनादिकां भक्तिं कुर्वतापि  
लोकसंग्रहाय निखिलकर्मार्पणान्ममापि भक्तिः कार्येति भावे-  
नाह-यदिति । यत्त्वं देहयात्रा-साधकं लौकिकं कर्म करोषि,  
यच्च देहधारणार्थं अन्नादिकमश्नासि, तथा यज्जुहोषि वैदिकमग्नि-  
होत्रादिहोममनुतिष्ठसि, यच्च सत्पात्रेभ्यः अन्नाहिरण्यादिकं ददामि,  
प्रत्यब्दमज्ञातदुरितक्षतये चान्द्रायणवाचरमि, तत् सर्वं मदर्पणं  
यथा स्यात्तथा कुरुष्व-तेन मन्निर्मितस्यास्य लोकस्य संग्रहात्त्वाय  
सत्प्रसादो भूयान् भावीति । न चेयं सर्वकर्मार्पणरूपा भक्तिः  
सनिष्ठानामिति वाच्यम्-तैर्वैदिकानामेव तत्रार्प्यमाणात् ; किन्तु  
परिनिष्ठितानामेवेयम्-तैः यत् करोषि इत्यादि स्वामिनिर्देशेन  
सर्वकर्मणां तत्रार्पणान् । ते हि स्वामिनो लोकसंग्रहं प्रयाम-  
मर्पयन्तीपवन्तथा तान्याचरन्तस्तं प्रसादयन्तीति ॥२९॥

शुभाशुभफलैरेवं मोक्षये कर्मबन्धनैः ।

मन्यामयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥३०॥

मारा०ब०—शुभाशुभफलैरनन्तैः कर्मरूपैर्यन्धनैर्विमोक्षये ।  
“भक्तिरभ्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैराभ्येतामुपैष्यन्मनःकल्पनम-  
तदेव नैष्कर्म्यम्” इति श्रुतेः । मन्यामः कर्मफलत्यागः स एव  
योगः तेन युक्त आत्मा मनो यस्य सः । न केवलं युक्त एव  
भविष्यासि, अपि तु विमुक्तो मुक्तेष्वपि विशिष्टः सन् मामु-  
पैष्यासि साक्षात् पारचरितुं मानिकटमेष्यासि,—“मुक्तानामपि  
सिद्धानां नारायणपरायणः । सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि  
गहामुने ॥” इति स्मृतेः । “मुक्तिं ददाति कर्हिचित्सम न भक्ति-  
योगम्” इतिशुक्रावनेः, मुक्तेः सकाशादपि साक्षान्मत्प्रेममेवया  
यत्कर्पोऽयमेवेति भावः ॥ ३० ॥



गी०भू०—ईदृशभक्तेः फलमाह-शुभेति । एवं मन्निदेश-  
कृतायां सर्वकर्मपारिणलक्षणायां भक्तौ सत्यां कर्मरूपैर्धन्य-  
नैस्त्वं मोक्षयसे । कीदृशैरित्याह-शुभेतीष्टानिष्टफलैस्तत्प्राप्तप्रतीपैः  
प्राचीनैरित्यर्थः । कीदृशस्त्वमित्याह, संन्यासेति मयि कर्मपारिण  
संन्यासः, स एव चित्तविशोधकत्वाद्योगस्तद्युक्त आत्मा मना  
यस्य सः । न केवलं मुक्त एव कर्मभिर्भेदिष्यस्यापि तु विमुक्तः  
सन् मामुपैष्यासि-मुक्तेषु विशिष्टः सन् मां साक्षात् सेवितुं  
मदन्तिकं प्राप्स्यसि ॥२८॥

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९॥

सारा०ब०—ननु भक्तानेव विमुक्तीकृत्य भवं प्राप्यसि, न  
त्वभक्तानिति चेत्तर्हि तवापि किं रागद्वेषादिकृतं वैषम्यमस्ति ?  
नेत्याह-समोऽहमिति । ते भक्ता मयि वर्त्तन्ते, अहमपि तेषु  
वर्त्त इति व्याख्याने भगवत्येव सर्वं जगद्वर्त्तत एव, भगवानपि  
सर्वजगत्सु वर्त्तत एव इति नास्ति विशेषः, तस्मात् “ये यथा  
मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्” इति न्यायेन, मयि ते  
आसक्ता भक्ता वर्त्तन्ते यथा तथाहमपि तेष्वामक्त इति  
व्याख्येयम् । अत्र कल्पवृक्षादिदृष्टान्तस्त्वेकांशेनैव ज्ञेयः, न हि  
कल्पवृक्षफलाकाङ्क्षया तदाश्रिता आसज्जन्ति नापि कल्पवृक्षः  
स्वाश्रितेष्वामक्तः नापि स आश्रितस्य वैरिणो द्वेष्टि, भगवांस्तु  
स्वभवतवैरिणं स्वहन्तेनैव हिनस्ति; यदुक्तं प्रल्हादाय-“यदा  
द्रुह्योद्धुनिष्येऽपि वरोज्जितम्” इति । केचित्तु तु-कार्त्तव्य  
भिन्नोपक्रमाथत्वमाख्याय भक्तबात्सल्यलक्षणं तु वैषम्यं मयि  
विराजत एवेति, तच्च भगवतो भूषणं न तु दूषणमिति व्याचक्षते ।  
तथा हि भगवतो भक्तबात्सल्यमेव प्रसिद्धं न तु ज्ञाति-

बात्सल्यं योगिबात्सल्यं वा—यथा ह्यन्यो जनः स्व-दामेष्ट्वेव  
वत्सलो, नान्यदासेषु तथैव भगवानपि स्वभक्तेष्वेव वत्सलो  
न रुद्रभक्तेषु, नापि देवीभक्तेष्विति ॥ २८ ॥

गी०भू०—ननु भक्तानेव विमोचयान्तिकं नयमि, नाभक्ता-  
निति तवापि किं सर्वेश्वरस्य रागद्वेषकृतं वैषम्यमस्ति ? तत्राह-  
ममोऽहमिति । देवमनुष्यतिर्य्यकस्थाचरादिषु जात्याकृतिस्वभावै-  
र्विषयेषु सर्वेषु भूतेषु तत्तात्कर्मनिगुण्येन सृष्टिपालनकृत् सर्व-  
ेश्वरोऽहं समः पर्जन्य इव नानाविधेषु तत्ताद्वीजेषु, न तेषु-मे  
कोऽपि द्वेष्यः प्रियो वेत्यर्थः । भक्तानामभक्तेभ्यो विशेषं बोध-  
यितुमिह तु-शब्दः । ये तु मां भजन्ति श्रवणादिभक्तिभिरनुकूल-  
यन्ति, ते भक्त्यानुरक्त्या मयि वर्त्तन्ते, तेष्वहं च सर्वेश्वरो-  
ऽपि भक्त्या वर्त्त-“मणिसुवर्ण” न्यायेन भगवतोऽपि भक्तेषु  
भक्तिरभिन-“भगवान् भक्तभक्तिमान्” इत्यादि-श्रीशुकवाक्या-  
दिति प्रेम्णा मिथो वर्त्तनविशेषो दर्शितः । अन्यथा त्वविशेषा-  
पत्तिः । तस्य प्रतिज्ञा त्वीदृश्येवावगम्यते-“ये यथा माम्” इत्या-  
दिना । कल्पद्रुमदृष्टान्तोऽप्यत्रांशिक एव-तत्र मिथः प्रीत्यप्रतीतेः  
पक्षपाताप्रतीतेश्च ; तथाच सर्वत्राविषमेऽपि मयि स्वाश्रितबात-  
सल्यलक्षणं वैषम्यमस्तीत्युक्तम् । एवमाह सूत्रकारः-“उपपद्यते  
चाभ्युपलभ्यते च” इति । ननु भक्तेरपि कर्मत्वानुमारेण तेषु  
तद्वात्सल्यान्न तल्लक्षणे तदिति चेन्मैयमेव-स्वरूपशक्तिवृत्तौर्भक्तेः  
कर्मन्यत्वात् । श्रुतिश्च, “सच्चिदानन्दैकरसे भक्तियोगं तिष्ठति”  
इति । न च स्वरूपप्रयुक्तत्वाददूषणमेतदिति वाच्यम्-गुणश्रेष्ठ-  
त्वेन स्तूयमानत्वात् ॥२९॥

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।

साधुरेव स मन्तव्यः यम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३०॥

सारा०ब०—स्वभवतेष्वामक्तिर्मम स्वाभाविक्येव भवति सा दुर्गाचारेऽपि भक्ते नापयति तमप्युत्कृष्टमेव करामीत्याह—अपि चेदिति । सुदुर्गाचारः परहिंसा-परदार-परद्रव्यादिप्रहण-परायणोऽपि मां भजते चेत्, कीदृग्भजनवानित्यत आह—अनन्य-भाक् मत्तोऽन्यदेवतान्तरं मद्भक्तेरन्यत् कर्मज्ञानादिकं, मत्काम-नातोऽन्यां राज्यादिकामनां न भजते स माधुः । नन्वेतादृशं कदाचारे दृष्टे मति कथं माधुत्वम् ? तत्राह—मन्तव्यो मननीयः माधुत्वेनैव स ज्ञेय इति यावत्; मन्तव्यमिति विधिवाक्यं अन्यथा प्रत्यवायः स्यात्; अत्र मदाज्ञैव प्रमाणमिति भावः । ननु त्वां भजत इत्येतदंशेन माधुः परदागदिप्रहणांशेनामाधुश्च स मन्तव्यस्तत्राह—एवेति । सर्व्वेणाप्यंशेन माधुर्यं मन्तव्यः कदापि तस्यामाधुत्वं न द्रष्टव्यमिति भावः । सम्यग्द्वयवमितं निश्चयो यस्य सः । दुस्त्यजेन स्वपापेन नरकं निर्यग् योनीर्वा यामि ऐकान्तिकं श्रीकृष्णभजनन्तु नैव जिहामामीति स शोभनमध्यवसायं कृतवानित्यर्थः ॥ ३० ॥

गी०भू०—मम शुद्धभक्तिवश्यता-लक्षणः स्वभावो दुस्त्यज एव ; यदहं जुगुप्सितकर्मण्यपि भक्तेऽनुरज्यस्तमुत्कर्षयामाति पूर्व्वार्थं पुष्पान्नाह—अपि चेदिति । अनन्यभाक् जनश्चेत् सुदुर्गा-चारेऽर्त्ताविगर्हितकर्मपि मन मां भजते—मत्कीर्त्तनादिभिर्मा-मेवते, तदापि स माधुर्येव मन्तव्यः ; मत्तोऽन्यां देवतां न भज-त्याश्रयतीति मदेकान्तो मामेव स्वामिनं परमपुमर्थञ्च जानति-त्यर्थः । उभयथा वर्त्तमानाऽपि माधुत्वेन म पृथ्य इति बोध-यितुमेव-कारः । तस्य तथात्वेन मनने 'मन्तव्य' इति स्मृतिरंश-रूपो विविध दर्शितः—इतरथा प्रत्यवायादिति भावः । उभय-थापि वर्त्तमानस्य माधुत्वमेवेत्यत्रोक्तः हेतुः पुष्पान्नाह—सम्य-गिति-यदमां सम्यग्द्वयवासतो मदेकान्तनिष्ठारूप-प्रतिष्ठतिश्चया-

नित्यर्थः । एवमुक्तं नागसिंहं—“भगवति च हरावनन्यचेता भृश-मलिनोऽपि विराजते मनुष्यः । न हि शशकलुषच्छाविः कदाचि-त्तिमिगपराभवतामुपैति चन्द्र” इति ॥ ३० ॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शशच्छान्तिं निगच्छति ।

कोन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ३१ ॥

सारा०ब०—ननु तादृशस्याधर्मिणः कथं भजनं त्वं गृह्णामि कामक्रोधादिदूषितान्तःकरणेन निवेदितमन्नपानादिकं कथमश्ना-मीत्यत आह—क्षिप्रं शीघ्रमेव स धर्मात्मा भवति । अत्र क्षिप्रं भावी स धर्मात्मा शशच्छान्तिं गमिष्यति इति अप्रयुज्य भवति गच्छति इति वर्त्तमानप्रयोगात् अधर्मकरणानन्तरमेव मामनुमृत्य कृतानुतापः क्षिप्रमेव धर्मात्मा भवति । हन्त हन्त ! मत्तुल्यः कोऽपि भक्तलोकं कलङ्कयन्नयमां नास्ति, तद्विद्धि मा-मिति शश्वत् पुनः पुनरपि शान्तिं निर्व्वन्दं नितरां गच्छति, यद्वा, कियतः समयादनन्तरं तस्य भावि धर्मात्मत्वं तदानीमपि सूक्ष्मरूपेण वर्त्तते एव । तन्मनसि भक्तेः प्रवेशान् यथा पोते महो-पधे मति तदानीं कियत्कालपर्य्यन्तं नश्यदवश्यो उग्रदाहो वा वि-पदाहो वर्त्तमानोऽपि न गण्यत इति ध्वनिः । ततश्च तस्य भक्तस्य दुराचारत्वगमकाः कामक्रोधाद्या उत्त्वातदंष्ट्रोरगदंशवदकिञ्चित्करा एव ज्ञेया इत्यनुध्वनिः । अतएव शश्वत् सर्व्वदेव शान्तिं काम-क्रोधाद्यनुपशमं नितरां गच्छति अतिशयेन प्राप्नोतीति दुर्गा-चारत्वशायामपि स शुद्धान्तःकरण एवाच्यत इति भावः । ननु यदि स धर्मात्मा स्यात्तदा नास्ति कोऽपि विवादः, किन्तु कश्चिद्दुराचारभक्ता जन्मपर्य्यन्तमपि दुराचारत्वं न जहाति तस्य का वार्त्तित्यतो भक्तवत्सलो भगवान् सप्रीदि संप्रापमिवाह—कोन्तेयेति । मे भक्तो न प्रणश्यति, तदपि



प्राणनाशे अधःपातं न याति । कुतर्ककर्कशवादिनो नैतन्मन्ये-  
रन्निति शोकशङ्काव्याकुलमञ्जुर्न प्रोत्साहयति—हे कोन्तेय,  
पटहकाहलादि--महाघोषपूर्वकं विबदमानानां सभां गत्वा बाहु-  
मुत्क्षिप्य निःशङ्कं प्रतिजानीहि प्रतिज्ञां कुरु । कथम् ? मे मम  
परमेश्वरस्य भक्तो दुराचारोऽपि न प्रणश्यत्यापि तु कृतार्थ  
एव भवति ततश्च ते तत्प्रोद्दिष्टिजृम्भितविध्वंसितकुतर्काः सन्तो  
निःसंशयं त्वामेव गुरुत्वेनाश्रयेरन् इति स्वामिचरणाः । ननु  
कथं भगवान् स्वयमप्रतिज्ञाय प्रतिज्ञातुमञ्जुर्नमेवातिदिदेश-  
यथैवाग्रे “मामेवैष्यासि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे” इति  
वक्ष्यते तथैवात्रापि “कोन्तेय ! प्रतिजानेऽहं न मे भक्तः प्रणश्यति”  
इति कथं नोक्तम् ? उच्यते--भगवता तदानीमेव विचारितं  
भक्तवत्पत्नेन मया स्वभक्तापकर्षलेशमप्यनहिष्णुना स्वप्रतिज्ञां  
स्ववर्द्धयित्वापि स्वापकर्षमङ्गीकृत्यापि भक्तप्रतिज्ञैव रक्षिता बहुत्र ;  
यथा तत्रैव भाष्मयुद्धे स्वप्रयिज्ञामप्यपाकृत्य भाष्मप्रतिज्ञैव  
रक्षिष्यते । वदिस्मुखा वादिनो वैतण्डिका मत्प्रतिज्ञां श्रुत्वा  
हमिष्यन्ति, अञ्जुनप्रतिज्ञा तु पापाणरेखेवेति ते प्रतियन्ति ।  
अतोऽञ्जुनमेव प्रतिज्ञां कारयामीत्यत्रैतादृशदुराचारस्याप्यन्य-  
भक्तिश्रवणादन्यभक्ताभिधायकवाक्येषु सर्वत्र न विद्यते-  
न्यत्स्त्रीपुत्राद्यालकतिविधर्मशोकमोहकामक्रोवादिकं यत्रेति कुप-  
ण्डितव्याख्या न ग्राह्येति ॥ ३१ ॥

गी०भू०—ननु “नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।  
नाशान्तमनसो वापि प्रज्ञानेनैवमाप्नुयात्” इति दुराचारिणस्त-  
द्वैमुख्यश्रवणात् कथं तस्य साधुत्वमिति चेत्तत्राह—क्षिप्रमिति ।  
स्वाभावि रुदुराचारिबिषयमिदं श्रवणं, मदेकान्तो तु मनास धृत-  
नातिपूतेन सर्वश्वरेण मयागन्तुकं दुराचारं विनिर्धूय क्षिप्रमेव  
धर्मात्मा सदाचारनिष्ठमता भवति ; शश्वन् पुनःपुनरनुत्पन्न

मत्स्मृतिप्रतिकूलात्तस्माच्छान्तिं निवृत्तिं नितरां गच्छति । नन्व-  
कृतप्रायश्चित्तमेवं स्मार्त्ताः साधुं न मन्येरन्निति चेत्तत्र भक्तानु-  
रक्तिविवशः सकोपमिबाह-कौन्तेयेति । त्वं तेषां सभां गतः  
प्रतिजानीहि-मे ममैकान्तो भक्तः प्रमादात् सुदुराचारोऽपि न  
प्रणश्यति-मत्तो भ्रष्टः सन् दुर्गतिं नाप्नोति-अपि तु तादृशेन  
मया पूतो मत्प्राप्तियोग्यश्चकास्ति--“स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य  
त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः । विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चि-  
दुत्तति सर्वं हृदि सन्निविष्टः ॥” इत्यादि स्मृतिभ्यः । स्मार्त्तोऽपि तु  
मदेकान्तितोऽन्यत्र विधायकैर्भाव्यं-स्मार्त्ता प्रायश्चित्तमपेक्ष्य  
यदुक्तं, मत्स्मृतिरूपं तत्र प्रबलमिति सुकुलीनैरेव, न तु दुष्कु-  
लीनैराहर्त्तव्यमिति बोधयितुं कौन्तेयेति ॥ ३१ ॥

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ ३२

सारा०व०—एवं कर्मणा दुराचारणामागन्तुकान् दोषान्  
मद्भक्तिर्न गणयतीति किं चित्रम् ? यतो जात्यैव दुराचाराणां  
स्वभाविकानां दोषान् मद्भक्तिर्न गणयतीत्याह—मामिति ।  
पापयोनयोऽन्यजा स्तेच्छा अपि ; यदुक्तम्—“किरातहृणान्त्र-  
पुलिन्दपुक्कशा, आभीरकङ्का यवनाः खशादयः । येऽन्ये च  
पापास्तदुपाश्रयाश्रयाः, शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥”  
“अहो वत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाप्रे वर्त्तते नाम तुभ्यम् ।  
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सन्नुराग्या, ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते ॥”  
किं पुनः स्त्रीवश्याद्या अशुद्धयत्नीकादिमन्तः ? ॥ ३२ ॥

गी०भू०—महाघोषपूर्वकं विबदमानानां सभां गत्वा बाहु-  
मुत्क्षिप्य निःशङ्कं प्रतिजानीहि प्रतिज्ञां कुरु-सर्वेश्वरोऽहं मदे-  
कान्तितो आगन्तुकदोषान् विधुनोमीति किं चित्रम् ? यदति-

पापिनोऽपि मद्भक्तप्रसङ्गाद्बिभूताविद्या विमुच्यन्त इत्याह-मां  
हति । ये पापयान्त्योऽन्त्यजाः सहजदुराचाराः स्पृष्टेऽपि मद्भ-  
क्तप्रसङ्गेन मां सर्वेशं वसुदेवसुतं व्यपाश्रित्य शरणमागत्य परं  
योगिदुर्लभां गतिं मत्प्रापि यान्ति हि निश्चिनमेतत् । एवमाह  
श्रीमान् शुकः-“किरातहृणान्ध्रपुलिन्दपुक्कशा आभीरकङ्का यवनाः  
ग्नशादयः । येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रयाः शुभ्यन्ति तस्मै प्रभ-  
विष्णवे नमः ॥” इति । स्यादयो येऽशुद्धगुलीकादिमन्तर्ग-  
ऽपि ॥३२॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।

अनित्यममुष्यं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥

साग०व०-ततोऽपि किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्याः सत्कुलाः  
सदाचाराश्च ये भक्ताः ? तस्मात्त्वं मां भजस्व ॥ ३३ ॥

गी०भू०-किमिति । यद्येवं तर्हि ब्राह्मणा राजर्षयः क्षत्रि-  
याश्च सत्कुलाः पुण्याः सदाचारिणो भक्ताः मन्तः परां गतिं  
यान्तीति किं पुनर्वाच्यम् ? नास्त्यत्र संशय-लेशोऽपि ; तस्मा-  
त्त्वमपि राजर्षिमं लोकं प्राप्य मां भजस्व अनित्यं नश्वरम-  
मुष्यमापन्मुष्यं विनाशिन्यल्पमुष्येऽस्मिन्लोके राज्यस्पृहां विहाय  
नित्यमनन्तानन्दं मामुपास्य प्राप्तुं ह्यति त्वरात् व्यव्यते । अत्रास्य  
लोकम्यानित्यत्वं कण्ठतो ब्रुवन् हरिर्मिथ्यात्वं तस्य निरामात् ॥३३॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।

मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

साग०व०-भजनप्रकारं दर्शयन्नुपसंहरति-मन्मना इति ।  
एवमात्मानं मनो देहश्च युक्त्वा मयि नियोज्य ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीम-  
पर्वणि श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्माविद्यायां योगशास्त्रे श्री-  
कृष्णाञ्जुनसंवादे राजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ।  
साग०व०-पात्रापात्रविचारित्वं स्वस्पर्शति सर्वशोधनम् ।

भक्तरेवात्रैतदस्या राजगुह्यत्वमीक्ष्यते ॥

इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् ।

गीतासु नवमोऽध्यायः मङ्गलः सङ्गतः सताम् ॥

गी०भू०-अथ परिनिष्ठितस्याञ्जुनस्याभीष्टां शुद्धां भक्तिमुपदि-  
शन्नुपसंहरति-मन्मना इति । राजभक्तोऽपि राजभृत्यः पत्न्या-  
दिमनास्तथा स तन्मना अपि न तद्भक्तो भवति ; त्वं तु तद्वि-  
त्क्षणभावेन मन्मना मद्भक्तो भव मयि नीलोत्पलश्यामलत्वादिव-  
गुणवति वसुदेवसूने स्वस्वामित्व-स्वपुमर्थत्वबुद्ध्या नर्वाच्छत्र-  
मधुधारावत् सततं मनो यस्य सः, तथा मद्याजी तादृश-  
स्यातिमात्रप्रियस्य ममर्चने निरतो भव ; तादृश मामतिप्रमणा  
नमस्कुरु दण्डवत् प्रणम । एवमात्मानं मनो देहश्च युक्त्वा मयि  
निवेश्य मत्परायणो मदेकाश्रयः सन् मामुपैष्यसि । एषा भक्ति-  
रपितैव क्रियेतेति बोध्यम् ॥३४॥

पात्रापात्रधिया शून्या स्पर्शति सर्वशोधनाशिनी ।

गङ्गेव भक्तिरेवेति राजगुह्यमिह स्मृता ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषद्भाष्ये नवमोऽध्यायः ।

दशमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच-

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।

यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥१॥



पापिनोऽपि मद्भक्तप्रसङ्गाद्बिधूताविद्या विमुच्यन्त इत्याह-  
हीति । ये पापयोनयोऽन्त्यजाः सहजदुराचाराः स्युस्तेऽपि मद्-  
भक्तप्रसङ्गेन मां सर्व्वेशं बभूवुः सुतं व्यपाश्रित्य शरणमागत्य पर-  
योगिदुर्लभां गतिं मत्प्रापि यान्ति हि निश्चितमेतत् । एवम-  
श्रीमान् शुकः—“किरातहृणान्धपुलिन्दपुक्कशा आभीरकङ्का वक्र-  
स्तशादयः । येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्र-  
विष्णवे नमः ॥” इति । स्यादयो येऽशुद्धचलीकादिमन्त्र-  
ऽपि ॥३२॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥

सारा०ब०—ततोऽपि किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्याः सत्कुला-  
सदाचाराश्च ये भक्ताः ? तस्मात्त्वं मां भजस्व ॥ ३३ ॥

गी०भू०—किमिति । यद्येवं तर्हि ब्राह्मणा राजर्षयः क्षत्रि-  
याश्च सत्कुलाः पुण्याः सदाचारिणो भक्ताः सन्तः परां गतिं  
यान्तीति किं पुनर्ब्राह्मण्यम् ? नास्त्यत्र संशय-लेशोऽपि ; तस्मा-  
त्त्वमपि राजर्षिरिमं लोकं प्राप्य मां भजस्व अनित्यं नश्यत्-  
सुखमीषत्सुखं विनाशिन्यल्पसुखेऽग्निमल्लोके राज्यस्पृहां विहाय  
नित्यमनन्तानन्दं मामुपास्य प्राप्नुहीति त्वरात्र व्यज्यते । अत्रासौ  
लोकमनित्यत्वं कण्ठतो ब्रुवन् हरिर्मिथ्यात्वं तस्य निरासात् ॥३३॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।

मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

सारा०ब०—भजनप्रकारं दर्शयन्नुपसंहरति—मन्मना इति ।  
एवमात्मानं मनो देहश्च युक्त्वा मयि नियोज्य ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्या भीष्म-  
पर्व्वणि श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्री-  
कृष्णाञ्जुनसंवादे राजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ।  
सारा०ब०—पात्रापात्रविचारित्वं स्वस्पर्शान् सर्व्वशोधनम् ।

भक्तेरेवात्रैतदस्या राजगुह्यत्वमीदृयते ॥

इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् ।

गीतासु नवमोऽध्यायः सङ्गतः सङ्गतः सत्ताम् ॥

गी०भू०—अथ परिनिष्ठितस्याञ्जुनस्याभीष्टां शुद्धां भक्तिमुपदि-  
शन्नुपसंहरति—मन्मना इति । राजभक्तोऽपि राजभृत्यः पत्न्या-  
दिमनास्तथा स तन्मना अपि न तद्भक्तो भवति ; त्वं तु तद्वि-  
लक्षणभावेन मन्मना मद्भक्तो भव मयि नीलोत्पलश्यामलत्वादि-  
गुणवति बभूवुः सुतं स्वस्वामित्व-स्वपुमर्थत्वबुद्धयानवच्छिन्न-  
मधुधारावत् सततं मनो यस्य सः, तथा मद्याजी तादृश-  
स्यातिमात्रप्रियस्य ममर्चने निरतो भव ; तादृशं मामतिप्रेम्णा  
नमस्कुरु दण्डवत् प्रणम । एवमात्मानं मनो देहश्च युक्त्वा मयि  
निवेश मत्परायणो मदेकाश्रयः सन् मामुपैष्यसि । एषा भक्ति-  
रपितैव क्रियेतेति बोध्यम् ॥३४॥

पात्रापात्रधिया शून्या स्पर्शान् सर्व्वघनाशिनी ।

गङ्गेव भक्तिरेवेति राजगुह्यमिह स्मृता ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्भाष्ये नवमोऽध्यायः ।

दशमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच—

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।

यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥१॥



सारा०ब०—ऐश्वर्यं ज्ञापयित्वोचे भक्तिं यत् सप्तमादिषु ।

सरहस्यं तदेवोक्तं दशमे सविभूतिकम् ॥ (१)

आराध्यत्वज्ञानकारणमैश्वर्यं यदेव पूर्वत्र सप्तमादिपूक्तम्, तदेव सविशेषं भक्तिमत्तामानन्दार्थं प्रपञ्चयिष्यन् “परोक्षवादा ऋषयः परोक्षञ्च मम प्रियम्” इति न्यायेन किञ्चिद्दुर्वोधतयैवाह-भूय इति, पुनरपि राजविद्या राजगुह्यामिदमुच्यत इत्यर्थः । हे महाबाहो इति, यथा बाहुबलं सत्त्वाधिक्येन त्वया प्रकाशितम्, तथैतद्बुद्धिबलमपि सत्त्वाधिक्येन प्रकाशयितव्यमिति भावः । शृण्वति शृण्वन्तमपि तं बक्ष्यमाणोऽर्थे सम्यग्बोधार्णार्थमेव । परमं पूर्वोक्तादप्युत्कृष्टम् । ते त्वामतिविस्मिता-कर्तुः—“क्रियार्थोपपदस्य च” इति चतुर्थी, यतः, प्रीयमाणाय प्रेमबते ॥१॥

गी०भू०—सप्तमादौ निजैश्वर्यं भक्तिहेतु यदीरितम् ।

विभूतिकथनेनोत्र दशमे तत् प्रपुण्यते ॥

गी०भू०—पूर्वपूर्वत्र स्वैश्वर्यनिरूपणसंभिन्ना सपरिकरा स्वभक्तिरूपदिष्टा । इदानीं तस्या उत्पत्ताये विबुद्धये च स्वासाधारणीः प्राक् संक्षिप्योक्ताः स्वविभूतीविस्तरेण वर्णयिष्यन् भगवानुवाच-भूय इति । हे महाबाहो ! भूय एव पुनरपि मे परमं बचः शृणु-शृण्वन्तं प्रति शृण्वत्युक्तिरुपदेश्येऽर्थे समबधानाय । परमं श्रीमत् महिष्यविभूतविषयकं यद्वचस्ते तुभ्यमहं हितकाम्यया बक्ष्यामि—“क्रियार्थोपपद” इत्यादि-सूत्राच्चतुर्थी, विज्ञमपि त्वां विस्मितं कर्तुं मित्यर्थः । हितकाम्यया मद्भक्त्युत्पात्त-तद्विबुद्धिरूप-वत्कल्याणवाञ्छया । ते कीदृशायेत्याह-प्रीयमाणायैति पीयूषपानादिव मद्वाक्यात् प्रीतिं बिन्दते ॥१॥

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।

अहमादिहि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥२॥

सारा०ब०—एतच्च केवलं मदनुग्रहातिशयेनैव वेद्यं नान्यथेत्याह-न मे इति । मम प्रभवं प्रकृष्टं सर्ववितक्षणं भवं देवक्यां जन्म देवगणा न जानन्ति, ते विषयाविष्टवान्न जानन्तु, ऋषयस्तु जानीयुस्तत्राह-न महर्षयोऽपि । तत्र हेतुः-अहमादिः कारणं सर्वशः सर्वैरेव प्रकारैः, न हि पितुर्जन्मतत्त्वं पुत्रा जानन्तीति भावः । “न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः” इत्यग्नि-मानुवादादत्र प्रभव-शब्दस्यान्यार्थता न कल्प्या ॥२॥

गी०भू०—एतच्च मद्भक्तानुकम्पां विना दुर्विज्ञानमिति भाव-वानाह-न मे इति । सुरगणा ब्रह्मादयः महर्षयश्च सनकादयः मे प्रभवं प्रभुत्वेन भवमनादिदिव्यस्वरूपगुणविभूतिमत्तायावर्त्तन-मिति यावन् न विदुर्न जानन्ति । कुत इत्याह-अहमादिरिति । यदहं तेषामादिः पूर्वकारणं सर्वेशः सर्वैः प्रकारैरुत्पादकतया बुद्ध्यादि-दातृतया चेत्यर्थः । देवत्वादिकमैश्वर्यादिकञ्च मयैव तेभ्यस्तत्तादाराधनतुष्टेन दत्तमतः स्वपूर्वमिदं मां मदैश्वर्यञ्च ते न विदुः ; अतिश्चैवमाह—“को वा वेद क इह प्रावाचत् कुत आयाता कुत इयं विसृष्टिरर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथ को वेद यत् आवभूवेति नैतद्देवा आप्रबन्पूर्वमशत्” इति चैवमाद्या ॥२॥

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।

अपमृष्टः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥३॥

सारा०ब०—ननु परब्रह्मणः सर्वदेशकालापरिच्छिन्नस्य तत्रै-तद्देहस्यैव जन्म देवा ऋषयश्च जानन्त्येव, तत्र स्वतर्जन्या स्व-बन्तः स्पृष्ट्वाह-यो मामिति । यो मामजं वेत्ति, किं परमेष्ठिनं न अनादिं सत्यं तर्हि अनादित्वादजमजन्यं परमात्मानं त्वां वेत्त्येव, तत्राह-चेति । अत्राजन्यं बभूवेव तन्मद्भवमावनादिमेव यो वेत्ति



इत्यर्थः । मामिति-पदेन बसुदेवजन्यत्वं बुध्यते—“जन्म कर्म च मे दिव्यम्” इति मनुक्तेः, मम जन्मवत्त्वं परमात्मत्वात् सदैवाजत्वं च इत्युभयमपि मे परमं सत्यं अचिन्त्यशक्तिसिद्धमेव । यदुक्तं—“अजोऽपि सन्नव्ययात्मा सम्भवामि” इति, तथा चोद्धव-वाक्यं—“कर्माण्यनीहस्य भवोऽभवस्य ते” इत्याद्यनन्तरं खिद्यति धीर्षि-दामिह” इति, अत्र श्रीभागवतामृतकारिका च—“तत्तान्न वास्तवं चेत् स्याद्विदां बुद्धिभ्रमस्तदा । न स्यादेवेत्यतोऽचिन्त्या शक्तिर्नानासु कारणम् ॥ तस्मात् यथा मम बाल्ये दामोदरव-लीलायामैकदैव किङ्किण्या बन्धनात् परिच्छिन्नत्वं दाम्ना स्वा-बन्धादपरिच्छिन्नत्वं चातर्क्यमेव, तथैव ममाजत्व-जन्मवत्त्वे चातर्क्ये एव । दुर्वोधमैश्वर्यञ्चाह-लोकमहेश्वरं तव सारथिमपि सर्वेषां लोकानां महान्तमीश्वरं यो वेद, स एव मर्त्येषु मध्ये असंमूढः, सर्वपापैर्भक्तिविरोधिभिः । यस्तु अजत्वानादित्व-सर्वेश्वरत्वान्येव वास्तवानि स्युर्जन्मवत्त्वादीनि तु अनुकरण-मात्रसिद्धानीति व्याचष्टे, स संमूढ एव सर्वपापैर्न प्रमुच्यत इत्यर्थः ॥३॥

गी०भू०—इदं तादृशमद्विषयकं ज्ञानं कस्यचिदेव भवतीति भावेनाह-यो मामिति । मर्त्येषु यतमानेष्वपि सहस्रेषु मध्ये यो यादृच्छिक-मत्तात्वावित् सत्प्रसङ्गी कश्चिज्जनो मामनादिमजं लोक-महेश्वरं च वेत्ति, सोऽसंमूढः सर्वपापैः प्रमुच्यत इति सम्बन्धः । अत्र ‘अजम्’ इत्यनेन प्रधानाद्विद्वर्गात् संसारिवर्गाच्च भेदः । आद्यस्य स्वपरिणामेनान्तस्य देहजन्मना च जन्मत्वात् ; ‘अना-दिम्’ इत्यनेन विशेषिते तु मुक्तचिद्वर्गाच्च भेदस्तस्याजत्वमादिमदेव देहसम्बन्धेन जन्मत्वस्य पूर्ववृत्तित्वात्, ‘लोकमहेश्वरम्’ इत्य-नेन नित्यमुक्तचिद्वर्गात् प्रकृतिकालाभ्याञ्च भेदस्तपामनाद्यजत्वे सत्यपि लोकमहेश्वरत्वाभावात् । पुन ‘अनादिम्’ इत्यनेन विशेष-

षिते विधि-रुद्राभ्याञ्च भेदस्तयोर्लोकमहेश्वरतायाः सादित्वात् सर्वेश्वरेणैव तयोः सेत्यन्यत्र विस्तरः । इत्थञ्च सर्वदा हेयसम्ब-न्धाभावान्नित्यसिद्धसार्वेश्वर्याच्च सर्वेतरबिलक्षणं यो वेत्ति, स मद्भक्त्युत्पत्तिप्रतीपैर्निखिलैः कर्मभिर्विमुक्तो मद्भक्तिं बिन्दति ; असंमूढोऽन्यसजातीयतया मज्ज्ञानं संमोहस्तेन विवर्जितः-न च देवक्यां जातस्य ते कथमजत्वं तस्यामजत्वमविहायैव जात-त्वात् ॥३॥

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।

सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं आभयमेव च ॥४॥

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।

भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥५॥

सारा०ब०—न च शास्त्रज्ञाः स्वबुद्ध्यादिभिः मत्तत्वं ज्ञातुं शक्नुवन्ति, यतो बुद्ध्यादीनां सत्त्वादिवन्मायागुणजन्यत्वान्मत्त एव जातानामपि गुणातीते मयि नास्ति स्वतः प्रवेशयोग्यते-त्याह-बुद्धिः सूक्ष्मार्थनिश्चयसामर्थ्यम्, ज्ञानमात्मानात्मविवेकः, असंमोहो वैयग्र्याभावः-एते त्रयो भावा मत्तत्त्वज्ञानहेतुत्वेन सम्भा-व्यमाना इव, न तु हेतवः । प्रसङ्गादन्यानपि भावान् लोकेषु दृष्टान् न स्यत एवोद्भूतानाह-क्षमा सहिष्णुत्वम्, सत्यं यथार्थभाषणं, दमो बाह्येन्द्रियनिग्रहः, शमोऽन्तरिन्द्रियनिग्रहः-एते सात्त्विकाः । सुखं सात्त्विकम्, दुःखं तामसम्, भवाभावौ जन्ममृत्युदुःखविशेषौ, भयं तामसमभयं ज्ञानोत्थं सात्त्विकम्, राजसाद्युत्थं राजसम्, समतात्मौपम्येन सर्वत्र सुखदुःखादि-दर्शनमहिंसा समते सात्त्विक्यौ, तुष्टिः सन्तुष्टिः, सा निरुपाधिः सात्त्विकी, सोपाधिस्तु राजसी, तपो-दानेऽपि सोपाधिनिरुपाधित्वाभ्यां सात्त्विक-राजसे, यशोऽयशस्यपि तथा । मत्त इति-एते मन्मायातो भवन्तोऽपि



शक्तिशक्तिमतोरैक्यात् सत्त एव ॥४-२॥

गी०भू०—अथात्मनः सर्वोदित्वं सर्वेश्वरत्वञ्च प्रपञ्चयति-  
बुद्धिरिति द्वाभ्याम् । 'बुद्धिः' सूक्ष्मार्थविवेचनसामर्थ्यं ; 'ज्ञानं'  
चिदचिद्वस्तुविवेचनम्, 'असंमोहः' व्यग्रत्वाभावः, 'क्षमा' सहि-  
ष्णुता, 'सत्यं' यथावद्वार्थविवरणं परहितभाषणम्, 'दम' अनर्थ-  
विषयाच्छ्रोत्रादेर्नियमनम्, 'शमः' तस्मान्मनसः, 'सुखम्' आनु-  
कूल्येन वेद्यम्, दुःखं तु प्रातिकूल्येन वेद्यम्, 'भवः' जन्म ;  
'अभावः' मृत्युः, 'भयम्' आगामिदुःखकारणवीक्षणाद्विवासः,  
तन्निवृत्तिः 'अभयम्', 'अहिंसा' परपीडनाजनकता, 'समता'  
रागद्वेषशून्यता, 'तुष्टिः' अदृष्टलब्धेन सन्तोषः, 'तपः' वेदोक्त-  
कायक्लेशः, 'दानं' स्वभोग्यस्य सत्पात्रेऽर्पणम्, 'यशः' साद्-  
गुण्यरूपातिः, तद्विपरीतम् 'अयशः', एवमादयो भावा भूतानां  
देवमानवादीनां मत्तो मत्सङ्कल्पादेव भवन्तीत्यहमेव तेषां हेतु-  
रित्यर्थः । पृथग्विधा भिन्नलक्षणा ॥४-२॥

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।

मद्भावा मानवा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥६॥

सारा०व०—बुद्धिज्ञानासम्भोहान् स्वतत्त्वज्ञानेऽसमर्थानुक्त्वा  
तत्त्वतोऽपि तत्रासमर्थानाह-महर्षयः सप्त मरीच्यादयस्तेभ्योऽपि  
पूर्वेऽन्ये चत्वारः सनकादयो, मनवश्चतुर्दश स्वायम्भुवादयो  
मत्त एव हिरण्यगर्भात्मनः सकाशाद्भ्यो जन्म येषां ते । मानसा  
मन आदिभ्य उत्पन्ना जाता अभूवन्निःसर्गः-येषां मरीच्यादीनां  
सनकादीनाञ्चेमा ब्राह्मणाद्या लोके वर्त्तमानाः प्रजाः पुत्रपौत्रा-  
दिरूपाः शिष्य प्रशिष्यरूपाश्च ॥ ६ ॥

गी०भू०—इतश्चैतदेवमित्याह-महर्षय इति । सप्त भृग्वा-  
दयस्तेभ्योऽपि पूर्वे प्रथमाश्चत्वारः सनकादय एकादशैते महर्ष-

यस्तथा मनश्चतुर्दश स्वायम्भुवादय एवं पञ्चविंशतिरन्ते मानसा  
हिरण्यगर्भात्मनो मम मनःप्रभृत्येभ्यो जाता मद्भावा मच्चिन्तन-  
परास्तत्प्रभावेनोपलब्ध-मज्-ज्ञानैश्वर्यशक्तय इत्यर्थः-येषां भृग्वा-  
दीनां पञ्चविंशतेरिमा ब्राह्मणक्षत्रियादयः प्रजा जन्मना विद्यया  
च सन्ततिरूपा भवन्ति ॥६॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।

सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥७॥

सारा०व०—किन्तु भक्त्याहमेकया माह्यः इति मदुक्ते-  
र्मदनन्यभक्त एव मत्प्रसादान्मद्भावि दृढमास्तिक्यं दधानो मत्तत्त्वं  
वेत्तीत्याह-एतां संक्षेपेणैव वक्ष्यमाणां विभूतिं योगं भक्तियोगञ्च  
यस्तत्त्वतो वेत्ति, मत्प्रभोः श्रीकृष्णस्य वाक्यत्वादिदमेव परमं  
तत्त्वमिति दृढतरास्तिक्यवानेव यो वेत्ति सः । अविकम्पेन  
निश्चलेन योगेन मत्तत्त्वज्ञानलक्षणेन युज्यते युक्तो भवेदत्र नास्ति  
कोऽपि सन्देहः ॥ ७ ॥

गी०भू०—उक्तार्थज्ञानफलमाह-एतामिति । एतां विधि-  
रुद्रादिदेवतासनकादिमहर्षिस्वायम्भुवादिमनुप्रमुखः कृत्स्नप्रपञ्चो  
मदधीनस्थिति-प्रवृत्ति-ज्ञानैश्वर्यशक्तिको भवतीत्येवं पारमैश्वर्य-  
लक्षणां विभूतिं, योगमनाद्यजत्वादिभिः कल्याणगुणरत्नैर्मम  
सम्बन्धश्च यो वेत्ति सर्वेश्वरेण सर्वज्ञेन वासुदेवेनोपदिष्टमिदं  
तत्त्विकं भवतीति दृढविश्वासेन यो गृह्णाति स अविकम्पेन  
स्थिरेण योगेन मद्भाक्कलक्षणेन युज्यते सम्पन्नो भवति-एतादृशतया  
मज्ज्ञानं मद्भाक्कल्पादकं विबद्धकञ्चेति भावः ॥७॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।

इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥८॥



सारा०ब०—तत्र महैश्वर्यलक्षणां विभूतिमाह-अहं सर्वस्य प्राकृताप्राकृतवस्तुमात्रस्य प्रभवः उत्पत्ति-प्रादुर्भावयोः हेतुः । मत्त एवान्तर्यामिस्वरूपात् सर्वं जगत् प्रवर्त्तते चेष्टते, तथा मत्त एव नारदाद्यवतरात्मकात् सर्वं भक्तिज्ञानतपःकर्मदिकं साधनं तत्तत् साध्यञ्च प्रवृत्तं भवति । ऐकान्तिक-भक्तिलक्षणं योग-माह—इति मत्त्वा आस्तिक्यतो ज्ञानेन निश्चित्य इत्यर्थः । भावो दास्यसख्यादिस्तदयुक्ताः ॥ ८ ॥

गी०भू०—अथ चतुःश्लोक्या परमैकान्तिनां भक्तिं ब्रुवन् तस्या जनकं पोषकं चात्मयाथात्म्यं तावदाह-अहमिति । स्वयं भगवान् कृष्णोऽहं सर्वस्यास्य विधिरुद्रप्रमुखस्य प्रपञ्चस्य प्रभवो हेतुः, एवमेवाथर्वसु पठ्यते—“यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च गापयति स्म कृष्णः” इति, “अथ पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत प्रजाः सृजेय” इत्युपक्रम्य नारायणाद्ब्रह्मा जायते नारायणात् प्रजापतिः प्रजायते नारायणादिन्द्रो जायते नारायणादश्रौ बसवो जायन्ते नारायणादेकादश रुद्रा जायन्ते नारायणाद्द्वादशादित्याः” इत्यादि-एष नारायणः कृष्णो बोध्यः—“ब्रह्मण्यो देवकीपुत्रः” इत्याद्युच्चारपाठात् । तदाहुः—“एको वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा न ईशानो नापो नाग्नी समौ नेमे द्यावापृथिवी न नक्षत्राणि न सूर्यः स एकाकी न रमते तस्य ध्यानान्तरस्थस्य यत्र छान्दोगैः क्रियमाणाष्टकादिसंज्ञका स्तुति-स्तोमः स्तोममुच्यते” इत्याद्युपक्रम्य प्रधानादिस्मृष्टिमभिधायाथ पुनरेव “नारायणः सोऽन्यत्कामो मनसा ध्यायत तस्य ध्यानान्तःस्थस्य तल्ललाटावस्थः शूलपाणिः पुरुषोऽजायत विश्रित्कृत्यं सत्यं ब्रह्मचर्यं तपोवैराग्यम्” इति, तत्र “चतुर्मुखो जायते” इत्यादि च, अञ्जु च—“यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधसम्” इत्यादि, मोक्षधर्मं च—“प्रजापतिं च रुद्र-

आप्यहमेव सृजामि वै । तौ हि मां न विजानीतो मम माया-विमोहितौ ॥” इति, बाराहे च—“नारायणः परोदेवस्तस्माज्जा-तश्चतुर्मुखः । तस्माद्रुद्रोऽभवद्देवः स च सर्वज्ञतां गतः ॥” इति । एवञ्च मदितरनिखिलोपादाननिमित्ताभूतोऽहमित्युक्तम्, यन्मत्सम्भूतं, तत् सर्वं मत्तः प्रवर्त्तते मदधीनप्रवृत्तिकमिति, मदन्विनिखिलनियन्ता चाहमित्युक्तम् । इति मत्त्वा ममेदृशत्वं सदगुरुमुखान्निश्चित्य भावेन प्रेम्णा समन्विताः सन्तो बुधा मां भजन्ते ॥ ८ ॥

मच्चित्ता मदगतप्राणा बोधयन्ति परस्परम् ।

कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९ ॥

सारा०ब०—एतादृशा अनन्यभक्ता एव मत्प्रसादाल्लब्धबुद्धि-योगाः पूर्वोक्तलक्षणं दुर्बोधमपि मत्तत्त्वज्ञानं प्राप्नुवन्तीत्याह—मच्चित्ता मदरूपनामगुणलीलामाधुर्यात्स्वादेष्टव्यं लुब्धमनसो ; मदगतप्राणाः मां विना प्राणान् धर्तुमसमर्था-अन्नगतप्राणा नरा इतिवत् ; बोधयन्तः भक्तिस्वरूपप्रकारादिकं सोहादेन ज्ञापयन्तः, मां महामधुररूपगुणलीलामहोदधिं कथयन्तो एद-रूपादिव्याख्यानेनोत्कीर्त्तनादिकं कुर्वन्तइत्येवं सर्वभक्ति-प्वतिश्रेष्ठ्यात् स्मरणश्रवणकीर्त्तनान्युक्तानि । तुष्यन्ति च रमन्ति चेति भक्त्यैव सन्तोषश्च रमणश्चेति रहस्यम्, यद्वा साधन-दशायामपि भाग्यवशात् भजने निर्विघ्ने सम्पद्यमाने सति तुष्यन्ति, तदैव भाविग्वीयसाध्यदशामनुस्मृत्य रमन्ति च मनसा स्वप्रभुणा सह रमन्ति चेति रागानुगा भक्तिर्वीतिता ॥ ९ ॥

गी०भू०—भक्तेः प्रकारमाह-मच्चित्ता इति । मच्चित्ता मत्स्मृ-तिपरा मदगतप्राणा मां विना प्राणान् धर्तुमक्षमाः मीना इव विनाम्भः परस्परं मदपगुणलावण्यादि बोधयन्तस्तथा मां स्व-



भक्तवात्सल्यनीरधिमतिविचित्रचरितं कथयन्तश्चेत्येवं स्मरण-  
श्रवणकीर्त्तनलक्षणैर्भजनैः सुधापानैरिव तुष्यन्ति, तथैव तेष्वेव  
रमन्ते च युवतिस्मितकटाक्षादिष्विव युवानः ॥१॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥१०॥

सारा०ब०—ननु तुष्यन्ति च रमन्ति च इति त्वदुक्त्या  
त्वद्भक्तानां भक्त्यैव परमानन्दो गुणातीत इत्यवगतं, किन्तु तेषां  
त्वत्साक्षात्प्राप्तौ कः प्रकारः ? स च कुतः सकाशात्तैरवगन्तव्य  
इत्यपेक्षायामाह—तेषामिति । सततयुक्तानां नित्यमेव मत्संयोगा-  
काङ्क्षणां तं बुद्धियोगं ददामि तेषां हृद्बुद्धिर्वाहमेव उद्भावया-  
मीति, स बुद्धियोगः स्वतोऽन्यस्माच्च कुतश्चिदप्यधिगन्तुमशक्यः  
किन्तु मदेक-देयस्तदेकग्राह्य इति भावः । मामुपयान्ति मामुप-  
लभन्ते साक्षान्मानिकटं प्राप्नुवन्ति ॥ १० ॥

गी०भू०—ननु स्वरूपेण गुणैर्विभूतिभिश्चानन्तं त्वां कथं  
गुरुपदेशमात्रेण ते ग्रहीतुं क्षमेरन्निति चेत्तत्राह—तेषामिति । सत-  
तयुक्तानां नित्यं मद्योगं बाञ्छतां प्रीतिपूर्वकं मम याथा-  
त्म्यज्ञानजेन रुचिभरेण भजताम्, तं बुद्धियोगमहं स्वभक्ति-  
सुखरसिको ददाम्यर्पयामि—येन ते मामुपयान्ति तद्बुद्धिं तथाह-  
मुद्भावयामि यथानन्तगुणविभूतिं मां ग्रहीत्वोपास्य च प्राप्नु-  
वन्तीति ॥१०॥

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।

नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥

सारा०ब०—ननु च विद्यादिवृत्तिं विना कथं त्वदधिगमः  
तस्मात्तैरपि तदर्थं यतनीयमेव ? तत्र न हि न हीत्याह—तेषामेव

न त्वन्येषां योगिनाम् अनुकम्पार्थं—मदनुकम्पा येन प्रकारेण  
स्यात्तदर्थमित्यर्थः । तैर्मदनुकम्पाप्राप्तौ कापि चिन्ता न कार्य्या  
यतस्तेषां मदनुकम्पा-प्राप्त्यर्थमहमेव यतमानो वर्त्त एवेति भावः ।  
आत्मभावस्थः तेषां बुद्धिबृत्तौ स्थितः । ज्ञानं मदेदप्रकाशयत्वान्न  
सात्त्विकं निर्गुणत्वेऽपि भक्त्युत्थज्ञानतोऽपि विलक्षणं यत्तदेव  
दीपस्तेन । अहमेव नाशयामीति तैः कथं तदर्थं यतनीयम् ?  
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं बहाम्यहम्” इति मदुक्तेस्तेषां  
व्यवहारिकः पारमार्थिकश्च सर्वोऽपि भारो मया बोद्धमङ्गीकृत  
एवेति भावः ।

श्रीमद्गीता सर्वसारभूता भूतापतापहृत् ।

चतुःश्लोकीयमाख्याता ख्याता सर्वानिशर्मकृत् ॥११॥

गी०भू०—ननु चिरन्तनस्याविद्या-तिमिरस्य सत्त्वात्तेषां हृदि  
कथं तत्प्रकाशः स्यादिति चेत्तत्राह—तेषामेवेति । तेषामेव मां  
विना प्राणान् धर्त्तुमसमर्थानां मदेकान्तिनामेव, न तु सनिष्ठा-  
नामनुकम्पार्थं मत्कृपा-पात्रत्वार्थम् । अहमेवात्मभावस्थोऽरविन्द-  
कोपे भृङ्ग इव तद्भावे स्थितो दिव्यस्वरूप गुणांस्तत्र प्रकाशयन्त-  
द्विषयकज्ञानरूपेण भास्वता दीपेन ज्ञानविरोध्यतादिकर्मरूपा-  
ज्ञानजं मदन्यविषयस्पृहारूपं तमो नाशयामि । तेषामेकान्तभावेन  
प्रसादितोऽहं योगक्षेमबद्बुद्धिबृत्तेरुद्भावनेन तद्वर्त्तितमोविनाशश्च  
करोमीति तत्सर्वनिर्वाहभारो ममेवेति न तैः कुत्राप्यर्थे प्रयति-  
तव्यमित्युक्तम् । नवमादि-द्वये गीतागर्भेऽस्मिन् यत् प्रकीर्त्तितं,  
तदेव गीताशास्त्रार्थसारं बोध्यं विचक्षणैः ॥११॥

अर्जुन उवाच—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।

पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥१२॥



आहुस्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।

असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥

सारा०व०—संक्षेपेणोक्तमर्थं विस्तरेण श्रोतुमिच्छन् स्तुति-  
पूर्वकमाह-परमिति । परं सर्वोत्कृष्टं धाम श्यामसुन्दरं बपुरेव  
परं ब्रह्म, -“गृहदेहद्विदप्रभावा धामानि” इत्यमरः । तद्धामैव  
भवान् भवति । जीवस्येव तव देह-देहि-विभागो नास्तीति  
भावः । धाम कीदृशम् ? परं पवित्रं द्रष्टृणामविद्यामालिन्य-  
हरम्, अतएव ऋषयोऽपि त्वां शाश्वतं पुरुषमाहुः पुरुषा-  
कारस्यास्य नित्यत्वं वदन्ति ॥ १२-१३ ॥

गी०भू०—संक्षेपेण श्रुतां विभूतिं विस्तरेण श्रोतुमिच्छन्-  
र्जुन उवाच-परमिति । भवानेव-“सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म”  
इति श्रूयमाणं परं ब्रह्म, भवानेव-“तस्मिन्नेवाश्रिताः सर्वे तद्  
नात्येति कश्चन” इति श्रूयमाणं परं धाम निखिलाश्रयभूतं वस्तु,  
भवानेव-“परमं पवित्रं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपापैः सर्वं  
पाप्मानं तरति नैनं पाप्मा तरति” इत्यादि श्रूयमाणं स्मर्त्तुं रखिल-  
पापहरं वस्तु इत्यहं वेदि । तथा सर्वे तदनुकम्पिता ऋषयस्तेषु  
प्रधानभूता नारदादयश्च “तस्मात् कृष्ण एव परो देवस्तं ध्यायेत्तं  
रसेत्तं भजेत्तं यजेत्” इति, “आतत्सत्” इति “जन्मजराभ्यां  
मिन्नः स्थाणुरयमच्छेद्योऽयम्” इति श्रुत्यर्थविदस्त्वां “दिव्यं पुरुष-  
मादिदेवमजं विभुम्” आहुस्तत्तत्कथा-सम्वादिषु पुराणेष्वितिहासेषु  
च स्वयञ्च ब्रवीषीति-“अजोऽपि सन्नव्ययात्मा” इति, ‘यो माम-  
जमनादिञ्च’ इति, ‘अहं सर्वस्य प्रभवः’ इत्यादिभिः ॥१२-१३॥

सर्वमेतद्वत् मन्ये यन्मां वदसि केशव ।

न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥१४॥

सारा०व०—नात्र मम कोऽप्यविश्वास इत्याह-सर्वमिति ।  
किञ्च, ते ऋषयः परं ब्रह्मधामानं त्वाम् अजं आहुरेव, न  
तु ते व्यक्तिं जन्म विदुः-परब्रह्मरूपस्य तव अजत्वं जन्मवत्त्वञ्च  
किं प्रकारमिति तु न विदुरित्यर्थः । अतएव “न मे विदुः  
सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः” इति यत्त्वयोक्तं तत् सर्वं ऋतं  
सत्यमेव मन्ये । हे केशव,-को ब्रह्मा ईशो रुद्रश्च तावपि  
वयसे स्वतत्त्वाज्ञानेन वध्नासि किं पुनर्देवदानवाद्याः त्वां न  
विदन्तीति वाच्यम इति भावः ॥ १४ ॥

गी०भू०—सर्वमिति । एतत् सर्वमहमृतं सत्यमेव, न तु  
प्रशंसाभात्रं मन्ये । हे केशवेति-“केशो विधिरुद्रो, वयसे स्व-  
तत्त्वापरिज्ञानेन निबध्नासि प्रजापतिञ्च रुद्रञ्च” इत्यादि त्व-  
दुक्तेः-हे सर्वेश्वर, हे भगवन्निरवधिकातिशयषडैश्वर्यनिधे, ते  
व्यक्तिं परब्रह्मत्वादिगुणां श्रीमूर्तिं देवदानवाश्च न विदुः यत्तो-  
ऽप्यस्वजातीयत्वबुद्ध्या त्वामवजानन्ति द्रुह्यन्ति चेति भावः ॥१४॥

स्वयमेवात्मानात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।

भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥१५॥

सारा०व०—तस्मात्त्वं स्वयमेवात्मानं वेत्थ इति एव-कारेण  
तवाजत्व-जन्मवत्त्वादीनां दुर्घटानामपि वास्तवत्वमेव त्वदुक्तो  
वेत्ति तच्च केन प्रकारेणेति तु सोऽपि न वेत्तीत्यर्थः । तदप्या-  
त्मना स्वेनैव वेत्थ न साधनान्तरेण । अतएव त्वं पुरुषेषु  
महत्स्रष्टादिवपि मध्य उत्तमः, न केवलमुत्तम एव, यतो भूत-  
भावनः, भूता भुतभावनरूपा ये तदादयः परमेष्ठयन्तास्तेषामीशः  
न केवलमीश एव, यतो देवैस्तैरेव देवः क्रीडा यस्येति त्वत्क्रीडो-  
पकरणभूता एव ते इत्यर्थः । तदप्यपारकारुण्यबशाद्जगद-  
वर्तिनामस्मादृशानामपि त्वमेव पतिर्भवसीति चतुर्णां सम्बोधन-



पदानामर्थः ; यद्वा पुरुषोत्तमत्वमेव विवृणोति-हे भूतभावन सर्वभूतपितः, पितापि कश्चिन्नेष्टे, तत्राह-हे भूतेश, भूतेशोऽपि कश्चिन्नाराध्यस्तत्राह-हे देव-देव देवाराध्योऽपि कश्चिन्न पालय-तीति, तत्राह-हे जगत्पते ॥ १५ ॥

गी०भू०—स्वयमेव त्वमात्मना स्वेनैव ज्ञानेनात्मानं संवेत्थ-इदमित्थमिति जानासि, ये देवेषु दानवेषु च त्वद्भक्तास्ते तादृशीं त्वन्मूर्तिं वस्तुभूतां जानन्त्येव तस्यास्तथात्वे कथं तां न जानन्ती-त्येवकारात् । हे पुरुषोत्तम सर्वपुरुषेश्वर ! पुरुषोत्तमत्वं विवृण्वन् सम्बोधयति-हे भूतभावन सर्वप्राणिजनक ! भूतभावनोऽपि कश्चिन्नेष्टे, तत्राह-हे भूतेश सर्वप्राणिनियन्तः ! भूतेशोऽपि कश्चिन्न पूज्यस्तत्राह-हे देवदेव सर्वाराध्यानामपि देवानामा-राध्य ! देवदेवोऽपि कश्चिन्न रक्षकस्तत्राह-हे जगत्पते हिताहितोप-देशेन जीविकार्पणेन च विश्वपालक । इदृशस्य ते तत्त्वं सुसिद्ध-मिति ॥ १५ ॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।

याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥ १६ ॥

सारा०ब०—तव तत्त्वं दुर्गमस्तव विभूतिष्वेव मम जिज्ञासा जायत इति द्योतयन्नाह-वक्तुमिति । दिव्या उत्कृष्टाया आत्म-विभूतयस्तावद्वक्तुमर्हसीत्यन्वयः । नन्वशेषेण मद्विभूतयः सर्वा वक्तुमशक्या एव तत्राह-याभिरिति ॥ १६ ॥

गी०भू०—त्वत्स्वरूपयाथात्म्यं खलु कथं तथा दुर्गमेवातस्त्व-द्विभूतिष्वेव मज्जिज्ञासोपजायत इति सूचयन्नाह-वक्तुमिति । दिव्या उत्कृष्टास्तदसाधारणीयात्मनो विभूतीरशेषेण वक्तुमर्हसि-‘द्वितीयार्थे प्रथमा’, याभिर्विशिष्टस्त्वमिमान् लोकान् व्याप्य नियम्य तिष्ठसि ॥ १६ ॥

कथं विद्यामहं योगिस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।  
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥ १७ ॥

सारा०ब०—योगो योगमायाशक्तिर्वर्तते यस्य हे योगिन-वनमालीतिवत् । त्वामहं कथं परिचिन्तयन् सन् त्वां सदा विद्यां जानीयाम् ? “भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः इति “त्वदुक्तेः । तथा केषु भावेषु पदार्थेषु त्वं चिन्त्यः त्वच्चिन्तनभक्तिर्मया कर्त्तव्या इत्यर्थः ॥ १७ ॥

गी०भू०—ननु किमर्थं तत्कथनं तत्राह-कथमिति । योगो योगमायाशक्तिरस्त्यस्येति हे योगिन ! त्वां सदा परिचिन्तयन् संस्मरन्तं कल्याणानन्तगुणयोगिनं कथं विद्यां जानीयाम् ? केषु केषु च भावेषु पदार्थेषु प्रकाशमानस्त्वं मया चिन्त्यो ध्येयो-ऽसि ?-तदेतदुभयं वद, तच्च विभूत्युद्देशेनैव सेस्यतीति तामुप-दिशेत्यर्थः ॥ १७ ॥

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।

भूयः कथय तस्मिन् शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ १८ ॥

सारा०ब०—ननु अहं सर्वस्य प्रभवो मराः सर्वं प्रवर्त्तते इत्य-नेनैव सर्वे पदार्था मद्विभूतयः मद्भक्ता एव विभूतयः तथा “इति मत्त्वा भजन्ते माम्” इति भक्तियोगश्चोक्त एव ? तत्राह-विस्तरेणेति । हे जनार्दनेति-मादृशजनानां त्वमेव हितोपदेशमाधुर्येण लोभ-मुत्पाद्य अहं यसे याचयसीति वयं किं कुर्म इति भावः । तदुपदेशरूपममृतं शृण्वतः श्रुतिरसनया आस्वादयतः ॥ १८ ॥

गी०भू०—ननु पूर्वपूर्वत्र ‘अजोऽपि सन्’ इत्यादिनाज-त्वादिकल्याणगुणयोगो ‘रसोऽहम्’ इत्यादिना विभूतयश्चासकृत् कथिताः, किं पुनः पृच्छसीति चेन्न तत्राह-विस्तरेणेति । स्फुटार्थ



पशुम्, जनाहं नेति प्राग्वत् । त्वद्वाक्यममृतं शृण्वतः श्रोत्ररस-  
नयास्वादयतो मम तृप्तिर्नास्ति, अत्र त्वद्वाक्यमित्यनुक्तेरपहूतिः  
प्रथमातिशयोक्तिर्वा तयोः सङ्करो बालङ्कारः ॥१८॥

श्रीभगवानुवाच—

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।

प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नारत्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१९॥

सारा०ब०—हन्तेत्यनुकम्पायां प्राधान्यतः प्राधान्येन यत-  
स्तासां विस्तरस्यान्तो नास्ति विभूतयो विभूतदिव्या उत्तमा  
एव न तु तृणेषुकाद्याः । अत्र विभूतिशब्देन प्राकृताप्राकृत-  
वस्तून्वेबोच्यते तानि सर्वाण्येव भगवच्छक्तिसमुद्भूतत्वाद्-  
भगवद्गुणैव तारतम्येन ध्येयत्वेनाभिमतानि ज्ञेयानि ॥१९॥

गी०भू०—एवं पृष्ठः श्रीभगवानुवाच-हन्तेत्यनुकम्पार्थकम्,  
दिव्या उत्कृष्टाः, न तु तृणेषुकादयः । विभूतय इति प्राग्वत्,  
प्राधान्यतः प्रधानभूताः यतस्तासां विस्तरस्यान्तो नास्ति, इह  
विभूति-शब्देन नियामकत्वरूपाण्यैश्वर्याणि बोध्यानि—“विभू-  
तिर्भूतिरैश्वर्यम्” इत्यमरकोषात् । प्राकृतान्यप्राकृतानि च वस्तूनि  
भूतित्वेन वर्णयानि, तानि सर्वाणि सर्वेश-शक्तिव्यङ्गत्वात्  
सर्वेशात्मना तारतम्येन भाव्यानि, मतानि यानि साक्षादीश्वर-  
रूपाणि तत्त्वेनोक्तानि, तानि तु तेन रूपेण भावनार्थान्येव, न  
त्वन्यवत्ताच्छक्त्येकदेशरूपाणीति बोध्यं सङ्गतेरिति ॥१९॥

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।

अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥२०॥

सारा०ब०—अत्र प्रथमं मासेवैकांशेन सर्वविभूतिकारणं  
त्वं भावयेत्याह-अहमिति । आत्मा प्रकृत्यन्तर्यामी महत्स्रष्टा  
पुरुषः परमात्मा, हे गुडाकेश जितनिद्र इति ध्यानसामर्थ्यं

सूचयति । सर्वभूतो यो वैराजस्तस्याशये स्थित इति समष्टि-  
विराडन्तर्यामी । तथा सर्वेषां भूतानामाशये स्थित इति व्यष्टि-  
विराडन्तर्यामी च । भूतानामादिर्जन्म मध्यं स्थितः रन्तः  
संहारः, तत्तद्धेतुरहमित्यर्थः ॥ २० ॥

गी०भू०—तत्र तावन्मामेव त्वं महत्स्रष्टादित्रिरूपेण स्वांशेन  
निखिलविभूतिहेतुं विचिन्तयेत्याशयेनाह-अहमात्मेति । हे गुडा-  
केशेति विजितनिद्रस्य तद्विचिन्तनक्षमत्वं व्यज्यते । आत्मा विभु-  
विज्ञानानन्दो महत्स्रष्टादित्रिरूपः परमात्माहमात्मच्छब्दार्थः सर्व-  
भूताशयस्थितस्त्वया विचिन्त्यः । सर्वभूता प्रधानादिपृथिव्यन्त-  
तत्त्वरूपा या मूलप्रकृतिस्तस्या आशयेऽन्तः कारणोदशयरूपेणा-  
हमेव प्रकृत्यन्तर्यामी स्थितः, तथा सर्वभूतः सर्वजीवाभिमानो  
यो वैराजस्तस्याशये गर्भोदशयरूपेणाहमेव समष्टिविराडन्तर्यामी  
स्थितः, सर्वेषां भूतानां जीवानामाशये क्षीरोदशयरूपेणाहमेव  
व्यष्टिविराडन्तर्यामी स्थित इति तानि त्रीणि रूपाणि मूर्तिभू-  
तित्वेन त्वया विचिन्त्यानीत्यर्थः । सुबालोपनिषदि, “प्रकृत्यादि-  
सर्वभूतान्तर्यामी सर्वशेषी च नारायणः” पठ्यते, सात्वत-  
तन्त्रे त्रयः पुरुषावताराः स्मृताः—“विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि  
पुरुषाख्यान्यथो विदुः । एकन्तु महतः स्रष्टृ द्वितीयन्त्वण्डसंस्थि-  
तम् । तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यते ॥” इति । ते  
च वासुदेवरय कृष्णस्यावताराः—“यः कारणार्णवजले भजति स्म  
योग-निद्राम्” इत्यादिका ब्रह्मसंहिता-पद्यत्रयात् । भूतानामादि-  
रूपक्षिप्तमध्यं पालनमन्तश्च संहारस्तत्तद्धेतुरहमेवोक्तपुरुषलक्ष्य-  
स्त्वया भाव्यः ॥२०॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।

मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥२१॥



सारा०ब०—अथ निर्वारण-पष्ठ्या कचित् सम्बन्ध-पष्ठ्या च विभूतीराह यावदध्यायसमाप्तिः । आदित्यानां द्वादशानां मध्ये विष्णुरहामिति-तन्नामा सूर्यो मद्भिर्भूतिरित्यर्थः ; एवं सर्वत्र प्रकाशकानां ज्योतिषां मध्ये अंशुमान् महाकिरणमाली रविरहम्, मरीचिः पवनांशेवः ॥ २१ ॥

गी०भू०—आदित्यानां द्वादशानां मध्ये विष्णुर्वामनोऽहं, ज्योतिषां प्रकाशानां मध्येऽंशुमान् विश्वव्यापिरश्मीरविरहं, मरुतामूनपद्माशस्त्रयकानां मध्ये मरीचिरहं, नक्षत्राणामधिपतिः शशी सुधावर्षी चन्द्रोऽहम्, अत्र 'निर्वारणे पष्ठी' प्रायेण, कचित् सम्बन्धेऽपीति बोध्यम् ॥ २१ ॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।

इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥

सारा०ब०—वासव इन्द्रो ; भूतानां सम्बन्धिनी चेतना ज्ञानशक्तिः ॥ २२ ॥

गी०भू०—वेदानां मध्ये गीतमाधुर्येणोत्कर्षात् सामवेदोऽहं, देवानां मध्ये वासवस्तेषां राजा इन्द्रोऽहम्, इन्द्रियाणां मध्ये दुर्जयं तेषां प्रवर्त्तिकश्च मनोऽहं, भूतानां सम्बन्धिनी चेतना ज्ञानशक्तिरहम् ॥ २२ ॥

रुद्राणां शंकरश्चास्मि विरोशो यक्षरक्षसाम् ।

वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ २३ ॥

सारा०ब०—विरोशः कुबेरः ॥ २३ ॥

गी०भू०—रुद्राणामेकादशानां मध्ये शङ्कराख्यो रुद्रोऽहं, यक्ष-रक्षसामाधिपो विरोशः कुबेरोऽहं, वसूनामष्टानां मध्ये पावकोऽग्निरहं, शिखरिणामत्युच्छ्रितानां मध्ये मेरुः स्वर्णाचलोऽहम् ॥ २३ ॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।

सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामास्मि सागरः ॥ २४ ॥

सारा०ब०—सेनानीनामित्यार्षम् ; स्कन्दः कार्तिकेयः ॥ २४ ॥

गी०भू०—इन्द्रस्य सर्व्वराजमुख्यत्वात्तत्पुरोहितं बृहस्पतिं सर्व्वपतिं राजपुरोहितानां मुख्यं मां विद्धीति सोऽहमित्यर्थः, सेनानीनामिति-नुदागमस्त्वार्षः, सर्व्वराजसेनानां मध्ये स्कन्दः कार्तिकेयोऽहं, सरसां स्थिरजलानां मध्ये सागरोऽहम् ॥ २४ ॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।

यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ २५ ॥

सारा०ब०—एकमक्षरं प्रणवः ॥ २५ ॥

गी०भू०—महर्षीणां ब्रह्मपुत्राणां मध्येऽतितेजस्वी भृगुरहं, गिरां पदलक्षणानां बाचां मध्ये एकमक्षरं प्रणवोऽहमस्मि, यज्ञानां मध्ये जपयज्ञोऽस्मि-तस्याहिंसात्मकत्वेनोत्कृष्टत्वात्, स्थावराणां स्थितिमतां मध्ये हिमाचलोऽहं, अत्युच्चत्वेनातिस्थैर्य्येण चार्थ-भेदान्मेरुहिमालययोर्विभूत्योर्भेदः ॥ २५ ॥

अश्वत्थः सर्व्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।

गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ २६ ॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।

ऐरावतं गजेन्द्राणां नाराणां च नराधिपम् ॥ २७ ॥

सारा०ब०—अमृतोद्भवममृतमथनोद्भूतम् ॥ २७ ॥

गी०भू०—पूज्यत्वेन सर्व्ववृक्षाणां मध्ये श्रेष्ठोऽश्वत्थोऽहं, देवर्षीणां मध्ये परममक्तत्वेनोत्कृष्टो नारदोऽहं, गन्धर्वाणां मध्येऽतिगायकत्वेनोत्कृष्टवाचित्ररथोऽहं, सिद्धानां स्वामाधिकारि-



मादिपतां कपिलः काहंमिमुनिरहम् ॥२६॥

गी०भू०—अश्वानां मध्ये उच्चैःश्रवसं, गजेन्द्रोणां मध्ये ऐरा-  
वतं च मां विद्धि-अमृतोद्भवममृतार्थकात् क्षीराब्धिमथनाज्जात-  
मिति द्वयोर्विशेषणम्, नराधिपं राजानमसह्यतेजसं धर्मिमष्टम् ॥२७॥

आयुधानानहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।

प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८॥

सारा०ब०—कामधुक् कामधेनुः ; कन्दर्पाणां मध्ये प्रजनः  
प्रजोत्पत्तिहेतुः कन्दर्पोऽहम् ॥ २८ ॥

गी०भू०—आयुधानामस्त्राणां मध्ये वज्रं पबिरहं, कामधुक्  
बाञ्छितपूरयित्री कामधेनुरहं, प्रजनः सन्तानोत्पादकः कन्दर्पः  
कामोऽहं-रतिसुखमात्रहेतुः स नाहमिति च-शब्दात्, सर्पाणामेक-  
शिरसां मध्ये वासुकिरहम् ॥२८॥

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।

पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९॥

सारा०ब०—यादसां जलचराणाम् संयमतां दण्डयताम् ॥२९॥

गी०भू०—नागानाममनेकशिरसां मध्येऽनन्तः शेषोऽहं,  
यादसां जलजन्तूनामधिपो वरुणोऽहं, पितृणां राजार्यमाख्यः  
पितृदेवोऽहं, संयमतां दण्डयतां मध्ये न्याय्यदण्डकृत् यमोऽहं-  
छादेशाभाव आर्षः ॥२९॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।

मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥

सारा०ब०—कलयतां बशोकुर्वताम्, मृगेन्द्रः सिंहः, वैनतेयो  
गरुडः ॥ ३० ॥

गी०भू०—दैत्यानां दितिर्वंश्यानां मध्ये तेषामधिपतिर्भग-  
वन्निष्ठातिशयाद्वरीयान् प्रह्लादोऽहं, कलयतां बशोकुर्वतां मध्ये  
कालोऽहं, मृगाणां पशूनां मध्येऽतिविक्रमेणोत्कृष्टो मृगेन्द्रः सिंहो-  
ऽहं, पक्षिणां मध्ये विष्णुरथत्वेनातिश्रेष्ठो वैनतेयो गरुडोऽहम् ॥३०॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रमृतामहम् ।

ऋषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसासस्मि जान्हवी ॥३१॥

सारा०ब०—पवतां वेगवतां पवित्रीकुर्वतां वा मध्ये, रामः परशु-  
रामः तस्यावेशावतारत्वादावेशानाञ्च जीवविशेषत्वाद् युक्तमेव  
विभूतित्वम्, तथा च भागवतामृतधृत-पाद्मवाक्यं-“एतत्तोकं यितं  
देवजामदगनेर्महात्मनः । शक्त्यावेशावतारस्य चरितं शाङ्गिणः  
प्रभोः ॥” आविष्टो भार्गवे चाभूत् इति च । आवेशावतारलक्षणञ्च  
तत्रैव भागवतामृते यथा-ज्ञानशक्त्यादिकलया यत्राविष्टो जनार्दनः ।  
त आवेशा निगद्यन्ते जीवा एव महत्तमाः ॥” इति ; ऋषाणां  
मत्स्यानां मकरो मत्स्यजातिविशेषः स्रोतसां स्रोतस्वतीनाम् ॥३१॥

गी०भू०—पवतां पावनानां वेगवतां च मध्ये पवनो वायुरहं,  
रामः परशुरामः, ऋषाणां मत्स्यानां मध्ये मकरस्तज्जातिविशेषो-  
ऽहं, स्रोतसां प्रवहज्जानां मध्ये जाह्नवी गङ्गाहम् ॥३१॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।

अध्यात्माविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥

सारा०ब०—सृज्यन्त इति सर्गा आकाशादयस्तेषामादिः  
सृष्टिपन्तः संहारः, मध्यं पालनञ्च इति सृष्टिस्थितिप्रलया  
मद्विभूतित्वेन ध्येया इत्यर्थः । अहमादिश्च मध्यञ्चेत्यत्र सृष्ट्या-  
विकर्ता परमेश्वर एवोक्तः । विद्यानां ज्ञानानां मध्ये अध्यात्म-  
विद्या आत्मज्ञानम्, प्रवदतां स्वपक्षस्थापन-परपक्षदूषणादि-



रूपजल्पवितण्डादिकुर्वतां वादस्तत्त्वनिर्णयः प्रवृत्तिसिद्धान्ते यः सोऽहम् ॥ ३२ ॥

गी०भू०—सर्गाणां महदादीनां जडसृष्टीनामादिरन्तो मध्य-  
ज्वाहमिति तेषां सर्गमंदारपालनानि मद्भिभूतितया भव्यानीत्यर्थः—  
'अहमादिश्च' इत्यादौ मत्त्वांशचेतनानां भूतानां सर्गादिहेतुर्म-  
द्भिभूतिरित्युक्तमतो न पुनःपुनरुक्तिः ; "अङ्गानि वेदाश्चत्वारो  
मीमांसा न्यायविस्तरः । धर्मशास्त्रं पुराणञ्च विद्या ह्येताश्चतु-  
र्दश" इत्युक्तानां विद्यानां मध्येऽध्यात्मविद्या सपरिकरपरमात्म-  
निर्णेत्री चतुर्लक्षणी वेदान्तविद्याहमेवेत्यर्थः, प्रबदतां सम्बन्धी  
यो वादः सोऽहं; तेषां खलु वाद-जल्प-वितण्डास्तस्यः कथाः  
प्रसिद्धाः—तत्रोभयसाधनवती बिजिगीषु कथा 'जल्प', यत्रोभाभ्यां  
प्रमाणेन तर्केण स्वपक्षः स्थाप्यते छल-जाति-निग्रहस्थानैः परपक्षो  
दूष्यते, स्वपक्षस्थापनहना परपक्षदूषणावसाना कथा 'वितण्डा',  
एते प्रबदतोर्विजिगीष्वोः शक्तिमात्रपरीक्षके निष्फले तत्त्वबुभुक्षु-  
कथा 'वादः'—स च तत्त्वनिर्णयफलकत्वेनोक्तृष्ट्वान्मद्भिभूति-  
रिति ॥ ३२ ॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।

अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः ॥ ३३ ॥

सारा०ब०—सामासिकस्य समास-समूहस्य मध्ये द्वन्द्वः  
उभयपदार्थप्रधानत्वेन तस्य समासेषु श्रैष्ठ्यात्, अक्षयः कालः  
संहर्तृणां मध्ये महाकालो रुद्रः विश्वतोमुखश्चतुर्भयोऽहं धाता  
स्रष्टृणां मध्ये ब्रह्मा ॥ ३३ ॥

गी०भू०—अक्षराणां सर्वेषां वर्णानां मध्येऽहमकारोऽस्मि-  
"अकारो वै सर्वा बाक्" इति श्रुतिश्च ; सामासिकस्य समास-  
समूहस्य मध्ये द्वन्द्वोऽहं—अव्ययीभावतत्पुरुषबहुव्रीहिषुभयपदार्थ-

प्रधानता-विरहिषु मध्ये तस्योभयपदार्थप्रधानतयोक्तृष्टत्वात् ;  
संहर्तृणां मध्येऽक्षयः कालः संकर्षणमुखोत्थः कालाग्निरहं,  
स्रष्टृणां मध्ये विश्वतोमुखश्चतुर्वक्त्रो धाता विधिरहम् ॥ ३३ ॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।

कीर्तिः श्रीर्वाक् च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥ ३४ ॥

सारा०ब०—प्रतिक्षणिकानां मृत्युनां मध्ये सर्वहरः सर्व-  
स्मृतिहरो मृत्युहरम्, यदुक्तं—'मृत्युरत्यन्तविस्मृतिः' इति । भविष्यतां  
भाविनां प्राणिबिकाराणां मध्ये उद्भवः प्रथमबिकारो जन्माहम्,  
नारीणां मध्ये कीर्तिः ख्यातिः, श्रीः कान्तिः, वाक् संस्कृता  
वाणीति तिस्रस्तथा स्मृत्यादयश्चतस्रः च-कारात् मूर्त्यादय-  
श्चान्या धर्मपत्न्यश्चाहम् ॥ ३४ ॥

गी०भू०—प्रातिक्षणिकानां मृत्युनां मध्ये सर्वस्मृतिहरो मृत्यु-  
रहं, भविष्यतां भाविनां पण्णां प्राणिबिकाराणामुद्भवो जन्माख्यः  
प्रथमबिकारोऽहं, नारीणां मध्ये कीर्त्यादयः सप्त मद्भिभूतयः ;  
दैवता ह्येताः, यासामाभासेनापि नराः श्लाघ्या भवन्ति ; तत्र  
कीर्त्तिर्धर्मिकत्वादिसाद्गुण्यख्यातिः, श्रीस्त्रिर्गसम्पत् काय-  
द्युतिर्वा, वाक् सर्वार्थव्यञ्जका 'संस्कृतभाषा', स्मृतिरनुभूतार्थ-  
स्मरणशक्तिः, मेधा बहुशास्त्रार्थाविधारणशक्तिः, धृतिश्चापत्य-  
प्राप्तौ तन्निबर्त्तनशक्तिः, क्षमा हर्षे बिषादे च प्राप्ते निर्विकार-  
चित्तता ॥ ३४ ॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।

मासानां सार्गशीर्षोऽहमृत्तूनां कुसुमाकरः ॥ ३५ ॥

सारा०ब०—वेदानां सामवेदोऽस्मीत्युक्तम्, तत्र साम्नामपि  
मध्ये बृहत् साम—'त्वामृद्धिं हवामहे' इत्यस्यां श्रुतिं बिगीय-



मानं बृहत् साम, छन्दसां मध्ये गायत्रीनाम छन्दः ; कुसुमा-  
करो वसन्तः ॥ ३५ ॥

गी०भू०—‘वेदानां सामवेदोऽस्मि’ इत्युक्तं प्राक्, तत्रान्यं  
विशेषमाह-बृहदिति । साम्नामृगक्षरारूढानां गीतिविशेषाणां  
मध्ये “त्वामिद्विहवामहे” इत्यस्यामृचि गीतिविशेषो बृहत्साम-  
तच्चातिरात्रे षष्ठस्तोत्रं सर्वेश्वरत्वेनेन्द्रस्तुतिरुपमन्यसामोत्कृष्टा-  
दहं, छन्दसां नियताक्षरपादत्वरूपच्छन्दोर्विशिष्टानामृचां मध्ये  
गायत्री ऋगहं-द्विजातेद्वितीयजन्महेतुत्वेन तस्याः श्रैष्ठ्यात्,  
“गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किञ्च” इति ब्रह्मावतारत्व-  
श्रवणाच्च, मार्गशीर्षोऽहमित्याभिनवधान्यादिसम्पत्त्या तस्यान्येभ्यः  
श्रैष्ठ्यात्, कुसुमाकरो वसन्तोऽहमिति-शीतातपाभावेन विवि-  
धसुगन्धिपुष्पमयत्वेन, मधुसवहेतुत्वेन च तस्यान्येभ्यः श्रै-  
ष्ठ्यात् ॥ ३५ ॥

द्युतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।

जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥ ३६ ॥

सारा०ब०—छलयतामन्योऽन्यवच्चनपराणां सम्बन्धि द्युत-  
मस्मि, जेतृणां जयोऽस्मि, व्यवसायिनामुद्यमवतां व्यवसायो-  
ऽस्मि, सत्त्ववतां बलवतां सत्त्वं बलमस्मि ॥ ३६ ॥

गी०भ०—छलयतां मिथो बद्धनां कुर्वतां सम्बन्धि द्युतं सर्वस्व-  
हरमक्षदेवनाद्यहं, तेजस्विनां प्रभाववतां सम्बन्धि तेजः प्रभावोऽहं,  
जेतृणां सम्बन्धी जयोऽहं, व्यवसायिनामुद्यमिनां सम्बन्धी  
व्यवसायः फलवानुद्यमोऽहं, सत्त्ववतां बलिनां सम्बन्धी सत्त्वं  
बलमहम् ॥ ३६ ॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः ।

मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥ ३७ ॥

सारा०ब०—वृष्णीनां मध्ये वासुदेवो वसुदेवो मत्पिता मद्भि-  
भूतिः-‘प्रज्ञादित्वात् स्वार्थिकोऽण्’ ; ‘वृष्णीनामहमेवास्मि’ इत्य-  
नुक्तेरस्यान्यार्थता नेष्टा ॥ ३७ ॥

गी०भू०—वृष्णीनां मध्ये वासुदेवो वसुदेवपुत्रः सङ्कर्षणो-  
ऽहं, न च वासुदेवः कृष्णोऽहमिति व्याख्येयं-तस्य स्वयंरूपस्य  
विभूतिव्यायोगात्, महत्स्रष्टादीनां वामनकपिलादीनाञ्च साक्षा-  
दीश्वरत्वेऽपि विभूतिवत्वेनोक्तिः स्वांशावतारत्वात्तेन रूपेण चिन्त्य-  
त्वविवक्षया वा गुज्यते, स्वांशत्वं चानभिर्व्याज्जितसर्वशक्तित्वं  
बोध्यम्, पाण्डवानां मध्ये धृष्टद्युम्नस्त्वमहमस्मि-नरावतारत्वेना-  
न्येभ्यः श्रैष्ठ्यात्, मुनीनां देवार्थमननपराणां मध्ये व्यासो  
वादरायणोऽहं-मदवतारत्वेन तस्यान्येभ्यः श्रैष्ठ्यात्, कवीनां  
सूक्तार्थविवेचकानां मध्ये उशनाः शुक्रोऽहं-यः कविरिति  
ख्यातः ॥ ३७ ॥

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।

मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ ३८ ॥

सारा०ब०—दमनकर्त्ता नां सम्बन्धी दण्डोऽहम् ॥ ३८ ॥

गी०भू०—दमयतां दण्डकर्त्तृणां सम्बन्धी दण्डोऽहं-येनो-  
त्पथगाः सत्पथे चरन्ति स दण्डो मद्भिभूतिरित्यर्थः, जिगीषतां  
जेतुमिच्छतां सम्बन्धिनी नीतिन्यायोऽहं, गुह्यानां श्रवणमनन-  
निदिध्यासनानां मध्ये मौनमहं-फलाव्यवधानेन श्रवणादिभ्यां  
तस्य श्रैष्ठ्यात्, ज्ञानवतां परावरतत्त्वविदां सम्बन्धी तत्त-  
द्विषयकज्ञानमहम् ॥ ३८ ॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।

न तदस्ति विना तत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ ३९ ॥



सारा०ब०—बीजं प्ररोहकारणं यत्तदहमस्मि तत्र हेतुः—मया  
विना यत् स्यात् चरमचरं वा तन्नैवास्ति मिथ्यैवेत्यर्थः ॥ ३६ ॥

गी०भू०—यच्च सर्वभूतानां बीजं प्ररोहकारणं, तदप्यहम्,  
तत्र हेतुः—न तदिति । मया सर्वशक्तिमता परेशेन विना यच्च-  
रमचरञ्च भूतं तत्त्वं स्यात्तन्नास्ति सृष्टैवेत्यर्थः ॥ ३६ ॥

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।

एष तद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरः मया ॥ ४० ॥

सारा०ब०—प्रकरणमुपसंहरन्ति—नान्तोऽस्तीति एष तु विस्तरः  
बाहुल्यमुद्देशतो नाममात्रत एव कृतः ॥ ४० ॥

गी०भू०—प्रकरणमुपसंहरति—नान्तोऽस्तीति । विस्तरः  
विस्तार उद्देशत एव देशेन प्रोक्तः ॥ ४० ॥

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।

तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽंशसंभवम् ॥ ४१ ॥

सारा०ब०—अनुक्ता अपि त्रैकालिकीर्विभूतीः संग्रहीतुमाह-  
यद्यदिति । विभूतिमदैश्वर्ययुक्तम्, श्रीमत् सम्पत्त्युक्त-  
मूर्जितं बलप्रभावाद्यधिकं सत्त्वं वस्तुमात्रम् ॥ ४१ ॥

गी०भू०—अनुक्ता विभूतीः संग्रहीतुमाह—यद्यदिति । विभू-  
तिमदैश्वर्ययुक्तं श्रीमत्सौन्दर्येण सम्पत्त्या वा युक्तमूर्जितं बलेन  
युक्तं वा यद्यत् सत्त्वं वस्तु भवति, तत्तदेव मम तेजोऽंशेन  
शक्तिलेशेन सम्भवं सिद्धमवगच्छ प्रतीहीति स्वायत्तत्व-स्वव्या-  
प्यत्वाभ्यां सर्वेऽभेदनिर्देशा नीता वामनादीनां तन्निर्देशान्तु  
सङ्गमिताः सन्ति ॥ ४१ ॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवाजुर्न ।

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्म-  
पर्वणि श्रीभगवद्गीतासुपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्री-  
कृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ।



सारा०ब०—बहुना पृथक्पृथग्ज्ञातेन किं फलं समुदितमेव  
जानीहीत्याह—विष्टभ्येति । एकांशेनैकैवांशेन प्रकृत्यन्तर्यामिना  
पुरुषरूपेणैवेदं सृष्टं जगद्विष्टभ्याधिष्ठानत्वाद्बिष्टभ्याधिष्ठातृत्वाद्-  
विष्टाय, नियन्तृत्वान्नियम्य, व्यापकत्वाद्व्याप्य, कारणत्वान्  
सृष्टो स्थितोऽस्मि ॥ ४२ ॥

विश्वं श्रीकृष्ण एवातः सेव्यस्तद्वत्तया विद्या ।

स एवास्वाद्यमाधुर्यं इत्यध्यायार्थ ईरितः ॥ (२)

इति सारार्थविषयां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् ।

गीतासु दशमोऽध्यायः सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥ (३)

गी०भू०—एवमवयवशो विभूतीरुपवर्ण्य सामान्येन ताः  
प्राह—अथवेति । बहुना पृथक् पृथक्पदिर्यमानेन विभूतिविष-  
यकेण ज्ञानेन तव किं प्रयोजनम् ? हे अर्जुन ! चिदचिदात्मकं  
हरविरिञ्चिप्रमुखं कृत्स्नं जगदहमेकैव प्रकृत्याद्यन्तर्यामिणा  
पुरुषाख्येनांशेन विष्टभ्य सृष्टत्वात् सृष्टा धारकत्वाद्वा व्याप-  
कत्वाद्वाप्य पालकत्वात् पालयित्वा च स्थितोऽस्मीति सर्जना-  
दीनि मद्विभूतयो मद्भ्यामेपु सर्वेष्वैश्वर्यादिसर्वाणि वस्तूनि  
मद्विभूतितया बोध्यानीति ॥ ४२ ॥

यच्छक्तिलेशान् सूर्याद्या भवन्त्यत्युग्रतेजसाः ।

यदंशेन धृतं विश्वं स कृष्णो दशमेऽन्वर्तते ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासुपनिषद्भाष्ये दशमोऽध्यायः ।





## एकादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।

यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥१॥

सारा०ब०—एकादशे विश्वरूपं दृष्ट्वा संभ्रान्तधीः स्तुवन ।

पार्थ आनन्दितो दर्शयित्वा म्वं हरिणा पुनः ॥

पूर्वाध्यायान्ते “विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्” इति सर्वविभूत्याश्रयमादिपुरुषं स्वप्रियसखस्यांशं श्रुत्वा परमानन्दनिमग्नस्तद्रूपं दिदृक्षमाणो भगवदुक्तमभिनन्दति—मदनुग्रहायेति त्रिभिः । अध्यात्ममिति सप्रसन्नार्थे अव्ययीभावादात्मनीत्यर्थः । आत्मनि या या संज्ञा विभूतिलक्षणा सा संजाता यस्य तद्वचः, मोहस्त्वदैश्वर्यज्ञानम् ॥ १ ॥

गी०भू०—एकादशे विश्वरूपं बिलोक्य त्रस्तधीः स्तुवन ।

दर्शयित्वा स्वकं रूपं हरिणा हर्षितोऽर्जुनः ॥

गी०भू०—पूर्वत्र ‘अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः’ इति विभूतिकथनोपक्रमे ‘विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नम्’ इति तद्रूपसंहारे च निखिलविभूत्याश्रयो महत्स्रष्टा पुरुषः स्वस्य कृष्णस्यावतारः ; स तु महत्स्रष्टादिसर्वावतारीति तन्मुखात् प्रतीत्य सख्यानन्दसिन्धुनिमग्नोऽर्जुनस्तत्पुरुषरूपं दिदृक्षुः कृष्णोक्तमनुबदति,—मदिति । मदनुग्रहायाध्यात्मसंज्ञितं विभूतिविषयकं यद्वचस्तयोक्तं, तेन मम मोहः कथं विद्यामित्याद्युक्तो विगतो नष्टः । अध्यात्ममात्मनि परमात्मनि त्वयि या विभूतिलक्षणा संज्ञा सा जाता । यस्य तद्वचः—विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः—परमं गुह्यमतिरहस्यं त्वदन्यागम्यमित्यर्थः ॥१॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।

त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥२॥

सारा०ब०—अस्मिन् षट्के तु भवाप्ययौ सृष्टिसंहारी त्वत्त इति ‘अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा’ इत्यादिनाऽव्ययं माहात्म्यं सृष्टादिकर्तृत्वेऽप्यधिकारासङ्गादिलक्षणा—‘मया ततमिदं सर्वम्’ इति ‘न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति’ इत्यादिना ॥ २ ॥

गी०भू०—किञ्च भवेति । हे कमलपत्राक्ष ! कमलपत्रे इवातिरम्ये दीर्घरक्तान्ते चाक्षिणी यस्येति प्रेमातिशयात् सौन्दर्यीति शयोल्लेखः । त्वत्तत्त्वद्वेतुको भूतानां भवाप्ययो सर्गप्रलयो मया त्वत्तः सकाशाद्विस्तरशोऽसकृत् श्रुतौ ‘अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा’ इत्यादिनाव्ययं नित्यं माहात्म्यमैश्वर्यं च तव सर्वकर्तृत्वेऽपि निर्विकारत्वं सर्वनियन्तृत्वेऽप्यसङ्गत्यमित्येवमादि त्वत्ता एव मया विस्तरशः श्रुतं—‘मया ततमिदं सर्वम्’ इत्यादिभिः ॥२॥

एवमेतद्यथा त्वमात्मानं परमेश्वर ।

द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरपोत्तम ॥३॥

सारा०ब०—इदानीमात्मानं त्वं यथा त्वं “विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितः” इति, तच्चैवमेव मम नात्र कोऽप्यविश्वासोऽस्तीति भावः । किन्तु तदपि संहतार्थो बुभूवया तवैश्वरं तद्रूपं द्रष्टुमिच्छामि येनैकांशेनेश्वररूपेण त्वं जगत् विष्टभ्यवर्त्तसे, तस्यैव ते रूपमहमिदानीं चक्षुर्भ्यां द्रष्टुमिच्छामीत्यर्थः ॥३॥

गी०भू०—एवमिति—‘विष्टभ्याहमिदम्’ इत्यादिना यथा तमात्मानं स्वमात्मा त्वयोपि तदेतदेवमेव न तत्र मे संशयलेशोऽपि,



तथापि तवैश्वरं सर्वप्रशास्तु तद्रूपमहं कौतुकाद्द्रष्टुमिच्छामि ।  
हे परमेश्वर, हे पुरुषोत्तमेति सम्बोधयन् मम तद्दिदृक्षां जाना-  
स्येव, तां पूरयेति व्यञ्जयति-मधुररसास्वादिनः कदुरसजिघृक्षा-  
बन्धवन्माधुर्यानुभवितो मे त्वदैश्वर्यानुबुभूषाम्युदेतीति भावः ॥३॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।

योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥४॥

सारा०ब०--योगेश्वरेति-अयोग्यस्यापि मम तद्दर्शनयोग्य-  
तायां तव योगैश्वर्यमेव कारणमिति भावः ॥ ४ ॥

गी०भू०--ऐश्वर्यदर्शने भगवत्सम्पत्तिं गृह्णाति-मन्यसे  
यदिति जानासीच्छसि वेत्यर्थः । हे प्रभो-सर्वस्वामिन ! योगे-  
श्वरेति सम्बोधयन् योगस्य मे त्वद्दर्शने त्वच्छक्तिरेव हेतुरिति  
व्यञ्जयति ॥४॥

श्रीभगवानुवाच-

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।

नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥

सारा०ब०--ततश्च स्वांशस्य प्रकृत्यन्तर्यामिनः प्रथमपुरुषस्य  
"सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्" इति पुरुषसूक्त-  
प्रोक्तं रूपं प्रथममिदं दर्शयामि, पश्चात् प्रस्तुतोपयोगित्वेन  
तस्यैव कालरूपत्वमपि ज्ञापयिष्यामीति मनसि विमृष्य अञ्जुनं  
प्रति सावधानो भवेत्यभिमुखो करोति । पश्येति रूपाणीति  
एकस्मिन्नपि मत्स्वरूपे शतशो मत्स्वरूपाणि मद्भिभूतीः ॥ ५ ॥

गी०भू०--एवमभ्यर्थितो भगवान् प्रकृत्यन्तर्यामिणं सहस्र-  
शिरसं प्रशास्तृत्वप्रधानं देवाकारं स्वांशं प्रदर्शयितुं प्रकृतोप-  
योगित्वात्तत्रैव कालात्मकताञ्च बोधयितुमञ्जुनमवधापयतीत्याह-

पश्येति चतुर्षु । 'पश्य' इति पदावृत्तिर्दर्शनीयानां रूपाणाम-  
त्यदुतत्वद्योतनार्था च बोध्या । मे मम सहस्रशीर्षाकारेण भास्व-  
मानस्यैकस्यैव शतानि सहस्राणि च विभूतिभूतानि रूपाणि  
पश्य 'अहं लोट्'-तानि प्रष्टुमर्हो भवेत्यर्थः ॥६॥

पश्यादित्यान्वसूनुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।

बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥६॥

गी०भू०--तान्येकदेशतः प्राह-पश्यादित्यानि हि द्वाभ्याम् ।  
अदृष्टपूर्वाणीति तयान्यैश्च पूर्वमदृष्टानि आश्चर्याण्यदुतानि ॥६॥

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।

मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥७॥

सारा०ब०--परिभ्रमता त्वया वर्षकोटिभिरपि प्रष्टुमशक्यं  
कृत्स्नमपि जगत् इह प्रस्तावे एकस्मिन्नपि महद्वाक्येति तिष्ठति  
इति एकस्थं यच्चान्यत् स्वजयपराजयादिकञ्च ममास्मिन् देहे  
जगदश्रयभूतकारणरूपे ॥ ७ ॥

गी०भू०--किञ्चेह मम देहे एकस्थमेकदेशस्थितं सचराचरं  
कृत्स्नं जगत्स्वमद्याधुनैव पश्य ; यत्तत्र तत्र परिभ्रमता त्वया  
वर्षावुतैरपि द्रष्टुमशक्यं, तदैकदैवैकत्रैव मदनुमहादवलोकस्वे-  
त्यर्थः । यच्च जगदाश्रयभूतं प्रधानमहदादिकारणस्वरूपं स्वजय-  
पराजयादिकं चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि, तदपि पश्य ॥७॥

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।

दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥८॥

सारा०ब०--इदमिन्द्रजालं मायामयं वा रूपमित्यञ्जुनं मा  
मन्यताम्, किन्तु साविदानन्दमयमेव स्वरूपमन्तर्भूतं सर्वजगत्-



कमतीन्द्रियत्वेनैव विश्वसितुमित्येतदर्थमाह-न त्विति । अनेनैव प्राकृतेन स्वचक्षुषा मां चिद्वचनाकारं द्रष्टुं न शक्यसे न शक्नोषीत्यतस्तुभ्यं दिव्यमप्राकृतं चक्षुर्ददामि, तेनैव पश्येति प्राकृतनरमाननमञ्जुनं कर्मापि चमत्कारं प्रापयितुमेव ; यतो ह्यञ्जुनो भगवत्पार्षदमुख्यत्वात् नरावतारत्वाच्च प्राकृत-नर इव न चर्मचक्षुष्कः । किञ्च साक्षाद्भगवन्माधुर्य्यमेव यः स्वचक्षुषा साक्षादनुभवति, सोऽञ्जुनो भगवदंशं द्रष्टुं तेनाशक्नुवन् दिव्यं चक्षुर्गृन्हीयादिति कः खलु न्यायः ? एके त्वेवमाचक्षते -भगवतो नरलीलत्वमहामाधुर्य्यैव प्राहि सर्वोत्कृष्टं यद्भवति, तच्चक्षुरनन्यभक्त इव भगवतो देवलीलत्वसम्पदं नैव गृन्हाति, न हि सितोपलरसास्वादिनी रसना खण्डं गुडं वा स्वादयितुं शक्नोति । तस्मादञ्जुनाय तत्प्रार्थितश्चमत्कारविशेषं दातुं देव-लीलत्वमयैश्वर्य्यं जिग्राहयिषुर्भगवान् प्रेमरसाननुकूलं दिव्य-ममानुषमेव चक्षुर्ददाति । तथा दिव्यचक्षुर्दानाभिप्रायोऽध्या-यान्ते व्यक्तीभविष्यतीति ॥ ८ ॥

गी०भू०—‘मन्यसे यदि तच्छक्यम्’ इत्यञ्जुनप्रार्थितं सम्पा-दयन्निरतं, विस्मितं कर्तुं तस्मै स्वदेवाकारप्राहि दिव्यं चक्षुर्भग-वान् ददावित्याह-न तु मामिति । अनेनैव मन्माधुर्य्यैकान्तेन स्वचक्षुषा युगर्पाद्भूमातसहस्रसूर्य्यप्रख्यं सहस्रशिरस्कं मां द्रष्टुं न शक्यसे न शक्नोषि ; अतस्ते दिव्यं चक्षुर्ददामि-यथाहमा-त्मानमतिप्रवाहाक्रान्तं व्यनाद्य, तथा त्वच्चक्षुश्चेति भावः ; तेन ममैश्वरं योगं रूपं पश्य-‘युज्यते अनेन’ इति व्युत्पत्तोर्योगो रूपं-‘परमं रूपमैश्वरम्’ इत्यादिप्रमाणं ; अत्र दिव्यं चक्षुरेव दत्तं, न तु दिव्यं मनोऽपीति बोध्यम् ; तादृशे मनसि दत्तो, तस्य तद्रूपे रश्मिप्रसङ्गादहं दिव्यदृष्टिदानेन लिङ्गेन पार्थसारथिरूपात् सह-स्रशिरसो विश्वरूपस्याध्वयमिति यद्वदन्ति तत्तदग्रे निररयम् ॥ ८ ॥

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।

दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।

अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।

सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥

सारा०ब०—विश्वतः सर्वतो मुखानि यस्य तत् ॥ ११ ॥

गी०भू०—एवमुक्त्वा हरिः पार्थाय विश्वरूपं दर्शितवान् । तच्च रूपं बोध्यं पार्थो हरिमेवं विज्ञापितवानिति ममर्थं सञ्जयः प्राह-एवमिति षड्भिः । ततो दिव्यचक्षुर्दानानन्तरं हे राजन् धृतराष्ट्र ! महांश्वासौ योगेश्वरश्च हरिः ॥ ९ ॥

गी०भू०—अनेकेति - अनेकानि सहस्राणि वक्त्राणि नय-नानि च यस्य तद्रूपं-‘सहस्रबाहो भव विश्वमूर्त्ति’ इत्यप्रिम-वाक्यात्, इहानेक-बहु-सहस्र-शब्दा असंख्येयार्थ-वाचिनः-‘विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखः’ इत्यादिज्ञापकात्, अनेकानामद्भु-तानां दर्शनं यत्र तत् दिव्यो गन्धो यत्र तादृगनुलेपनं यस्य तत्, देवं द्योतमानमनन्तमपारं, विश्वतः सर्वतो मुखानि यस्य तत् ॥ १०-११ ॥

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।

यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥ १२ ॥

सारा०ब०—एकदैव यदि भाः कान्तिकृत्यता भवेत्, तदा तस्य महात्मनो विश्वरूपपुरुषस्य भासः प्रभायाः कान्तेः कथञ्चित् सदृशी भवेत् ॥ १२ ॥



गी०भू०—तदीमे नैरुपम्यमाह—दिवीति । दिवि आकाशे युग-  
पदुत्थितस्य सूर्यसहस्रस्य भाः कान्तिश्चेद्वयुगपदुत्थिता भवेत्तर्हि  
सा तस्य महात्मनो विश्वरूपस्य हरेर्भास एकस्याः कान्तेः सदृशी  
स्यात्तादेति—सम्भावनायां लट् । अद्भुतोपमेयमुच्यते तयोत्प्रेक्षा  
व्यङ्गा सती सर्वथा तत्कान्तेनैरुपम्यं व्यञ्जयति । तादृगरूपं  
दर्शयामासेति पूर्वैरणान्वयः ॥१२॥

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।

अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥१३॥

सारा०ब०—तत्र तस्मिन् युद्धभूमामेव देवदेवस्य शरीरे  
जगत् ब्रह्माण्डं कृत्स्नं सर्वमेव गणयितुमशक्यमित्यर्थः । प्रवि-  
भक्तं पृथक्पृथक्तया स्थितमेकस्थमेकदेशस्थं प्रतिरोमकूपस्थं  
प्रतिकुक्षिस्थं वेत्यर्थः । अनेकधा मृन्मयं हिरण्यमयं मणिमयं  
वा पञ्चाशत्कोटियोजनप्रमाणं शतकोटियोजनप्रमाणं लक्षकोट्या-  
दियोजनप्रमाणं वेत्यर्थः ॥ १३ ॥

गी०भू०—ततः किमभूदित्यपेक्षायामाह—तत्रेति । तत्र युद्ध-  
भूमौ देवदेवस्य कृष्णस्य व्याञ्जितसहस्रशिरस्के शरीरे श्रीविप्रदे  
कृत्स्नं निखिलं जगद्ब्रह्माण्डं तदा पाण्डवोऽपश्यत् । प्रविभक्तं  
पृथक्पृथक्भूतमेकस्थमिति प्राग्वत्, अनेकधेति मृन्मयं स्वर्णमयं  
रत्नमयं वा लघुमध्ये बृहद्भूतं वेत्यर्थः ॥१३॥

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।

प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥१४॥

अर्जुन उवाच —

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वास्तथा भूतविशेषसङ्घान् ।  
ब्रह्माण्मीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यन् ॥१५॥

सारा०ब०—भूतविशेषानां जरायुजादीनां सङ्घान्, कमला-  
सनस्थं पृथ्वीपद्मकर्णिकायां सुमेरौ स्थितं ब्रह्माणम् ॥ १५ ॥

गी०भू०—एवं कृष्णतत्त्वाविद्वज्जुनस्तस्मिन् सत्त्वेन ज्ञातं  
महर्षीर्षत्वमधुना वीक्ष्याद्भूतं रसमन्वभूदित्याह—तत इति — तं  
व्याञ्जित-तद्रूपं कृष्णं बिलोकयेत्यर्थः । धनञ्जयेति — धीरोऽपि  
विस्मयेनाविष्टो हृष्टरोमा पुलकितो देवं शिरसा भूतगनेन प्रणम्य  
कृताञ्जलिः सन्नभाषत । अत्र भयनेत्रसम्बरणादिकं तस्य नाभूत  
किन्त्वद्भुतो रसोऽभ्युदैदिति व्यञ्जते । इह तादृशो हरिरालम्बनो  
मुहुर्मुहुस्तद्वीक्षणमुदीपनं प्रणतिपाणियो गावनुभावो, रौमाञ्चः  
सात्त्विकस्तैराक्षिप्ता मतिधृतिहर्षादयः—सञ्चारिणः, एतैरालम्ब-  
नाद्यैः पुष्टो विस्मयस्थायिभावोऽद्भुतरसः ॥१४॥

गी०भू०—किमभाषत तदाह—पश्यामीति सप्तदशभिः । तथा  
भूतविशेषाणां जरायुजादीनां सङ्घान् पश्यामि ब्रह्माणं चतुर्मुखं,  
कमलासने चतुर्मुखे स्थितं तदन्तर्यामिणमीशं गर्भोदकशयमुर-  
गान् वासुक्यादीन् सर्पान् ॥१५॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।

नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्व विश्वरूप ॥१६॥

सारा०ब०—हे विश्वेश्वर, आदिपुरुष ॥ १६ ॥

गी०भू०—यत्र देहे देवादीन् दृष्ट्वांस्तं विशिनष्टि—अनेकेति ।  
हे विश्वरूप ! प्रथम-पुरुष ! ॥१६॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च

तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।

पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-

दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७॥



गी०भू०—विधान्तरेण तमेव विशिनष्टि-किरीटिनमिति ।  
दुर्निरीक्ष्यमपि त्वामहं पश्यामि-तत्प्रसादादिव्यचक्षुर्लाभात्,  
दुर्निरीक्ष्यतायां हेतुः-समन्तादीप्तानलेति, अप्रमेयमिदमित्यमिति  
प्रमातुमशक्यम् ॥१७॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।

त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥

सारा०ब०—वेदितव्यं मुक्तैर्ज्ञेयं यदक्षरं ब्रह्मतत्त्वम्, निधानं  
लयस्थानम् ॥ १८ ॥

गी०भू०—अचिन्त्यमहैश्वर्यवीक्षणतत्त्वमहमेवं निश्चिनोमी-  
त्याह-त्वमिति । “अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते”, “यत्ताद-  
दृश्यम्” इत्यादि-वेदान्तवाक्यैर्वेदितव्यं यत् परमं सश्रीकमक्षरं  
तत्त्वमेव निधानमाश्रयोऽव्ययस्त्वमविनाशी, शाश्वतधर्मगोप्ता  
वेदोक्तधर्मपालकस्त्वं— “स कारणं कारणाधिपाधिपो न  
चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः” इति मन्त्रवर्णोक्तः सनातनः  
पुराणः पुरुषस्त्वमेव ॥१८॥

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुः शशिसूर्यनेत्रम् ।

पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥

सारा०ब०—अनादीत्यत्र महाविस्मयरससिन्धुनिमग्नस्या-  
ब्जुनस्य वचसि पौनरुक्त्यं न दोषाय ; यदुक्तम्-‘प्रमादे  
विस्मये हर्षे द्विस्त्रिरुक्तं न दुष्यति’ ॥ १९ ॥

गी०भू०—अनादीति आदिमध्यावसानशून्यमनन्तानि वी-  
र्याणि तदुपलक्षितानि समप्राण्यैश्वर्याणि षट् यस्य तमनन्त-  
बाहुं सदस्रभुजं शशिसूर्योपमानि नेत्राणि यस्य तं-देवादिषु  
प्रणतपु प्रसन्ननेत्रं तद्विपरीतेषु असुरादिषु क्रूरनेत्रमित्यर्थः ;

दीप्तहुताशोपमानि संहारानुगुणानि वक्त्राणि यस्य तम् । अब्जु-  
नस्य वाक्ये क्वचित् पुनरुक्तिस्तस्य विस्मयाविष्टत्वात् दोषाय ;  
यदुक्तं-“प्रमादे विस्मये हर्षे द्विस्त्रिरुक्तं न दुष्यति” इति ॥१९॥

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।  
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमिदं तवोग्रं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥

सारा०ब०—अथ प्रस्तुतोपयोगित्वात्तस्यैव रूपस्य कालरूपत्वं  
दर्शयामास-द्यावेत्यादि-दशभिः ॥ २० ॥

गी०भू०—अथ तस्यैव रूपस्य प्रकृतोपयोगित्वेन कालरूपतां  
दर्शितवानित्याह-द्यावेति दशभिः । द्यावापृथिव्योरन्तरमन्तरीक्षं  
तथा सर्वा दिशश्चैकेन त्वया व्याप्तम्, तवेदमपरिमितमद्भुत-  
मुग्रं रूपं दृष्ट्वा लोकत्रयं प्रव्यथितं भीतं संचलञ्च भवति । हे  
महात्मन् सर्वाश्रय ! अत्रेदमवगम्यते-तदा युद्धदर्शनाय ये  
त्रैलोक्यस्था मित्रोदासीना देवासुरा गन्धर्वकिन्नरादयः समा-  
गतास्तैरपि भक्तिमद्भिर्भगवद्भक्तादिव्यनेत्रैस्तद्रूपं दृष्टं, न त्वेकेनै-  
वाब्जुनेन स्वपतेव स्वाप्रिकरथादीनि-निजैश्वर्यस्य बहुसाक्षि-  
कतार्थमेतत् ॥२०॥

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति

केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।

स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः

स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥

सारा०ब०—त्वा त्वाम् ॥ २१ ॥

गी०भू०—अमी सुरसङ्घास्त्वां शरणं विशन्ति, तेषु केचि-  
द्भीता दूरतः स्थित्वा प्राञ्जलयः सन्तो गृणन्ति ‘पाहि पाहि प्रभो-



ऽस्मान्' इति प्रार्थयन्ते, महती भीतिमालदय महर्षिसङ्घाः  
सिद्धसङ्घाश्च 'विश्वस्य स्वस्त्यस्तु' इत्युक्त्वा स्तुवन्ति ॥२१॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।  
गन्धर्वेयक्षासुरसिद्धपङ्का वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

सारा०ब०—उष्माणं पिबन्तीत्युष्मपाः पितरः—“उष्मभागा  
हि पितरः” इति श्रुतेः ॥ २२ ॥

गी०भू०—रुद्रेति स्फुटम् । उष्मपाः पितरः—“उष्माणं  
पिबन्ति” इति निरुक्तेः, “उष्मभागा हि पितरः” इति श्रुतेश्च ॥२२॥

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहुरूपादम् ।

बहुदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥२३॥

गी०भू०—लोकत्रयं प्रव्यथितम्' इत्युक्तमुपसंहरति—रूपं मह-  
दिति । बहुभिर्दंष्ट्राभिः करालं रौद्रम्, स्फुटमन्यत्, तथाहमित्य-  
स्योच्चारणे सम्बन्धः ॥२३॥

नमः स्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।

दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमंच विष्णो ॥

सारा०ब०—शममुपशमम् ॥ २४ ॥

गी०भू०—तथैतद्रूपोपसंहारफलकं दैन्यं प्रकाशयन्नाह—नमः-  
स्पृशमिति द्वाभ्याम् । अहञ्च त्वां दृष्ट्वा प्रव्यथितान्तरात्मा भीतो-  
द्विग्नमनाः सन् धृतिमुपशमं च न विन्दामि न लभे, हे विष्णो !  
कीदृशम् ?—नमःस्पृशमन्तरीक्षव्यापिनं व्यात्ताननं विस्तृतास्यम्,  
व्यक्तार्थमन्यत् । अत्र कालरूपत्वदर्शनहेतुको भयानकरसः स्व-  
स्योक्तः ॥२४॥

दृष्टाकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।  
दिशो न जानं न लभे व शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥

गी०भू०—दंष्ट्रेति - कालानलः प्रलयान्निस्तत्सन्निभानि  
तत्तुल्यानि, शर्म सुखम् ॥२५॥

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः ।  
भोष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥  
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।  
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२६॥

गी०भू०—‘यच्चान्यद्दृष्टुमिच्छसि’ इत्यनेनास्मिन् युद्धे  
भविष्यज्जगयपराजयादिकञ्च मद्देहे पश्येति रुद्रगवतोक्तं तदधुना  
पश्यन्नाह—अमी चेति पञ्चभिः । अमी धृतराष्ट्रस्य पुत्रा दुर्योधना-  
दयः सर्वे अर्वाविपालसङ्घैः शल्यजयद्रथादिभूपवृन्दैः सह  
त्वरमाणाः सन्तस्ते वक्त्राणि विशन्तीत्युत्तरेणान्वयः । अजे-  
यत्वेन ख्याता ये भीष्मादयस्तेऽपि, असांभति सर्वदेव  
मद्विद्वेषीत्यर्थः, सूतपुत्रः कर्णः, न केवलं त एव किन्त्वस्मदीया ये  
योधमुख्या धृष्टद्युम्नादयस्तैः सहेति—तेऽपि प्रविशन्तीति सहोक्त-  
रलङ्कारः । केचिदिति तेषां मध्ये केचिच्चूर्णितैरुत्तमाङ्गैर्मस्तकैः  
सहिता दशनान्तरेषु दन्तसन्धिषु विलग्नाः संदृश्यन्ते मया ॥२६-२७॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखं द्रवन्ति ।  
तथा त्वामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभितो ज्वलन्ति ॥  
यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समुद्रवेगाः ।  
तथैव नाशाय विशन्ति लोकाः स्तवापि वक्त्राणि समुद्रवेगाः ॥



गी०भू०—प्रवेशो दृष्टान्ताबाह-यथेति द्वाभ्याम् । तत्र प्रथ-  
मोऽधीपूर्वके प्रवेशे, द्वितीयस्तु धीपूर्वके बोध्यः ॥३८॥

गी०भू०—ज्वलनं बहिम् ॥३९॥

लेलिह्यसे प्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।  
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥

गी०भू०—योद्धृणां तन्मुखप्रवेशो प्रकारमुक्त्वा तस्य  
तद्भासां च तत्र प्रवृत्तिप्रकारमाह-लेलिह्यसे इति । वेगेन प्रविशतः  
समग्रान् लोकान् दुर्ग्रोधनादीन् ज्वलद्भिर्वदनैर्प्रसमानो गिलन्  
समन्ताद्दोषावेशेन लेलिह्यसे तद्रुधिरक्षितमोष्ठादिकं मुहुर्मुहु-  
र्लेच्छि । तवोग्रा भासो दीप्तयोऽसह्यस्तेजोभिः समग्रं जगदापूर्य  
प्रतपन्ति । हे विष्णो ! विश्वव्यापिन् ! त्वत्ताः पलायनं दुर्घट-  
मित्यर्थः ॥३०॥

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।  
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥

गी०भू०—एवं विश्वरूपं व्यञ्जितकालशक्ति भगवन्तमुपवर्ण्य  
तत्तत्त्वाविदप्यञ्जुनः स्वज्ञानदाढ्याय पृच्छति-आख्याहीति ।  
'दर्शयात्मानमव्ययम्' इति सहस्रशीर्षादिलक्षणमैश्वरं रूपं दर्श-  
यितुमर्थितेन भगवता तद्रूपं प्रदर्श्य तस्य पुनरतिधोरा संहर्त्ता  
प्रदर्श्यते । तत्रोग्ररूपो भवान् क इत्याख्याहि कथय । हे देववर !  
ते नमोऽस्तु, प्रसीद त्यजोग्ररूपताम् । आद्यं भवन्तमहं विशेषेण  
ज्ञातुमिच्छामि, तव प्रवृत्तिं चेष्टाञ्च न हि प्रजानामि-किमथेमेवं  
प्रवृत्तोऽसीति तत्प्रयोजनं चाख्याहीति ॥३१॥

श्रीभगवानुवाच--

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहृतुमिहप्रवृत्तः ।  
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥

गी०भू०—एवमर्थितो भगवानुवाच-कालोऽस्मीति । प्रवृद्धो  
व्यापी, "यस्य ब्रह्म च क्षत्रञ्च उभे भवत ओदनः । मृत्युर्यस्योप-  
सेवनं क इत्या वेद यत्र सः ॥" इति श्रुत्या यः कीर्त्त्यते स  
कालोऽहमित्यर्थः । इह समये लोकान् दुर्ग्रोधनादीन् समाहर्त्तुं  
प्रसितुं प्रवृत्तं मां मत्प्रवृत्तिफलञ्च जानीहि-त्वामपि युधिष्ठीरा-  
दीश्च ऋते सर्वे न भविष्यन्ति न जीविष्यन्ति, यद्वा, ननु  
रणान्निवृत्ते मयि तेषां कथं क्षयः स्यादिति चेत्तात्राह-ऋतेऽपीति ।  
त्वां योद्धारमृते त्वद्युद्धव्यापारं विनापि सर्वे न भविष्यन्ति-  
मरिष्यन्त्येव कालात्मना मया तेषां आयुर्हरणात् । के ते सर्वे  
इत्याह-प्रत्यनीकेषु परम्परयोर्ये भीष्मादयोऽवस्थिताः, युद्धान्नि-  
वृत्तस्य तव तु स्वधर्मच्युतिरेव भवेदिति ॥३२॥

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व

जित्वा शत्रून् भुङ्क्त्व राज्यं समृद्धम् ।

गयैवैते निहताः पूर्वमेव

निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

गी०भू०—यस्मादेवं, तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ स्वधर्मस्य युद्धात्  
यशो लभस्व-सुरदुर्जया भीष्मादयोऽञ्जुनेन हेलयैव निजिता  
इति दुर्लभं कीर्त्तिं प्राप्नुहि । पूर्वं द्रौपद्यामपराधसमय एव  
मयैते निहतास्त्वद्यशसे यन्त्रप्रतिमावत् प्रवर्त्तन्ते, तस्मात् त्वं  
निमित्तमात्रं भव । हे सव्यसाचिन् !-सव्येनापि हस्तेन बाणान्  
सञ्चितुं सन्धातुं शीलमभ्येति युद्धनिर्भरे प्राप्ते हस्ताभ्यामिषु-



वर्णिमित्यर्थः ॥३३॥

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यान्पि योधवीरान् ।  
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥

गी०भू०—‘यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः’ इति स्वविजये  
सशयं माकापीरित्याशयेनाह-द्रोणञ्चेति । मया हतान् हतायुधो  
द्रोणादीस्त्वं जहि मारय, मा व्यथिष्ठाः कथमेतान् दिव्यास्त्र-  
सम्पन्नानेकः शक्नोम्यहं विजेतुमिति भयं मा गाः-मृतानां  
मारणे कः श्रम इत्यर्थः । भयं हित्वा युध्यस्व रणे सपत्नान्  
रिपून् जितासि जेय्यासि ॥३४॥

संजय उवाच--

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।  
नमस्कृत्वा भूव एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥३५॥

सारा०ब०--नमस्कृत्वेत्यार्षम् ॥ ३५ ॥

गी०भू०--ततो यदभूत्तत् सञ्जय उवाच-एतदिति । केश-  
वस्यैतत् पञ्चत्रयात्मकं वचनं श्रुत्वा किरीटी पार्थः वेपमानो-  
ऽत्यद्भुतात्युग्ररूपदर्शनजेन संभ्रमेण सकम्पः, नमस्कृत्वेत्यार्ष-  
कृष्ण नमस्कृत्य, पुनः प्रणम्य, भीतभीतोऽतिभयाकुलः सन् भूयः  
पुनरप्याह सगद्गदं गद्गदेन कण्ठकम्पेन सहितं यथा स्या-  
त्तथा ॥३५॥

अर्जुन उवाच--

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।  
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्गाः ।

सारा०ब०-- भगवद्विग्रहस्यातिप्रसन्नत्वमतिघोरत्वञ्चेदमुन्मु-

खविषयकमिति सहसेव ज्ञात्वा तदेव तत्त्वं व्याचक्षाणः स्तौति-  
स्थान इत्यव्ययं युक्तमित्यर्थः । हे हृषीकेश, स्वभक्तैर्न्द्रियाणाञ्च  
आभिमुख्ये स्वमुख्ये च प्रवर्त्तक, तव प्रकीर्त्या त्वन्माहा-  
त्म्यसंकीर्त्तनेन जगदिदं प्रहृष्यत्यनुरज्यते अनुरक्तं भवतीति  
युक्तमेव जगतोऽस्य त्वदौन्मुख्यादिति भावः । तथा रक्षांसि  
रक्षोऽमुरदानवपिशाचादीनि भीतानि भूत्वा दिशो द्रवन्ति दिशः  
प्रतिपलायन्त इत्येतदपि स्थाने युक्तमेव तेषां त्वद्वैमुख्यादिति  
भावः । तथा त्वद्भक्त्या ये सिद्धास्तेषां सङ्ख्याः सर्वे नमस्यन्ति  
केत्यापि युक्तमेव तेषां त्वद्भक्तत्वादिति भावः । श्लोकोऽयं  
श्लोक्तमन्त्रत्वेन मन्त्रशास्त्रे प्रसिद्धः ॥ ३६ ॥

गी०भू०--परेशस्य सख्युः कृष्णस्यातिरम्यत्वमत्युग्रत्वञ्च तत्र  
रङ्गबद्युगपदेव बीज्य तदुभयं स्वसम्मुख-स्वविमुखविषयमिति  
बिद्वानर्जुनस्तदनुरूपं स्तौति-स्थान इत्येकादशभिः । युक्तमित्य-  
र्थं स्थान इत्येदन्तमव्ययम्, हे हृषीकेशेति-सम्मुखविमुखेन्द्रि-  
याणां साम्मुख्ये वैमुख्ये च प्रवर्त्तकेत्यर्थः । युद्धदर्शनायागतं  
देवगन्धर्वसिद्धबिशाधरप्रमुखं त्वत्सम्मुखं जगत्ताव दुष्टसंहर्त्ता-  
त्वरूपया प्रकीर्त्या प्रहृष्यत्यनुरज्यते चेति युक्तमेतत् । दुष्टस्व-  
भावानि त्वद्विमुखानि रक्षांसि राक्षसासुरदानवादीनि देवाद्यु-  
द्गीतया तत्प्रकीर्त्या भीतानि भूत्वा दिशः प्रति द्रवन्ति पला-  
यन्त इति च युक्तम्-तव प्राणिभावानुसारि-रूपप्रकाशित्वादिति  
भावः । तदित्थं शिष्टाशिष्टानुग्रहकारितां तव बीज्य त्वद्भक्ताः  
सिद्धसङ्गाः सर्वे सनकादयो नमस्यन्ति ‘जय जय भगवान्’  
इत्युदीरयन्तः प्रणमन्तीति च युक्तं तव भक्तमनोहारित्वात् ॥३६॥

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।

अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥३७॥



सारा०ब०--ते कस्मान्न नमेरन्, अपि तु नमेरन्नेव-  
आत्मनेपदमार्थम् । सत् कार्यमसत् कारणञ्च ताभ्यां परं यदक्षरं  
ब्रह्म तत् त्वम् ॥ ३७ ॥

गी०भू०--अथ भगवतः सर्वनमस्तत्त्वमभिदधत् सर्व-  
व्यापित्वात् सर्वव्यापकतां प्रतिपादयति-कस्माच्चेति चतुर्भिः ।  
हे महात्मन् दारमते ! हे अनन्त सर्वव्यापिन् ! हे देवेश सर्व-  
देवनियन्तः ! हे जगन्निवास सर्वाश्रय ! ते सिद्धसङ्घास्ते तुभ्यं  
कस्माद्धेतोर्न नमेरन्-आत्मनेपदं छान्दसम्, अपि तु प्रणमेयु-  
रेव ते । कीदृशायेत्याह-ब्रह्मणोऽपि गरीयसे गुरुतराय यस्मा-  
दादिकर्त्रे तत्त्वसृष्टिकरायेति नमस्तत्त्वेऽनेके हेतवः सन्तीति समु-  
च्चालङ्कारः, किञ्च, यदक्षरं प्रकृतिसंसर्गि-जीवात्मवस्तु यच्च सद्-  
सत्कार्यकारणावस्थं स्थूलसूक्ष्मभूतं प्रकृतितत्त्वं, तत्परं यदिति ।  
तस्मात् प्रकृतिसंसृष्टाजीवात्मतत्त्वात् प्रकृतितत्त्वाच्चोक्तरूपात्  
परमुत्कृष्टं भिन्नं च यन्मुक्तजीवात्मतत्त्वं, तच्च त्वमेव सर्वरूप  
इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।  
वेत्तासि वेद्यं च परञ्च धाम त्वया तत् विश्वमनन्तरूपम् ॥ ३८ ॥

सारा०ब०--निधानं लयस्थानं परं धाम गुणातीतं स्वरूपम् ॥ ३८ ॥  
गी०भू०--त्वमिति - परं निधानं परमाश्रयो-‘निधीयते-  
ऽस्मिन्’ इति निरुक्तेः । जगति यो वेत्ता, यच्च वेद्यं, तदुभयं त्व-  
मेव । कुत एवमिति चेत्तत्राह-यत्त्वया विश्वमिदं तत् तद्व्या-  
पित्वादित्यर्थः, यच्च परं धाम परमव्योमाख्यं प्राप्यस्थानं तदपि  
त्वमेव पराख्यत्वच्छक्तिवैभवत्वात्तस्य धाम्नः ॥ ३८ ॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।  
नमो नमस्तेऽस्तु सदस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ ३९ ॥

सारा०ब०--सर्वं स्वकार्यं जगदाप्नोषि व्याप्नोषि स्वर्गमिव  
वृटककुब्जलादिकमतस्त्यमेव सर्वः ॥ ३९ ॥

गी०भू०--अतः सर्वशब्दवाच्यस्त्वमित्याह-वायुरिति ।  
सर्वदेवोपलक्षणं वाय्वादिसर्वदेवरूपत्वं प्रजापतिश्चतुरास्यः  
पितामहत्वं तत्पितृत्वात् प्रपितामहत्वं भवसि कङ्कणादिषु कन-  
कस्येव चिदचिच्छक्तिमतस्तव कारणस्य वाय्वादेषु व्याप्ते-  
स्तत्त्वात् सर्वरूपत्वमतः सर्वनमस्योऽसीति मया त्वं नमस्त्यसे  
इत्याह-नमो नम इति ॥ ३९ ॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।  
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥  
सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।  
अज्ञानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥ ४१ ॥  
यच्चावहापार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु ।  
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥

सारा०ब०--हन्त हन्तैतादृश-महामहैश्वर्यमत्त्वय्यहं कुत-  
महापराधपुञ्जोऽस्मीत्यनुतापमाविष्कुर्वन्नाह-सखेतीति । हे  
कृष्णेति-त्वं बसुदेवनाम्नो नरस्यार्द्धरथत्वेनाप्यप्रसिद्धस्य पुत्रः  
कृष्ण इति प्रसिद्धः । अहन्तु नरपतेः पाण्डोरतिरथस्य पुत्रोऽञ्जुन  
इति प्रसिद्धः । हे यादवेति-यदुवंश्यस्य तव नास्ति राजत्वम्,  
मम तु पुरुवंश्यस्यास्त्येव राजत्वम् ; हे सखेति-सन्धिरार्थः  
तदपि त्वया सह मम यत् सख्यं तत्र तव पैत्रिक-प्रभाषो न  
हेतुः नापि कौलिकः, किन्तु तावक एवेत्यभिप्रायतो यत् प्रसभं  
सतिरस्कारमुक्तं मया तत् क्षामये क्षमयामीत्युत्तरेणान्वयः ।  
तवेदं विश्वरूपात्मकं स्वरूपमेव महिमानं प्रमादाद्वा प्रणयेन



स्नेहेन वा परिहासार्थं बिहारादिष्वसत्कृतोऽसि त्वं सत्यवादी  
निष्कपटः परमसरल इत्यादिवक्रोक्त्या तिरस्कृतोऽसि, त्वमेकः  
सखीन् विनैव रहस्यथवा तत्समत्वं तेषां परिहसतां सखीनां  
समत्वं पुरतोऽसि यदा स्थितस्तदा जातं तत्सर्वमपराधसहस्रं  
क्षामये---हे प्रभो, क्षमस्वेत्यनुनयामीत्यर्थः ॥ ४१-४२ ॥

गी०भू०—भक्त्यतिशयेन नमस्कारेण्वलं भावमविदन् बहुकृत्वः  
प्रणमति-नमः पुरस्तादिति । हे सर्व ! पुरस्तात् पृष्ठतः सर्वतश्च  
स्थिताय ते नमो नमोऽस्तु । अनन्तंति कर्मधारयः, बीर्यं देह-  
बलं विक्रमस्तु धीबलं शस्त्रप्रयोगादि-प्रावीण्यरूपम्, एकं बीर्या-  
धिकं मन्यतैकं शिक्षयाधिकमिति भीमदुर्योधनावुद्दिश्योक्तेः ।  
सर्वरूपत्वेहे तुमाह-सर्वं समाप्नोषीति । एवमेवोक्तं श्रीवैष्णवे-  
“योऽयं तवागतो देव समीपं देवतागणः । स त्वमेव जगत्प्र-  
यतः सर्वगतो भवान्” इति ॥४०॥

गी०भू०—एवमर्जुनः सहस्रशीर्षादिलक्षणं स्वसखं कृष्णं  
बिलोक्य संस्तुत्य प्रणम्य च स्वसख्यस्यैश्वर्यज्ञानसम्मिश्रत्वात्-  
दनुरूपमनुनयति-सखेति द्वाभ्याम् । कृष्णो भगवान्मे सखा  
मित्रमिति मत्वा निश्चित्य तवेदं सहस्रशीर्षत्वादिलक्षणं महिमान-  
मजानताननुभवता मया प्रमादादनबधानतः प्रणयेन सख्य-  
प्रेमणा वा यत्त्वां प्रति प्रसभं हठादुक्तं, तदिदानीं क्षामये क्षम-  
यामि । किं तदिति चेत् तत्राह-हे कृष्णेत्यादि । सखेतीत्यत्र  
सन्धिश्छान्दसः । एतानि त्रीणि सम्बोधनान्यनादरगवर्भाणि-  
हे कृष्णेत्यत्र श्रीपूर्वकत्वाभावात्, हे यादवेत्यत्र राज्यवंश-  
त्वाभावावेदनात्, हे सखेत्यत्र सबयस्त्वमात्रसूचनात् । किञ्च, यच्च  
बिहारादिष्वबहासार्थं परिहासायामत्कृतोऽसि सत्यवाक् सरलो  
निष्कपटस्त्वमित्येवं व्यञ्जकशब्दैरबज्ञातोऽसि । एकः सखीन्  
विना विजने स्थितस्तत्समत्वं वा तेषां परिहसतां सखीनां पुरतो

वा स्थित इत्यर्थः । तत्सर्ववचनरूपमसत्काररूपं वापराधजातं  
क्षामये-क्षमस्व प्रभो भगवन्नित्यनुनयामि । हे अच्युतोऽसि सत्य-  
पराधेऽबिच्युतसखेत्यर्थः । अप्रमेयमतर्क्यप्रभावम् ॥४१-४२॥  
पितासि लोकस्य चरावरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।  
तत्त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभावः ॥

गी०भू०—अप्रमेयतामाह-पितासीति । अस्य लोकस्य पिता  
पूज्यो गुरुः शास्त्रोपदेष्टा च त्वमसि ; अतः सर्वैः प्रकारैर्गरीयान्  
गुरुतरस्त्वम् हे अप्रतिम-प्रभाव ! अतोऽस्मिन् लोकत्रये निम्बि-  
लेऽपि जगति त्वत्सम एव नास्ति, द्वितीयस्य परेशस्याभावादेव  
त्वदधिकोऽन्यः कुतः स्यात् ? श्रुतिश्चैवमाह--“न तत्समश्चाभ्य-  
धिकश्च दृश्यते” इति ॥४३॥

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीडयम् ।  
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥

सारा०ब०----कायं प्रणिधाय भूमौ दण्डबन्निपात्य प्रिया-  
यार्हसीति सान्धरार्थः ॥ ४४ ॥

गी०भू०—यस्मादेवं तस्मादिति । कायं भूमौ प्रणिधाय,  
प्रणम्येति साष्टाङ्गं प्रणतिं कृत्वा, हे देव ! ममापराधं सोढुं मर्हसि ।  
कः कस्येवेत्याह-पितेवेति । सखेव सख्युरिति तु तदा महेश्वर्यं  
वीक्ष्य स्वस्मिन् दासत्वमननात्, प्रियायार्हसीति विसर्ग-लोपः  
सन्धिश्चार्थः ॥४४॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।  
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥

सारा०ब०----यद्यप्यदृष्टपूर्वमिदं ते विश्वरूपात्मकं अपुर्दृष्ट्वा



हृषितोऽस्मि तदप्यस्य घोरत्वाद्भयेन मनः प्रव्यथितमभूत् ।  
तस्मात्तदेव मानुषं रूपं मत्प्राणकोट्याधिकप्रियं माधुर्यपारावारं  
बसुदेवनन्दनाकारं मे दर्शय प्रसीदेत्यलं तवैतादृशैश्वर्यस्य  
दर्शनायेति भावः । देवेशेति त्वं सर्वदेवानामीश्वरः सर्व-  
जगन्निवासो भवस्येवेति मया प्रतीर्तामिति भावः । अत्र विश्व-  
रूपदशनकाले सर्वस्वरूपमूलभूतं नराकारं कृष्णवपुस्तत्रैव स्थि-  
तमपि योगमायाच्छादितत्वादञ्जुनेन न दृष्टमिति गम्यते ॥४५॥

गी०भू०—अथ किं बक्षि किं चेच्छसीति चेत्तत्राह—अह-  
ष्टेति । त्वाय कृष्णे सत्त्वेन ज्ञातमपीदमैश्वरं रूपं दृष्ट्वाहं हृषितो-  
ऽस्मि मत्सखस्येदमसाधारणं रूपमिति मुदितोऽस्मि मनश्च मम  
तद्घोरत्वदर्शनजेन भयेन प्रव्यथितं भवाति । अत इदं प्राथये-  
तदेवेत्यादि सर्वदेवनियन्ता तत्सर्वाधारः परेशस्त्वमसीति मया  
प्रत्यक्षीकृतमतः परं तदन्तर्भाव्य तदेव मदभीष्टं कृष्णरूपं दर्शय  
प्रादुर्भावेत्यर्थः ॥४५॥

किरीटिन गदिनं चक्रहस्त-मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।  
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

सारा०ब०—किञ्च यदैश्वर्यं दर्शयिष्यसि तदा तव नरलील-  
त्वेन बसुदेवनन्दनाकारेणैव यदस्मदादिभिर्दृष्टं पूर्वं तदेवै-  
श्वर्यं परमरसमयमस्मादृशलोकमनोनयनाद्वादकं दर्शय, न पुनर-  
दृष्टपूर्वमिदं देवलीलविश्वरूपादिपुरुषरूपेणाद्यप्रत्यक्षीकृतमैश्वर्य-  
मगमनमनोनयनारोचकमित्यभिप्रायेणाह—किरीटिनं दिव्यमहार्घ्य-  
रत्नकिरीटयुक्तं, तथैवेति यथास्माभिः कदाचिद्दृष्टम्, त्वं जन्म-  
समये च त्वत्पितृभ्यां यथादृष्टं, हे विश्वमूर्ते, हे सम्प्रति सहस्र-  
बाहो, इदं रूपमुपसंहृत्य तेनैव चतुर्भुजरूपेण भव आबिर्भव ॥४६॥

गी०भू०—तत् कीदृशित्याह—किरीटिनमिति । हे सम्प्रति सहस्र-

बाहो ! हे विश्वमूर्ते ! इदं रूपमन्तर्भाव्य दिव्याभिनेतृ-नट-  
वत्तेनैव चतुर्भुजेन रूपेण विशिष्टः सन् प्रादुर्भव ॥४६॥

श्रीभगवानुवाच—

मया प्रसन्नेन तवाञ्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।  
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥

सारा०ब०—मो अञ्जुन, 'द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरु-  
षोत्तम' इति त्वत्प्रार्थनयैवेदं मया मदंशस्य विश्वरूपपुरुषस्य रूपं  
दर्शितम् । कथमत्र ते मनः प्रव्यथितमभूत् ? यतः प्रसीद प्रसीदे-  
त्युक्त्या तन्मानुषमेव रूपं मे दिदृक्षसे, तस्मात् किमिदमाश्चर्यं  
मप इत्याह—मयेति । प्रसन्नेनैव मया तव तुभ्यमेवेदं रूपं दर्शितम्,  
तान्यगमैः यतस्त्वत्तोऽन्येन केनापि एतन्न पूर्वं दृष्टम्, तदापि  
त्वमेतन्न स्पृहयसि किमिति भावः ॥४७॥

गी०भू०—एवं प्रार्थितो भगवानुवाच—मयेति । हे अञ्जुन !  
'द्रष्टुमिच्छामि ते रूपम्' इत्यादि त्वत्प्रार्थितं प्रसन्नेन मयेदं  
तेजोमयं परमैश्वरं रूपं बौद्धैर्यबदभिनेतृ-नटवच्च त्वदभीष्टे कृष्णे  
मयि स्थितमेव तव दर्शितम् ; आत्मयोगान्निजाचिन्त्यशक्या मे  
मम यद्रूपं त्वदन्येन जनेन पूर्वं न दृष्टम् । तत्प्रसङ्गादिदानो  
त्वन्यैरपि देवादिभिर्दृष्टं भाक्तदृश्यं मम तत्स्वरूपं भक्तं त्वां  
प्रति प्रदर्शयता मया त्वद्दृष्टस्य बहुसाक्षित्वाय देवादिभ्यो-  
ऽपि भाक्ता द्वयः प्रदर्शितम्, यत्तु गजसाहस्ये दुर्योधनादिभ्यो-  
रापि विश्वरूपं दृष्टं, तन्नेर्हागवधमिति त्वदन्येन न दृष्टपूर्वमित्यु-  
क्तम् ॥४७॥

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरग्रैः ॥

एवंरूपं शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥



सारा०ब०—तुभ्यं दर्शितमिदं रूपं नु वेदादिसाधनैरपि दुर्लभमित्याह—न वेदेति । त्वत्तोऽन्येन न केनाप्यहमेवंरूपः द्रष्टुं शक्यः ; शक्य अहमिति—यद्वयलोपाबाधौ । तस्मादलभ्यलाभमात्मनो मत्वा त्वमस्यन्नेवेश्वरे सर्वदुर्लभे रूपे मनो निष्ठां कुरु ; एतद्रूपं दृष्ट्वाप्यत्तं ते पुनर्मे मानुषरूपेण दिदृक्षितेनेति भावः ॥४८॥

गी०भू०—अथ सहस्रशीर्षादिलक्षणस्यैश्वर्यरूपस्य पुमर्थतामाह—न वेदेति । वेदानामध्ययनैरक्षरप्रहणैः, यज्ञानामध्ययनैर्मिमांसा-कल्पसूत्रादिद्वारा तदर्थविमर्शरूपैः, दानैः संभोग्यानां सत्पात्रेभ्योऽर्पणैः, क्रियाभिरग्निहोत्रादिकर्मभिः, तपोभिः कृच्छ्रादिभिरुपदेहशोषकत्वेन दुष्करैः । एभिः केवलैर्वेदाध्ययनादिभिरभक्तियुक्तात्त्वत्तोऽन्येन भक्तिरिक्तेन केनापि पुंसा एवंपोऽहं द्रष्टुं न शक्यो—भक्तिं विना भूतानि वेदाध्ययनादीनि महर्शनसाधनानि न भवन्तीति, यदुक्तं—“धर्मः सत्यादयोपेतो विद्या वा तपसान्विता । मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि ॥” इति त्वया तु भक्तिमता दृष्ट एवाहमन्यैश्च भक्तिमद्भिर्देवादिभिः । शक्योऽहमिति वक्तव्ये विसर्गलोपश्छान्दसः । नकाराभ्यासो निषेधदाढ्यार्थः । नृलोक इत्युक्तेस्तलोके तद्भक्ता देवा बहवस्तद्द्रष्टुं शक्नुवन्तीत्युक्तम् ॥४८॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् । व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्व तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४९॥

सारा०ब०—भाः परमेश्वर, मां त्वं किं न गृह्णासि ? यदनिच्छतेऽपि मह्यं पुनरिदमेव बलादित्ससि ; दृष्ट्वेदं तवैश्वर्यं मम गात्राणि व्यथन्ते, मनो मे व्याकुलीभवति, मुहुरहं मूर्च्छामि, तवास्मै परमैश्वर्याय दूरत एव मम नमो नमोऽस्तु, न कदाप्यहमेवं द्रष्टुं प्रार्थयिष्ये, क्षमस्व क्षमस्व ; तदेव मानुषाकारं वपुर-

पूर्वमाधुर्यधुर्यस्मितहसितमुधामारवणिमुखचन्द्रं मे दर्शय दर्शयेति व्याकुलमर्जुनं प्रति साश्वासमाह—मा ते इति ॥४९॥

गी०भू०—यच्च तस्मिन्नेव मद्रूपे संदर्शितं मया प्रदर्शितं तत् खलु द्रौपदीप्रधर्षणं बीक्ष्यापि तुष्णीं स्थिता भीष्मादयः सर्वे तत्प्रधर्षणकुपितेन मयैव निहन्तव्या न तु तन्निहननभारस्तवेति बोधयितुमतस्तेन त्वं व्यथितो माभूरित्याह—मा ते व्यथेति । तदेव चतुर्भुजं प्रार्थितरूपम् ॥ ४९ ॥

संजय उवाच —

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः । आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥

सारा०ब०—यथा स्वांशस्य महोत्तररूपं दर्शयामास, तथा महामधुरं स्वकं रूपं चतुर्भुजं किरीटगदाचक्रादियुक्तं तत्प्रार्थितं मधुरैश्वर्यमयं भूयो दर्शयामास । ततः पुनः स महात्मा सौम्यवपुः कटककुण्डलोष्णीपपीताम्बरधरो द्विभुजो भूत्वा भीतमेनसाश्वासयामास ॥५०॥

गी०भू०—ततो यदभूत्तत् संजय उवाच—इत्यर्जुनमिति । वासुदेवोऽर्जुनं प्रति पूर्वोक्तमुक्त्वा यथा सङ्कल्पेनैव महत्सशिरस्कं रूपं दर्शितवान् तथैव स्वकं नीलोत्पलश्यामलत्वादिगुणकंदेवकीपुत्रलक्षणं चतुर्भुजं रूपं दर्शयामास एवं सौम्यवपुः सुन्दरविग्रहो भूत्वा भीतमेनमर्जुनं पुनराश्वासयामास । महात्मा उदारमना ॥ ५० ॥

अर्जुन उवाच —

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।

इदानीमस्मि संवृताः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥



गी०भू०—ततो निर्व्यथः प्रसन्नमनाः सन्नर्जुन उवाच-  
दृष्टुमिति । हे जनार्दन तवेदं सौम्यं मनोज्ञं चतुर्भुजं रूपं  
दृष्ट्वाहमिदानीं सचेताः प्रसन्नचित्ताः प्रकृतिं व्यथायभावेन  
स्वास्थ्यञ्च गतः संबृत्तो जातोऽस्मि । कीदृशं रूपमित्याह-मानुष-  
मिति । चैतन्यानन्दविग्रहः कृष्णो वक्ष्यमाणश्रुतिस्मृतिभ्यः, स  
हि यदुषु ; पाण्डवेषु च द्विभुजः कदाचिच्चतुर्भुजश्च कीदृति,  
तदुभयरूपस्यास्य मानुषवत् संस्थानाच्चेष्टिताच्च, -मानुषभावेनैव  
व्यपदेश इति प्रागभाषि ॥ ५१ ॥

सारा०व०—ततश्च महामधुरमूर्तिं कृष्णमालोक्यानन्दमिन्दु-  
स्नातः सन्नाह-इदानीमेवाहं सचेताः संबृत्तः सचेता अभूवं, प्रकृतिं  
गतः स्वास्थ्यं प्राप्तोऽस्मि ॥ ५१ ॥

श्रीभगवानुवाच—

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।

देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाक्षिणः ॥ ५२ ॥

सारा०व०—दर्शितस्य स्वरूपस्य माहात्म्यमाह-सुदुर्दर्शमिति  
त्रिभिः । देवता अप्यस्य दर्शनाकाक्षिणः एव, न तु दर्शनं  
लभन्ते । त्वन्तु नैवेद्यमपि स्पृहयसि मन्मूलस्वरूपनराकारमहा-  
माधुर्यनित्यास्वादिने त्वच्चक्षुषे कथमेतद्रोचताम् ? अतएव  
मया “दिव्यं ददामि ते चक्षुः” इति दिव्यं चक्षुर्दत्ताम्, किन्तु दिव्य-  
चक्षुरिव दिव्यं मनो न दत्ताम् ; अतएव दिव्यचक्षुषापि त्वया न  
सम्यक्तया रोचितं मन्मानुषरूपमहामाधुर्यैकप्रादिमनस्कत्वात्,  
यदि दिव्यं मनोऽपि तुभ्यमदास्यं, तदा देवलोक इव भवान-  
ऽप्येतद्दिव्यरूपपुरुषस्वरूपमरोचयिष्यदेवेति भावः ॥ ५२ ॥

गी०भू०—मया प्रदर्शितं ‘न वेदयज्ञाध्ययनैः’ इत्यादिना  
आधितश्च सदृशशिरस्कं मद्रूपं श्रद्धवानो मत्प्रियसखोऽर्जुनो

मनुष्यभावभाविते श्रीकृष्णे मयि कदाचिद्विश्रयभावो मामूर्दिति  
भावेन स्वक-रूपस्य परमपुरुषार्थतामुपदिशति, -सुदुर्दर्शमिति ।  
सदृशशिरस्कं मद्रूपं दुर्दर्शमेव ; इदञ्च मम कृष्णरूपं सुदुर्-  
शम्, -‘नाहं प्रकाशः सर्वस्य’ इत्युक्तेः । यत्त्वं सुचिराद् दृष्टवानसि  
कथमेवं प्रत्येमीति चेत्तत्राह, -देवा अप्यस्येति । एतच्च दशमादी  
गर्भस्तुत्यादिना प्रसिद्धमेव ॥ ५२ ॥

नाह वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्जपया ।

शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि यन्मम ॥ ५३ ॥

सारा०व०—किञ्च युष्मदष्टहणीयमप्येतत् स्वरूपमन्ये पुरु-  
षार्थसारत्वेन ये स्पृहयन्ति, तैर्वेदाध्ययनादिभिरपि साधनैरे-  
तज्ज्ञातुं द्रष्टुञ्चाशक्यमेवेति प्रतीहीत्याह-नाहमिति ॥ ५३ ॥

गी०भू०—सुदुर्लभतामाह-नाहमिति । एवंविधो देवकी-  
सुतश्चतुर्भुजस्त्वत्सखोऽहं वेदादिभिरपि साधनैः केनापि पुंसा  
भक्तिशून्येन द्रष्टुं न शक्यो यथा त्वं मां दृष्टवानसि ॥ ५३ ॥

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।

ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ ५४ ॥

सारा०व०—तर्हि केन साधनेनैतत् प्राप्यते ? इत्यत आह-  
भक्त्या त्विति । शक्य अहमिति-यद्वयलोपाबाधौ । यदि अनन्य-  
णमोक्षेच्छा भवेत्, तदा तत्त्वेन ब्रह्मस्वरूपत्वेन प्रवेष्टुमपि अन-  
न्यया भक्त्यैव शक्यो नान्यथा । ज्ञानिनां गुणाभूतापि भक्ति-  
रन्तिमसमये ज्ञानसंन्यासानन्तरमुर्व्वरिता अल्पीयस्यनन्यैव  
भवेत्तयैव तेषां सायुज्यं भवेदिति, “ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा  
विशते तदनन्तरम्” इत्यत्र प्रतिपादयिष्यामः ॥ ५४ ॥

सारा०व०—अभिमतं परभक्तैकदृश्यतां स्पृहयन्नाह—



भक्त्येति । एवम्विधो देवकीसूनुश्चतुर्भुजोऽहमनन्यया मदेकान्तया  
भक्त्या तु वेदादिभिस्तत्त्वतो ज्ञातुं शक्यः, द्रष्टुं प्रत्यक्षं कर्तुं  
तत्त्वतः प्रवेष्टुं संयोक्तुं च शक्यः । पुरं प्रविशतीत्यत्र  
पुरसंयोग एव प्रतीयते । तत्र वेदो गोपालोपनिषत्, तपो  
मज्जन्माष्टम्येकादश्याद्युपोषणं, दानं मद्भक्तसम्प्रदानकं स्वभोग्या-  
नामर्पणम्, इज्या मन्मूर्तिपूजा । श्रुतिश्चैवमाह,—"यस्य देवे  
परा भक्तिः" इत्याद्या । तु-शब्दोऽत्र भिन्नोपक्रमार्थः । न च  
सुदुर्दर्शम्' इत्यादित्रयं सहस्रशीर्षरूपपरमिति वाच्यम्,—"इत्य-  
ञ्जुनम्' इत्यादिद्वयस्य नराकृतिचतुर्भुज-स्वरूपपरस्याव्यवहित-  
पूर्वत्वात्, तद्वयेन सहस्रशीर्षरूपस्य व्यवधानाच्च; तत्र यस्य  
तदेकवाक्यतायां नाहं वेदैः इत्यादेः पौरुषक्यापत्तेश्च । यत्तु  
दिव्यदृष्टिदानेन लिङ्गेन नराकाराच्चतुर्भुजात् सहस्रशीर्ष्णो देवा-  
कारस्योत्कर्षमाह तदाविचारिताभिधानमेव-देवाकारस्य तस्य  
चतुर्भुजनराकाराधीनत्वात् । तत्त्वञ्च तस्य युक्तमेव—"यः कार-  
णार्णवजले भजति स्म योगनिद्राम" इत्यादि स्मरणात् ।  
इदं नराकृतिकृष्णरूपं सच्चिदानन्दं सर्ववेदान्तवेद्यं विभुं सर्वा-  
वतारीति प्रत्येतव्यं,—"सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकारणे ।  
नमो वेदान्तवेशाय गुरुवे बुद्धिसाक्षिणे ॥" "कृष्णो वै परमं  
दैवतम्" "एको बशी सर्वगः कृष्ण इडयः" "एकोऽपि सन्  
बहुधा योऽवभाति" इत्यादि श्रवणात् "ईश्वरः परमः—कृष्णः  
सच्चिदानन्दविग्रहः । अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारण-  
कारणम् ॥" "यत्रावतीर्णं कृष्णारूपं परं ब्रह्म नराकृति" "एते  
चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इत्यादि स्मरणाच्च ।  
अत्रापि स्वयमेवोक्तं,—"मत्तः परतरं नान्यत्" इति, "अहमादिर्हि  
देवानाम्" इत्यादि च अञ्जुनेन च,—"परं ब्रह्म परं धाम" इत्यादि ।  
तस्मादतिप्रभावेण संक्रान्ते सहस्रशीर्ष्णि रूपे तेन संक्रान्तैव

दृष्टिर्प्राहिणी युक्ता, न त्वतिसौन्दर्यलावण्यनिधि-नराकृति-कृष्ण-  
रूपानुभाविनी दृष्टिस्तत्र प्राहिणीति भावेन कृष्णरूपे सहस्र-  
शीर्षत्ववदञ्जुनचक्षुषि तादृगरूपप्राप्ति तेजस्वमेव संक्रमितमिति  
मन्तव्यम्, न तु युक्त्याभासलाभेन हेतुकरत्वं स्वीकार्यम्, न  
चाञ्जुनोऽप्यन्यमनुष्यवच्चर्मचक्षुष्कः,—तस्य भारतादिषु नर-  
भगवदवतारत्वेनासकृदुक्तेः । कर्मोद्भूतया विद्यया सनिष्ठैः  
सहस्रशिरस्कं रूपं लभ्यमिति दुर्दर्शं तत् नराकृतिकृष्णरूपं  
त्वनन्यया भक्त्यैवेति सुदुर्दर्शं तदुक्तम् ॥ ५४ ॥

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।

निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ ५५ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्म-  
पर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे  
श्रीकृष्णाञ्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शन-योगो नामैकादशोऽध्यायः ।

—ॐ०००—

सारा०ब०अथभक्तिप्रकरणोपसंहारार्थं स प्रमाध्यायादिषु ये ये  
भक्ता उक्तास्तेषां सामान्यलक्षणमाह—मत्कर्मकृदिति । सङ्गवर्जितः  
सङ्गरहितः ॥ ५५ ॥

कृष्णस्यैव महेश्वर्यं समैवास्मिन् रणे जयः ।

इत्यञ्जुनो निश्चिकायेत्यध्यायार्थो निरूपितः ॥

इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् ।

गीतास्वेकादशोऽध्यायः सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥

—ॐ०००—

गी०भू०—अथ स्वप्राप्तिकरीमत्तन्यां भक्तिमुपदिशन् पसं-  
रति,—पदिति । मत्सम्बन्धिनी मन्मन्दिरनिष्ठा—तद्धि-  
मार्जन-मत्पुष्पवाटोत्तुलसीकाननसंस्कार-तत्सेवनादीनि कर्मा-



दीनि करोतीति मत्कर्मकृत्, मत्परमो मामेव न तु स्वर्गादिकं स्वपुमर्थं जानन्, मद्भक्तो मच्छ्रवणादि-नर्वाविधभक्तिरसनिरतः सङ्गबज्जितः मद्भिमुखससर्गमसहमानः सर्वभूतेषु निर्वैरः-तेष्वपि मद्भिमुखेषु प्रतिकूलेषु सत्सु वैरशून्यः,-स्वक्तेः शस्य स्वपूर्वकर्म-निमित्तकत्वविमर्शेन तेषु वैरानिमित्ताभावात् । एवम्भूतो यः मां नराकारं कृष्णमेति लभते, नान्यः ॥ ५५ ॥

पूर्णः कृष्णोऽवतारित्वात्तद्भक्तानां जयो रणे  
भारते पाण्डुपुत्राणामित्येकादशनिर्णयः ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्भाष्ये एकादशोऽध्यायः ।



## द्वादशोऽध्यायः



अर्जुन उवाच —

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।

ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१॥

सारा०ब०—द्वादशे सर्वभक्तानां ज्ञानिभ्यः श्रैष्ठ्यमुच्यते ।

भक्तेष्वपि प्रशस्यन्ते येऽद्वेषादिगुणान्विताः ॥

सारा०ब०—भक्तिप्रकरणस्योपक्रमे 'योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना । श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥' इति भक्तेः सर्वोत्कर्षो यथा श्रुतः, तथैवोपसंहारेऽपि तस्यां एवं सर्वोत्कर्षं श्रोतुकामः पृच्छति । एवं सततयुक्ता 'मत्कर्मकृन्मत्परमः' इति त्वदुक्तलक्षणा भक्तास्त्वां श्यामसुन्दराकारं ये पर्युपासते, ये चाव्यक्तं निर्विशेषमक्षरम—"एतद्वै तदक्षरं गां गीत्राक्षणा अभवदन्त्यथूलमनखद्वयम्" इत्यादि

अयुक्तं ब्रह्म उपासते, तेषामुभयेषां योगविदां मध्ये केऽतिशयेन योगविदश्च त्वत्प्राप्ती श्रेष्ठमुपायं जानन्ति, न लभन्ते वा । ते योगवित्तारा इति वक्तव्ये योगवित्तमा इत्युक्तिर्योगवित्ताराणामपि बहूनां मध्ये के योगवित्तमा इत्यर्थं बोधयति ॥१॥

गी०भू०—उपायेषु समस्तेषु शुद्धा भक्तिर्महाबला ।

प्रापयेत्त्वरया यन्मामित्याह द्वादशे हरिः ॥

जीवात्मानं यथावज्ज्ञात्वा विज्ञाय च तदंशी हरिर्वैव इति 'आवितांशि तु तद्विद्धि' इत्यादिभिर्द्वितीयादिष्वेकः पन्था बाणतः । जीवात्मानं हरेरंशं ज्ञात्वैव तदंशी हरिस्तच्छ्रवणादि-भक्तिभिर्ध्येय इति 'मय्यासक्तमनाः पार्थ' इत्यादिभिः सप्रमा-दिषु द्वितीय पन्थाः प्रदर्शितः । तेष्वेव प्रयाणकाले इत्यादिना योगोपसृष्टा, 'ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये' इत्यनेन ज्ञानोपसृष्टा च भक्तिरुक्ता । भक्तिषट्कात् प्राक् पष्ठान्ते केबलां भक्तिमुपदेक्ष्यता योगिनामपि सर्वेषाम्' इत्यादिपद्येन स्वैकान्तिनां युक्ततमतां चाभिहिता । तत्रार्जुनः पृच्छति,—एवमिति । एवं मय्यासक्त-मनाः पार्थ' इत्यादि त्वदुक्तविधया सततयुक्ता ये त्वां श्याम-सुन्दरं कृष्णं परितः कायादिव्यापारैरुपासते, ये चाक्षरं जीव-स्वरूपं चक्षुरादिभिरव्यक्तं पर्युपासते धारणाध्यानसमाधिभिः साक्षात्कर्तुमीहन्ते परमात्मकामां स्तेषामुभयेषां मध्ये योग-वित्तमाः शीघ्रोपायिनः के भवन्ति ? अयं भावः,—स्वानुभव-पूर्वकस्य हरिध्यानस्य बन्धमूलत्वात्तेन निर्विघ्ना तत्प्राप्ति-रित्येके । नीरूपस्यातिसूक्ष्मस्य जीवात्मानो दुर्ध्यानत्वात् किं तद्व्यानेन ? किन्तु हरिभक्तिरेव सर्वविघ्नविमर्हिनी हरिप्रापणो-त्येके । तस्यामेव निरतास्तेषामुभयेषामुपायेषु कः श्रेष्ठोपाय इति तं भवेति ॥ १ ॥



श्रीभगवानुवाच—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।

श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥

सारा०ब०—तत्र मद्भक्ता श्रेष्ठा इत्याह—मयि श्यामसुन्दरा-  
कारे मन आवेश्याविष्टं कृत्वा नित्ययुक्ता मन्त्रित्ययोगकाङ्क्षिणः  
परया गुणातीतया श्रद्धया, यदुक्तं—“सार्त्त्विकयाध्यात्मिकी श्रद्धा  
कस्मैश्रद्धा तु राजसी । तामस्य धर्मे या श्रद्धा मत्सेवायान्तु  
निर्गुणा ॥” इति । ते मे मदीया अनन्यभक्ता युक्ततमा योग-  
वित्तामा इत्यर्थः । तेनानन्यभक्तेभ्यो न्यूना अन्ये ज्ञानकस्मादि-  
मिश्रभक्तिमन्तो योगवित्तारा इत्यर्थोऽभिव्यञ्जितो भवति । ततश्च  
ज्ञानाद्भक्तिः श्रेष्ठा भक्तावप्यनन्यभक्तिः श्रेष्ठेत्युपपादितम् ॥२॥

गी०भू०—एवं पृष्ठो भगवानुवाच—मयीति । ये भक्ता मयि  
नीलोत्पलश्यामलत्वादधम्मिणि स्वयं भगवति देवकीसूनौ मन  
आवेश्य निरतं कृत्वा परया दृढया श्रद्धयोपेताः सन्तो मामुक्त-  
लक्षणमुपासते—श्रवणादिलक्षणां मुपासनां मम कुर्वन्ति, नित्य-  
युक्ता नित्यं मद्योगमिच्छन्तस्ते मम मतेन युक्ततमा मताः—  
शीघ्रमत्प्रापकोपायिनस्ते ॥२॥

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पश्युपासते ।

सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥३॥

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥४॥

सारा०ब०—मदीय-निर्विशेषब्रह्मस्वरूपोपासकास्तु दुःखि-  
त्वात्तातो न्यूना इत्याह—ये त्विति द्वाभ्याम् । अक्षरं ब्रह्म, अनि-  
र्देश्यं शब्देन व्यपदेश्यमशक्यम्, यतोऽव्यक्तं रूपादिहीनम्,

सर्वत्रगं सर्वदेशव्याप्यचिन्त्यं तर्कागम्यम्, कूटस्थं सर्वकाल-  
व्यापि—“एकरूपतया तु यः कालव्यापी स कूटस्थः” इत्यमरः ।  
अचलं बृद्ध्यादिरहितम् ध्रुवं नित्यम् । मामेवेत्यक्षरस्य तस्य  
मत्तो मेदाभावात् ॥३-४॥

गी०भू०—ये तु स्वसाक्षात्कृतिपूर्विकां मदुपासनां न कुर्वन्ति,  
तेषामपि मत्प्राप्तिः स्यादेव किन्त्वतिक्लेशेनातिचिरेणैवातस्तेभ्यो-  
ऽपकृष्टास्त इत्याह—ये त्विति त्रिभिः । ये त्वक्षरस्वात्मचेतन्यमेव  
पूर्वमुपासते, तेषामधिकतरः क्लेश इति सम्बन्धः । अक्षरं विशि-  
ष्ट-अनिर्देश्यं देहाद्भिन्नत्वेन देहाभिधायिभिर्देवमानवादिशब्दै-  
र्निर्दिष्टमशक्यम्, अव्यक्तञ्चक्षुराद्यगोचरं प्रत्यक्, सर्वत्रगं देह-  
न्द्रियप्राणव्यापि, अचिन्त्यं तर्कागम्यं प्रतिमात्रवेद्यम्—“ज्ञानस्व-  
रूपमेव ज्ञातृस्वरूपम्” इति श्रुत्यैव प्रत्येतव्यम्, कूटस्थं सर्व-  
दाणुस्वरूपतैकरसम्, अचलं ज्ञानत्वादिव ज्ञातृत्वादपि चलन-  
रहितम्, ध्रुवं परमात्मैकशेषतायां सर्वदा स्थिरम् । अक्षरो-  
पासने विधिमाह—संनियम्येति । करणग्रामं श्रोत्रादीन्द्रियबृन्दं  
संनियम्य शब्दादिसञ्चारेभ्यस्तद्व्यापारेभ्यः प्रत्याहृत्य सर्वत्र सुह-  
न्मित्रार्युदासीनादिषु समबुद्धयस्तुल्यदृष्टयः, यद्वा, सर्वेषु  
चेतनाचेतनेषु वस्तुषु स्थिते समे ब्रह्मणि बुद्धिर्येषां ते ब्रह्माधिष्ठान-  
तया तेषु द्वेषशून्यास्तत एव सर्वेषां भूतानां हिते उपकारे  
रताः सर्वेषां शं भूयादिति यथायथं यतमानाः एवं स्वात्मसाक्षा-  
त्कृतिपूर्विकायां मद्भक्तौ मदर्पितकर्मलक्षणायां ये प्रवर्तन्ते,  
तेऽपि मामेव पारमैश्वर्यप्रधानं प्राप्नुवन्तीति नास्ति संशयः ॥३-४॥

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।

अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥५॥

सारा०ब०—तर्हि केनांशेन तेषामपकर्षस्तत्राह—क्लेश इति ।



न केनापि व्यज्यत इत्यव्यक्तं ब्रह्म तत्रैवासत्तचेतसां तदेवानु-  
बुभूषूणां तेषां तत्प्राप्तौ क्लेशोऽधिकतरः । हि यस्मादव्यक्ता  
गतिः केनापि प्रकारेण व्यक्तीभवति सा गतिर्देहबद्धिर्जीवैर्दुःखं  
यथा भवत्येवमवाप्यते । तथा हीन्द्रियाणां शब्दादिज्ञानविशेष  
एव शक्तिः, न तु विशेषतरज्ञान इति । अत इन्द्रियनिरोधस्तेषां  
निर्विशेषज्ञानमिच्छतामवश्य-कर्तव्य एव । इन्द्रियाणां निरो-  
धस्तु स्रोतस्वतीनामिव स्रोतो निरोधो दुष्कर एव, यदुक्तं सनत्-  
कुमारेण—“यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या, कर्माशयं प्रथित-  
मुद्ग्रथयन्ति सन्तः । तद्वन्न रिक्तमतयो यतयो निरुद्ध-स्रोतोग-  
णास्तमरणां भज वासुदेवम् ॥” “क्लेशो महानिह भवार्णवमप्ल-  
वेशां, षड् बर्गनक्रममुखेन तितीरयन्ति । तत् त्वं हरेर्भगवतो भज-  
नीयमङ्घ्रिं कृत्वोद्दुपं व्यसनमुत्तार दुस्तराणाम् ॥” इति । तावता  
क्लेशेनापि सा गतिर्यद्यवाप्यते, तदापि भक्तिमिश्रेणैव । भगवति  
भक्तिं विना केवलब्रह्मोपासकानान्तु केवलक्लेश एव लाभो, न तु  
ब्रह्मप्राप्तिः, यदुक्तं ब्रह्मणा—“तेषाममौ क्लेशल एव शिष्यते,  
नान्यदुपयथा स्थूलतुषावघातिनाम्” इति ॥५॥

गो०भू०—ननु तेऽपि चेत्त्वामेव प्राप्नुयुस्तर्हि पूर्वेषां युक्त-  
तमत्वं किं निबन्धनम् ? तत्राह—क्लेशोऽधिकेति । अव्यक्ता-  
सत्तचेतसामतिसूक्ष्मनीरूपजीवात्मसमाधिनिरतमनसां तेषामधिक-  
तरः क्लेशः । यद्यपि पूर्वेषामपि तत्तान्मद्भक्त्यङ्गसमाचारो  
मदन्यविषयेभ्यः करणानां प्रत्याहारश्च क्लेशोऽस्त्येव, तथापि  
तत्रानन्दमूर्त्तिर्मम स्फुरणान्न क्लेशतया विभाति । कुतोऽधिक-  
तरत्वं सुदूरापास्तम् ? हि यस्मादव्यक्ता गतिरव्यक्ताक्षरविषया  
मनोवृत्तिर्देहबद्धिर्देहाभिमानिभिर्जनैर्दुःखं यथा स्यात्ताथावाप्यते-  
देहबन्तः खलु स्थूलदेहमेव सुचिरादात्मत्वेनानुशीलितवन्तः कथं-  
मगुचैतन्यं सुचिरोज्झितविमर्शमात्मत्वेनानुशीलितुं प्रभवेशुरिति

भावः । यत्त्वत्र व्याचक्षते—सगुणं निर्गुणञ्चेति द्विरूपं ब्रह्म—तत्र  
सगुणोपासनमाकारबद्धिषयत्वात् सुकरमप्रमादञ्च, निर्गुणोपासनं  
तु तत्त्वाभावादुदुःखकरं सप्रमादञ्च, तच्च निर्गुणं ब्रह्माक्षरशब्दे-  
नोच्यते । नैर्गुण्यप्रतिपत्तये सप्त विशेषणानि—अनिर्देश्यं वेदा-  
गोचरं, यतोऽव्यक्तं जात्यादिशून्यं, सर्वत्रगं व्यापि, अचिन्त्यं  
मनसाप्यगम्यम्, अतिश्रु—“यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा  
मह” इत्याद्या, कूटस्थं मिथ्याभूतमपि सत्यवत् प्रतीतं जगत्  
कूटमुच्यते—यथा कूटकार्पापणादि, तस्मिन्नाध्यासिकसम्बन्धेना-  
धिष्ठानतया स्थितम्, अचरमविकारमतो ध्रुवं नित्यमिति ।  
तद्विना खलु गुरूपसत्तिपूर्वकोपनिषद्विचारतदर्थमनन-तन्निदि-  
ध्यासनैर्महान् क्लेशः । पूर्वेषां तु तैर्विनैव गुरुक्तभगवत्प्रसादा-  
विभूतेनाज्ञानतत्कार्यविमर्दिना विज्ञानेन भगवत् स्वरूपभूत-  
निर्गुणाक्षरात्मैक्यलक्षणा मुक्तिरिति फलैक्येऽपि क्लेशाक्लेशा-  
भ्यामपकर्षोत्कर्षाविति । तदिदं मन्दं—“गतिसामान्यात्” इति  
सूत्रे ब्रह्मणो द्वैरूप्यनिरासात्, “यथा तदक्षरमधिगम्यते” इति  
तस्य वेदवेद्यत्वश्रवणात्, “यतो वाचः” इत्यादेः कार्तृस्यागोचर-  
त्वात्त्वात्, प्रवृत्तिनिमित्ताभावेन निर्गुणस्याप्रमाणत्वात्तौ-  
च्छ्याच्च लक्ष्यत्वं तु न, सर्व्वेशब्दवाच्यत्वस्वीकारात्, सदैका-  
ग्र्यस्य वस्तुनः कूटस्थत्वेनाभिधानान्न च जगत् कूटम् “कार्त्तिक-  
नापी परिभूः स्वयम्भुर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः  
ममाभ्यः” इत्यादौ तस्य सत्यत्वश्रवणात्, यशोदास्तनन्धयविभु-  
र्चाद्विप्रहस्य परब्रह्मत्वश्रवणेन तदन्तस्थानिर्गुणाक्षरकल्पनस्य  
श्रद्धा-जाड्यकृतत्वात् ॥५॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।

अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥६॥



तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।

भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥७॥

सारा०ब०—भक्तानान्तु ज्ञानं विनैव केवलया भक्त्यैव सुखेन संसारान्मुक्तिरित्याह—ये त्विति । मयि मत्प्राप्त्यर्थं संन्यस्य त्यक्त्वा सन्न्यास-शब्दस्य त्यागार्थत्वात्, अनन्येनैव ज्ञान-कर्म-तत्प्राप्त्यादिरहितेनैव योगेन भक्तियोगेन । यदुक्तं—“यत् कर्मभि-र्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्” इत्यनन्तरं “सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा । स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद्व्यदि बाञ्छति ॥” इति, मोक्षधर्मे नारायणीये च—“यो वै साधन-सम्पत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये । तथा विना तदाप्नोति नरो नारायणा-श्रयः ॥” इति । ननु तदपि तेषां संसारतरणे कः प्रकार इति चेत् ? सत्यम्, तेषां संसारतरणप्रकारे जिज्ञासा नैव जायते, यतस्त-त्प्रकारं विनैवाहमेव तांस्तारयामीत्याह—तेषामिति । तेन भग-वतो भक्तेष्वेव वात्सल्यं न तु ज्ञानिष्विति ध्वनिः ॥६-७॥

गी०भू०—तथात्मयाथात्म्यं श्रुत्वैवात्मांशिनो मम केवलां भक्तिं ये कुर्वन्ति, न त्वात्मसाक्षात्कृतये प्रयतन्ते, तेषां तु केव-लया मद्भक्त्यैव मत्प्राप्तिरचिरेणैव स्यादित्याह—ये त्विति द्वा-भ्याम् । ये मदेकान्तितनो मयि मत्प्राप्त्यर्थं सर्वाणि स्वविहिता-न्यपि कर्माणि संन्यस्य भक्तिविक्षेपकत्वबुद्ध्या परित्यज्य मत्परा मदेकपुरुषार्थाः सन्तोऽनन्येन केवलेन मच्छ्रवणादिलक्षणेन योगे-नोपायेन मां कृष्णं उपासते—तल्लक्षणां मद्गुपासनां कुर्वन्ति ध्या-यन्तः श्रवणादिकालेऽपि मन्त्रिबिष्टमनसः, तेषां मय्यावेशितचेतसां मदेकानुरक्तमनसां भक्तानामहमेव मृत्युयुक्तात् संसारात् सागर-बद्गुह्यतरात् समुद्धर्ता भवामि, न चिरात् त्वरया तत्प्राप्तिबिलम्बा-सहमानस्तानहं गरुडस्कन्धमारोप्य स्वधाम प्रापयामीत्यर्चिरादि-

निर्पेक्षा तेषां मद्धामप्राप्तिः—“नयामि परमं स्थानमर्चिरादिगति-विना । गरुडस्कन्धमारोप्य यथेच्छमनिवारितः ॥” इति बाराह-वचनात्, कर्मादिनिर्पेक्षापि भक्तिरभीष्टसाधिका—“या वै साधनसम्पत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये । तथा विना तदाप्नोति नरो नारा-यणाश्रयः” ॥ इति नारायणीयात्, “सर्वधर्मोऽज्जिता विष्णोर्नाम-मात्रैकजल्पकाः । सुखेन यां गतिं यांति न तां सर्वेऽपि धार्मिकाः ॥” इति पाद्माच ॥६-७॥

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।

निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥८॥

सारा०ब०—यस्मान्मद्भक्तिरेव श्रेष्ठा, तस्मात्त्वं भक्तिमेव कुर्वति तामुपदिशति—मय्येवेति त्रिभिः । एव-कारेण निर्विशे-षावृत्तिः । मयि श्यामसुन्दरे पोताम्बरे वनमालिनि मन आध-त्स्व मत्स्मरणं कुर्वित्यर्थः । तथा मयि बुद्धिं विवेकवतीं निवेशय, मन्मथं कुर्वित्यर्थः । तच्च मननं ध्यानप्रतिपादकशास्त्रवाक्यानु-शीलनम्, ततश्च मय्येव निवसिष्यसीति छान्दसम्, मत्समीप-एव निवासं प्राप्स्यसीत्यर्थः ॥८॥

गी०भू०—यस्मादेवं तस्मात्त्वं मय्येव न तु स्वात्मनि मन आधत्स्व समाहितं कुरु, बुद्धिं मयि निवेशयार्पय । एवं कुर्वा-णस्त्वं मय्येव मम कृष्णस्य मन्त्रिधावेव निवस्यसि, न तु सानि-श्वत् सर्गादिकमनुभवन्नैश्वर्यप्रधानं मां प्राप्स्यसीत्यर्थः ॥८॥

अथ चित्तं समधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।

अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ॥९॥

सारा०ब०—साक्षात्-स्मरणासमर्थं प्रति तत्प्राप्त्युपायमाह—अथेति - अभ्यासयोगेनान्यत्रान्यत्र गतमपि मनः पुनः पुनः



प्रत्याहृत्य मद्रूप एव स्थापनमभ्यासः, स एव योगभेदेन । प्राकृत-  
त्वादिति कुत्सितरूपरसादिषु चलन्त्या मनोनद्यास्तेषु चलनं निरु-  
ध्यातिसुमद्रेषु मदीयरूपरसादिषु तच्चलनं शनैः शनैः सम्पाद-  
येत्यर्थः । हे धनञ्जयेति-बहून् शत्रून् जित्वा धनमाहृतवता त्वया  
मनोऽपि जित्वा ध्यानधनं प्रहीतुं शक्यमेवेति भावः ॥६॥

गी०भू०—ननु गङ्गे व येषं मनोवृत्तिरोधवती, तेषां त्वत्प्राप्ति-  
स्त्वरया स्यान्मम तु तादृशी न तद्वृत्तिस्ततः कथं सति चेत्तत्राह-  
अथेति । स्थिरं यथा स्यात्तथा मयि चित्तं सम्यगन्तायासेना-  
धातुमर्पयितुं न शक्नोषि चेत्तातोऽभ्यासयोगेन मामाप्तुमिच्छ-  
यतस्व-ततोऽन्यत्र गतस्य मनसः प्रत्याहृत्य शनैः शनैर्मयि स्थाप-  
नमभ्यासस्तेन मनसि मत्प्रबले सति मत्प्राप्तिः सुलभा स्यादिति  
भावः ॥६॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।

मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

सारा०व०—अभ्यासेऽपीति-यथा पित्तदूषिता रसना मलय-  
शिङ्गं नेच्छति, तथैवावद्या-दूषितं मनस्त्वद्विरूपादिकं मधुर-  
मापि न गृह्णातीत्यतस्तेन दुर्ग्रहेन महाप्रबलेन मनसा सह योद्धु-  
मया नैव शक्यत इति मन्यसे चेदिति भावः । मत्कर्मणि पर-  
माणि यस्य सः । कर्माणि मदीय-श्रवणकीर्तनबन्धनार्जन-  
मन्मान्दरमार्जनाभ्युक्षणपुष्पाहरणादि-परिचरणानि कुर्वन् ।  
विनापि मत्स्मरणं सिद्धिं प्रेमवत्पार्षदत्वलक्षणां प्राप्स्यसीति ॥१०॥

गी०भू०—ननु बायोर्विव मनसोऽतित्वापल्यात्तास्य प्रत्याहृति-  
मम न शक्तिरिति चेत्तत्राह-अभ्यासेऽपीति । उक्तलक्षणेऽभ्यासे-  
ऽपि चेत्त्वमसमर्थस्तर्हि मत्कर्मणि परमाणि पुमर्थभूतानि यस्य  
तादृशो भव, तानि च मन्त्रिकेतनिर्माणा मत्पुष्पवाटीसेचनादीनि

पूर्वमुक्तानि । एवं सुकराणि मदर्थानि कर्माणि कुर्वन्नामस्य तत्र  
तत्रातिमनोज्ञमन्मूत्युद्देशमहिम्ना तादृशे माय निरतमनाः  
संसिद्धिं मत्सामीप्यलक्षणा मवाप्स्यसीत्यातिसुगमोऽयमुपायः ॥१०॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।

सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥

सारा०व०—एतदपि कर्तुं मशक्तश्चेत्तर्हि मद्योगमाश्रितो  
मयि सर्वकर्मसमर्पणम्, मद्योगस्तमाश्रितः सन् सर्वकर्म-  
फलत्यागं प्रथमषट्कोक्तं कुरु । अयमर्थः-प्रथमषट्के भगवद्-  
पित्तनष्कामकर्मयोग एव मोक्षोपाय उक्तः ; द्वितीयषट्केऽस्मिन्  
भक्तियोग एव भगवत्प्राप्त्युपाय उक्तः । स च भक्तियोगो  
द्विविधः-भगवन्निष्ठोऽन्तःकरणव्यापारो बहिष्करणव्यापारश्च ।  
तत्र प्रथमस्त्रिविधः-स्मरणात्मको, मननात्मकश्चास्वयं हृदयस्मरणा-  
सामर्थ्ये तदनुरागिनां तदभ्यासरूपश्चेति त्रिक एवायं मन्दधियां  
दुर्गमः, सुधियां निरपराधानां तु सुगम एव ; द्वितीयः श्रवण-  
कीर्तनात्मकस्तु सर्वेषामेव सुगम एवोपायः । एवमुभयोपाय-  
वन्तोऽधिकारिणः सर्वतः द्वितीयषट्केऽस्मिन्नुक्ताः । एतत्कृत्य-  
समर्था इन्द्रियाणां भगवन्निष्ठीकृतावश्रद्धालवश्च भगवदपित्त-  
नष्कामकर्मिणः प्रथमषट्कोक्ताधिकारिणोऽस्मान्निष्कृष्टा एवेति ॥११॥

गी०भू०—अथ महाकुलीनत्व-लोकमुख्यत्वादिना प्रतिबन्धेन  
बाधितस्त्वमन्यो वै तन्मन्त्रिकेत-विभाज्जनादि-मत्प्रीतिकरमतिसु-  
कर्मापि कर्म चेत् कर्तुं मशक्तोऽसि ततो मद्योगं मच्छरणातामा-  
श्रितः सन् सर्वेषामनुष्ठीयमानानां कर्मणां फलत्यागं कुरु यता-  
त्मवान् विजितमना भूत्वा, तथा च फलाभिसन्धिः शून्यैरग्निहोत्र-  
दर्शपौर्णमास्यादिभिर्मदाराधनरूपैः कर्मभिर्विषयतनुबद्धन्तरभ्यु-  
दितेन ज्ञानेन स्वपरात्मनोः शेषशेषभावेऽभ्युदिते स्वशेषिणि



सर्वोत्तमत्वेन विदिते शनैः शनैः परापि भक्तिः स्यादिति ।  
एवमेव वक्ष्यति—‘यतः प्रवृत्तिर्भूतानाम्’ इत्यादिना ‘मद्भक्ति  
लभते पराम्’ इत्यन्तेन ॥११॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।

ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२॥

सारा० व०—अथोक्तानां स्मरणमननाभ्यासानां यथापूर्वं श्रेष्ठं  
स्पष्टीकृत्याह श्रेयो हीति । अभ्यासाज्ज्ञानं मयि बुद्धि निवेशयेत्युक्तं  
मन्मननं श्रेयः श्रेष्ठम् ; अभ्यासे सत्यायासत एव ध्यानं स्यात्,  
मनने सति त्वनायासत एव ध्यानमिति विशेषात्तस्मात् ज्ञानादपि  
ध्यानं विशिष्यते—श्रेष्ठमित्यर्थः, कुत इत्यत आह—ध्यानात्  
कर्मफलानां स्वर्गादिसुखानां निष्कामकर्मफलस्य मोक्षस्य च  
त्यागस्तत्पृहा-राहित्यं स्यात्, स्वतः प्राप्तस्यापि तस्योपेक्षा ।  
निश्चलध्यानात् पूर्वन्तु भक्तानामजातरतीनां मोक्षत्यागेच्छैव  
भवेत् । निश्चलध्यानवतां तु मोक्षोपेक्षा, सैव मोक्षलघुताकारिणी,  
यदुक्तं भक्तिरसामृतासिन्धो—‘क्लेशघ्नी शुभदा’ इत्यत्र पदभिः  
पदैरेतन्माहात्म्यं कीर्तितमिति । यदुक्तम्—‘न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्र-  
धिष्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् । न योगसिद्धीरपुनर्भवं  
वा मय्यपितास्मेच्छन्ति मद्भिन्नान्यत् ॥’ इति । मय्यपितात्मा  
मद्भयानानिष्टः । त्यागाद्वैतृषण्यादनन्तरमेव शान्तिर्मदूरुपगुणा-  
दिकं विना सर्वविषयेष्वेवेन्द्रियाणामुपरतिः । अत्र पूर्वार्द्धे  
‘श्रेयः’ इति ‘विशिष्यते’ इति पदद्वयेनान्वयादुत्तरार्द्धे तु ‘अनन्त-  
रम्’ इत्यनेनैवान्वयादेपैव व्याख्या सम्यगुपपद्यते नान्येत्य-  
वधेयम् ॥ १२ ॥

गी० मू०—सुकरत्वादप्रमादत्वाज्ज्ञानगर्भत्वाच्चानभिसंहितं  
फलं कर्मयोगं स्तौति,—श्रेयो हीति । अभ्यासान्मत्तमृत्तिसा-

तत्पदादनिष्पन्नाज्ज्ञानं स्वात्मसाक्षात्कृतिरूपं श्रेयः प्रशस्त-  
तरम्, परमात्मोपलब्धिद्वारात्वात् ज्ञानाच्च तस्मादनिष्पन्नात् साध-  
तमूतं ध्यानं स्वात्मचिन्तनलक्षणं विशिष्यते—स्वहितत्वे श्रेयो  
भवति, ध्यानाच्च तस्मादनिष्पन्नात् कर्मफलत्यागस्तस्मिन् श्रेयान्,  
त्यक्तफलं कर्मैव प्रशस्ततरम्, त्यागादनन्तरं शान्तिरित्युक्तफला-  
दनुष्ठितात् कर्मणोऽनन्तरं मनःशुद्धिरित्यर्थः । तथा च शुद्धे  
मनसि ध्यानं निष्पद्यते, निष्पन्ने ध्याने स्वसाक्षात्कृतिरूपं ज्ञानं,  
ज्ञाने निष्पन्ने तत्फलभूतं परमात्मज्ञानम्, तेन परा भक्तिस्तयै-  
श्वर्यप्रधानस्य मम प्राप्तिरिति दुर्गमोऽयमुपाय इति भावः । न  
चायमर्जुनं प्रत्युपदेशस्तस्यैकान्तित्वात् । सन्निष्ठा निष्कामकर्म-  
वता हरिध्यायिनश्च स्वात्मानमनुभूय ततोऽभ्युदितया हरिविषय-  
कया पाहमैश्वर्यगुणया परया भक्त्या हरिं प्रेमास्पदमनुभ-  
वन्तो विमुच्यन्त इति गीताशास्त्रार्थपद्धतिः । किन्वेकान्तित्वासक्तं  
प्रतीतिबोधयम् ॥१२॥

अद्वेषा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव ।

निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।

मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

सारा० व०—एतादृश्याः शान्त्या भक्त कीदृशो भवतीत्यपे-  
क्षायां बहुविधभक्तानां स्वभावभेदानाह—अद्वेषेत्यष्टभिः । अद्वेषा  
द्विषत्स्वपि द्वेषं न करोति, प्रत्युत मैत्रो मित्रतया वर्त्तते, करुण  
एषामसद्गतिर्मा भवत्विति बुद्ध्या तेष्वपि कृपालुः । ननु  
कीदृशेन विवेकेन द्विषत्स्वपि मैत्रीकारुण्ये स्याताम्, तत्र विवेकं  
विनैवेत्याह—निर्ममो निरहंकार इति—पुत्रकलत्रादिषु भयत्वा-



भावाद्देहे चाहङ्काराभावात् तस्य मद्भक्तस्य कापि द्वेष एव  
नैव फलति, कुतः पुनर्द्वेषजनितदुःखशान्त्यर्थं तेन विवेकः  
स्वीकर्त्तव्य इति भावः । ननु तदप्यन्यकृतपादुका-मुष्टिप्रहारा-  
दिभिर्देहव्यथाधीनं दुःखं किञ्चिद्भवत्येव ? तत्राह-समदुःखसुखम्;  
यदुक्तं भगवता चन्द्रार्द्धशेखरेण--“नारायणपराः सर्वे न  
कुतश्चन विभ्यति । स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः ॥”  
इति । सुखदुःखयोः साम्यं समदर्शित्वम्, तच्च मम प्रारब्ध-  
फलमिदमवश्यभोग्यमिति भावनामयं, साम्येऽपि सहिष्णुनैव  
दुःखं सह्यत इत्याह-क्षमी क्षमवान्, क्षमं सहने धातुः । नन्वे-  
तादृशस्य भक्तस्य जीविका कथं सिध्येत् ? तत्राह सन्तुष्टः-  
यदृच्छोपस्थिते किञ्चिदुत्तरोपस्थिते वा भक्ष्यवस्तुनि सन्तुष्टः ।  
ननु समदुःखसुख इत्युक्तम् तत् कथं स्वभक्ष्यमालक्ष्य सन्तुष्ट  
इति तत्राह-सततं योगी भक्तियोगयुक्तो भक्तिसिद्धयर्थमिति  
भावः । यदुक्तम्--“आहारार्थं यतेनैव युक्तं तत्प्राणधारणम् ।  
तत्त्वं विमृश्यते तेन तद्विज्ञाय परं ब्रजेत्” इति । किञ्च  
दैवादप्राप्तभक्ष्योऽपि यतात्मा संयतचित्ताः क्षोभरहित इत्यर्थः ।  
दैवाच्चित्ताक्षोभे सत्यपि तदुपशमार्थमष्टाङ्गयोगाभ्यासादिकं नैव  
करोतीत्याह-दृढनिश्चयोऽनम्यभक्तिरेव मे कर्त्तव्येति निश्चय-  
स्तस्य न शिथिलीभवतीत्यर्थः । सर्वत्र हेतुः-मय्यर्पित-  
मनोबुद्धिर्मत्स्मरणमननपरायण इत्यर्थः । इदृशो भक्तस्तु मे  
प्रियो मामतिप्रीणयतीत्यर्थः ॥ १३-१४ ॥

गी०भू०-एवमेकान्तिभक्तान् परिनिष्ठतादीननेकान्तिभक्तान्  
सनिष्ठांश्च तत्तत्साधनभेदैरुपवर्त्य तेषां सर्वोपरिज्ञानं गुणान्  
विदधाति-अद्वेष्टेति सप्तभिः । सर्वभूतानामद्वेष्टा द्वेषं कुर्व-  
त्स्वपि तेषु मत्प्रारब्धानुगुणपरेशप्रेरितान्यमूनि मह्यं द्विषन्तीति  
द्वेषशून्यः, परेशाविष्टानान्यमूनीति तेषु मैत्रः स्निग्धः, केनचिन्नि-

मित्रेण खिन्नेषु माभूदेषां खेद इति करुणः, देहादिषु निर्यमः  
प्रकृतेरमी विकारा न ममेति तेषु ममताशून्यः, निरहङ्कारस्तेष्व-  
त्माभिमानरहितः, समदुःखसुखः सुखे सति हर्षेण दुःखे सति  
वृद्धेन चाव्याकुलः, यतः क्षमी तत्तत्सहिष्णुः सततं सन्तुष्टो  
लाभेऽलाभे च प्रसन्नचित्ताः, यतो योगी गुरुपदिष्टोपायनिष्ठः,  
यतात्मा विजितेन्द्रियवर्गः, दृढनिश्चयो दृढः कुतर्कैरभिर्भावितुम-  
शक्यतया स्थिरो निश्चयो हरेः किङ्करोऽस्मीति अध्यवसायो  
यस्य सः, अतो मय्यर्पितमनोबुद्धिः, एवम्भूतो यो मद्भक्तः, स मे  
प्रियः प्रीतिकर्त्ता ॥ १३-१४ ॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।

हर्षमपभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥

मारा०ब०-किञ्च “यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना, सर्वै-  
र्गुणैस्तत्र समासते सुराः” इत्याद्युक्तेर्मत्प्रीतिजनका अन्येऽपि  
गुणा मद्भक्त्या सुदुरभ्यस्तया स्वतएवोत्पद्यन्ते तानपि त्वं  
शृण्वत्याह-यस्मादिति पञ्चभिः । हर्षादिभिः प्राकृतैर्हर्षामर्ष-  
भयोद्वेगैर्मुक्त इत्यादिनोक्तानपि काञ्चिद्गुणान् दुर्लभत्व-  
ज्ञापनार्थं पुनराह-यो न हृष्यतीति ॥ १५ ॥

गी०भू०-यस्मान्नोद्विजते लोकोऽपि जनो नोद्विजते-भयशङ्काया  
क्षोभं न लभते, यः कारुणिकत्वाज्जनोद्वेजकं कर्म न करोति,  
लोकाश्च यो नोद्विजते-सर्वाविरोधित्वविनिश्चयाद्यद्वेजकं कर्म  
लोको न करोति, यश्च हर्षादिभिः कर्त्ता भिर्मुक्तो, न तु तेषां  
मोघने स्वयं व्यापारी-अतिगम्भीरात्परतिनिमग्नत्वात्तत्परिणामापि  
रहित इत्यर्थः, तत्र स्वभोग्यागमोत्साहो हर्षः, परभोग्यागमासह-  
नमर्षः, दुष्टसत्त्वदर्शनाधीनो वित्रासः भयं, कथं निरुद्यमस्य मम  
जीवनमिति विशोभस्तूद्वेगः-एताश्चतस्रः चित्तावृत्ताः ॥ १५ ॥



अनपेक्षः शुचिर्दत्त उदासीनो गतव्यथः ।

सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥

सारा०ब०—अनपेक्षो व्यवहारिककार्यपेक्षारहित उदासीनो व्यवहारिकलोकेष्वनासक्तः सर्वान् व्यवहारिकान् दृष्टादृष्टां तथा पारमार्थिकानपि कांश्चित् शास्त्राध्यापनादीनारम्भानुद्यमान् परिहर्त्तुं शीलं यस्य सः ॥ १६ ॥

गी०भू०—अनपेक्षः स्वयमागतेऽपि भोग्ये निस्पृहः, शुचिर्बाह्याभ्यन्तरपावित्रवान्, दक्षः स्वशास्त्रार्थविमर्शसमर्थः, उदासीनः परपक्षाप्राही, गतव्यथोऽपकृतोऽप्याघिशून्यः, सर्वारम्भपरित्यागी स्वभक्तिप्रतीपाखिलोद्यमरहितः ॥१६॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।

शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७॥

गी०भू०—यः प्रियं पुत्रशिष्यादि प्राप्य न हृष्यति, अप्रियं तत् प्राप्य तत्र न द्वेष्टि, प्रिये तस्मिन् वितष्टे न शोचति, अप्राप्तं तत्राकाङ्क्षति, शुभं पुण्यमशुभं पापं तदुभयं प्रतिबन्धकत्वसाम्यात् परित्यक्तुं शीलं यस्य सः ॥१७॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।

शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।

अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥

सारा०ब०—अनिकेतः प्राकृतस्वास्पदासक्तिशून्यः ॥ १८ ॥

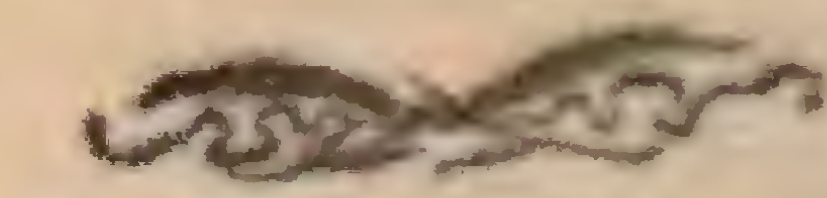
गी०भू०—समः शत्रौ चेति स्फुटार्थः । सङ्गवर्जितः कुसङ्गशून्यः तुल्येति । निन्दया दुःखं स्तुत्या सुखञ्च यो न बिन्दति,

मौनी यतवाक् स्वेष्टमननशीलो वा, येन केनचिद्दृष्टादृष्टेन क्लेशस्तिग्धेन बाह्यादिना संतुष्टः, अनिकेतो नियतनिवासरहितो निकेतमोहशून्यो वा, स्थिरमतिर्निश्चितज्ञानः । एष्यद्वेष्टेत्यादिषु सप्तसु येषु गुणानां पुनरप्याभिधानं तत्तत्पामतिदौर्लभ्यज्ञापनार्थमित्यदोषः । सन्निष्ठादीनां त्रिविधानां भक्तानां सम्भूय स्थिता एतेऽद्वेष्टृत्वादयो धर्मा यथासम्भव-तारतम्येनैव सुधीभिः सङ्गमनीयाः ॥१८-१९॥

ये तु धर्म्मामृतमिदं यथोक्तं पश्युपासते ।

श्रद्धधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

इति श्रीमद्भारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भौष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णाञ्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ।



सारा०ब०—उक्तान् बहुविध-स्वभक्तनिष्ठान् धर्म्मनिपसंहरन् कार्त्तस्तेनैर्तल्लप्सूनां तच्छ्रवणविचारणादिफलमाह—ये त्विति । एते भक्त्युत्थशान्त्युत्थधर्म्मा न प्राकृता गुणाः,—“भक्त्या तुष्यति कृष्णो न गुणैः” इत्युक्तिर्कोटितः । ‘तु’—भित्तोपक्रमे उक्तलक्षणा भक्ता एकैकसुस्वभावनिष्ठाः । एते तु तत्तत्सर्वसङ्गक्षणेऽप्यस्यः साधका अपि तेभ्यः सिद्धेभ्योऽपि भेदाः, अतएवातीवोक्ति पदम् ॥ २० ॥

सर्वश्रेष्ठा सुखमयी सर्वसाध्यसुसाधिका ।

भक्तिरेवाद्भुतगुणेत्यध्यायार्थो निरूपितः ॥ (२)

निम्बद्राक्षे इव ज्ञानभक्ती यद्यापि दर्शिते ।

आदीयेते तदप्येते तत्तदास्वाद-लोभिभिः ॥ (३)



इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् ।

गीतासु द्वादशोऽध्यायः सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥ (४)

गी०भू०—उक्तभक्तियोगमुपसंहरन् तस्मिन्निष्ठाफलमाह-ये  
त्विति । ये भक्ता यथोक्तं 'मय्यावेश्य मनो ये माम्' इत्यादि-  
भिर्यथागतामिदं धर्म्मामृतं पय्युपासते-प्राप्यं मामिव प्रापकं तत्  
समाश्रयन्ति, श्रद्धधाना भक्तिश्रद्धालवो मत्परमा मन्निरतास्ते  
ममातीव प्रिया भवन्ति ॥२०॥

बशः स्वैकजुषां कृष्णः स्वभक्त्येकजुषां तु सः ।

प्रीत्यैवातिबशः श्रीमानिति द्वादशनिर्णयः ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्भाष्ये द्वादशोऽध्यायः ।

## त्रयोदशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—

प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च ।

एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव ॥

श्रीभगवानुवाच—

इदं शरीरं कीन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।

एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञमिति तद्विदः ॥१॥

सारा०व०—नमोऽस्तु भगवद्भक्त्यै कृपया स्वांशलेशतः ।

ज्ञानादिष्वपि तिष्ठेत्तात् सार्थकीकरणा यथा ॥(१)

षट्के तृतीयेऽत्र भावितमिश्रं ज्ञानं निरूप्यते ।

तन्मध्ये केबला भक्तिरपि भङ्ग्या प्रकृत्यते ॥(२)

त्रयोदशे शरीरञ्च जीवात्म-परमात्मनोः ।

ज्ञानस्य साधनं जीवः प्रकृतिश्च विविच्यते ॥(३)

तदेवं द्वितीयेन षट्केन केबलया भक्त्या भगवत्प्राप्तिः ;  
ततोऽन्या अहंमहोपासनाद्यान्तिस्त्र उपासनाश्रोक्ताः । अथ  
प्रथमषट्कोदितानां निष्कामकर्मयोगिनां भक्तिमिश्रज्ञानादेव  
मोक्षस्तच्च ज्ञानं संक्षेपादुक्तमपि पुनः क्षेत्र-क्षेत्रज्ञादि-बिबेचनेन  
विवर्तितुं तृतीयं षट्कमारभते ॥ १ ॥

गी०भू०—कथिताः पूर्वषट्काभ्यामर्थजीवाद्योऽत्र ये ।

स्वरूपाणि विशोध्यन्ते तेषां षट्केऽन्तिमे स्फुटम् ॥

भक्तौ पूर्वोपदिष्टायां ज्ञानं द्वारं भवत्यतः ।

देहजीवेशाविज्ञानं तद्वक्तव्यं त्रयोदशे ॥

गी०भू०—आद्यषट्के निष्कामकर्मसाध्यं जीवात्मज्ञानं पर-  
मात्मज्ञानोपयोगितया दशितम्, मध्यषट्के तु 'भक्ति शब्दितं  
परमात्मोपासनं तन्महिमनिगदपूर्वकं उपदिष्टम्, तच्च केबलं तद्व-  
क्षताकरं सत्तत्प्रापकम् । आर्त्तादीनां तु तमुपासीनानामार्त्तिविना-  
शादकरं तदेकान्तिप्रसङ्गेन केबलं सत्तत्प्रापकञ्च । योगेन ज्ञानेन  
चोपसृष्टं त्वैश्वर्यप्रधानतद्रूपोपलम्भकं मोक्षकं चेत्युक्तम् । तथा-  
स्मिन्नन्यषट्के प्रकृतिपुरुषतत्संयोगहेतुक-जगत्तादीश्वरस्वरूपाणि  
कर्मज्ञान-भक्ति स्वरूपाणि च विविच्यन्ते । ज्ञानवैशद्याय एता-  
वत्त्रयोदशोऽस्मिन्नध्याये देह-जीव-परेश-स्वरूपाणि विवेचनीयानि,  
देहादिविविक्तस्यापि जीवात्मनो देहसम्बन्धहेतुस्ताद्वैकानु-  
सन्धिप्रकारश्च विमर्शनीयः । तादृग्मर्थजातमभिधातुं भगवानु-  
वाच-इदमिति । हे कीन्तेय ! इदं सेन्द्रियप्राणं शरीरं भोक्तु-  
र्जीवस्य भोग्यसुखदुःखादि-प्ररोहकत्वात् क्षेत्रमित्यभिधीयते  
तत्क्षेत्रज्ञैः । एतच्छरीरं देवोऽहं मानवोऽहं स्थूलोऽहमित्यज्ञैरात्म-  
भेदेन प्रतीयमानमपि यः शय्यासनादिबदात्मनो भिन्नमात्म-  
भोगमोक्षसाधनञ्च वेत्ति, तं वेद्याच्छरीरात्ताद्वैदितुतया भिन्नं



तादृदः क्षेत्रक्षेत्रज्ञस्वरूपज्ञाः क्षेत्रज्ञमिति प्राहुः । भोगमोक्षसाधनत्वं शरीरस्योक्तं श्रीभागवते—“अदन्ति चैकं फलमस्य गृध्रा ग्रामेचरा एकमरणवासाः । हंसा य एकं बहुरूपमिज्यैर्मायामयं वेद स वेद वेदम्” इति । शरीरात्मवादी तु क्षेत्रज्ञो न, क्षेत्रत्वेन तज्ज्ञानाभावात् ॥१॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥२॥

सारा०ब०—तत्र किं क्षेत्रं कः क्षेत्रज्ञ इत्यपेक्षायामाह— इदमिति । इदं सेन्द्रियं योगायतनं शरीरं क्षेत्रम्, संसारवृत्तस्य प्ररोहभूमित्वात् । तयो वीरा बन्धदशायामहं ममेत्यभिमन्यमानं स्वसम्बन्धत्वेनैव जानाति, मोक्षदशायामहं ममेत्यभिमानरहितः स्वसम्बन्धरहितमेव यो जानाति, तमुभयावस्थं जीवं क्षेत्रज्ञमिति प्राहुः—कृषीबलवत् स एव क्षेत्रज्ञस्तत्फलभोक्ता च यदुक्तं भगवता—“अदन्ति चैकं फलमस्य गृध्रा ग्रामेचरा एकमरणवासाः । हंसा य एकं बहुरूपमिज्यैर्मायामयं वेद स वेद वेदम् ॥” अस्यार्थः—गृध्यन्तीति गृध्रा ग्रामेचरा बद्धजीवा अस्य वृक्षस्यैकं फलं दुःखमदन्ति परिणामतः स्वर्गादिराप दुःखरूपत्वात्, अरण्यवासा हंसा मुक्तजीवा एकफलं सुखमदन्ति, सर्वथा सुखरूपस्यापवर्गस्याप्येतज्जन्यत्वात् । एवमकमाप संसारवृत्तं बहुविध-नरकस्वर्गापवर्गप्रापकत्वाद्बहुरूपम्, मायाशक्तिसमुद्भूतत्वान्मायामयम् । इज्यैः पूज्यैर्गुरुभिः कृत्वा यो वेदति तद्विदः क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्वेदितारः ॥ २ ॥

गी०भू०—क्षेत्रज्ञानाज्जीवात्मनः क्षेत्रज्ञत्वमुक्तम् । अथ परमात्मनस्तदाह—क्षेत्रज्ञश्चापि मामिति । हे भारत ! सर्वक्षेत्रेषु मात्र क्षेत्रज्ञं विद्धि, अपिरवधारणे । जीवाः स्वं स्वं क्षेत्रं स्वभो-

गमोत्साधनं जानन्तः क्षेत्रज्ञाः प्रजावत्, अहन्तु सर्वेश्वर एक एव सर्वानि तानि नियम्यानि भर्ताव्यानि च जानन् तत्सर्व-क्षेत्रज्ञो राजबदित्यर्थः । सर्वेश्वरस्यापि क्षेत्रेश्वरस्यापि क्षेत्रज्ञत्व-क्षेत्राणि हि शरीराणि बीजं चापि शुभाशुभे । तानि वेत्ति स योगात्मा ततः क्षेत्रज्ञ उच्यते ॥” इत्यादिस्मृतिभ्यः । किं ज्ञानमित्यपेक्षायामाह—क्षेत्रेति । क्षेत्रेण सहितौ क्षेत्रज्ञौ जीवपरो क्षेत्रज्ञौ, तत्सहितयोस्तयोर्मिथो विवेकेन यज्ज्ञानं तदेव ज्ञानं मम मतम्, ततोऽन्यथा त्वज्ञानमित्यर्थः । इदमत्र बोध्यम्—प्रकृतिजीवेश्वराणां भोग्यत्व-भोक्तृत्व-नियन्तृत्व-धर्मकत्वान्मिथः संपृक्तानामपि तेषां न तत्तद्धर्मसाङ्कर्यं चित्राम्बररूपबदित्येवमाह सूत्रकारः—“न तु दृष्टान्तभावात्” इति श्रुत्यश्च प्रकृत्यादीनां विविक्ततद्धर्मकतामाहुः—“पृथगात्मानं प्रेरितारञ्च मत्वा जुष्टतस्तेनामृतत्वमेति”, “ज्ञाज्ञौ द्वावजाबीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोगार्थयुक्ता”, “क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावो-शते देव एकः”, “भोक्ता भोग्यं प्रेरितारञ्च मत्वा सर्वं प्रोक्तं विविधं ब्रह्मेतत्”, “अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः । अजो ह्येको जुग्माणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥” “प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः” इत्यादयः । अत्रापि ‘क्षराक्षर’ शब्दबोध्यात् क्षेत्रक्षेत्रज्ञरूपाद्युगलान् स्वस्य पुरुषोत्तमस्यान्यत्वं वक्ष्याति—‘द्वाविमौ पुरुषौ’ इत्यादिभिस्तस्मान्मिथः संपृक्तानामपि प्रकृत्यादीनां विविक्ततया ज्ञानं तत्स्विक-मिति । यत्त्वेकात्मवादिनः ‘क्षेत्रज्ञश्चापि मां विद्धि’ इत्यत्र सामा-नाधिकरण्यप्रतीत्या सर्वेश्वरस्यैव सतोऽस्या विषयैव क्षेत्रज्ञ-भावो रज्जोरिव भुजङ्गमत्वम्, तन्निवृत्तये हरेराप्ततमस्येदे वाक्यं ‘क्षेत्रज्ञश्चापि माम्’ इति—‘रज्जुरियं न भुजङ्गः’ इत्याप्तवाक्याद्भु-जङ्गत्वभ्रान्तिरिव क्षेत्रज्ञत्वभ्रान्तिरस्माद्वाक्याद्विनश्यतीत्याहुस्त्वत्



किलोपदेश्यासम्भवादेव निरस्तमिति 'देहिनोऽस्मिन्' इत्यस्य भाष्ये द्रष्टव्यम् । एवं तु व्याख्यानं युज्यते । च-शब्दः क्षेत्रसमुच्चयार्थः, क्षेत्रं क्षेत्रज्ञश्च मामेव विद्धि-मदधीनस्थितिप्रवृत्तिकत्वान्मद्व्याप्यत्वाच्च मदात्मकं जानीहीति । एवमेवोक्तं-क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरिति । तयोर्मदधीनप्रवृत्तिकत्वादिभिर्मददात्मकतया यज्ज्ञानं, तज्ज्ञानं मम मतमित्येव त्वमतमिति ॥२॥

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।

स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥३॥

सारा०ब०—एवं क्षेत्रज्ञानाज्जीवात्मनः क्षेत्रज्ञत्वमुक्तम्, परमात्मनस्तु ततोऽपि कार्त्तुस्येन सर्वक्षेत्रज्ञत्वात् क्षेत्रज्ञत्वमाह-क्षेत्रज्ञमिति । सर्वक्षेत्रेषु नियन्तृत्वेन स्थितं मां परमात्मानं क्षेत्रज्ञं विद्धि । जीवानां प्रत्येकमेकैकक्षेत्रज्ञानां तदपि न कृत्स्नम् । मम त्वेकस्यैव सर्वक्षेत्रज्ञत्वं कृत्स्नमेवेति विशेषो ज्ञेयः । किं ज्ञानमित्यपेक्षायामाह-क्षेत्रेण सह क्षेत्रज्ञयोर्जीवात्मपरमात्मनो-र्थज्ज्ञानं क्षेत्रजीवात्मपरमात्मनां यज्ज्ञानमित्यर्थः । तदेव ज्ञानं मम मतं सम्मतं च । तत्र "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः" इत्युत्तरप्रश्नाविरोधाद्व्याख्यान्तरेणैकात्मवादपक्षो नानुकर्त्तव्यः ॥ ३ ॥

गी०भू०—संक्षेपेणोक्तमर्थं विशदयितुमाह-तदिति । तत् क्षेत्रं शरीरं-यच्च यद्द्रव्यं, यादृक् यदाश्रयभूतं, यद्विकारि यैर्विकारैरुपेतं, यतश्च हेतोरुद्भूतं यत् प्रयोजनकञ्च, यदिति यत् स्वरूपम्, स च क्षेत्रज्ञो जीबलक्षणः परेशलक्षणश्च-यो यत्स्वरूपो यत्प्रभावो यच्छक्तिकश्च, तत्समासेन मे मत्ताः शृणु । तदिति क्लीबशेषत्वमेकबद्धावश्च-"नपुंसकमनपुंसकेनैकबद्धास्यान्यतरस्याम्" इति सूत्रात् ॥३॥

ऋषिभिर्वहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।

ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥४॥

सारा०ब०—संक्षेपेणोक्तमर्थं विवरितुमारभते-तत् क्षेत्रं शरीरं यच्च महाभूतप्राणेन्द्रियादि-संघातरूपम्, यादृक् यादृशोच्छादि-धर्मकम्, यद्विकारि यैरिप्रियादिविकारैर्युक्तम्, यतश्च प्रकृति-पुरुषसंयोगादुद्भूतम्, यदिति यैः स्थावरजङ्गमादिभेदैर्भिन्नमित्यर्थः । स क्षेत्रज्ञो जीवात्मा परमात्मा च । यत् तदिति नपुंसकमनपुंसकेनैकबद्धेति 'एकशेषः' । ममासेन संक्षेपेण ॥४॥

गी०भू०—इदं क्षेत्रक्षेत्रज्ञयाथात्म्यं कैर्विस्तरेणोक्तं यत् समासेन ब्रूष इत्यपेक्षायामाह-ऋषिभिरिति । ऋषिभिः पराशरादिभिरेतन् क्षेत्रादिस्वरूपं बहुधा गीतम्-"अहं त्वञ्च तथान्ये च भूतैरुत्तमपार्थिव । गुणप्रबाहपतितो भूतवर्गोऽपि यात्ययम् ॥ कर्मवशा गुणा ह्येते सत्त्वाद्याः पृथिवीपते । अविद्या-सञ्चितं कर्म तच्चाशेषेषु जन्तुषु ॥ आत्मा शुद्धोऽक्षरः शान्तो निर्गुणः प्रकृतेः परः ॥" इत्यादिभिः, तथा छन्दोभिर्वैविध्यैः सर्वैर्वहुधा तद्गीतं यजुःशाखायां-"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" इत्यादिना "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" इत्यन्तेनान्नमय-प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमयानन्दमयाः पञ्च पुरुषाः पठितास्तेष्वन्नमयादिवयं जडं क्षेत्रस्वरूपं, ततो भिन्नो विज्ञानमयो जीबस्तस्य भाक्तेति जीबक्षेत्रज्ञस्वरूपं, तस्माच्च भिन्नः सर्वान्तर आनन्दमय इतीश्वरक्षेत्रज्ञस्वरूपमुक्तम् । एवं वेदान्तरेषु सूत्रम् । ब्रह्मसूत्ररूपैः पदैर्वैविध्यैश्च तद्व्याथात्म्यं गीतम्-तेषु "न ब्रियदभूतेः" इत्यादिना क्षेत्रस्वरूपं, "नात्मा भूतेः" इत्यादिना जीबस्वरूपं, "परात्तु तच्छ्रुतेः" इत्यादिनेश्वरस्वरूपम् । स्पष्टमन्यन् ॥४॥



महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।  
 इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥५॥  
 इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।  
 एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥६॥  
 अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।  
 आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥७॥  
 इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।  
 जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥  
 असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।  
 नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥  
 मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।  
 विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनतंसदि ॥१०॥  
 अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।  
 एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥  
 ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।  
 अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्त्वान्नासदुच्यते ॥१२॥

सारा०ब०—कैर्विस्तरेणोक्तस्यायं संक्षेप इत्यपेक्षायामाह—  
 ऋषिभिर्वशिष्ठादिभिर्योगशास्त्रेषु, छन्दोभिर्वेदैश्च, ब्रह्मसूत्राणि—  
 “अथातो ब्रह्मजिज्ञासा” इत्यादीनि तान्येव सूत्राणि, ब्रह्म पश्यते  
 ज्ञायते एभिरिति तानि । तथा तैः कीदृशैर्हेतुमद्भिः “ईक्षतेर्ता-  
 शब्दम्”, “आनन्दमयोऽध्यासात्” इति युक्तिमद्भिर्विनिश्चितैर्वि-  
 शेषतो निश्चितार्थैः ॥ ५ ॥

सारा०ब०—तत्र क्षेत्रस्य स्वरूपमाह—महाभूतान्याकाशा-  
 दीन्यहङ्कारस्तत्कारणम्, बुद्धिर्विज्ञानात्मकं महत्तत्त्वमहङ्कारकारण-  
 मव्यक्तं प्रकृतमहत्तत्त्वकारणमिन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि दशैकश्च मनः,  
 इन्द्रियगोचराः पञ्च शब्दादयो विषयास्तदेवं चतुर्विंशतितत्त्वा-  
 त्मकमिति । इच्छादयः प्रसिद्धाः, संघातः पञ्चमहाभूतपरिणामो  
 दहः, चेतना ज्ञानात्मिका मनोवृत्तिर्धृतिर्धैर्यम्—इच्छादयश्च ते  
 मनोधर्मा एव न स्वात्मधर्माः । अतः क्षेत्रान्तःपातिन एव ।  
 उपलक्षणञ्चैतत् सङ्कल्पादीनाम्—तथा च श्रुतिः “कामः  
 सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाधृतिर्हर्षिर्भीरित्येतत् सर्वं मन एव”  
 इति । अनेन यादृशगतिं प्राप्तिज्ञाताः क्षेत्रधर्मा दर्शिताः । एतत्  
 क्षेत्रं सविकारं जन्मादिषड्विकारसांहतम् ॥ ६-७ ॥

सारा०ब०—उक्तलक्षणात् क्षेत्राद्विविक्ततया ज्ञेयो जीवा-  
 त्मपरमात्मानौ क्षेत्रज्ञौ विस्तरेण वर्णयिष्यन् तज्ज्ञानस्य साधना-  
 न्यमानित्वादीनि विंशतिमाह पञ्चभिः । अत्राष्टादश भक्त्यानां  
 ज्ञानिनाञ्च साधारणानि किन्तु भक्तैः “मयि चानन्ययोगेन  
 भक्तिरव्यभिचारिणी” इत्येकमेव भगवदनुभवसाधनत्वेन यत्नतः  
 क्रियते । अन्यानि सप्तदशोक्ताभ्यासवतां तेषां स्वतन्त्रोत्पद्यन्ते  
 न तु तेषु यत्न इति साम्प्रदायिकाः । अन्तिमे द्वे तु ज्ञानि-  
 नामसाधारण एव । अत्रामानित्वादीनि विस्पष्टार्थानि । शौचं  
 बाह्यमाभ्यन्तरञ्च तथा च स्मृतिः—“शौचञ्च द्विविधं प्रोक्तं  
 बाह्यमाभ्यन्तरं तथा । मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धिस्त-  
 यान्तरम् ॥” इति, आत्मावनिग्रहः शरीरसंयमः ; जन्मादिषु  
 दुःखरूपस्य दोषस्यानुदर्शनं पुनः पुनः पर्यालोचनम् ; असक्तिः  
 पुत्रादिषु प्रीतित्यागोऽनभिष्वङ्गः पुत्रादीनां सुखेदुःखे बाह्यमेव सुखी  
 दुःखीत्यध्यासाभाव इष्टानिष्टयोर्व्यवहारिकयोरुपपत्तिषु प्राप्त्यु-  
 नित्यं सर्वदा समचित्तत्वम् ; मयि श्यामसुन्दराकारेऽनन्ययोगेन



ज्ञानकर्मतपोयोगाद्यभिभ्रणेन भक्तिश्च-काराद्ज्ञानादिभिभ्रण-  
प्राधान्येन च । आद्या भक्तेरनुष्ठेया, द्वितीया ज्ञानिभिरिति केच-  
दन्ये त्वनन्या भक्तिर्यथाप्रेमणः साधनं तथा परमात्मानुभव-  
स्थापीति ज्ञापनाथेमत्र षट्केऽप्युक्तिरिति भक्ता व्याचक्षते,  
ज्ञानिनस्त्वनन्येव योगेन सर्व्वस्मिदृष्ट्येति । अव्यभिचारिणी-  
प्रतिदिनमेव कर्त्तव्या, 'केनापि निवारयितुमशक्या' इति  
मधुसूदनसरस्वतीपादाः । आत्मानमधिकृत्य वर्त्तमानं ज्ञानमध्या-  
त्मज्ञानम्, तस्य नित्यत्वं नित्यानुष्ठेयत्वं पदार्थशुद्धिनिष्ठत्व-  
मित्यर्थः । तत्त्वज्ञानस्यार्थः प्रयोजनं मोक्षस्तस्य दर्शनं स्वामीष्टत्वे-  
नालोचनमित्यर्थः । एतद्विशतिकं ज्ञानं साधारण्येन जीवात्म-  
परमात्मनोर्ज्ञानस्य साधनम् । असाधारणं परमात्मज्ञानं त्वमे-  
वक्तव्यम् । ततोऽन्यथागमाद्बिपरीतं मानित्वादिकम् ॥ ८-१२ ॥

गी०भू०—'तत् क्षेत्रं यच्च' इत्याद्यद्धकेन वक्तुं प्रतिज्ञातं  
क्षेत्रस्वरूपमाह-महाभूतानीति द्वाभ्याम् । महाभूतानि पञ्च खादी-  
न्यहङ्कारस्तद्धेतुस्तामसो भूतादिसंज्ञो बुद्धिस्तद्धेतुर्ज्ञानप्रधानो म-  
हानव्यक्तं तद्धेतुः त्रिगुणावस्थं प्रधानमिन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि पञ्च  
वागदीनि च पञ्चेति दश बाह्यानि राजसाहङ्कारकार्य्याण्येकं सा-  
त्त्विकाहङ्कारकार्य्यमन्तरिन्द्रियं मन इत्येवमेकादशेन्द्रियाणीन्द्रिय-  
गोचराः पञ्चेति भूतादि-खाद्यन्तरालिकाः सूक्ष्माः शब्दादितन्मा-  
त्राः खादिविशेषगुणतया व्यक्ताः सन्तः स्थूलाः श्रोत्रादिपञ्चकप्राह्या  
विषया इत्यर्थः । एवं चतुर्विंशति-तत्त्वात्मकं क्षेत्रं ज्ञेयम् । इच्छा-  
दयश्चत्वारः प्रसिद्धाः संकल्पादीनामुपलक्षणमेतत्, एते मनो-  
धर्माः—'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धा धृतिरधृतिर्हीर्षीर्भी-  
रित्येतत् सर्व्वं मन एव' इति श्रुतेः । यद्यप्यात्मधर्मा इच्छादयो  
"य आत्मा" इत्यादौ "सत्यकामः सत्यसंकल्पः" इति अवगातः,  
"पठेद्य इच्छेत् पुरुषः" इति सहस्रनामस्तोत्रात्, "पुरुषः सुख-

दुःखानां मोक्तृत्वे हेतुरुच्यते" इति वक्ष्यमाणाय, तथापि मनो-  
हाराभिव्यक्तं मनोधर्मत्वमतः क्षेत्रान्तःपातः संघातो मूतपरि-  
णामो देहः, स च चेतना धृतिर्भोगाय मोक्षाय च यतमानस्य  
चेतनस्य जीवस्याधारतयोत्पन्न इत्यर्थः । अत्र प्रधानादिद्रव्याणि  
क्षेत्रारम्भकाणीति, यच्चेत्यस्य श्रोत्रादीन्द्रियाणि श्रोत्राश्रितानीति,  
यादृगत्यस्येच्छादीनि क्षेत्रकार्याणीति, यद्विकारीत्यस्य चेतना  
धृतिरिति, यतश्चेत्यस्य संघात इति, यदित्यस्योत्तरमुक्तम्, एतत्  
क्षेत्रं साविकारं जन्मादिषड्विकारोपेतमुदाहृतमुक्तम् ॥ १२-६॥

गी०भू०—अथोक्तात् क्षेत्राद्विभिन्नत्वेन ज्ञेयं क्षेत्रज्ञद्वयं विस्त-  
रणं निरूपयिष्यन् तज्ज्ञानसाधनान्यमानित्वादीनि विशतिमाह-  
पञ्चभिः—अमानित्वं स्वसत्कारानपेक्षत्वम्, अदम्भित्वं धार्मिक-  
त्वस्यातिफलकधर्माचरणविरहः, अहिंसा परापीडनम्, क्षान्ति-  
रमानसहिष्णुता, आर्जवं छद्दिष्वपि सारत्यम्, आचार्य्यो-  
पासनं ज्ञानप्रदस्य गुरोरकैतवेन संसेवनम्, शौचं बाह्याभ्यन्तर-  
पावित्र्यम्—'शौचञ्च द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा । सूत्र-  
लाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धिस्तथान्तरम् ॥' इति स्मृतेः, स्थैर्य्यं  
सद्वर्त्मैकनिष्ठत्वम्, आत्मविनिग्रह आत्मानुसन्धिप्रतीपादाविष-  
यान्मनसो नियमनम्, इन्द्रियार्थेषु शब्दादिविषयेषु प्रतीपेषु  
वैराग्यं रुच्यभावः, अनहङ्कारो देहादिष्व्वात्माभिमानत्यागाः,  
जन्मादिषु दुःखरूपस्य दोषस्यानुदर्शनं पुनःपुनश्चिन्तनम्, पुत्रा-  
दिषु परमार्थप्रतीपेष्वसक्तिः प्रीतित्यागः, अनभिष्वङ्गस्तेषु सुखेषु  
दुःखेषु च सत्सु तत्सुखदुःखानभिनिवेशः, इष्टानिष्टानामनुकूल-  
प्रतिकूलानामर्थानामुपपत्तिषु प्राप्तिषु समचित्तत्वं हर्षविषादविरहः,  
नित्यं सर्व्वदा, मयि परेशेऽव्यभिचारिणी स्थिरा भक्तिः अव-  
शाद्या-अनन्ययोगेनैकान्तित्वेन मङ्गलसेवा, तथा विविचिदेश-



सेवित्वं निर्जनस्थानप्रियता, जनानां प्राश्याणां संसदि रतित्यागः,  
अध्यात्ममात्मनि यज्ज्ञानं तस्य नित्यत्वं सर्वदा विमृश्यत्वम्,  
तत्त्वं त्वहमेव परं ब्रह्म—“बदन्ति तत्तात्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञान-  
मद्वयम्” इत्यादिस्मृतेः, तज्ज्ञानस्य योऽर्थस्तत्प्राप्तिलक्षणस्तस्य  
दर्शनं हृदि स्मरणम् । एतदमानित्वादिकं ज्ञानं परम्परया साक्षाच्च  
तदुपलब्धिसाधनं प्रोक्तम्—‘ज्ञायते उपलभ्यतेऽनेन’ इति व्युत्पत्तेः,  
यत्ततोऽन्यथा विपरीतं मानित्वादि, तदज्ञानं तदुपलब्धिविरो-  
धीति ॥७-११॥

गी०भू०—एवं ज्ञानसाधनान्युपदिश्य तैर्ज्ञेयमुपदिशति-ज्ञेयं  
यत्तदिति । उक्तैः साधनैर्यज्ज्ञेयमुपलभ्यं जीवात्मबस्तु च, तदहं  
प्रकर्षेण सुबोधतया वदयामि-यज्ज्ञात्वा जनोऽमृतं मोक्षमश्नुते  
लभते । तत्र जीवात्मबस्तूपदिशति-अनादीत्यर्द्धकेन । नास्त्या-  
दिर्यस्य तत् जीवस्याद्युत्पत्तिर्नास्त्यतोऽन्तोऽपि नेति नित्याऽमा-  
वित्यर्थः, एवमाह श्रुतिः—“न जायते म्रियते वा विपश्चित्” इत्या-  
द्या । अहमेव परः स्वामी यस्य तत्—“प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुरोः”  
इति श्रुतेः, “दासभूतो हरेरेव नान्यस्यैव कदाचन” इति स्मृतेश्च ।  
अपहतपाप्मत्वादिना ब्रह्म बृहता गुणाष्टकेन विशिष्टम् ; श्रुति-  
श्रवमाह—“य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजि-  
घित्सोऽपिपासः सत्यसङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः”  
इति ; जीवे ब्रह्मशब्दस्तु—“विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद” इत्यादि श्रुतेः,  
‘स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते’, “ब्रह्मभूतः प्रस-  
न्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति” इति वदयमाणाच्च । न सदिति  
तद्विशुद्धं जीवात्मबस्तु कार्यकारणात्मकावस्थाद्वयविरहात् सच्चा-  
सच्च नोच्यते, किन्तु परमाणुचैतन्यं गुणाष्टकविशिष्टमुच्यते-  
विभक्तनामरूपं कार्यवस्थं सदुपमृदितनामरूपं कारणावस्थं  
त्यसादित्यर्थः ॥१२॥

सारा०व०—एवं साधनैर्ज्ञेयो जीवात्मा परमात्मा च । तत्र  
परमात्मैव सर्वगतो ‘ब्रह्म’-शब्देनोच्यते । तच्च ब्रह्म निर्विशेषं  
सर्वशेषञ्च क्रमेण ज्ञानिभक्तयोरुपास्यम् । देहगतोऽपि चतुर्मु-  
खेन ध्येयः परमात्म-शब्देनोच्यते । तत्र प्रथमं ब्रह्माह—ज्ञेयमिति ।  
अनादि न विद्यते आदिर्यस्य मत्स्वरूपत्वान्नित्यमित्यर्थः । मत्पर-  
महमेव पर उत्कृष्ट आश्रयो यस्य तत्, “ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठा-  
हम्” इति मदभिप्रेतोक्तेः । तदेव किमित्यपेक्षायामाह—तद्ब्रह्म-न  
सत्, नाप्यसत् कार्यकारणातीतमित्यर्थः ॥ १२ ॥

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।

सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥

सारा०व०—नन्वेवं ब्रह्मणः सदसद्विलक्षणत्वे सति “सर्वं  
सत्त्विदं ब्रह्म” “ब्रह्मैवेदं सर्वम्” इत्यादि श्रुतिविरुद्धेते-  
त्याशङ्क्य स्वरूपतः कार्यकारणातीतत्वेऽपि शक्तिशक्तिमतो-  
रमेदात् कार्यकारणात्मकमपि तदित्याह—सर्वत एव पाणयः  
पादाश्च यस्य तत्, ब्रह्मादिपिपीलिकान्तानां पाणिपादबुन्दैः  
सर्वत्रदृष्टैरेव तद्ब्रह्मैवासंख्यपाणिपादैर्युक्तमित्यर्थः । एवमेव  
सर्वतोऽक्षीत्यादि ॥ १३ ॥

गी०भू०—अथ परमात्मबस्तूपदिशति-सर्वतः पाणीति ।  
तत् परमात्मबस्तु ; ‘सर्वतः पाणिपादम्’ इत्यादि विस्फुटार्थम् ॥१३॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।

असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१४॥

सारा०व०—किञ्च सर्वाणीन्द्रियाणि गुणानिन्द्रियविवर्ज-  
आभासयतीति “तच्चक्षुषश्चक्षुः” इत्यादि श्रुतेः, यद्वा सर्वेन्द्रि-  
यैर्गुणैः शब्दादिभिश्चाभासते विराजतीति तत् । तदपि सर्व-



न्द्रियविवर्जितं प्राकृतेन्द्रियादिरहितम्, तथा च श्रुतिः—“अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः” इत्यादि, “परास्य शक्तिर्वहुधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च” इति श्रुतिप्रसिद्धस्वरूपशक्त्यास्पदत्वातिदि भावः। असक्तमासक्तिशून्यं, सर्वभूत श्रीविष्णुस्वरूपेण सर्वपालकं, निर्गुणं सत्त्वादिगुणरहिताकारम्। किञ्च गुणभोक्तृत्रिगुणातीत-‘भग’ शब्दवाच्य-षड्गुणास्वादकम् ॥ १४ ॥

गी०भू०—किञ्च, ‘सर्वेति-सर्वैरिन्द्रियैर्गुणैश्च तद्वृत्तिभि-  
राभासते दीप्यत इति तथा, सर्वैरिन्द्रियैर्जीबेन्द्रियवत् स्वरूप-  
भिन्नैर्विवर्जितं संत्यक्तं प्राकृतैः करणैः शून्यः स्वरूपानुबन्धिभि-  
स्तैर्विशिष्टो हरिरिति स्वीकार्यम्। “अपाणिपादो जवनो ग्रहीता  
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः”, “यदात्मको भगवांस्तदात्मिका  
व्यक्तिः किमात्मको भगवान् ज्ञानात्मक ऐश्वर्यात्मकः शक्त्या-  
त्मकश्चेति बुद्धिमनोऽङ्गप्रत्यङ्गवत्तां भगवतो लक्षयामहे—“बुद्धि-  
मान्मनोवानङ्गप्रत्यङ्गवान्” इति श्रुतेः; सर्वभूत सर्वतत्त्व-  
धारकमप्यसक्तं सङ्कल्पेनैव तद्धारणात्तात्पर्यरहितं निर्गुणं-  
“साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च” इति श्रुतेर्माया-गुणास्पृष्टमेव  
सद्गुणभोक्तृनियम्यतया “गुणानुभवि-विकारजननीमज्ञाम्”  
इत्यारभ्य “एकस्तु पिवते देवः स्वच्छन्दोऽत्र बशानुगाम्। ध्यान-  
क्रियाभ्यां भगवान् भुङ्क्तेऽसौ प्रसमं विभुः ॥” इति श्रव-  
णात् ॥ १४ ॥

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।

सूक्ष्मत्वात्तद्विज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ १५ ॥

सारा०ब०—भूतानां स्वकार्याणां बहिश्चान्तश्च यथा देहा-  
नामाकाशादिकम्, अचरं स्थावरं चरं जङ्गमञ्च भूतजातं तदेव

कार्यस्य कारणात्मकत्वात्। एवमपि रूपादिभिन्नत्वात् तद-  
विज्ञेयमिदं तदिति स्पष्टं ज्ञानार्हं न भवतीत्यतएवाविदुषां  
योजनकोट्यन्तरमिव दूरस्थम्, विदुषां पुनः स्वगृहस्थितमि-  
वान्तिके च तत्स्वदेह एवान्तर्गम्यमित्वात्,—“दूरात् सुदूरे तदि-  
हान्तिके च पश्यतस्विहैव निहितं गुहायाम्” इत्यादि-श्रुतिभ्यः ॥ १५ ॥

गी०भू०—बहिरित—भूतानां चिज्जडात्मकानां तत्त्वानां बहि-  
रन्तश्च स्थितम्—“अन्तर्व्वहिश्च तत् सर्वं व्याप्य नारायणः  
स्थितः” इति श्रवणात्; अचरमचलं चरं चलं च—“आसीनो  
दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः” इति श्रुतेः; सूक्ष्मत्वात्  
प्रत्यक्षाद्विमुक्त्वमूर्त्तित्वादविज्ञेयं देवान्तरवज्ज्ञातुमशक्यमतो  
दूरस्थश्चेति—“यन्मनसा न मनुते न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्”  
इति श्रुतेः; गान्धर्व्व-वासितेन श्रोत्रेण षड् जादिवद्भक्तिभा-  
वितेन करणेन तु शक्यं तज्ज्ञातुमित्याह—अन्तिके च तदिति;  
“मनसैवानुद्रष्टव्यम्”, “कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत” “भक्ति-  
योगे हि तिष्ठति” इत्यादि-श्रवणात्, “भक्त्या त्वनन्यया शक्यः”  
इत्यादि-स्मृतेश्च ॥ १५ ॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।

भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं प्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १६ ॥

सारा०ब०—भूतेषु स्थावरजङ्गमात्मकेष्वविभक्तं कारणात्म-  
नाभिन्नं कार्य्यात्मना विभक्तं भिन्नमिव स्थितम्, तदेव श्री-  
नारायणस्वरूपं सत् भूतानां भर्तृ स्थितिकाले पालकम्,  
प्रलयकाले प्रसिष्णु संहारकम्, स्थितिकाले प्रभविष्णु च—नाना-  
कार्यात्मना प्रभवन्शीलम् ॥ १६ ॥

गी०भू०—अविभक्तमिति। विभक्तेषु मिथो भिन्नेषु जीवेष्व-  
विभक्तमेकं तद्वत्त्वा विभक्तमिव प्रतिजीवं भिन्नमिव स्थितम्—



“एकं सन्तं बहुधा दृश्यमानम्” इति श्रुतेः, “एक एव परो विष्णुः सर्वत्रापि न संशयः । ऐश्वर्यादरूपमेकञ्च सूर्यबद्बहुधेयते ॥” इति स्मृतेश्च । तच्च भूतभर्ता स्थितौ भूतानां पालकं प्रलये तेषां प्रमिष्णु कालशक्त्या संहारकं, सर्गे प्रभविष्णु प्रधानजीवशक्ति-भ्यां नानाकार्यात्मना प्रभवनशीलम् ; श्रुतिश्च—“यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभि-संविशन्ति तद्ब्रह्म तद्विजिज्ञासस्व” इति ॥१६॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम् ॥१७॥

सारा०व०—ज्योतिषां चन्द्रादित्यादीनामपि तज्ज्योतिः प्रकाशकं येन सूर्यस्तपति तेजसेन्द्रः—“न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं, नेमां बिद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥” इत्यादि श्रुतेः । अतएव तमसोऽज्ञानात् परं तेनास्पृष्टम्, उच्यते—“आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्” इत्यादि-श्रुतेः । ज्ञानं तदेव बुद्धिवृत्तावभिच्यक्तं सत् ज्ञानमुच्यते, तदेव रूपाद्याकारेण परिणतं ज्ञेयञ्च, तदेव ज्ञानगम्यं पूर्वोक्तेनामानित्वादि-ज्ञान-साधनेन प्राप्यमित्यर्थः । तदेव परमात्मस्वरूपं सत् सर्वस्य प्राणिमात्रस्य हृदि धिष्ठितं नियन्तृतयाधिष्ठाय स्थितमित्यर्थः ॥१७॥

गी०भू०—ज्योतिषां सूर्यादीनामपि तद्ब्रह्म ज्योतिः प्रका-शकं—“न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारके नेमां बिद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्व-मिदं विभाति ॥” इत्यादिश्रुतेस्तद्ब्रह्म तमसः प्रकृतेः परं तेना-स्पृष्टमुच्यते—“आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्” इति श्रुत्या; ज्ञानं चिदेकरसमुच्यते—“विज्ञानमानन्दघनं ब्रह्म” इति श्रुत्या; ज्ञानं

सुमुखोः शरणात्वेन ज्ञातुमर्हमुच्यते—“तं ह देवमात्मवृद्धिप्रकाशं सुमुखं शरणमहं प्रपद्ये” इति श्रुत्या, ज्ञानगम्यमुच्यते—“तमेव विदित्वा तिसृषुमेति” इति श्रुत्या, सर्वस्य प्राणिजातस्य हृदि धिष्ठितं नियन्तृतया स्थितमुच्यते—“अन्तःप्रविष्टः शास्त्रा जना-नाम्” इति श्रुत्या । न च ‘सर्वतः प्राणि’ इत्यादिपञ्चकं जीवपर-तयैव नेयं, तत्प्रकरणत्वादि-वाच्यं-जीववदीश्वरस्यापि क्षेत्रज्ञ-त्वेन प्रकृतत्वात् । ‘सर्वतः प्राणि’ इत्यादि-सार्द्धं कस्य ब्रह्मैवोप-क्रम्य श्वेताश्वतरैः पठितत्वात् प्रकरणशावत्यस्योपनिषत्सु बीज-शाब्द ॥१७॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समाप्तः ।

मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥

सारा०व०—उक्तं क्षेत्रादिकमधिकारिफलसहितमुपसंहरति—इति । क्षेत्रम्—महाभूतादि धृतान्तम् ( ६-७ ) ज्ञानम्—अमा-नित्वादि तत्त्वज्ञानार्थदर्शनान्तम् ( ८-१२ ) ज्ञेयं ज्ञानगम्यञ्च—अनादीत्यादि धिष्ठितमित्यन्तम् ( १३-१८ ) एकमेव तत्त्वं ब्रह्म-भावात् परमात्म-शब्दवाच्यञ्च संक्षेपेणोक्तम् । मद्भक्तो भक्त-मज्जानी मद्भावाय मत्सायुज्याय, यद्वा मद्भक्तो ममैकान्तिको दाम एतद्विज्ञाय मत्प्रभोरेतावदैश्वर्यामिति ज्ञात्वा मायि भावाय प्रेम्णा उपपद्यत उपपन्नो भवति ॥ १८ ॥

गी०भू०—उक्तं क्षेत्रादिकं तज्ज्ञानफलसहितमुपसंहरति—इति क्षेत्रमिति । ‘महाभूतानि’ इत्यादिना ‘चेतना धृतिः’ इत्यन्तेन क्षेत्र-स्वरूपमुक्तम् ; ‘अमानित्वम्’ इत्यादिना ‘तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्’ इत्य-न्तेन ज्ञेयस्य क्षेत्रद्वयस्य ज्ञानं तत्साधनमुक्तम् । ‘अनादिसत्परम्’ इत्यादिना ‘हृदि सर्वस्य धिष्ठितम्’ इत्यन्तेन ज्ञेयं क्षेत्रज्ञद्वयं चोक्तं मया । एतत्त्रयं विज्ञाय मिथो विवेकेनावगत्य मद्भावाय मत्प्रे-



मणे मत्स्वभावाय बासंसारित्वाय कल्पते योग्ये भवति मद्भक्तः ॥१५

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्वद्यनादी उभावपि ।

विकारांश्च गुणांश्चैव विद्वि प्रकृतिसंभवान् ॥१६॥

सारा०ब०—परमात्मानमुक्त्वा क्षेत्रज्ञशब्दवाच्यं जीवात्मानं बक्तुं कुतस्तस्य माया-संश्लेषः कदा तदारम्भोऽभूदित्यपेक्षाया-माह-प्रकृतिं मायां पुरुषं जीवञ्च उभावपि अनादी न विद्यते आदि कारणं ययोः तथाभूतौ विद्वि, अनादेरीश्वरस्य मम शक्तित्वात् । “भूमिरापोऽनलो वायुः स्वं मनो बुद्धिरेव च । अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्वि मे पराम् । जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥” इति मद्भक्तेर्मायाजीवयोरपि मच्छक्तित्वेन अनादि-त्वात् तयोः संश्लेषोऽप्यनादिरिति भावः । तत्र मिथः संश्लिष्ट-योरपि तयोर्व्वस्तुतः पार्थक्यमस्त्येव इत्याह-विकारांश्च देहेन्द्रि-यादीन् गुणांश्च गुणपरिणामान् सुखदुःखशोकमोहादीन् प्रकृतिसम्भूतान् प्रकृत्युद्भूतान् विद्वीति क्षेत्राकारपरिणतायाः प्रकृतेः सकाशाद्विन्नमेव जीवं विद्वीति भावः ॥ १६ ॥

गी०भू०—एवं मिथो विविक्तस्वभावयोरनाद्योः प्रकृति-जीवयोः संसर्गस्यानादिकालिकत्वं संसृष्टयोस्तयोः कार्यभेदस्त-त्संसर्गस्यानादिकालिकस्य हेतुश्च निरूप्यते-प्रकृतिमित्यादिभिः । अपि रवधृतौ ; मिथःसंपृक्तौ प्रकृतिपुरुषावुभावनाद्येव विद्वि-मदीयशक्तित्वान्नित्यावेव जानीहि-तयोर्मच्छक्तित्वं तु पुरैवोक्तं भूमिरापः’ इत्यादिना । अनादिसंसृष्टयोरपि तयोः स्वरूपभेदो-ऽस्तीत्याशयेनाह-विकारान् देहेन्द्रियादीन्, गुणांश्च सुख-दुःखानि प्रकृतिसंभवान् प्राकृतान्, न तु जैवान् विद्वीति क्षेत्रात्मना परिणतायाः प्रकृतेरन्यो जीव इति दर्शितम् ॥१६॥

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।

पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥

सारा०ब०—तस्य माया-संश्लेषं दर्शयति-कार्यं शरीरं कारणानि सुखदुःखसाधनानीन्द्रियाणि कर्त्तार इन्द्रियाधिष्ठा-तारो देवास्तत्र तथाध्यासेन पुरुषस्य तद्भावापत्तौ हेतुः प्रकृति-रेव स्यात्-प्रकृतिरेव पुरुषसंसर्गात् कार्य्यादिरूपेण परिणता स्यात्, अविद्यारूपया स्वबृत्त्या तदध्यामप्रदा च स्यादित्यर्थः । तत्कृतसुखदुःखानां भोक्तृत्वे तु पुरुषो जीव एव हेतुः । अयं भावः-यद्यपि कार्य्यत्वकारणत्वकर्त्तृत्वभोक्तृत्वानि प्रकृतिधर्म्म-एव स्युस्तदपि कार्य्यत्वादिषु जडशंसाधान्यात्, सुखदुःख-संवेदनरूपे भोगे तु चैतन्यशंसाधान्यात्, प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्तीति न्यायात् कार्य्यत्वादिषु प्रकृतिर्हेतुर्भोक्तृत्वे पुरुषो हेतुर्निरुच्यते इति ॥ २० ॥

गी०भू०—अथ संसृष्टयोस्तयोः कार्यभेदमाह-कार्य्योक्त-शरीरं कार्य्यं, ज्ञानकर्मसाधकत्वादिन्द्रियाणि कारणानि तेषां कर्त्तृत्वे तत्तादाकार-स्वपरिणामे प्रकृतिर्हेतुः । ‘पुरुषः प्रकृतिस्त्वो-हि’ इत्यादिमात् स्वसंसर्गेण सचेतनां प्रकृतिं पुरुषोऽधितिष्ठति, तदधिष्ठिता तु सा तत्कर्मणुगुण्येन परिणममाना तत्तद्देहादीनां सृष्टीति-प्रकृत्यापितानां सुखादीनां भोक्तृत्वे पुरुषो हेतुस्तेषां भोगे स एव कर्त्तृत्यर्थः । प्रकृत्यधिष्ठातृत्वं सुखादिभोक्तृत्वञ्च पुरुषस्य कार्य्यम्, तच्च शरीरादिकर्त्तृत्वं तु तदधिष्ठितायाः प्रकृतेरिति पुरुषस्यैव कर्त्तृत्वं मुख्यम् ; एवमाह सूत्रकारः-“कर्त्ता शास्त्रार्थ-वत्त्वात्” इत्यादिभिः । परेशस्य हरेरधिष्ठातृत्वं तु सर्वत्रावर्ज-नीयमित्युक्तं वक्ष्यते च ॥२०॥



पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।

कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥

सारा०ब०—किन्तु तत्रानाद्यविद्या-कृतेनाध्यासेनैव कर्त्तृत्व-  
भोक्तृत्वादिकं तदीयमपि धम्मं स्वीयं मन्यते तत एवास्य  
संसार इत्याह-पुरुष इति । प्रकृतिस्थः प्रकृतिकार्यदेहे तादा-  
त्म्येन हि स्थितः । प्रकृतिजान् अन्तःकरणधर्मान् शोकमोह-  
सुखदुःखादीन् गुणान् स्वीयानेवाभिमन्यमानो भुङ्क्ते । तत्र  
कारणं गुणसङ्गः, गुणमयदेहेषु अस्यानासङ्गस्याप्यात्मनः  
सङ्गोऽविद्याकल्पितः । क भुङ्क्ते इत्यपेक्षायामाह-सतीषु देवादि-  
योनिष्वसतीषु तिर्यग्गादियोनिषु शुभाशुभकर्मकृतासु यानि  
जन्मानि तेषु ॥ २१ ॥

गी०भू०—प्रकृत्यधिष्ठाने सुखादिभोगे च पुरुषस्यैव कर्त्तृत्व-  
मित्येतत् स्फुटयति, तस्य प्रकृतिसंसर्गे हेतुश्च दर्शयति पुरुष इति ।  
चित्सुखैकरसोऽपि पुरुषोऽनादिकर्मबासनया प्रकृतिस्थस्तामधि-  
ष्ठिततत्कृतदेहेन्द्रियः प्राणविशिष्टः सन्नेव तत्कृतान् गुणान् सुखा-  
दीन् भुङ्क्तेऽनुभवति केत्याह-सदिति । सतीषु देवमानवादि-  
ष्वसतीषु पशुपद्यादिषु च साध्वसाधुरचितासु योनिषु यानि  
जन्मादीनि, तेष्विति तत्र तत्र पुरुषस्यैव कर्त्तृत्वम् । तत्संसर्गे हेतु-  
माह-कारणमिति । गुणोऽसङ्गोऽनादिगुणमयविषयस्पृहा । अय-  
मर्थः-अनादिर्जीवः कर्मरूपानादिबासनारक्तः ; स च भोक्तृ-  
त्वाद्भोग्यान् विषयान् स्पृहयंस्तदर्पिकामनादिसन्निहितां प्रकृति-  
माश्रयिष्यति यावत् सत्प्रसङ्गात्तत्तद्वासना क्षीयते ; तत्क्षये तु परा-  
त्मधामसुखानि भुङ्क्ते-“सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा  
विपश्चिता” इत्यादि-श्रुतिभ्य इति । यत्तु प्रकृतेरित्यादेः कार्य-  
कारणेत्यादेः प्रकृत्यैव चेत्यादेर्नान्यं गुणेभ्य इत्यादेश्चापादताय-  
प्रादिभिः सांख्यैः प्रकृतेरेव कर्त्तृत्वमुक्तं, तत् किल रभसाभि-

धानमेव लोष्टृकाष्टवदचेतनायास्तस्यास्तत्त्वसम्भावान् । उपादाना-  
परोक्षचिकीर्षाकृतिमत्तां खलु कर्त्तृत्वं, तच्च चेतनस्यैवेति श्रुति-  
राह-“विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्म्माणि तनुतेऽपि च”, “एष हि  
द्रष्टा स्पृष्टा श्रोता रसयिता घ्राता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा  
पुरुषः” इत्यादिकम् । यच्च पुरुषसन्निधानाच्चैतन्याध्यासात्तस्या-  
स्तत्त्वमित्याहुस्तत्र, यत् सन्निध्यध्यस्त-चैतन्यात्तस्याः कर्त्तृत्वं, तत्त-  
स्यैव सन्निहितस्येति सुवचत्वात् । न खलु तन्मायसो दग्धृत्वमयो-  
हेतुकमपि तु बहिर्हेतुकमेव दृष्टम् ; न च चलति जलं फलति तरु-  
रिति ब्रह्मज्ञायास्तस्यास्तत्त्व-सिद्धिर्जज्ञादिष्वन्तर्याम्यधिष्ठितत्वेनेष्टा-  
मिद्वे विधायक-श्रुतिव्याकोपाच्चैतदेवम्, न हि जडप्रकृतिमुद्दिश्य  
स्वर्गादिफलकं ज्योतिष्टोमादिमोक्षफलकं ध्यानञ्च स्मृतिर्विधत्तेऽपि  
तु चेतनमेव भोक्तारमुद्दिश्येति पुरुषस्यैव कर्त्तृत्वम् । तच्च प्रकृते-  
रिति यदुक्तं, तत्तु तद्वृत्ति-प्राचुर्यादेव यथा करेण विभ्रति  
पुरुषे करो विभर्तीति व्यपदेशस्तथा प्रकृत्या कुर्वति पुरुषे  
प्रकृतिः करोतीति स भवेदित्येके, प्राकृतैर्देहादिभिर्युक्तस्यैव  
पुरुषस्य यज्ञयुद्धादिकर्मकर्त्तृत्वं, न तु तैर्वियुक्तस्य शुद्धस्येत्यतः  
प्रकृतेस्तदित्यपरे ॥२१॥

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।

परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥२२॥

सारा०ब०—जीवात्मानमुक्त्वा परमात्मानमाह-उपद्रष्टेति ।  
यद्यपि अनादि मत्परं ब्रह्मैत्यादिना हृदि सर्वस्य धिष्ठित-  
मित्यनेन च सामान्यतो विशेषतश्च परमात्मा प्रोक्त एव तदपि  
तस्य जीवात्मसाहित्येनापि पृथगेव स्पष्टतया देहस्थत्वज्ञापनार्थ-  
मियमुक्तिर्ज्ञेया । अस्मिन् देहे परोऽन्यः पुरुषो यो महेश्वरः  
स परमात्मेति चाप्युक्तः, परमात्मेति च नाम्नाप्युक्तो भवती-



त्यर्थः, अत्र परम-शब्द एकात्मवादपक्षे स्वांश इति द्योतनार्थः जीवस्योप-समीपे पृथक्स्थित एव द्रष्टा साक्षी । अनुमन्तानुमोदनकर्त्ता सन्निधिमात्रेणानुग्राहकः,—“साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च” इति श्रुतेः । तथा भर्त्ता धारको भोक्ता पालकः ॥२२॥

गी०भू०—देहे सुखादिभोक्तृतयावस्थितं जीवमुक्त्वा नियन्तृतया तत्रावस्थितमीश्वरमाह-उपद्रष्टेति । अस्मिन् देहे परो जीवादन्यः पुरुषोऽस्ति-यो महेश्वरः परमात्मेति प्रोक्तः, उपद्रष्टा सन्निधौ पृथक्स्थित एव साक्षी, अनुमन्तानुमतिदाता-तदनुमतिं बिना जीवः किञ्चिदपि कर्त्तुं न क्षम इत्यर्थः, भर्त्ता धारकः, भोक्ता पालकः “सर्वतः पाणि” इत्यादिभिरुक्तस्यापीशस्य जीवेन सह स्थितिं वक्तुं पुनरुक्तिः ॥२२॥

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।

सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥

एतज्ज्ञानफलमाह-य इति । पुरुषं परमात्मनं प्रकृतिं मायाशक्तिं, च-काराजीवशक्तिश्च, सर्वथा वर्तमानोऽपि लयविज्ञेयादि-पराभूतोऽपि ॥ २३ ॥

गी०भू०—एतज्ज्ञानफलमाह-य इति । एवं मदुक्तविधया मिथो विबिक्ततया यः पुरुषं महेश्वरप्रकृतिं च जीवश्च वेत्ति, सर्वथा व्यवहारसम्पर्केण वर्तमानोऽपि भूयो नाभिजायते-देहान्ते विमुच्यत इत्यर्थः ॥२३॥

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।

अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥

सारा०व०—अत्र साधनविकल्पमाह-ध्यानेति द्वाभ्याम्,—केचिद्वक्ता ध्यानेन भगवच्चिन्तनेनैव, ‘भक्त्या मामभिजानाति

इत्यप्रिमोक्तेरात्मनि मनस्यात्मना स्वयमेव न त्वन्येन केनाप्युपकारकेणेत्यर्थः । अन्ये ज्ञानिनः सांख्यमात्मानात्मविवेकस्तेन । अपरे योगिनो योगेनाष्टाङ्गेन कर्मयोगेन निष्कामकर्मणा च । अत्र सांख्याष्टाङ्गयोगनिष्कामकर्मयोगाः परमात्मदर्शने परस्परयैव हेतवो न तु साक्षाद्देतवस्तेषां सात्त्विकत्वात् परमात्मनस्तु गुणातीतत्वात् । किञ्च, “ज्ञानञ्च मयि संन्यसेत्” इति भगवदुक्तेर्ज्ञानादिसन्न्यासानन्तरमेव “भक्त्याहमेकया ग्राह्यः” इत्युक्तेर्ज्ञानं विमुच्य तथा भक्त्यैव पश्यन्ति ॥ २४ ॥

गी०भू०—महेश्वरस्य प्राप्तौ साधनविकल्पानाह-ध्यानेनेति द्वाभ्याम् । केचिद्बिशुद्धचित्ता आत्मनि मनसि स्थितमात्मानं महेश्वरं मां ध्यानेनोपसर्जनीभूतज्ञानेन पश्यन्ति साक्षात् कुर्वन्त्यात्मना स्वयमेव, न त्वन्येनोपकारकेण, अन्ये सांख्येनोपसर्जनीभूतध्यानेन ज्ञानेन पश्यन्ति, अन्य-योगेनोपसर्जनीभूतज्ञानेनाष्टाङ्गेन पश्यन्ति, अपरे तु कर्मयोगेनान्तर्गतध्यानज्ञानेन निष्कामेण कर्मणा ॥२४॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।

तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥

सारा०व०—अन्य इतस्ततः कथा-श्रोतारः ॥ २५ ॥

गी०भू०—अन्ये त्वेवमोदशानुपायानजानन्तः श्रुतिपरायणास्तत्तत्कथा-श्रवणादिनिष्ठाः साम्प्रतिका अन्येभ्यस्तदुक्त-भयानुपायान् श्रुत्वा तं महेश्वरमुपासते, तेऽपि, चात् तत्संज्ञितश्च क्रमेण तानुपलभ्यानुष्ठाय च मृत्युमतितरन्त्येवेति तत्कथा-श्रुतिमहिमातिशयो दर्शितः ॥२५॥

यावत्संजायते किञ्चित्सत्त्वं स्यादवरजङ्गमम् ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥



सारा०ब०—उक्तमेवार्थं प्रपञ्चयति यावदध्यायसमाप्ति ।  
यावदिति यत्प्रमाणकं निकृष्टमुत्कृष्टं वा सत्त्वं प्राणिमात्रम् ॥२६॥

गी०भू०—अथानादिसंयुक्तयोः प्रकृतिजीवयोर्वियोगानु-  
सन्धानाय तयोः संयोगेन सृष्टिं तावदाह—यावदिति । स्था-  
वरजङ्गमं किञ्चित् सत्त्वं प्राणिजातं यावदयत्प्रमाणकमुत्कृष्टमप-  
कृष्टं च संजायते, तत् क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगाद्बिद्धि-क्षेत्रेण प्रकृत्या  
सह क्षेत्रज्ञयोः सम्बन्धाज्जानीहीत्यर्थः । ईश्वरः प्रकृतिजीवौ नियम-  
यन् प्रवर्त्तयति, तौ तु मिथः सम्बन्धीत, ततो देहोत्पत्तिद्वारा  
प्राणिसृष्टिरित्यर्थः ॥२६॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।

बिनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥

सारा०ब०—परमात्मानं त्वेवं जानीयादित्याह—सममिति ।  
बिनश्यत्स्वपि देहेषु यः पश्यति स एव ज्ञानातीत्यर्थः ॥ २७ ॥

गी०भू०—अथ प्रकृतौ तत्संयुक्तेषु च जीवेषु स्थितमपीश्वरं  
तेभ्यो विविक्तं पश्येदित्याह—सममिति । यस्त्वत्त्ववित्प्रमङ्गी  
सर्वेषु स्थावरजङ्गमदेहवत्सु भूतेषु जीवेषु सममेकरसं यथा स्था-  
तथा तिष्ठन्तं परमेश्वरं बिनश्यत्सु तत्तादेहविमर्हे न विनाशं गच्छ-  
त्सु तेष्वविनश्यन्तं तद्विलक्षणं पश्यति, स एव पश्यति, तद्व्या-  
थात्म्यदर्शी भवति, तथा च वैविध्यविनाशधर्मिभ्यः प्रकृतिसंयो-  
गिभ्यो जीवेभ्य ऐकरस्याविनाशधर्मा परेशो विविक्ति इति ॥२७॥

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।

न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२८॥

सारा०ब०—आत्मना मनसा कुपयगामिनात्मानं जीवं न  
हिनस्ति नाधःपातयति ॥ २८ ॥

गी०भू०—अथोक्तविधया तेभ्यो विविक्तमीश्वरं पश्यन् तदर्श-  
नमहिम्ना च प्रकृतिविकारेभ्यः स्वविवेकज्ञ लभत इत्याशयेनाह—  
समं पश्यन् हीति । सर्वत्र भूतेषु समं यथा भवत्येवं सम्यग्-  
प्रच्युतस्वरूपगुणतयावस्थितमीश्वरं पश्यन्नात्मानं स्वमात्मना  
प्रकृतिविकारविवेकप्राहिणा विषयरसगृह्णुना मनसा न हिनस्ति  
नाधःपातयति, स तद्विरक्त्येन तेन परामुत्कृष्टां गतिं तद-  
विकारेभ्यः स्वविवेकख्यातिं याति ॥२८॥

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।

यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२९॥

सारा०ब०—प्रकृत्यैव देहेन्द्रियाद्याकारेण परिणतया सर्वशः  
सर्वाण्यात्मानं जीवं देहाभिमानेनैवात्मनः कर्त्तृत्वम्, न तु स्वत-  
इत्येवं यः पश्यतीत्यर्थः ॥ २९ ॥

गी०भू०—प्रकृतेः स्वविवेकं कथं यातीत्यपेक्षायां तत्र प्रकार-  
माह—प्रकृत्यैवेति द्वाभ्याम् । यः सर्वाणि कर्माणि प्रकृत्यैव,  
चान्मदधिष्ठितयेश्वरप्रेरितया क्रियमाणानि पश्यति, तथात्मानं  
तेषां कर्मणामकर्तारं पश्यति, स एव पश्यति स्वव्याथात्म्यदर्शी  
भवति । अयमर्थः—न खलु विज्ञानानन्दस्वभावोऽहं युद्धयज्ञादीनि  
दुःखमयानि कर्माणि करोम, किन्त्वनादिभोगवासनेनाविवे-  
किना मयाधिष्ठिता मद्भोगसिद्धये मद्वासनानुगुणेन परेशेन च  
मुखदुःखमोहस्वभावा प्रकृतिरेव मद्देहादिद्वारा तानि करोतीति  
तद्वेतुक्त्वात् सैव तत्कर्त्रीति कर्मकारिण्याः प्रकृतेस्तदकर्त्ता  
शुद्धो जीवो विविक्तः, शुद्धस्यापि कर्त्तृत्वं तु पश्यतीत्यनेन व्यक्त-  
मिति ॥२९॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।

तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३०॥



सारा०ब०—यदा भूतानां स्थावरजङ्गमानां पृथक् भावन्त-  
त्तदाकारगतं पार्थक्यमेकस्थमेकस्थां प्रकृतावेव स्थितं प्रलयकाले  
अनुपश्यत्यालोचयति । ततः प्रकृतेः सकाशादेव भूतानां विस्तारं  
सृष्टिसमयेऽनुपश्यति तदा ब्रह्म सम्पद्यते ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः ॥३०॥

गी०भू०—यदेति-अयं जीवो यदा भूतानां देवमानवादीनां  
पृथग्भावं तत्तदाकारगतं देवत्व-मानवत्व-दीर्घत्व-ह्रस्वत्वादि-  
रूपं पार्थक्यमेकस्थं प्रकृतिगतमेव प्रलयेऽनुपश्यति ततः प्रकृति  
एव सर्गे तेषां देवत्वादीनां विस्तारश्च पश्यति, न त्वात्मस्थं तत्  
पृथक्भावं न चात्मनस्तद्विस्तारश्च पश्यति-स्वप्रकृतिविविक्तात्म-  
दर्शी, तदा तद्ब्रह्म सम्पद्यते-तद्विविक्तमभिव्यक्तापहतपाप्म-  
त्वादि-बृहद्गुणाष्टकं स्वमनुभवतीत्यर्थः ॥३०॥

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।

शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३१॥

सारा०ब०—ननु “कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनि-जन्मसु”  
इत्युक्तम् । तत्र देहगतत्वेन तुल्यत्वेऽपि जीवात्मैव गुणलिप्तः  
संसरति न तु परमात्मैति । कुत इत्यत आह—अनादित्वा-  
दिति । न विद्यते आदिः कारणं यतः स अनादिः,—यथा  
पञ्चम्यन्तपदार्थेनानुत्तमशब्देन परमोत्तम उच्यते, तथेवानादि-  
शब्देन परमकारणमुच्यते । ततश्चानादित्वात् परमकारणत्वा-  
न्निर्गुणत्वात्निर्गता गुणाः सृष्ट्यादयो यतस्तस्य भावस्त्वं  
तस्माच्च जीवात्मनो विलक्षणोऽयं परमात्मा । अव्ययः सर्वदेव  
सर्वथैव स्वीय-ज्ञानानन्ददिव्ययरहितः, शरीरस्थोऽपि तद्धर्मा-  
प्रहणान्न करोति जीवन्न कर्त्ता न भोक्ता च भवति न च  
लिप्यते-शरीरगुणलिप्तश्च न भवति ॥ ३१ ॥

गी०भू०—ननु परेशमात्मानश्च विविक्तं पश्यन् कृतार्थो भव-

सीत्युत्तरयुक्ता, “एतेभ्य एव भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुचिन्त-  
यति न प्रेत्यसंज्ञास्ति” इति जीवस्य देहेन सहोत्पत्तिविनाश-  
प्रवणादिति चेत्तत्राह—अनादित्वादिति । अयमात्मा जीवः शरी-  
रस्थोऽप्यनादित्वात् परमव्ययोऽव्ययत्वप्रधानधर्मेत्वाद्विनाश-  
शून्यो निर्गुणत्वाद्दिशुद्धज्ञानानन्दत्वाच्च युद्धयज्ञादिकर्म करोति,  
अतः शरीरेन्द्रियस्वभावेनोत्पत्तिविनाशलक्षणेन न लिप्यते ।  
श्रुत्यर्थस्वौपचारिकतया नेयः ॥३१॥

यथा सर्वगतं सौन्दर्यादाकाशं नोपलिप्यते ।

सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥

सारा०ब०—अथ दृष्टान्तमाह-यथा सर्वत्र पङ्कादिष्वपि  
स्थितमप्याकाशं सौन्दर्यादसङ्गत्वात् पङ्कादिभिरने लिप्यते, तथैव  
परमात्मा दैहिकैर्गुणैर्दोषैश्च न युज्यत इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

गी०भू०—ननु शरीरे स्थितस्तद्धर्मैः कुतो न लिप्यत इत्य-  
त्राह-यथेति । यथा सर्वत्र पङ्कादौ गतं प्रविष्टमप्याकाशं  
सौन्दर्यात्तद्धर्मैर्न लिप्यते, तथात्मा जीवः सर्वत्र देवमानवादा-  
वुभावचे देहे स्थितोऽपि तद्धर्मैर्नलिप्यते सौन्दर्यादेव ॥३२॥

यथा प्रकाशयत्येकः कुत्सनं लोकमिमं रविः ।

क्षेत्रं क्षेत्री तथा कुत्सनं प्रकाशयति भारत ॥३३॥

सारा०ब०—प्रकाशकत्वात् प्रकाश्यधर्मैर्न युज्यत इति  
दृष्टान्तमाह-यथेति । रविर्यथा प्रकाशकः प्रकाश्यधर्मैर्न युज्यते  
तथा क्षेत्री परमात्मा,—“सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न  
लिप्यते चाक्षुषैर्वाहोषैः । एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न  
लिप्यते शोबदुःखेन बाह्यः ॥” इति श्रुतेः ॥ ३३ ॥

गी०भू०—देहधर्मैर्गुणलिप्त एवात्मा सधर्मैश्च देहं पुण्या-



तीत्याह-यथेति-यथैको रबिरिमं कृत्स्नं लोकं प्रकाशयति प्रभया,  
तथैकः क्षेत्री जीवः कृत्स्नमापादमस्तकमिदं क्षेत्रं देहं प्रकाशयति  
चेतयति चेतनयेत्येवमाह सूत्रकारः-“गुणाद्वा लोकवत्” इति ॥३३॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।

भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३४॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्म-  
पर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्री-  
कृष्णाञ्जु नसंवादे प्रकृतिपुरुषविवेकयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ।

सारा०ब०—अध्यायार्थमुपसंहरति-क्षेत्रेण सह क्षेत्रज्ञयो-  
र्जीवात्म-परमात्मनोर्यथा भूतानां प्राणिनां प्रकृतेः सकाशान्मोक्षं  
मोक्षोपायं ध्यानादिकञ्च ये विदुस्ते परं पदं यान्ति ॥ ३४ ॥

द्वयोः क्षेत्रज्ञयोर्मध्ये जीवात्मा क्षेत्रधर्मभाक् ।

बध्यते मुच्यते ज्ञानादित्यध्यायार्थ ईरितः ॥ (४)

इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् ।

त्रयोदशोऽयं गीतासु सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥ (५)

गी०भू०—अध्यायार्थमुपसंहरन् तज्ज्ञानफलमाह-क्षेत्रेति-  
क्षेत्रेण सहितयोः क्षेत्रज्ञयोर्जीवेशयोरेवं मदुक्तविधयान्तरं भेदं  
ज्ञानचक्षुषा वैधर्म्यविषयक-प्रज्ञा-नेत्रेण ये विदुस्तथाभूतानां  
प्रकृतेः सकाशान्मोक्षं च तत्साधनममानित्वादिकं ये विदुस्ते  
प्रकृतेः परं सर्वोत्कृष्टं परव्योमाख्यं मत्पदं यान्तीति ॥३४॥

जीवेशो देहमध्यस्थो तत्राद्यो देहधर्मयुक् ।

बध्यते मुच्यते बोधादिति ज्ञानं त्रयोदशात् ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्भाष्ये त्रयोदशोऽध्यायः ।

## चतुर्दशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच—

परं भूयःप्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।

यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥१॥

सारा०ब०—गुणाः स्युर्वन्धकास्ते तु फलैर्ज्ञेयाश्चतुर्दशे ।

गुणात्यये चिन्हततिर्हेतुर्भक्तिश्च वर्णिता ॥ (१)

पूर्वाध्याये “कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु”  
इत्युक्तम् । तत्र के गुणाः, कीदृशो गुणसङ्गः, कस्य गुणस्य  
सङ्गात् किं फलं स्यात्, गुणयुक्तस्य किं किं वा लक्षणम्,  
कथं वा गुणेभ्यो मोचनमित्यपेक्षायां बक्ष्यमाणमर्थं स्तुवानो  
वक्तुं प्रतिजानीते-परमिति । ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानमुपदेशं  
परमत्युत्तमम् ॥ १ ॥

गी०भू०—गुणाः स्युर्वन्धकास्ते तु परिचेयाः फलैस्त्रयः ।

मद्भक्त्या तन्निवृत्तिः स्यादिति प्रोक्तं चतुर्दशे ॥

पूर्वाध्याये मिथःसंपृक्तानां प्रकृतिजीवेश्वराणां स्वरूपाणि  
विबिच्य जानन्नमानित्वादिधर्मैर्विशिष्टः प्रकृतिबन्धाद्विमुच्यते,  
कथं हेतुश्च गुणसङ्ग इत्युक्तम् । तत्र के गुणाः, कस्मिन्  
गुणे कथं सङ्गः, कस्य गुणस्य सङ्गात् किं फलं, गुणसङ्गिनः  
किंवा लक्षणं कथं वा गुणेभ्यो मुक्तिः ? इत्यपेक्षायां बक्ष्य-  
माणमर्थमात्मरुच्युत्पत्तये भगवान् स्तौति-परमिति द्वाभ्याम् ।  
परं पूर्वोक्तादन्यं प्रकृतिजीवान्तर्गतमेव गुणविषयकं ज्ञानं भूयो  
वक्ष्यामि-यज्ज्ञानानां प्रकृतिजीवविषयकाणामुत्तमं भोष्टं नव-  
नीतबहुधृतत्वात् ; यज्ज्ञात्वोपलभ्य सर्वे मुनयस्तन्मननशीला



इतो लोके परमात्मयाथात्म्योपलब्धिलक्षणां सिद्धिं गताः ; यद्वा  
ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानमुपदेशं, तच्च प्रागुक्तमपि भूयः पुनर्बिधान-  
रेण वक्ष्यामि । तच्च ज्ञानानां तपःप्रभृतीनां ज्ञानसाधनानां मध्ये  
परमुत्तममत्युत्तमं तदन्तरङ्गसाधनत्वात्-यज्ज्ञात्वा सर्व्वं मुनय  
इतो लोकात् परां मोक्षलक्षणां सिद्धिं गताः ॥१॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।

सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥२॥

सारा०ब०--साधर्म्यं सारूप्यलक्षणां मुक्तिम्, न व्यथन्ति  
न व्यथन्ते ॥ २ ॥

गी०भू०--इदमिति-गुरुपासनयेदं वक्ष्यमाणं ज्ञानमुपा-  
श्रित्य प्राप्य जनाः सर्व्वेशस्य मम नित्याविर्भूतगुणाष्टकस्य  
साधर्म्यं साधनाविर्भावितेन तदष्टकेन साम्यमागताः सन्तः सर्गे  
नोपजायन्ते, सृजिकर्मतां नाप्रवृन्ति, प्रलये न व्यथन्ते-मृति  
कर्मताश्च न यान्तीति जन्ममृत्युभ्यां रहिता मुक्ता भवन्तीति  
मोक्षे जीव-बहुत्वमुक्तम्, "तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति  
सूरयः" इत्यादि-श्रुतिभ्यश्चैतद्वगतम् ॥२॥

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।

संभवः सर्व्वभूतानां ततो भवति भारत ॥३॥

सारा०ब०--अथानाद्यविद्याकृतस्य गुणसङ्गस्य बन्धुहेतुता-  
प्रकारं वक्तुं क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः सम्भवप्रकारमाह-मम परमेश्वरस्य  
योनिर्गर्भाधानस्थानं महद्ब्रह्म देशकालानवच्छिन्नत्वात् महत्-  
वृहन्नात् कार्य्यरूपेण वृद्धेर्हेतोर्ब्रह्म प्रकृतिरित्यर्थः । श्रुतावपि  
कचित् प्रकृतिर्ब्रह्मेति निर्दिश्यते । तस्मिन्नहं गर्भं दधाम्यादधामि ।  
"इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे परां जीवभूताम्" इत्यनेन चेतन-

पुञ्जरूपा या जीव-प्रकृतिस्तदस्थशक्तिरूपा निर्दिष्टा सा सकल-  
प्राणिजीवतया गर्भशब्देनोच्यते, ततो मत्कृतात् गर्भाधानात्  
सर्व्वभूतानां ब्रह्मादीनां सम्भव उत्पत्तिः ॥ ३ ॥

गी०भू०--तदेवं वक्तव्यार्थस्तुत्या तस्मिन् रुचि श्रोतुमत्वाद्य  
'भूमिरापः' इत्यादिद्वयार्थानुसारात् 'यावत् सञ्जायते किञ्चित्'  
इत्यादौ प्रकृतिजीवसंयोगं परेशहेतुकमभिमतमिह स्फुटयति-  
ममेति । महत् सर्व्वस्य प्रपञ्चस्य कारणं ब्रह्माभिव्यक्त-सत्त्वादि-  
गुणकं प्रधानं मम सर्व्वेश्वरस्याण्डकोटिस्त्रष्ट्र्योनिर्गर्भाधारणस्थानं  
भवति । प्रधाने ब्रह्मशब्दश्च-"तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नं च  
जायते" इति श्रुतेः, तस्मिन्महति ब्रह्मणि योनिभूते गर्भं पर-  
माणुचैतन्यराशिमहं दधाम्यर्पयामि-'भूमिरापः' इत्यादिना या  
जडा प्रकृतिरुक्ता, सेह महद्ब्रह्मेत्युच्यते, 'इतस्त्वन्याम्' इत्या-  
दिना या चेतना प्रकृतिरुक्ता, सेह सर्व्वप्राणिबीजत्वाद्गर्भशब्दे-  
नेति-भोगक्षेत्रभूतया जडया प्रकृत्या सह चेतनभोक्तृवर्गं संयो-  
जयामीत्यर्थः । ततो महद्देतुकात् प्रकृतिद्वयसंयोगाद्गर्भा-  
धानाद्वा सर्व्वभूतानां ब्रह्मादिस्तम्बान्तानां सम्भवो जनिर्भवति ॥३॥

सर्व्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः संभवन्ति याः ।

तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥४॥

सारा०ब०--न केवलं सृष्ट्युत्पत्तिसमय एव सर्व्वभूतानां  
प्रकृतिर्माता अहं पिता, अपि तु सर्व्वदैवेत्याह-सर्व्वसु योनिषु  
देवाद्यासु स्तम्बपर्यन्तासु या मूर्त्तयो जङ्गमस्थावरात्मिका  
व्यथन्ते, तासां मूर्त्तीनां महद्ब्रह्म प्रकृतिः-योनिरुत्पत्तिस्थानं  
माता, अहम्-बीजप्रदः गर्भाधानकर्त्ता पिता ॥ ४ ॥

गी०भू०--सर्व्वेति । हे कौन्तेय ! सर्व्वयोनिषु देवादिस्थाव-  
रान्तासु सन्निषु या मूर्त्तयस्तनवः संभवन्ति तासां महद्ब्रह्म



प्रधानं योनिरुत्पत्तिहेतुर्मातित्यर्थः, जीवप्रदस्तत्कर्मामुगुण्येन पर-  
माणुचैतन्यराशिसंयोजकः परेशोऽहं पिता भवामि ॥४॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।

निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥५॥

सारा०ब०—तदेवं प्रकृतिपुरुषाभ्यां सर्वभूतोपत्तिं निरूप्ये-  
दानीं के गुणा उच्यन्ते, तेषु सङ्गात् जीवस्य कीदृशो बन्ध  
इत्यपेक्षायामाह—सत्त्वमिति । देहे प्रकृतिकार्यं तादात्म्येन स्थितं  
देहिनं जीवं बन्तुतोऽव्ययं निर्विकारमसङ्गितमप्यनाद्यविद्यया  
कृताद्गुणसङ्गादेव हेतुर्गुणा निबध्नन्ति ॥ ५ ॥

गी०भू०—अथ के गुणाः कथं तेषु पुरुषस्य सङ्गः कथं वा  
ते तं निबध्नन्ति इत्याह—सत्त्वमिति चतुर्भिः । सत्त्वादिसंज्ञ-  
कास्त्रयो गुणाः प्रकृतिसंभवाः प्रकृतेरभिव्यक्तास्ते स्वकार्यं  
देहे स्थितं पुरुषमव्ययं बन्तुतो निर्विकारमपि निबध्नन्त्याविवेक-  
गृहीतैः सुखदुःखमोहैः स्वधर्मैस्तं योजयन्तीति ॥५॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।

सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥६॥

सारा०ब०—तत्र सत्त्वस्य लक्षणं बन्धकत्वप्रकारश्चाह—तत्रेति-  
अनामयं निरुपद्रवं शान्तमित्यर्थः, शान्तत्वात् स्वकार्येण  
सुखेन यः सङ्गः प्रकाशकत्वात् स्वकार्येण ज्ञानेन च यः सङ्गः  
'अहं सुखी अहं ज्ञानी' चेत्युपाधिधर्मयोरपि सुखज्ञानयोर-  
विद्ययैव जीवस्याभिमानस्तेन तं बध्नाति । हे अनघेति—त्वन्तु  
'अहं सुखी अहं ज्ञानी' इत्याभिमानलक्षणमघं मा स्वीकुर्वन्ति  
भावः ॥ ६ ॥

गी०भू०—अथ सत्त्वादीनां त्रयाणां लक्षणानि बन्धकता-

प्रकारांश्चाह—तत्रेति त्रिभिः । तत्र तेषु त्रिषु मध्ये सत्त्वं प्रकाशकं  
ज्ञानव्यञ्जकमनामयमरोगं दुःखविरोधि-सुखव्यञ्जकमिति यावत्,  
कुतः ? निर्मलत्वात् स्वच्छत्वात्, तथा च “प्रकाशसुखकारणं  
सत्त्वम्” इति । तच्च सत्त्वं स्वकार्यं ज्ञाने सुखे च यः संयोगो  
'ज्ञान्यहं' 'सुख्यहम्' इत्याभिमानस्तेन पुरुषं निबध्नाति, ज्ञानं  
चंदं लौकिकवस्तुयाथात्म्यविषयं सुखञ्च देहेन्द्रियप्रसादरूपं  
बोध्यम् । तत्र तत्र सङ्गे सति तदुपायेषु कर्मसु प्रवृत्तिस्तत्फलानु-  
भवोपायेषु देहेष्टुर्पत्तिः, पुनश्च तत्र तत्र सङ्ग इति न सत्त्वाद्बन्ध-  
मुक्तिः ॥६॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।

तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनाम् ॥७॥

सारा०ब०—रजोगुणं रागात्मकमनुरक्षेन्नरूपं विद्धि । तृष्णा  
अप्राप्तेऽर्थे अभिलाषः, सङ्गः प्राप्तेऽर्थे आसक्तिः, तयोः  
समुद्भवो यस्मान् तद्वरजः देहिनं दृष्टादृष्टार्थेषु कर्मसु सङ्गेना-  
सक्त्या बध्नाति तृष्णा-सङ्गाभ्यां कर्मस्वासाक्तिर्भवति ॥ ७ ॥

गी०भू०—रज इति रागः स्त्रीपुरुषयोर्मिथोऽभिलाषस्तदात्मकं  
रजोबुद्धिहेतुकार्ययोस्तादात्म्यात्, तच्च तृष्णादिसमुद्भवं शब्दादि-  
विषयाभिलाषस्तृष्णा, पुत्रमित्रादिसंयोगोऽभिलाषः सङ्गस्तयोः  
सम्भवो यस्मात्तत्, तथा च “रागतृष्णासङ्गकारणं रजः” इति ।  
तद्वरजः स्त्रीविषयपुत्रादिप्रापकेषु कर्मसु सङ्गेनाभिलाषेण देहिनं  
पुरुषं निबध्नाति—स्त्र्यादि-स्पृहया कर्माणि करोति, तानि तत्फ-  
लानुभवोपायभूतान् स्त्र्यादीन् प्रापयन्ति, पुनरप्येवमिति रजसो  
न विमुक्तिः ॥७॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।

प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥८॥



सारा०ब०--अज्ञानजमज्ञानात् स्वीयफलात् जातं प्रतीत-  
मनुमितं भवतीत्यज्ञानजमज्ञानजनकमित्यर्थः । मोहनं भ्रान्ति-  
जनकम्, प्रमादः अनवधानम्, आलस्यम् अनुद्यमो, निद्रा  
चित्तस्यावसादः ॥ ८ ॥

गी०भू०--तमस्त्विति - तु-शब्दः पूर्वोद्व्याद्विशेषद्योतकः ।  
वस्तुयाथात्म्यावगमो ज्ञानं ताद्विरोध्यावरकता-प्रधानं प्रकृत्यंशो-  
ऽज्ञानं, तस्माज्जातं तमोऽतः सर्वदोहनां मोहनं विपर्ययज्ञान-  
जनकम्, तथा च "वस्तुयाथात्म्यज्ञानावरकं विपर्ययज्ञान-  
जनकं तमः" इति । तत्तमः प्रमादादिभिः स्वकार्यैः पुरुषं निब-  
ध्नाति, तत्र प्रमादोऽनवधानमकार्यं कर्मणि प्रवृत्तिरूपं सत्त्व-  
कार्यप्रकाशाविरोधी, आलस्यमनुद्यमो रजःकार्यप्रवृत्तिविरोधि,  
तदुभयाविरोधनी तु निद्रा चित्तावसादात्मोति ॥ ८ ॥

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत ।

ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥

सारा०ब०--उत्तमेवार्थं सक्षेपेण पुनर्दर्शयति-सत्त्वं कर्त्ता  
सुखे स्वीयफले आसक्तं जीवं सञ्जयति बशीकरोति निबध्ना-  
तीत्यर्थः ; रजः कर्त्ता कर्मणि आसक्तं जीवं बध्नाति ;  
तमः कर्त्ता प्रमादेऽभरतं तं ज्ञानमावृत्य अज्ञानमुत्पाद्येत्यर्थः ॥ ९ ॥

गी०भू०--गुणाः स्वान्यद्वयोत्कृष्टाः सन्तः स्वकार्यं तन्वन्ती-  
त्याह-सत्त्वमिति द्वाभ्याम् । सत्त्वमुत्कृष्टं सत् स्वकार्यं सुखं  
पुरुषं संजयत्यासक्तं करोति, रज उत्कृष्टं सत् कर्मणि तं सञ्ज-  
यति, तम उत्कृष्टं सत् प्रमादे तं सञ्जयति ज्ञानमावृत्त्याच्छा-  
द्याज्ञानमुत्पाद्येत्यर्थः ॥ ९ ॥

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।

रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥

सारा०ब०--उक्तं स्व-स्वकार्यं सुखादिकं प्रति गुणाः कथं  
प्रभवन्तीत्यपेक्षायामाह-रजस्तमश्चेति गुणद्वयमभिभूय तिरस्कृत्य  
सत्त्वं भवति-अदृष्टवशादुद्भवति ; एवं रजोऽपि सत्त्वं तमश्चेति  
गुणद्वयमभिभूय तादृशादृष्टवशादुद्भवति ; तमोऽपि सत्त्वं रज-  
शोभापि गुणावभिभूयोद्भवति ॥ १० ॥

गी०भू०--समेषु त्रिषु कथमकस्मादेकस्योत्कर्ष इति चेत्  
प्राचीन-तादृशकर्मोदयात्तादृशाहाराच्च स्वभवतीति भाववानाह-  
रज इति । सत्त्वं कर्त्ता रजस्तमश्चाभिभूयो तिरस्कृत्योत्कृष्टं भवति,  
रजः कर्त्ता सत्त्वं तमश्चाभिभूयोत्कृष्टं 'भवति' तमः कर्त्ता सत्त्वं  
रजश्चाभिभूयोत्कृष्टं भवति, यदोत्कृष्टं भवति, तदा पूर्वोक्तम-  
साधारणं कार्यं करोतीति शेषः ॥ १० ॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपाजयते ।

ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥

सारा०ब०--बद्धमानो गुण एव स्वापेक्षया स्त्रीणावितरौ  
गुणावभिभवतीत्युक्तम् । अतस्तेषां वृद्धिलिङ्गान्याह-सर्व्वेति त्रिभिः ।  
सर्व्वद्वारेषु श्रोत्रादिषु यदा प्रकाशः स्यात्, कीदृशः ?  
ज्ञानं वैदिकशब्दादियथार्थज्ञानात्मकं तदा तादृशज्ञानलिङ्गेनैव  
सत्त्वं विवृद्धमिति जानीयात् । उत-शब्दादात्मोत्थसुखात्मकः  
प्रकाशश्च यदेति ॥ ११ ॥

गी०भू०--उत्कृष्टानां सत्त्वादीनां लिङ्गान्यह-सर्व्वेति त्रिभिः ।  
यदा सर्व्वेषु 'ज्ञानद्वारेषु' श्रोत्रादिषु शब्दादियाथात्म्यप्रकाशरूपं  
ज्ञानमुपजायते, तदा तादृशज्ञानलिङ्गेनास्मिन् देहे सत्त्वं विवृद्धं  
विद्यात् । उतैत्यप्यर्थ-सुखलिङ्गेनापि ताद्विद्यादित्यर्थः ॥ ११ ॥

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।

रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥



सारा०ब०—प्रवृत्तिर्नाता प्रयत्नपरता कर्मणामारम्भो  
गृहादिनिर्माणाद्यमः, अशमो विषयभोगानुपरतिः ॥ १२ ॥

गी०भू०—लोभः स्वद्रव्यात्यागपरता, प्रवृत्तिस्तद्वृद्धयत्न-  
परता, कर्मणां गृहादिनिर्माणादीनामारम्भः, अशमो विषय-  
भोगादिन्द्रियाणामनुपरतिः, स्पृहा विषयलिप्सा, एतैर्लिङ्गै रजो  
विवृद्धं विद्यात् ॥ १२ ॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।

तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

सारा०ब०—‘अप्रकाशो’ विवेकाभावः, शास्त्राविहितशब्दा-  
दिप्रहणम्, ‘अप्रवृत्तिः’ प्रयत्नमात्रराहित्यम्, ‘प्रमादः’ वृथादि-  
वृत्तेऽपि वस्तुनि नास्तीति प्रत्ययः ‘मोहो’ मिथ्याभिनिवेशः ॥ १३ ॥

गी०भू०—अप्रकाशो ज्ञानाभावः, शास्त्राविहितविषयप्रहरणो-  
ऽप्रवृत्तिः क्रियाविमुखता, प्रमादः करादिस्थेऽप्यर्थे नास्तीति  
प्रत्ययो मोहो मिथ्याभिनिवेशः एतैर्लिङ्गैस्तमो विवृद्धं  
विद्यात् ॥ १३ ॥

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।

तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

सारा०ब०—प्रलयं याति मृत्युं प्राप्नोति । तदा उत्तमं  
विन्दन्ति लभन्त इत्युत्तमविदो हिरण्यगर्भाद्युपासकास्तेषां  
लोकानमलान् सुखप्रदान् ॥ १४ ॥

गी०भू०—मृतिकाले विवृद्धानां गुणानां फलविशेषानाह-  
यदेति दाभ्याम् । सत्त्वे प्रवृद्धे सति यदा देहभृज्जीवः प्रलयं  
याति म्रियते, तदोत्तमविदां हिरण्यगर्भाद्युपासकानां लोकान्  
दिव्यभोगोपेतान् प्रतिपद्यते लभते, अमलान् रजस्तमो-मलही-  
नान् ॥ १४ ॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।

तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥

सारा०ब०—कर्मसङ्गिषु कर्मासक्तमनुष्येषु ॥ १५ ॥

गी०भू०—रजसि प्रवृद्धे प्रलयं मरणं गत्वा जनः कर्मसङ्गिषु  
काम्यकर्मासक्तेषु नृषु मध्ये जायते ; तथा तमसि प्रवृद्धे प्रलीना  
सुतो जनो मूढयोनिषु पश्यादिषु जायते ॥ १५ ॥

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।

रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥

सारा०ब०—सुकृतस्य सात्त्विकस्य कर्मणः सात्त्विकमेव  
निर्मलं निरुपद्रवम् ; अज्ञानमचेतनता ॥ १६ ॥

गी०भू०—अथ गुणानां स्वानुरूपकर्मद्वारा विचित्रफलहेतु-  
त्वमाह-कर्मण इति । सुकृतस्य सात्त्विकस्य कर्मणो निर्मलं  
फलमाहुर्गुणस्वभावविदो मुनयो मलदुःखमोहरूप-रजस्तमः फल-  
लक्षणाभिर्गतं सुखमित्यर्थः, तच्च सात्त्विकं सत्त्वेन निवृत्तम् ।  
रजसो राजस्य कर्मणः फलं दुःखं कार्यस्य कारणानुरूप्याद्-  
दुःखप्रचुरं किञ्चित् सुखमित्यर्थः । तमस्तामसस्य कर्मणो हिंसादेः  
फलमज्ञानचैतन्यप्रायं दुःखमेवेत्यर्थः । तत्र रजस्तमःशब्दाभ्यां  
राजस्तामसकर्मणी लक्ष्ये-‘गोभिः प्रीणितमत्सरम्’ इत्यत्र यथा  
गो-शब्देन गो-पयो लक्ष्यते । सात्त्विकादिकर्मणां लक्षणान्यप्रा-  
दशो वक्ष्यन्ते-‘नियतं सङ्गरहितम्’ इत्यादिभिः ॥ १६ ॥

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।

प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥

गी०भू०—ईदृक्फलवैचित्र्ये प्रागुक्तमेव हेतुमाह-सत्त्वा-  
दिति । सत्त्वात् प्रकाशलक्षणं ज्ञानं जायते, अतः सात्त्विकस्य



कर्मणः प्रकाशप्रचुरं सुखं फलम् । रजसो लोभस्तृष्णा-विशेषो  
यो विषयकोटिभिरप्यभिसेवितैर्दुःखपूरस्तस्य च दुःखहेतुत्वात्-  
त्पूर्वकस्य कर्मणो दुःखप्रचुरं किञ्चित् सुखं 'फलम्' । तमस्तु  
प्रमादादीनि भवन्त्यतस्तत्पूर्वकस्य कर्मणोऽचैतन्यप्रचुरं दुःख-  
मेव फलम् ॥१७॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।

जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥

सारा०ब०—सत्त्वस्थाः सत्त्वतारतम्येनोर्ध्वं सत्यलोकपर्य-  
न्तम्; मध्ये मनुष्यलोक एव । जघन्यश्चासौ गुणश्चेति तस्य  
वृत्तिः प्रमादालस्यादिस्तत्र स्थिता अधोगच्छन्ति नरकं यान्ति ॥१८॥

गी०भू०—अथ सत्त्वादिवृत्तिनिष्ठानां तान्येव फलान्यूर्ध्व-  
मध्याधो-भावेनाह-ऊर्ध्वमिति । तमसि वृत्ति-शब्दादितरयोश्च  
वृत्तिर्विवक्षिता । सत्त्वस्थाः सत्त्ववृत्तिनिष्ठाः सत्त्वतारतम्येनोर्ध्वं  
सत्यलोकपर्यन्तं गच्छन्ति, राजसा रजोवृत्तिनिष्ठा मध्ये पुण्य-  
पापमिश्रिते मनुष्यलोके तिष्ठन्ति-मनुष्या एव भवन्ति रजस्तार-  
तम्येन । जघन्यः सत्त्वरजोऽपेक्षया निकृष्टो यो गुणस्तमःसंज्ञस्तद्-  
वृत्तौ प्रमादादौ स्थितास्त्वधो गच्छन्ति-तमस्तारतम्येन पशु-  
पक्षिस्थावरादियोनिं लभन्ते । तामसा इत्युक्तिस्तेषां सर्वदा  
तमसि स्थितिं व्यनक्ति ॥१८॥

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।

गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१९॥

सारा०ब०—गुणकृतं संसारं दर्शयित्वा गुणातीतं मोक्षं  
दर्शयति-नान्यमिति द्वाभ्याम् । गुणेभ्यः कर्त्तृकरणविषयाकारेण  
परिणतेभ्योऽन्यं कर्त्तारं द्रष्टा जीवो यदा नानुपश्यति, किन्तु

गुणा एव सदैव कर्त्तार इत्येवमनुपश्यति, अनुभवतीत्यर्थः ।  
गुणेभ्यः परं व्यतिरिक्तमेवात्मानं वेत्ति, तदा स द्रष्टा मद्भावं  
मयि सायुज्यमधिगच्छति प्राप्नोति । तत्र तादृश ज्ञानानन्तर-  
मपि मयि परां भक्तिं कृत्वैवेत्युपान्तश्लोकार्थदृष्ट्या ज्ञेयम् ॥१९॥

गी०भू०—एवं गुणविवेकान् संसारमुक्त्वा तद्विवेकान्मोक्ष-  
साह-नान्यमिति द्वाभ्याम् । द्रष्टा तत्त्वयाथात्म्यदर्शी जीवो  
यदा देहेन्द्रियात्मना परिणतेभ्यो गुणेभ्योऽन्यं कर्त्तारं नानु-  
पश्यति-गुणान् कर्त्तुं न पश्यत्यात्मानं गुणेभ्यः परमकर्त्तारं  
वेत्ति, तदा स मद्भावमधिगच्छति । अयमाशयः-न खलु विज्ञा-  
नानन्दो विशुद्धो जीवो युद्धयज्ञादिदुःखमयकर्मणां कर्त्ता, किन्तु  
गुणमयदेहेन्द्रियबानेव संस्तथेति गुणहेतुकत्वाद्गुणनिष्ठं तत्क-  
र्मकर्त्तृत्वं न तु विशुद्धात्मनिष्ठमिति यदानुपश्यति, तदा मद्भाव-  
मसंसारत्वं मत्परभक्तिं वा, लभत इति पुराप्येतदभाषि, इह  
गुणहेतुकं कर्त्तृत्वं शुद्धस्य निषिद्धं, न तु शुद्धनिष्ठमिति, 'तस्य  
द्रष्टा' इत्यादिनाक्तम् ॥१९॥

गुणानेतानतीत्य ग्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।

जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

सारा०ब०—ततश्च सोऽपि गुणातीत एवोच्यत इत्याह-  
गुणानिति ॥२०॥

गी०भू०—मद्भावपदेनोक्तमर्थं स्फुटयति-गुणानिति । देहो  
देहमध्यस्थोऽपि जीवो गुणपुरुषविवेक-बलेनैतान् देहसमुद्भवान्  
देहात्पादकांस्त्रीन् गुणानतीत्योल्लङ्घ्य जन्मादिभिर्विमुक्तोऽमृत-  
मात्मानमश्नुतेऽनुभवति । सोऽयमसंसारित्वलक्षणो मद्भावो  
मत्परभक्तिपात्रता-लक्षणो वा, एवं वक्ष्यति-'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा'  
इत्यादि ॥२०॥



अर्जुन उवाच—

कैलिङ्गैस्त्रीगुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।

किमाचारः कथं चैतांस्त्रीगुणानतिवर्तते ॥२१॥

सारा०ब०—‘स्थितप्रज्ञस्य का भाषा’ इत्यादिना द्वितीयाध्याये पृष्ठमप्यर्थं पुनस्ततोऽपि विशेषवृत्तसया पृच्छति—कैलिङ्गैः इत्येकः प्रश्नः, कैश्चिह्नैस्त्रीगुणातीतः स ज्ञेय इत्यर्थः ; किमाचारः इति द्वितीयः, ‘कथञ्चैतान्’ इति तृतीयः, गुणातीतत्वप्राप्तेः किं साधनमित्यर्थः । स्थितप्रज्ञस्य का भाषा इत्यादौ स्थितप्रज्ञो गुणातीतः कथं स्यादिति तदानीं न पृष्ठमिदानीं तु पृष्ठमिति विशेषः ॥ २१ ॥

गी०भू०—गुणातीतस्य लक्षणमाचारं च गुणात्ययसाधनञ्चाऽर्जुनः पृच्छति—कैरित्यर्द्धकेन । प्रथमः प्रश्नः—कैश्चिह्नैर्गुणातीतो ज्ञातुं शक्य इत्यर्थः, किमाचार इति द्वितीयः—स किं यथेष्टाचारो नियताचारो वेत्यर्थः । कथं चैतानिति तृतीयः—केन साधनेन गुणानत्येतीत्यर्थः ॥२१॥

श्रीभगवानुवाच—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।

न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥२२॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।

गुणा वर्तन्त इत्येवं योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२३॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्ट्राश्मकाञ्चनः ।

तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।

सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

सारा०ब०—तत्र कैलिङ्गैर्गुणातीतो भवतीति प्रथमप्रश्नस्योत्तरमाह—प्रकाशं सर्वव्याप्यं देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायत इति सत्त्वकार्यम्, प्रवृत्तिश्च रजःकार्यम्, मोहश्च तमःकार्यम्—उपलक्षणमेतत् सत्त्वादीनाम्, सर्वाण्यपि कार्याणि यथायथं संप्रवृत्तानि स्वतःप्राप्तानि दुःखबुद्ध्या यो न द्वेष्टि, गुणकार्याण्येतानि निवृत्तानि भवन्तीति सुखबुद्ध्या च यो न काङ्क्षति, स गुणातीत उच्यते इति चतुर्थेनान्वयः । संप्रवृत्तानीति क्रीडत्वमार्थम् । ‘किमाचारः’ इति द्वितीयप्रश्नस्योत्तरमाह—उदासीनवदिति त्रिभिः । गुणकार्यैः सुखदुःखादिभिर्यो न विचाल्यते स्वरूपावस्थानाञ्च च्यवते अपि तु गुणा एव स्वकार्येषु वर्तन्त इत्येवेति, एभिर्मम सम्बन्ध एव नास्तीति विवेकज्ञानेन यस्तूष्णीमवतिष्ठति—परमसैपदमार्थम्, नेङ्गते न कापि दैहिककृत्ये यतते । ‘गुणातीतः स उच्यते’ इति गुणातीतस्येतानि विह्वान्येतानाचारांश्च दृष्ट्वैव गुणातीतो बक्तव्यो न तु गुणातीतत्वोपपत्तिबाधदूको गुणातीतो बक्तव्य इति भावः ॥ २२-२५ ॥

गी०भू०—यद्यपि ‘स्थितप्रज्ञस्य का भाषा’ इत्यादिना पृष्ठमिदं ‘प्रजहाति यदा कामान्’ इत्यादिनोत्तरितञ्च, तथापि विशेषजिज्ञासया पृच्छतीति विधान्तरेण तस्य लक्षणादीन्याह भगवान्—प्रकाशं चेत्यादि पञ्चभिः, तत्रैकेन लक्षणं स्वसंवेद्यमाह—प्रकाशं सत्त्वकार्यम्, प्रवृत्तिं रजःकार्यम्, मोहं तमः—कार्यम्, एतानि त्रीणि संप्रवृत्तान्युत्पादकसामग्रीवशात् प्राप्तानि दुःखरूपाण्यपि दुःखबुद्ध्या यो न द्वेष्टि, विनाशकसामग्रीवशात् निवृत्तानि निवृत्तानि तानि सुखरूपाण्यपि सुखबुद्ध्या यो न काङ्क्षति, एतादृशद्वेषरागशून्यो गुणातीतः स उच्यते इति चतुर्थेनान्वयः । स्वगतो द्वेषतदभावो रागतदभावो च परो न वेदितु-



महतीति स्वसंवेद्यमिदं लक्षणम् । अथ परसम्वेद्यलक्षणं वक्तुं  
'किमाचारः' इति द्वितीयप्रश्नस्योत्तरमाह-उदासीनेति त्रिभिः ।  
उदासीनो मध्यस्थो यथा विवादिनोः पक्षग्रहैः स्वमाध्यस्थ्यान्न  
विचाल्यते, तथा सुखदुःखादिभावेन परिणतैर्गुणैर्यो नात्मा-  
वस्थितैर्विचाल्यते, किन्तु गुणाः स्वकार्येषु प्रकाशादिषु वर्तन्ते,  
मम तैर्न सम्बन्ध इति निश्चित्य तूष्णीमवतिष्ठते, नेङ्गते गुण-  
कार्यानुरूपेण न चेष्टते, गुणातीतः स उच्यते इति तृतीयेना-  
न्वयः । किञ्च, समेति - यतोऽयं स्वस्थः स्वरूपनिष्ठोऽतएव सम-  
दुःखसुखः समे अनात्मधर्मत्वात् तुल्ये सुखदुःखे यस्य सः,  
समान्यनुपादेयतया तुल्यानि लोष्ट्रादीनि यस्य सः, लोष्ट्रमृत्पण्ड-  
तुल्ये प्रियाप्रिये सुखदुःखसाधने वस्तुनी यस्य सः, धीरः प्रकृ-  
तिपुरुषविवेककुशलः, तुल्ये निन्दात्मसंस्तुती यस्य सः-तत्प्रयोज-  
कयोर्दोषगुणयोरात्मगतत्वाभावादित्यर्थः । य ईदृशो, गुणातीतः  
स उच्यते इति द्वितीयेनान्वयः । मानेति स्फुटार्थः । निन्दास्तुती  
वागव्यापारेण साध्ये, मानापमानौ तु कायमनोव्यापारेणापि  
स्यातामिति भेदः । सर्व्वेति-देहयात्रामात्रादन्यत् सर्व्वकर्म  
प्राह्यम् । य ईदृशो गुणातीतः 'उदासीनवत्' इत्याद्युक्ता यस्या-  
चाराः परैरपि संवेद्याः, स गुणातीतो बोध्यो न तु तदुपपत्ति-  
बाधदूक इति भावः ॥२२-२५॥

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।

स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥

सारांशः—'कथञ्चैतान् गुणानतिवर्त्तते' इति तृतीयप्रश्न-  
स्योत्तरमाह-माञ्चेति । 'च'-एवार्थे, मामेव श्यामसुन्दराकारं  
परमेश्वरं भक्तियोगेन यः सेवते, स एव ब्रह्मभूयाय ब्रह्मत्वाय  
ब्रह्मानुभवायेति यावत्, 'भक्त्याहमेकया प्राह्यः' इति मन्वाक्ये

एक्येति विशेषणोपन्यासात् "मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां  
तर्न्ति ते" इत्यत्रापि एवकार-प्रयोगात् भक्त्या विना प्रकारा-  
न्तरेण ब्रह्मानुभवो न भवतीति निश्चयात् । भक्तियोगेन  
कीदृशेन ? अव्यभिचारेण कर्मज्ञानाद्यमिश्रेण निष्कामकर्मणो  
न्यासश्रवणात्, "ज्ञानञ्च मयि संन्यसेत्" इति ज्ञानिनां चरम-  
दशायां ज्ञानस्यापि न्यासश्रवणात्, भक्तियोगस्य तु कापि  
न्यासाश्रवणात् भक्तियोग एव सोऽव्यभिचारः । तेन कर्मयोग-  
मिव ज्ञानयोगमपि परित्यज्य यद्यव्यभिचारेण केवलेनैव भक्ति-  
योगेन सेवते, तर्हि ज्ञानी अपि गुणातीतो भवति ; नान्यथा ।  
अन्यभक्तस्तु "निर्गुणो मदपाश्रयः" इत्येकादशोक्तेर्गुणातीतो  
भवत्येव । अत्रेदं तत्त्वम्,—"सात्त्विकः कारकोऽसङ्गी रागान्वो  
राजसः स्मृतः । तामसः स्मृतिविभ्रष्टो निर्गुणो मदपाश्रयः ॥"  
इत्यत्रासङ्गितः कर्मिणो ज्ञानिनो वा सात्त्विकत्वेनैव साधक-  
त्वावगतेस्तत्साहचर्यात् "निर्गुणो मदपाश्रयः" इति भक्तः  
साधक एवावगम्यते, ततश्च ज्ञानी ज्ञानसिद्धः सन्नेव सात्त्विकत्वं  
परित्यज्य गुणातीतो भवति । भक्तस्तु साधकदशामारभ्यैव  
गुणातीतो भवतीत्यर्थो लभ्यते । "अत्र च-कारोऽवधारणार्थः"  
इति स्वामिचरणाः । "मामेवेश्वरं नारायणमव्यभिचारेण भक्त-  
योगेन द्वादशाध्यायोक्तेन यः सेवते" इति मधुसूदनसरस्वती-  
पादाश्च व्याचक्षते स्म ॥ २६ ॥

गी०भू०—कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्त्तते इति तृतीयप्रश्न-  
स्योत्तरमाह-माञ्चेति । चोऽवधारणे । 'नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तार-  
म्' इत्याद्युक्त्या यो गुणपुरुषविवेकख्यातिमवाप, तथैव तस्या  
गुणात्ययो न संसिध्यति, किन्तु तद्वानपि यो मां कृष्णमेव माया-  
गुणास्पृष्टं माया-नियन्तारं नारायणादिरूपेण बहुधाविभूतं  
चिदानन्दघनं सार्व्वेश्यादि-गुणरत्नालयमव्यभिचारेणैकान्तिकेन



भक्तियोगेन सेवते श्रयति, स एतान् दुरत्ययानपि गुणानतीत्या-  
क्रम्य ब्रह्मभूमाय कल्पते-गुणाष्टर्कावाशिष्टत्वाय निजधर्मस्य  
योग्यो भवति, तं धर्मं लभत इत्यर्थः । जीवे ब्रह्मशब्दस्तूक्त  
एव प्राक्, तथा च भक्तिशिरष्कयैव तद्विवेकख्यात्या जीवस्य  
स्वरूपलाभो, न तु केवलया तयेत्युक्तम् । यत्तु ब्रह्मभूमाय  
इत्यनेन मद्रूपतां स यातीति पार्थसारथिनोपादिष्टमिति व्याचष्टे,  
तन्निरवधानमेव 'तेनैवेदं ज्ञानम्' इत्यादिना मोक्षेऽपि । स्वरूप-  
भेदस्याभिहितत्वात् "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" इत्यादि-  
श्रुतिष्वपि तत्र तस्य दृष्टत्वादगुत्वाविभुत्वादि-नित्यधर्मकृतत्वेन  
नित्यत्वाच्च तद्भेदस्य तस्माद्गुणाष्टर्कावाशिष्टत्वमेव "ब्रह्मैव सन्  
ब्रह्माप्तेति" इति श्रुतौ तु ब्रह्मसदृशः सन् ब्रह्माप्येति प्राप्नो-  
तीत्यर्थः-"एवौपम्येऽवधारणे" इति विश्वप्रकाशात्, "बवा यथा  
तथैवेवं साम्ये" इत्यमरकोषाच्च, अन्यथा ब्रह्मभावोत्तरो ब्रह्मा-  
प्ययो न संगच्छेत ॥२६॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।

शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्म-  
पर्व्यां श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्री  
कृष्णाञ्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ।



सारांशः—ननु त्वद्भक्तानां कथं निर्गुणब्रह्मत्वप्राप्तिः, सा  
त्वादितीयतदेकानुभवेनैव सम्भवेत्तत्राह-ब्रह्मणो हीति ! यस्मात्  
परमप्रतिष्ठात्वेन प्रसिद्धं यद्ब्रह्म तस्याप्यहं प्रतिष्ठा-प्रतिष्ठी-  
यतेऽस्मिन्निति प्रतिष्ठा आश्रयोऽन्नमयादिषु श्रुतिषु सर्वत्रैव  
प्रतिष्ठापदस्य तथार्थत्वात्, तथामृतस्य प्रतिष्ठा, किं स्वर्गीय-

सुधायाः न अव्ययस्य नाशरहितस्य मोक्षस्येत्यर्थः, तथा  
शाश्वतस्य धर्मस्य साधनफलदशयोरपि नित्यस्थितस्य भक्त्या-  
ख्यस्य परमधर्मस्याहं प्रतिष्ठा, तथा तत्प्राप्त्यस्यैकान्तिकभक्त-  
सम्बन्धिनः सुखस्य प्रेम्णाश्चाहं प्रतिष्ठा, अतः सर्वस्यापि  
मदधीनत्वात् कैवल्यकामनया कृतेन मद्भजनेन ब्रह्मणि लीयमानो  
ब्रह्मत्वमपि प्राप्नोति । अत्र "ब्रह्मणोऽहं प्रतिष्ठा घनीभूतं ब्रह्मैवाहं  
यथा घनीभूतप्रकाश एव सूर्यमण्डलं तद्वदित्यर्थः" इति  
स्वामिचरणाः । सूर्यस्य तेजोरूपत्वेऽपि यथा तेजस आश्रय-  
त्वमप्युच्यते, एवं मे कृष्णस्य ब्रह्मरूपत्वेऽपि ब्रह्मणः प्रतिष्ठा-  
त्वमपि । अत्र श्रीविष्णुपुराणमपि प्रमाणम्—"शुभाश्रयः स  
चित्तस्य सर्वगस्य तथात्मनः" इति, व्याख्यातश्च तत्रापि स्वामि-  
चरणैः—"सर्वगस्यात्मनः परः ब्रह्मणोऽप्याश्रयः प्रतिष्ठा, तदुक्तं  
मगवता "ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्" इति । तथा विष्णुधर्मोऽपि  
नरकद्वादशीप्रसङ्गे—"प्रकृतौ पुरुषे चैव ब्रह्मण्यपि च स  
प्रभुः । यथैक एव पुरुषो बासुदेवो व्यवस्थितः ॥" इति । तत्रैव  
मासर्गपूजाप्रसङ्गे—"यथाच्युतत्वं परतः परस्मात् स ब्रह्मभूतात्  
परतः परात्मा" इति । तथा हरिवंशेऽपि विप्रकुमारानयनप्रसङ्गे  
अञ्जुनं प्रति श्रीभगवद्वाक्यम् ( विष्णुपर्वणि ११४ अः ११-१२ )  
"तत्परं परमं ब्रह्म सर्वं बिभजते जगत् । ममैव तदघनं  
तेजो ज्ञातुमर्हसि भारत ॥" इति । ब्रह्मसंहितायामपि—"यस्य  
प्रभा प्रभवतो जगदण्डकाटि-कोटिष्वशेषबसुधादिबिभूतिभिन्नम् ।  
तद्ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं, गोविन्दमादिपुरुषं तमहं  
मजामि ॥" इति । अष्टमस्कन्धे—"मदीयं महिमानञ्च परं ब्रह्मेति  
शब्दितम् । वेत्स्यस्यनुगृहीतं मे संप्रश्नैर्विवृतं हृदि ॥" इति  
मगवदुक्तिश्च । मधुसूदनसरस्वतीपादाश्च व्याचक्षते स्म यथा-  
"ननु त्वद्भक्तस्त्वद्भावमाप्नोतु नाम कथं ब्रह्मभावाय कल्पते ब्रह्मणः



सकाशात्तवान्यत्वादित्याशङ्क्याह-ब्रह्मणो हीति । प्रतिष्ठा पर्याप्ति-  
रहमेवेति-पर्याप्तिः परिपूर्णता इत्यमरः । “पराकृतमनद्वन्द्वं परं  
ब्रह्म नराकृति । सौन्दर्ये-सार-सर्वस्वं बन्दे नन्दात्मजं महः ॥”  
इत्युपश्लोकयामासुश्च ॥ २७ ॥

अनर्थ एव त्रैगुण्यं निस्त्रैगुण्यं कृतार्थता ।

तच्च भक्त्यैव भवतीत्यध्यायार्थो निरूपितः ॥ (२)

इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् ।

चतुर्दशोऽयं गीतासु सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥ (३)

गी० भू०—ननु तद्विवेकख्यात्या त्वदेकभक्त्या च गुणातीतो  
लब्धस्वरूपो ‘ब्रह्म’शब्दितो मुक्तः कथं तिष्ठेदिति चेत्तत्राह-ब्रह्मणो  
हीति । हिनिश्चये । ब्रह्मणस्तत्पूर्वकया तया सत्त्वाद्यावरणात्य-  
यादाविर्भावित-स्वगुणाष्टकस्यामृतस्य मृतिनिर्गतस्याव्ययस्य  
ताद्रूप्यैकरसस्य मुक्तस्य मदतिप्रियस्याहमेव विज्ञानानन्दमूर्ति-  
रनन्तगुणो निरवयः सुहृत्तमः सर्वेश्वरः । प्रतिष्ठा-‘प्रतिष्ठीयते-  
ऽत्र ‘इति’ निरुक्तेः परमाश्रयोऽतिप्रियो भवामीति तादृशं मां  
परया भक्त्यानुभवन्तिष्ठतीति, न मत्तो विश्लेषलेशो, “न च  
पुनरावर्त्तते”, “यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते”, “मुक्तानां परमा  
गतिः” इति स्मृतिभ्यः । ननु मुक्तस्त्वां कथं श्रयेत् श्रयणफलस्य  
मुक्तेर्लीलादिति चेदस्यतिशयितं फलमिति भावेनाह-शाश्वतस्य  
चेत्यादि । नित्यस्य षडैश्वर्यशब्दितस्य धर्मस्यैकान्तिकस्य मद-  
साधारणस्य सुखस्य च विचित्रलीला-रसस्याहमेव प्रतिष्ठेति ।  
तीव्रानन्दरूप-तद्विभूतिमल्लीलानुभवाय मामेव समाश्रयतीत्येव-  
माह श्रुतिः “रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्धवानन्दी भवति”  
इति ॥ २७ ॥

संसारो गुणयोगः स्याद्विमोक्षस्तु गुणात्ययः ।

तात्सद्भिर्हरिभक्त्यैवेत्येतद्वुद्धं चतुर्दशात् ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्भाष्ये चतुर्दशोऽध्यायः ।

## पञ्चदशोऽध्यायः

—२४४—

श्रीभगवानुवाच—

उद्धर्मूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।

छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥

सारा०—संसारच्छेदकोऽसङ्ग आत्मेशांशः क्षराक्षरात् ।

उत्तमः पुरुषः कृष्ण इति पञ्चदशे कथा ॥ (१)

पूर्वाध्याये “माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।  
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥” इत्युक्तम् ।  
तत्र तत्र मनुष्यस्य भक्तियोगेन कथं ब्रह्मभाव इति चेत् सत्यमहं  
मनुष्य एव किन्तु ब्रह्मणोऽपि तस्य प्रतिष्ठा परमाश्रय इत्यस्य  
मूर्तरूपस्य वृत्तिस्थानीयोऽयं पञ्चदशाध्याय आरभ्यते, तत्र स  
गुणान् समतीत्य इत्युक्तमिति गुणमयोऽयं संसारः कः कुतो  
वायं प्रवृत्तास्तद्भक्त्या संसारमतिक्राम्यन् जीवो वा कः ब्रह्म-  
भूयाय कल्पत इत्युक्तं ब्रह्म वा किं ब्रह्मणः प्रतिष्ठा त्वं वा क  
इत्याद्यपेक्षायां प्रथममतिशयोक्त्यलङ्कारेण संसारोऽयमद्भुतो-  
ऽश्वत्थवृक्ष इति वर्णयति—उद्धर्मं मर्त्यलोकोपरितले सत्यलोके  
प्रकृतिबीजोत्थं—प्रथमं—प्ररोहरूप-महतं—तत्त्वात्मकश्चतुर्मुख एक  
एव मूलं यस्य तम्, अधः—स्वर्भुवोभूर्लोकेष्वनन्ता देवगन्धर्व-  
किन्नरासुरराक्षसप्रेतभूतमनुष्यगवाश्वादिपशुपक्षि-कृमिकीट-पतङ्ग-  
स्थावरान्ताः शाखा यस्य तमश्वत्थं धर्मादिचतुर्वर्गसाधक-  
त्वादश्वत्थमुत्तमं वृत्तम्, श्लेषेण—भक्तिमतां न श्वः स्थास्य-  
तीत्यश्वत्थं नष्टप्रायमित्यर्थोऽभक्तानां त्वव्ययमनश्वरम् । छन्दांसि  
“वायव्यं श्वेतमालभेत, भूमिकाम ऐन्द्रमेकादशकपालं निर्व्वपेत्



प्रजाकामः" इत्याद्याः कर्मप्रतिपादका वेदाः संसारबद्धकत्वात्  
पर्यानि, - बृक्षो हि पर्णैः शोभते यस्तं जानाति, स वेदज्ञः ।  
तथा च ऊर्ध्वमूलोऽर्वाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः इति  
कठबल्लीश्रुतिः ॥ १ ॥

गी०भू०—संसारच्छेदि वैराग्यं जीवो मेऽंशः सनातनः ।

अहं सर्वोत्तमः श्रीमानिति पञ्चदशे स्मृतम् ॥

पूर्वत्र विज्ञानानन्दस्यौत्पत्तिकगुणाप्रकस्यापि जीवस्य कर्म-  
रूपाणादिवासनानुगुणेन भगवत्संकल्पेन प्रकृतिगुणसङ्गः । स च  
बहुविधस्तद्व्ययश्च भगवद्भक्तिशिरष्केन विवेकज्ञानेन भवेत्तस्मिन्  
मति संप्राप्तनिजस्वरूपो जीवो भगवन्तमाश्रित्य प्रमोदो सर्वदा  
तस्मिन्निष्ठतीत्युक्तम् । अथ तद्विवेकज्ञानमर्थ्यकरं वैराग्यं जीवस्य  
भजनोपभोगप्रदं भगवतः स्वेतर-सर्वोत्तमत्वं चोक्तेष्वर्थपू-  
र्योगाय पञ्चदशेऽस्मिन् वर्ण्यते । तत्र तावद्गुणविरचितस्य  
संसारस्य वैराग्यवैच्छेद्यत्वात् संसारं वृक्षत्वेन वैराग्यञ्च शस्त्रत्वेन  
रूपयन् वर्णयति भगवान्—ऊर्ध्वमूलमित्यादिभिस्त्रिभिः, संसार-  
रूपमश्वत्थमूर्ध्वमूलमधःशाखं प्राहुः—ऊर्ध्वं सर्वोपरिसत्यलोके  
'प्रधान'-बीजोत्थ-प्रथमप्ररोहरूप-महत्तत्त्वात्मक-चतुर्मुखरूपं मूलं  
यस्य तम्, अधः सत्यलोकादर्वाचीनेषु स्वभूवभूतल्लोकेषु  
देव-गन्धर्व-किन्नरासुर-यक्षराक्षस-मनुष्य-पशु-पक्षि-कीट-पतङ्ग-  
स्थावरान्ता नानादिक्प्रसृतत्वाच्छाखा यस्य तम्; चतु-  
र्वर्गफलाश्रयत्वादश्वत्थमुत्तमवृक्षम् । तादृशेन विवेकज्ञानेन विना  
निवृत्तेरभावादव्ययं प्रवाहरूपेण नित्यञ्च ; तमाहुः श्रुतयस्ताश्च-  
"ऊर्ध्वमूलोऽर्वाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः । ऊर्ध्वमूलम-  
र्वाक्शाखं वृक्षं यो वेद सम्प्रति ॥" इत्यादिकाः । यस्य संसा-  
राश्वत्थस्य छन्दसि काम्यकर्मप्रतिपादकानि श्रुतिवाक्यानि  
वासनारूप-तन्निदानवद्धकत्वात् पर्यानि प्राहुस्तानि च्छन्दांसि-

"वायव्यं श्वेतमालभेत, भूतिकाम ऐन्द्रमेकादशकपालं निर्व्वपेत  
प्रजाकामः" इत्यादीनि बोध्यानि ; परैस्तैरुवेद्धते शोभते च  
तमश्वत्थं यो वेद यथोक्तं जानाति, स एव वेदवित् ; वेदः खलु  
संसारस्य वृक्षत्वं छेद्यत्वाभिप्रायेणाह-तच्छेदनोपायज्ञो वेदार्थ-  
विदिति भावः ॥१॥

अथोर्ध्वं प्रसृतास्यस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।  
अथ मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धोनि मनुष्यलोके ॥२॥

मारा०ब०—अधः पश्चादियोनिषु ऊर्ध्वं देवादियोनिष्वप्रसृता-  
स्य संसारवृक्षस्य शाखा, गुणैः सत्त्वादिवृत्तिभिर्जलसेकैरिव  
प्रवृद्धा, विषयाः शब्दादयः प्रवालाः पल्लवस्थानीया यासां ताः ।  
किञ्च तस्य मूले सर्वलोकैरलक्षितो महानिधिः कश्चिदस्ती-  
त्यनुमीयते यमेव मूलजटाभिरवलम्ब्य स्थितस्य तस्याश्वत्थवृक्ष-  
स्यापि वटवृक्षस्येव शाखास्वापि बाह्या जटाः सन्तीत्याह-अध-  
श्चेति । प्रबल्लोकमूलस्यापि तस्याधश्च मनुष्यलोके कर्मानुबन्धिनी  
कर्मानुबन्धोनि मूलान्यनुसन्ततानि निरन्तरं विस्तृतानि  
यान्ति । कर्मफलानां यतस्ततो भोगान्ते पुनर्मनुष्यजन्मन्येव  
कर्मसु प्रवृत्तानि भवन्तीत्यर्थः ॥ २ ॥

गी०भू०—किञ्चाध इति । तस्योक्तलक्षणस्य संसाराश्वत्थस्य  
शाखा अध ऊर्ध्वं च प्रसृताः ; अधो मनुष्यपश्चादियोनिषु  
दुष्टैरुर्ध्वञ्च देवगन्धर्व्वादियोनिषु सुकृतैर्विस्तृताः ; गुणैः  
सत्त्वादिवृत्तिभिरम्बुनिपेकैरिव प्रवृद्धाः स्थौन्यभाजः ; विषयाः  
शब्दस्पर्शादयः प्रवालाः पल्लवा यासां ताः, शाखाप्रस्थानीयाभिः  
पौत्रादिवृत्तिभिर्योगादूरागाधिष्ठानत्वाच्च शब्दादीनां पल्लवस्था-  
नीयत्वं, तस्याश्वत्थस्याधश्च शब्दादूर्ध्वं चाबान्तराणि मूलान्यनु-  
सन्तानि विस्तृतानि सन्ति, तानि च तत्तद्भोगजनितरागद्वेषा-



दिवासनारूपाणि धर्माधर्मप्रवृत्तिकारित्वान्नूलतुल्यान्युच्यन्ते ; मुख्यं मूलं तादृक् चतुर्मुखस्तत्तादासनास्त्वबान्तरमूलानि न्यग्रो-  
धस्यैव जटोपजटावृन्दानीति भावः । तानि कीदृशानीत्याह-  
मनुष्यलोके कर्मानुबन्धीनि यतस्ततः कर्मफलभोगावसाने सति  
पुनर्मनुष्यलोके कर्महेतुभूतानि भवन्तीत्यर्थः ; स लोकः खलु  
कर्मभूमिरिति प्रसिद्धम् ॥२॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।  
अश्वत्थमेनं सुविरुद्धमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥३॥  
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यास्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।  
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥

सारांशः—किञ्चेह मनुष्यलोकेऽस्य रूपं स्वरूपं तथा  
सनिश्चयं नोपलभ्यते—सत्योऽयं मिथ्यायं नित्योऽयमिति वादिसत-  
वैविध्यादिति भावः । न चान्तोऽवसानोऽप्यन्तत्वान्न चादि-  
रनादित्वान्न च संप्रतिष्ठाश्रयः, किंवाधारः कोऽयमित्यपि नोप-  
लभ्यते तत्त्वज्ञानाभावादिति भावः । यथा तथायं भवतु  
जीवमात्रदुःखैकनिदानस्यास्य छेदकं शस्त्रमसङ्गं ज्ञात्वा तेनैव  
छित्त्वैवास्य मूलतलस्थो महानिधिरन्वेष्टव्य इत्याह—अश्वत्थमिति ।  
असङ्गोऽत्रानासक्तिः सर्वत्रवैराग्यमिति यावत् तेन शस्त्रेण  
कुठारेण छित्त्वा स्वतः पृथक्कृत्य ततस्तस्य मूलभूतं तत्पदं  
वस्तु महानिधिरूपं ब्रह्म परिमार्गितव्यमन्वेष्टव्यम् ; कीदृशं  
तदत आह—यस्मिन् गता यत् पदं प्राप्ताः सन्तो भूयो न  
निवर्तन्ते न चावर्तन्ते इत्यर्थः । अन्वेषणप्रकारमाह—यत एषा  
पुराणी चिरन्तनी संसारप्रवृत्तिः प्रसृता विस्तृता तमेवाद्यं  
पुरुषं प्रपद्ये भजामीति भक्त्यान्वेष्टव्यमित्यर्थः ॥ ३-४ ॥

गी०भू०—न रूपमिति—अस्याश्वत्थस्य रूपमिह मनुष्य-  
लोके तथा नोपलभ्यते, यथोद्ध्वमूलत्वादिधर्मैकतया मयोप-  
लभितम् ; न चास्यान्तो नाश उपलभ्यते—कथमयमनर्थजात-  
जटिलो विनश्येदिति न ज्ञायते, न चास्यादिकारणमुपलभ्यते—  
कुतोऽयमीदृशो जातोऽस्तीति, न चास्य संप्रतिष्ठा समाश्रयोऽप्यु-  
पलभ्यते—किं समाश्रयोऽयं सतिष्ठत इति । किन्तु ‘मनुष्योऽहं  
पुत्रो यज्ञदत्तास्य, पिता च देवदत्तस्य, तदनुरूपकर्मकारी सुखी  
दुःखी, चास्मिन् देशेऽस्मिन् ग्रामे निवसामि’ इत्येतावदेव विज्ञा-  
यत इत्यर्थः । यस्मादेवं दुर्वोधोऽनर्थव्रते हेतुआयमश्वत्थस्तस्मात्  
सत्प्रसङ्गलब्धवस्तुनाथात्म्यज्ञानेनैवमसङ्गशस्त्रेण वैराग्यकुठारेण  
दृढेन विवेकाभ्यासानिशितेन छित्त्वा स्वतः पृथक्कृत्य तत्पदं परि-  
मार्गितव्यमिति परेणान्वयः । सङ्गो विषयाभिलाषस्तद्विरोध्यसङ्गो  
वैराग्यं, तदेव शस्त्रं तदभिलाषनाशकत्वात् सुविरुद्धमूलं पूर्वो-  
क्तरीत्यात्यन्तं बद्धमूलम् । ततः संसाराश्वत्थमूलादुपरिस्थितं तत्पदं  
परिमार्गितव्यं—सत्प्रसङ्गलब्धैः श्रवणादिभिः साधनैरन्वेष्टव्यम् ।  
तत्पदं कीदृशम् ? तत्राह—यस्मिन्निति । यस्मिन् गतास्तैः साधनै-  
र्यत प्राप्ता जनास्ततो न निवर्तन्ते—स्वर्गादिव न पतन्ति । मार्ग-  
णोपाधिमाह—तमेवेति । यतः पुराणी चिरन्तनीयं जगत्प्रवृत्तिः  
प्रसृता विस्तृता, तमेव चाद्यं सर्वकारणं पुरुषं प्रपद्ये शरणं  
भजामीति प्रपत्तिपूर्वकैः श्रवणादिभिरनुमार्गणमुक्तम् । यो जग-  
द्वेतुर्यत्प्रपत्त्या संसारनिवृत्तिः, स खलु कृष्ण एव—‘अहं सर्वस्य  
प्रभवः’ इत्यादेः, ‘दैवी ह्येषा गुणमयी’ इत्यादेश्च तदुक्तेः, ‘न  
तद्वासयते’ इत्यादिना व्यक्तीभावेत्वाच्च ॥३-४॥

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।  
इन्द्रविमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥



सारा०ब०—तद्भक्तौ सत्यां जनाः कीदृशा भूत्वा तत्पदं प्राप्नुवन्तीत्यपेक्षायामाह—निर्म्मानेति । अध्यात्मनित्या अध्यात्म-विचारो नित्यो नित्यकर्त्तव्यो येषां ते परमात्मालोचनतत्पराः ॥१॥

गी०भू०—तत्प्रपत्तौ सत्यां कीदृशाः सन्तस्तत्पदं प्राप्नुवन्तीत्याह—निर्म्मानेति । मानः सत्कारजन्यो गर्वः, मोहो मिथ्याभिनिवेशस्ताभ्यां निर्गताः, जितः सङ्गदोषः प्रियभाष्यीदिस्नेहलक्षणो यैस्ते, अध्यात्मं स्वपरात्मविषयको विमर्शः स नित्यो नित्यकर्त्तव्यो येषां ते, सुखादिहेतुत्वात्तात्संज्ञैर्द्वन्द्वैः शीतोष्णादिभिर्विमुक्तास्तत्सहिष्णवः, अमूढाः-प्रपत्तिविधिज्ञाः ॥२॥

न तद्भसायते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥६॥

सारा०ब०—तत्पदमेव कीदृशमित्यपेक्षायामाह—न तदिति । औष्ण्यशैत्यादिदुःखरहितं तत् स्वप्रकाशमिति भावः । तन्मम परमं धाम सर्वोत्कृष्टमजडमतीन्द्रियं तेजः सर्वप्रकाशम् ; यदुक्तं हरिवंशे—“तत् परं परमं ब्रह्म सर्वं विभजते जगत् । ममेव तद्धनं तेजो ज्ञातुमर्हसि भारत ॥” इति ; न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥” इति श्रुतिभ्यश्च ॥ ६ ॥

गी०भू०—गन्तव्यं पदं विशिषन् परिचाययति—न तदिति । प्रपन्ना यद्गत्वा यतो न निवर्तन्ते, तन्ममैव धाम स्वरूपं परमं श्रीमत् । सर्ववभासका अपि सूर्यादयस्तत्र भासयन्ति प्रकाशयन्ति—“न तत्र सूर्यो भाति” इत्यादिश्रुतेश्च, सूर्यादिभिरप्रकाशयस्तेषां प्रकाशकः स्वप्रकाशक-चिद्विग्रहो लक्ष्मीपतिरहमेव पद-शब्दबोध्यः प्रपन्नैर्लभ्य इत्यर्थः ॥६॥

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।

मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥७॥

सारा०ब०—त्वद्भक्त्या संसारमतिक्राम्यन् तत्पदगामी जीवः क इत्यपेक्षायामाह—ममैवांश इति । यदुक्तं बाराहे—“स्वांशश्चाथ विभिन्नांश इति द्वेधा यमिष्यते । विभिन्नांशस्तु जीवः स्यात्” इति । सनातनो नित्यः स च बन्धदशायां मन एव षष्ठं येषां तानीन्द्रियाणि प्रकृतावुपाधौ स्थितानि कर्षति, ममैवेता-नीति स्वीयत्वाभिमानेन गृहीतां पादार्गलशृङ्खलामिव कर्षति ॥७॥

गी०भू०—ननु त्वत्प्रपत्त्या यस्तत्पदं याति, स जीवः क इत्यपेक्षायामाह—ममैवेति । जीवः सर्वेश्वरस्य ममैवांशो, न तु ब्रह्मरुद्रादेरीश्वरस्य, स च सनातनो नित्यो, न तु घटाकाशादिवत् कल्पितः, स च जीवलोके प्रपञ्चे स्थितो मनःषष्ठानीन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि कर्षति—पादादिशृङ्खला इव वहति, तानि कीदृशी-त्याह—प्रकृतिस्थानि प्रकृतिविकारभूताहङ्कारकार्याणीत्यर्थः । तत्र मनः सात्त्विकाहङ्कारस्य, श्रोत्रादिकं तु राजसाहङ्कारस्य कार्य-मिति बोध्यम् । भगवत्प्रपत्त्या प्राकृतकरणहीनो भगवन्नोक्तं गतस्तु भागवतैर्देहकरणैर्विभूषणैरिव विशिष्टो भगवन्तं संश्रयन् निवसतीति सूच्यते—“स वा एष ब्रह्मनिष्ठ इदं शरीरं मर्त्यमतिस्तुल्य ब्रह्माभिसंपद्य ब्रह्मणा पश्यति ब्रह्मणा शृणोति ब्रह्मणैवेदं सर्वं-मनुभवति” इति माध्यन्दिनायनश्रुतेः, “वसन्ति यत्र पुरुषाः सर्वं वैकुण्ठमूर्त्तीयः” इत्यादि स्मृतेश्च, भगवत्संकल्प-सिद्धचिद्विग्रहस्तत्र भवतीति । यत्तु घटाकाशबज्जलाकाशबद्धा जीवे ब्रह्म-णोऽंशोऽन्तःकरणेनावच्छेदात्तास्मिन् प्रतिबिम्बनाशाद्वा घटजल-नाशे तत्तदाकाशस्य शुद्धाकाशत्ववदन्तःकरणनाशे जीवांशस्य शुद्धब्रह्मत्वमिति वदन्ति, न तत्सारम्—‘जीवभूतः’ ‘ममांशः’ ‘सना-



ततः' इत्युक्तिव्याकोपात्, परिच्छेदादिवादद्वयस्य 'देहिनोऽस्मिन् यथा' इत्यत्र प्रत्याख्यानाच्च, प्रति विम्बसादृश्यात्, तत्त्वं मन्त-  
व्यमम्बुवदधिकरणविनिर्णयात् । तस्मात्, ब्रह्मोपसर्जनत्वं  
जीवस्य ब्रह्मांशत्वं विधुमण्डलस्य शतांशः शुक्रमण्डलमित्यादौ  
दृष्टं चेदमेकवस्त्वेकदेशत्वं चांशत्वमाहुः । ब्रह्म खलु शक्तिमदेकं  
वस्तु, ब्रह्मशक्तिः—'इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे परां जीवभूताम्'  
इति पूर्वोक्तेरतस्तदेकदेशात्तादंशो जीवः ॥७॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।

गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्वानिवाशयात् ॥८॥

सारा०ब०—तान्याकृष्य किं करोतीत्यपेक्षायामाह—शरीर-  
मिति । यत् स्थूलशरीरं कर्मवशादवाप्नोति, यच्च यस्माच्च  
शरीरादुत्क्रामति निष्क्रामति, ईश्वरो देहेन्द्रियादिस्वामी जीवः,  
तस्मात्तत्र एतानीन्द्रियाणि भूतसूक्ष्मैः सह गृहीत्वैव संयाति  
वायुर्गन्वानिवेति वायुर्यथाशयाद्गन्धाश्रयात् सकृच्चन्दनादेः  
सकाशात् सूक्ष्मावयवैः सह गन्वान् गृहीत्वान्यत्र याति तद्व-  
दित्यर्थः ॥ ८ ॥

गी०भू०—जीवलोके स्थित इन्द्रियाणि कर्षति इत्युक्तम् ;  
तत् प्रतिपादयति—शरीरमिति । ईश्वरः शरीरेन्द्रियाणां स्वामी  
जीवो यद्यदा पूर्वशरीरादन्यच्छरीरमवाप्नोति, यदा चाप्ता-  
च्छरीरादुत्क्रामति, तदैतानीन्द्रियाणि भूतसूक्ष्मैः सह गृहीत्वा  
यात्याशयात् पुष्पकोशाद्गन्वान् गृहीत्वा वायुरिव स यथान्यत्र  
याति, तद्वत् ॥८॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।

अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥९॥

सारा०ब०—तत्र गत्वा किं करोतीत्यत आह—श्रोत्रमिति । श्रोत्रा-  
दीनीन्द्रियाणि मनश्चाधिष्ठायान्ध्रित्य विषयान् शब्दादीनुप-  
मुक्ते ॥ ९ ॥

गी०भू०—तानि गृहीत्वा किमर्थं याति ? तत्राह—श्रोत्रमिति ।  
श्रोत्रादीनि समनस्कान्यधिष्ठायान्ध्रित्यायं जीवो विषयान् शब्दा-  
दीनुपमुक्ते—तदर्थं तद्ग्रहणमित्यर्थः । च-शब्दात् कर्म्मन्द्रियाणि  
च पञ्च प्राणाश्चाधिष्ठायेत्यवगम्यम् ॥९॥

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।

विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥

सारा०ब०—ननु यस्मात् देहान्निष्क्रामति यस्मिन् देहे वा  
स्थितं तत्र स्थित्वा वा यथा भोगान् भूङ्क्त इत्येवं विशेषं  
नोपलभामहे ? तत्राह—उत्क्रामन्तं देहान्निष्क्रामन्तम्, स्थितं  
देहान्तरे वर्त्तमानञ्च विषयान् भुञ्जानञ्च गुणान्वितमिन्द्रियादि-  
सहितं विमूढा अविवेकिनः ज्ञानचक्षुषो विवेकिनः ॥ १० ॥

गी०भू०—एवं शरीरस्थत्वेनानुभवयोग्यमविवेकिनस्तमा-  
त्मानं नानुभवन्तीत्याह—उदिति । शरीरादुत्क्रामन्तं तत्रैव स्थितं  
वा स्थित्वा विषयान् भुञ्जानं वा गुणान्वितं सुखदुःखमोहैरिन्द्रि-  
याभिर्व्वान्वितं युक्तमनुभवयोग्यमप्यात्मानं विमूढाश्चिरन्तन-  
वासनाकृष्टचित्ततया विवेकाशोग्या नानुपश्यन्ति नानुभवन्ति ।  
ज्ञानचक्षुषो विवेकज्ञाननेत्रास्तु तं पश्यन्ति—शरीरादिविविक्तमनु-  
भवन्ति ॥१०॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।

यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥

सारा०ब०—ते च विवेकिनो यतमाना योगिन एवेत्याह—



यतन्त इति । अकृतात्मानोऽशुद्धचित्ताः ॥ ११ ॥

गी०भू०—‘ज्ञानचक्षुषः पश्यन्ति’ इत्येतद्विवृत्तं दुर्ज्ञानतां तस्याह—यतन्त इति । केचिद्योगिनो यतमानाः श्रवणाद्युपायाननुतिष्ठन्त आत्मनि शरीरेऽवस्थितमेनमात्मानं पश्यन्ति, केचिद्यतमाना अप्यकृतात्मानोऽनिर्मलचित्ता अतोऽवचेतसोऽनुदितविवेकज्ञाना एनं न पश्यन्तीति दुर्ज्ञेयमात्मतत्त्वमित्यर्थः ॥ ११ ॥

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।

यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ १२ ॥

सारा०व०—तदेवं जीवस्य बद्धावस्थायां यत् यत् प्राप्य-वस्तु तत्राहमेव सूर्यचन्द्राद्यात्मकः सन्नपकरोमीत्याह—यदिति त्रिभिः । आदित्यस्थितं तेज एवोदयपर्वते प्रातरुदित्य जीवस्य दृष्टादृष्टभोगसाधनकर्मप्रवर्त्तनार्थं जगद्भासयत एवञ्च यच्चन्द्रमसि अग्नौ च तत्तादखिलं मामकमेव सूर्यादिसंज्ञोऽहमेव भवामीत्यर्थः । मत्तेजस एव तत्ताद्विभूतिरिति भावः ॥ १२ ॥

गी०भू०—अथ मदंशस्य जीवस्य संसाररक्तस्य सुमुक्तोऽश्रुभोगमोक्षसाधनमहमेवेति भावेनाह—यदिति चतुर्भिः । आदित्यस्थितं यत्तेजो यच्चन्द्रेऽग्नौ च स्थितं सत् सर्वं जगत् प्रकाशयति, तत्तेजो मामकं मदीयं विद्धि—उदितेन सूर्येण ज्वलितेन च बहिनादृष्टभोगसाधनानि कर्माणि निष्पद्यन्ते, तिमिरजाड्यनाशादयश्च सुखहेतवो भवन्ति । उदितेन चन्द्रेण चौषधिपोषतापशान्ति-ज्योत्स्नाविहारास्तथाभूता भवन्तीति तेषां तत्तात्साधकं तेजो मत्तेजोविभूतिरित्यर्थः ॥ १२ ॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।

पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ १३ ॥

सारा०व०—गां पृथ्वी ओजसा स्वशक्त्या आविश्य अधिष्ठाय अहमेव चराचराणि भूतानि धारयामि तथाहमेवा-मृतरसमयः सोमो भूत्वा ब्रीह्याद्यौषधीः संबर्द्धयामि ॥ १३ ॥

गी०भू०—गामिति । पांशुमुष्टितुल्यां गां पृथिवीमोजसा स्वशक्त्याऽमाविश्य दृढीकृत्य भूतानि स्थिरचराणि धारयामि, मन्त्रवर्णैश्चैवमाह—“येन द्यौरुमा पृथिवी च दृढा इति, अन्यथासौ सिकतामुष्टिवादिशीर्येत निमज्जेद्वेति भावः । तथाहमेव रसात्मकः सोमोऽमृतमयश्चन्द्रो भूत्वा सर्वा ओषधीनिखिला ब्रीह्याद्याः पुष्णामि—स्वादुर्विविधरसपूर्णाः करोमि । तथा च भूमिलोके स्थितस्य जीवस्य विविध-प्रासाद-वाटिका-तडागादि-क्रीडास्थानानि निर्माय नानारसान् भुञ्जानस्य तत्तात्साधनमहमेवेति ॥ १३ ॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।

प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥

सारा०व०—वैश्वानरो जठरानलः प्राणापानाभ्यां तदुद्दीपकाभ्यां सहितः चतुर्विधं भक्ष्यं भोज्यं लेह्यं चूष्यम्—भक्ष्यं दन्तछेद्यं भ्रष्टचणकादि, भोज्यं ओदनादि, लेह्यं गुडादि, चूष्यं इक्षुदण्डादि ॥ १४ ॥

गी०भू०—भोग्यानामन्नादीनां पाकहेतुश्चाहमेवेत्याह—अहमिति । वैश्वानरो जठराग्निस्तच्छरीरको भूत्वा प्राणिनां सर्वेषां देहमुदरमाश्रितः प्राणापानाभ्यां तदुद्दीपकाभ्यां समायुक्तश्च सन्नहं तैमुक्तं चतुर्विधमन्नं पचामि पाकं नयामि, श्रुतिश्चैवमाह—“अयमग्निवैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदं अन्नं पच्यते” इत्यादिना, तथा चाहमेव जाठराग्निशरीरस्तदुपकारीः येवमाह सूत्रकारः, “शब्दादिभ्योऽन्तः प्रतिष्ठानाच्च” इत्यादिना । अन्यस्य चतुर्विध्यं च-भक्ष्यं, भोज्यं, लेह्यं, चूष्यञ्चेति भेदात्-दन्त-



च्छेद्यं चणकपूपादि भक्ष्यं चर्यमिति चोच्यते, मोदकौदन-  
सूपादि भोज्यं, पायसगुडमध्वादि लेह्यं, पक्वाम्रेक्षुदण्डादि चूष्यं,  
सोमवैश्वानरयोः स्वाभेदेनोक्तः स्वव्याप्यत्वादिति बोध्यम् ॥१४॥

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५॥

सारा०ब०—यथैव जठरे जठराग्निरहं तथैव सर्वस्य चरा-  
चरस्य हृदि संनिविष्टो बुद्धितत्त्वरूपोऽहमेव यतः मत्तो बुद्धि-  
तत्त्वादेव पूर्वानुभूतार्थविषयानुस्मृतिर्भवति, तथा विषयेन्द्रिय-  
योगजं ज्ञानञ्च अपोहनं स्मृतिज्ञानयोरपगमश्च भवतीति । जीवस्य  
बन्धावस्थायां स्वस्योपकारकत्वमुक्त्वा मोक्षावस्थायां यत्प्राप्यं  
तत्राप्युपकारकत्वमाह-वेदैरिति । वेदव्यासद्वारा वेदान्तकृदहमेव  
यतो वेदाविद् वेदार्थतत्त्वज्ञोऽहमेव-मत्तोऽन्यो वेदार्थं न  
जानातीत्यर्थः ॥ १५ ॥

गी०भू०—प्राणिनां ज्ञानाज्ञानहेतुश्चाहमेवेत्याह-सर्वस्य चेति ।  
तयोः सामवैश्वानरयोः सर्वस्य च प्राणिवृन्दस्य हृदि निखिलप्रवृत्ति  
हेतु-ज्ञानोदयदेहेऽहमेव नियामकत्वेन संनिविष्टः—“अन्तःप्रविष्टः  
शास्ता जनानाम्” इत्यादिश्रवणात् । अतो मत्त एव सर्वस्य  
स्मृतिः पूर्वानुभूतवस्तुविषयानुसन्धिज्ञानञ्च विषयेन्द्रियसन्निकर्ष-  
जन्यं जायते, तयोरपोहनं प्रमोषश्च मत्तो भवति । एवमुक्तं  
उद्धवेन—“त्वत्तो ज्ञानं हि जीवानां प्रमोषस्तत्र शक्तिः” इति ।  
एवं सांसारिकभोगसाधनतां स्वस्योक्त्वा मोक्षसाधनतामाह-  
वेदैश्चेति । सर्वैर्निखिलैर्वेदैरहमेव सर्वेश्वरः सर्वशक्तिमान्  
कृष्णो वेद्यः, “योऽसौ सर्वैर्वेदैर्गीयते” इति श्रुतेः, अत्र कर्म-  
काण्डेन परम्परया ज्ञानकाण्डेन तु साक्षादिति बोध्यम् । कथं  
मेवं प्रत्येतव्यमिति चेत्तत्राह वेदान्तकृदहमेवेति । वेदानामन्तो-

अनिर्णयस्तत्कृदहमेव बादरायणात्मना । एवमाह सूत्रकारः—  
“तत् समन्वयात्” इत्यादिभिः । नन्वन्ये वेदार्थमन्यथा व्याच-  
र्यते ? तत्राह-वेदविदेव चाहमित्यहमेव वेदविदिति, बाद-  
रायणः सन् यमर्थमहं निरणैषं, स एव वेदार्थस्ततोऽन्यथा तु  
शान्तिविजृम्भित इति, तथा च मोक्षप्रदस्य सर्वेश्वरतत्त्वस्य  
वेदैर्बोधनादहमेव मोक्षसाधनमिति ॥ १५ ॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

सारा०ब०—यस्मादहमेव वेदवित् तस्मात् सर्ववेदार्थ-  
वित्कर्षं संक्षेपेण ब्रवीमि शृणु इत्याह-द्वाविमाविति त्रिभिः ।  
लोके चतुर्दशभूवनात्मके जड़प्रपञ्चे इमौ द्वौ पुरुषौ चेतनौ  
तः कौ तावत् आह-क्षरं स्वस्वरूपात् क्षरति विच्युतो भवतीति  
क्षरो जीवः, स्वस्वरूपात् क्षरतीत्यक्षर ब्रह्मैव,—“एतद्वै तदक्षरं  
गमि ब्राह्मणा विब्रदिषन्ति” इति श्रुतेः “अक्षरं ब्रह्म परमम्”  
इति स्मृतेश्च अक्षर-शब्दो ब्रह्मवाचक एव दृष्टः । क्षराक्षरयोरर्थ  
पुनर्विशदयति सर्वाणि भूतानि एको जीव एव अनाद्याविद्यया  
स्वरूपाविच्युतः सन् कर्मपरतन्त्रः समष्ट्यात्मको ब्रह्मादस्थाव-  
रान्तानि भूतानि भवतीत्यर्थः । जात्या वा एकवचनम् ।  
द्वितीयपुरुषोऽक्षरस्तु कूटस्थ एकेनैव स्वरूपेणाविच्युतिमता  
सर्वकलव्यापी । “एकरूपतया तु यः कालव्यापी स कूटस्थः”  
इत्यमरः ॥ १६ ॥

गी०भू०—बादरायणात्मना निर्णीतं वेदार्थं संक्षिप्याह-  
द्वाविति । ‘लोकयते तत्त्वमनेन’ इति व्युत्पत्तिलोके वेदे, द्वौ पुरुषौ  
प्रथितौ इमाविति प्रमाणसिद्धता सूच्यते । तौ कावित्याह-क्षर-  
श्चेति । शरीरक्षरणात् क्षरोऽनेकावस्थो ब्रह्मोऽचिदसंसर्गकधर्म-



सम्बन्धादेकत्वेन निर्दिष्टः, अक्षरस्तदभावादेकावस्थो मुक्तोऽचि-  
द्वियोगैकधर्मसम्बन्धादेकत्वेन निर्दिष्टः । क्षराक्षरौ स्फुटयति-  
सर्वाणि ब्रह्मादिस्तन्वान्तानि भूतानि क्षरः, कूटस्थः सदैकावस्थो  
मुक्तस्त्वक्षरः । एकत्वनिर्देशः प्रागुक्तयुक्तेर्बोध्यः—“बहवो ज्ञान-  
तपसा” इत्यादेः, “इदं ज्ञानमुपाश्रित्य” इत्यादेश्च बहुत्वसंख्याकः  
सः ॥१६॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।

यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥

सारा०व०—ज्ञानिभिरुपास्यं ब्रह्मोक्त्वा योगिभिरुपास्यं  
परमात्मानमाह—उत्तम इति । तु-शब्दः पूर्ववैशिष्ट्यद्योतकः ।  
ज्ञानिभ्यश्चाधिको योगीत्युपासकवैशिष्ट्यादेवोपास्यवैशिष्ट्यं च  
लभ्यते । परमात्मतत्त्वमेव दर्शयति—य ईश्वर ईशानशीलोऽव्ययो  
निर्विकार एव सन् लोकत्रयं कृत्स्नमाविश्य विभर्ति धारयति  
पालयति च ॥१७॥

गी०म०—यदर्थं द्वौ पुरुषौ निरूपितौ, तमाह—उत्तम इति ।  
अन्यः क्षराक्षराभ्यां, न तु तयोरेकैकः संकल्प इति भावः । तत्र  
श्रुतिसम्मातिमाह—परमात्मेति । उत्तमताप्रयोजकं धर्ममाह—यो  
लोकैत । न चैतज्जगद्विधारणपालनरूपमीशानं—बद्धस्य जीवस्य  
कर्मसिम्भवात्, न च मुक्तस्य “जगद्व्यापारवर्जम्” इति प्रति-  
पेधाच्च ॥१७॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

सारा०व०—योगिभिरुपास्यं परमात्मानमुक्त्वा भक्तेरुपास्यं  
भगवन्तं वदन् भगवत्त्वेऽपि स्वरय कृष्णस्वरूपस्य पुरुषोत्तम

इति नाम व्याचक्षाणः सर्वोत्कर्षमाह—यस्मादिति । क्षरं पुरुषं  
जीवात्मानम् अतीतः अक्षरात् पुरुषात् ब्रह्मत उत्तमादवि-  
क्षरात् परमात्मनः पुरुषादप्युत्तमः । “योगिनामपि सर्वेषां  
मदगतेनान्तरात्मना । श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो  
मतः ॥” इति उपासकवैशिष्ट्यादेवोपास्य-वैशिष्ट्यलाभात्, च-  
क्षराद्भगवतो वैकुण्ठनाथादेः सकाशादपि “एते चांशकलाः पुंसः  
शृणुस्तु भगवान् स्वयम्” इति सूताक्तेरहमुत्तमः । अत्र यद्यप्ये-  
वमेव सच्चिदानन्द-स्वरूपं वस्तु ब्रह्मपरमात्मभगवत्शब्दैरुच्यते,  
न तु वस्तुतः स्वरूपतः कोऽपि भेदोऽस्ति, “स्वरूपद्वयाभावात्”  
(भा ६।६।३५) इति षष्ठस्कन्धोक्तेः, तदपि तत्तादुपासकानां  
साधनतः फलनश्च भेददर्शनान् भेद इव व्यवहियते । तथा  
हि ब्रह्मपरमात्मभगवदुपासकानां क्रमेण तत्तात्प्राप्तिसाधनं ज्ञानं  
योगो भक्तिश्च, फलञ्च ज्ञानयोगयोर्वस्तुतो मोक्ष एव, भक्तेस्तु  
प्रेमवत् पार्षदत्वञ्च ; तत्र भक्त्या विना ज्ञानयोगाभ्यां “नैकर्म्य-  
संयच्युतभाववर्जितं न शोभते” इति, “पुरेह भूमन् बहवोऽपि  
योगिनः” इत्यादिदर्शनान् न मोक्ष इति । ब्रह्मोपासकैः परमात्मो-  
पासकैः स्वमाध्यफलसिद्धयर्थं भगवतो भक्तिरवश्यं कर्त्तव्यैव  
भगवदुपासकैस्तु स्वमाध्यफलसिद्धयर्थं न ब्रह्मोपासनापि परमात्मो-  
पासना क्रियते,—“न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह”  
इति, “यत् कर्मभिर्यत्तापसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्” इत्यादौ  
“सर्वं सद्भक्तियोगेन सद्भक्तो लभतेऽञ्जना । स्वर्गापवर्गं सद्भक्त-  
कथञ्चिद्यदि बाञ्छति ॥” इति, या वै साधनसम्पत्तिः पुरुषार्थ-  
चतुष्टये । तथा विना तदाप्नोति नरो नारायणाश्रयः ॥” इत्यादि  
वचनेभ्यः । अतएव भगवदुपासनया स्वर्गापवर्गप्रेमादीनि सर्व-  
फलान्येव लब्धुं शक्यन्ते । ब्रह्म-परात्मोपासनया तु न प्रेमादीनी-  
त्यत एव ब्रह्मपरमात्माभ्यां भगवदुत्कर्षः खलु अभेदेऽप्युच्यते ;



यथा तेजस्वेनाभेदेऽपि ज्योतिर्दीपाग्निपुञ्जेषु मध्ये शीताद्यार्त्ति-  
क्षयाद्धेतोरग्निपुञ्ज एव श्रैष्ठ्य उच्यते तत्रापि भगवतः श्रीकृष्णस्य  
तु परम एवोत्कर्षः, यथा अग्निपुञ्जादपि सूर्यस्य ; येन ब्रह्मो-  
पासनापरिपाकतो लभ्यो निव्वाण-मोक्षः स्वद्वेषूभयोऽप्यवक-  
जरमन्वादिभ्यो महापापिभ्यो दत्ता इति । अतएव “ब्रह्मणो  
हि प्रतिष्ठाहम्” इत्यत्र यथावदेव व्याख्यातं श्रीस्वामिचरणैः ।  
श्रीमधुसूदन-मरस्वतीपादैरपि “चिदानन्दाकारं जलदरुचिसारं  
श्रुतिगिरां, ब्रजस्त्रीणां हारं भवजलधिपारं कृतधियाम् । विहन्तुं  
भूभारं विदधद्वतारं मुहुरहो, ततो भारं बारं भजत कुशलारम्भ-  
कृतिनः ॥” इति, “वंशीबिभूषितकरान्नवनीरदाभात्, पीताम्बराद-  
रुणविम्बफलाधरोष्ठात् । पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्  
कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥” इति, “प्रमाण-  
तोऽपि निर्णयं कृष्णमाहात्म्यमद्भुतम् । न शङ्कुबन्ति ये सौढं,  
ते मूढा निरयं गताः ॥” इत्युक्तबद्धिः कृष्णो सर्वोत्कर्ष एव  
व्यवस्थापित इत्यतः “द्वाविमौ” इत्यादि श्लोकत्रयस्यास्य  
व्याख्यायामस्यामभ्यसूया नाविष्कर्त्ता ज्ञया नमोऽस्तु केवल-  
विद्वयः ॥ १८ ॥

गी०भू०—अथ पुरुषोत्तम-नाम-निर्वचनं स्वस्य तत्त्वमाह-  
यस्मादिति—उत्तम उत्कृष्टतमः । लोके पौरुषेयागमे—“लोक्यते  
वेदार्थोऽनेन” इति निरुक्तेः, वेदे—“तावदेव संप्रमादोऽस्माच्छरी-  
रात् समुत्थाय परं ज्योतीरूपं संपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते, स  
उत्तमः पुरुषः” इत्यादौ प्रथितः यत् परं ज्योतिः संप्रसादेतोष-  
सम्पन्नः, स उत्तमः पुरुषः परमात्मेत्यर्थः । लोके च—“तैर्विज्ञा-  
पितकार्यस्तु भगवान् पुरुषोत्तमः । अबतीर्णो महायोगी सत्य-  
वत्यां पराशरात्” इत्यादौ प्रथितः ॥ १८ ॥

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।  
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १९ ॥

मारा०ब०—नन्वेतस्मिन्स्वया व्यवस्थापितेऽप्यर्थे वादिनो  
विदन्त एव तत्र, विदन्तां ते मन्मायामोहिताः साधुस्तु न  
मुह्यतीत्याह—यो मामिति । असंमूढो वादिनां वादैरप्राप्तसंमोहः ।  
स एव सर्ववित् अनधीतशास्त्रोऽपि स एव सर्वेशास्त्रार्थ-  
तत्त्वज्ञः । तदन्यः किलाधीताध्यापितमर्ब्वशान्त्रोऽपि संमूढः  
सम्यङ्मूर्ख एवेति भावः । तथा य एवं जानाति, स एव मां  
सर्वतोभावेन भजति, तदन्यो भजन्नपि न मां भजतीत्यर्थः ॥ १९ ॥

गी०भू०—तात्पर्यद्योतनाय पुरुषोत्तमत्व-वेत्तुः फलमाह—  
यो मामिति । एवं मद्भुक्तनिरुक्त्या, न त्वश्वकर्णादिबन्त संज्ञामात्र-  
त्वेन, यो मां पुरुषोत्तमं जानात्यसंमूढः—प्रोक्ते पुरुषोत्तमत्वे  
संशयशून्यः सन्, स श्लोकत्रयस्यैवार्थं जानन् सर्ववित्, निखि-  
लस्य वेदस्य तत्रैव तात्पर्यात् । पुरुषोत्तमत्वज्ञो मां सर्वभावेन  
सर्वप्रकारेण भजत्युपास्ते । सर्ववेदार्थवेत्तरि सर्वभक्त्यङ्गानुष्ठा-  
तरि च यो मे प्रसादः, स तस्मिन् भवेदिति मे पुरुषोत्तमत्वे  
सन्निधानस्त्वधीतसर्ववेदोऽप्यज्ञः, सर्वथा भजन्नप्यभक्त इति  
भावः ॥ १९ ॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।

एतद्बुद्ध्या बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥ २० ॥

इति महाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि  
श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णा-  
र्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ।



सारा०ब०—अध्यायार्थमुपसंहरति—इतीति । विशत्या श्लोकै-  
रेभिरतिरहस्यं शास्त्रमेव सम्पूर्णं मयोक्तम् ॥ २० ॥

जडचेतन्यवर्गाणां विवृतं कुर्वता कृतम् ।  
कृष्ण एव महोत्कर्ष इत्यध्यायार्थ ईरितः ॥  
इति सारार्थवर्णिकां हर्षिकां भक्तचेतनाम् ।  
गीताम्बय पञ्चदशः सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥

गी०भ०—अथैतदपात्रेष्वप्रकाशयामिति भावेनाह—इतीति—  
इत्येवं संक्षेपरूपं पुरुषोत्तमत्व-निरूपकमिदं त्रिश्लोकीशास्त्रं तुभ्यं  
परमभक्ताय मयोक्तम् । हे अनघ ! त्वयाप्यपात्रेषु नैतत् प्रकाश-  
यामिति भावः । एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् परोक्षज्ञानी स्यात्, कृत-  
कृत्योऽपरोक्षज्ञानी चेति पुरुषोत्तमत्त्व-ज्ञानमभ्यर्च्यते ॥२०॥

बद्धान्मुक्ताश्च यः पुंसो भिन्नस्तद्भृत्तदुत्तमः ।  
स पुमान् हर्षिरेवेति प्राप्तं पञ्चदशादतः ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्भाष्ये पञ्चदशोऽध्यायः ।

### षोडशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच—

अमयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।  
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥  
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।  
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥२॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।

भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥

सारा०ब०—षोडशे सम्पदं दैवीमासुरीमप्यवर्णयत् ।

सर्गश्च द्विविधं दैवमासुरं प्रमुखयत् ॥

अन्तराध्याये “ऊर्ध्वमूलमधःशास्त्रम्” इत्यादिना वर्णितस्य  
संसारश्रवणवृक्षस्य फलानि न वर्णितानि इत्यनुस्मृत्यास्मिन्न-  
ध्याये तस्य द्विविधानं मोचकानि बन्धकानि च फलानि वर्ण-  
यिष्यन् प्रथमं मोचकान्याह—अभयमिति त्रिभिः । त्यक्तपुत्र-  
कलत्रादिक एकाकी निवृत्ते बने कथं जीविष्यामीति भयरा-  
हित्यमभयम् ; सत्त्वसंशुद्धिः चित्तप्रसादः ; ज्ञानयोगे ज्ञानो-  
पाये अमानित्वादौ व्यवास्थितिः परिनिष्ठा, दानं स्वभोग्यस्या-  
शादेः यथोचितं साविभागः, ‘दमो’ बाह्येन्द्रियसंयमः, ‘यज्ञो’  
देवपूजा, ‘स्वाध्यायः’ वेदपाठः आदीनि स्पष्टानि ; ‘त्यागः’  
पुत्रकलत्रादिषु समता-त्यागोऽलोलुप्त्वं लोभाभावः—एतानि  
षड्विंशतिरभयादीनि दैवी सार्विकी सम्पदमाभिलक्ष्य जातस्य  
सार्विक्याः सम्पदः प्राप्त्यव्यञ्जके क्षणे जन्म लब्धवतः पुंसो  
भवन्ति ॥ १-३ ॥

गी०भू०—दैवी तथासुरी कृष्णः सम्पदं षोडशेऽब्रवीत् ।

उपादेयत्वहेयत्वे बोधयन् क्रमतस्तयोः ॥

पूर्वत्र ‘अश्रवणमूलान्यनुसन्ततानि’ इत्यादिना प्राचीनकर्म-  
निमित्ताः शुभाशुभवासनाः संसारतरोरवान्तरमूलत्वेनोक्ताः ।  
एता एव नवमे दैव्यासुरी राक्षसी चेति प्राणिनां प्रकृतयो निग-  
दिताः । तत्र वैदिकार्थानुष्ठानहेतुः सार्विकी शुभवासना मोक्षो-  
पयोगिनी दैवी प्रकृतिः, तैवेह दैवीसम्पत्तारोरुपादेयं फलम् ।  
साभाविकरागद्वेषानुसारिणी सर्वानर्थहेतु राजसी तामसी



पापिनोऽपि मद्भक्तप्रसङ्गाद्विधूताविद्या विमुच्यन्त इत्याह-मां  
हीति । ये पापयोनयोऽन्त्यजाः सहजदुराचाराः स्युस्तेऽपि मद्भ-  
क्तप्रसङ्गेन मां सर्वेशं वसुदेवसुतं व्यपाश्रित्य शरणमागत्य परां  
योगिदुर्लभां गतिं मत्प्रापि यान्ति हि निश्चितमेतत् । एवमाह  
श्रीमान् शुकः-“किरातहृणान्धपुलिन्दपुक्कशा आभीरकङ्का यवनाः  
खशादयः । येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभ-  
विष्णवे नमः ॥” इति । स्यादयो येऽशुद्धचलीकादिमन्तस्ते-  
ऽपि ॥३२॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥

सारा०ब०-ततोऽपि किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्याः सत्कुलाः  
सदाचाराश्च ये भक्ताः ? तस्मात्त्वं मां भजस्व ॥ ३३ ॥

गी०भू०-किमिति । यद्येवं तर्हि ब्राह्मणा राजर्षयः क्षत्रि-  
याश्च सत्कुलाः पुण्याः सदाचारिणो भक्ताः सन्तः परां गतिं  
यान्तीति किं पुनर्ब्राह्मण्यम् ? नास्त्यत्र संशय-लेशोऽपि ; तस्मा-  
त्त्वमपि राजर्षिरिमं लोकं प्राप्य मां भजस्व अनित्यं नश्वरम-  
सुखमीषत्सुखं विनाशिन्यल्पसुखेऽस्मिन्लोके राज्यस्पृहां विहाय  
नित्यमनन्तानन्दं मामुपास्य प्राप्नुहीति त्वरात्र व्यज्यते । अत्रापि  
लोकस्थानित्यत्वं कण्ठतो ब्रुवन् हरिर्मिथ्यात्वं तस्य निरासात् ॥३३॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।

मामेवैष्यसि युक्तवैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

सारा०ब०-भजनप्रकारं दर्शयन्नुपसंहरति-मन्मना इति ।  
एवमात्मानं मनो देहञ्च युक्त्वा मयि नियोज्य ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्म-  
पर्वणि श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्री-  
कृष्णार्जुनसंवादे राजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ।  
सारा०ब०-पात्रापात्रविचारित्वं स्वस्पर्शात् सर्वशोधनम् ।

भक्तेरेवात्रैतदस्या राजगुह्यत्वमीक्ष्यते ॥

इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् ।

गीतासु नवमोऽध्यायः सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥

गी०भू०-अथ परिनिष्ठतस्यार्जुनस्याभीष्टां शुद्धां भक्तिमुपदि-  
शन्नुपसंहरति-मन्मना इति । राजभक्तोऽपि राजभृत्यः पत्न्या-  
दिमनास्तथा स तन्मना अपि न तद्भक्तो भवति ; त्वं तु तद्वि-  
लक्षणभावेन मन्मना मद्भक्तो भव मयि नीलोत्पलश्यामलत्वादि-  
गुणवति वसुदेवसूनौ स्वस्वामित्व-स्वपुमर्थत्वबुद्ध्यनवच्छिन्न-  
मधुधारावत् सततं मनो यस्य सः, तथा मद्याजी तादृश-  
स्यातिमात्रप्रियस्य ममर्चने निरतो भव ; तादृशं मामतिप्रेम्णा  
नमस्कुरु दण्डवत् प्रणम । एवमात्मानं मनो देहञ्च युक्त्वा मयि  
निवेश मत्परायणो मदेकाश्रयः सन् मामुपैष्यसि । एषा भक्ति-  
रपितैव क्रियेतेति बोध्यम् ॥३४॥

पात्रापात्रधिया शून्या स्पर्शात् सर्वाघनाशिनी ।

गङ्गेव भक्तिरेवेति राजगुह्यमिह स्मृता ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्भाष्ये नवमोऽध्यायः ।

दशमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच-

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।

यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥१॥



चाशुभवासना आसुरी राक्षसी च प्रकृतिनिरयनिपातोपयोगिनी  
सा, सा चासुर-सम्पत्तायोर्हेयं फलमित्येतद्वोधयितुं षोडशस्था-  
रम्भः । अत्र दैवी सम्पदं भगवानुवाच-अभयमित्यादिना  
त्रिकेण । चतुर्णामाश्रमाणां वर्णानाञ्च धर्माः क्रमादिह कथ्यन्ते ।  
सन्न्यासिनां तावदाह-अभयं निरुद्यमः कथमेकाकी जीविष्या-  
मीति भयशून्यत्वम्, सत्त्वसंशुद्धिः स्वाश्रमधर्मानुष्ठानेन मनो-  
नैर्मल्यम्, ज्ञानयोगे श्रवणादौ ज्ञानोपाये, व्यवास्थातः परि-  
निष्ठेति त्रयम्, अथ गृहस्थानामाह-दानं स्वभोग्यस्य न्याया-  
जितस्य अन्नादेः सत्पात्रे यथायोग्यं समर्पणम्, दमो बाह्ये-  
न्द्रियवर्गस्य यथायोग्यं संयमः, यज्ञोऽग्निहोत्रादेर्विहितस्यानुष्ठान-  
मिति त्रयम्, अथ ब्रह्मचारिणामाह-स्वाध्यायो ब्रह्मयज्ञः शक्ति-  
मतो भगवतः प्रतिपादकोऽयमपौरुषेयोऽक्षरराशिस्थितुस-  
न्धाय वेदभ्यासनिष्ठतेत्येकम्, अथ वानप्रस्थानामाहतप-  
इति, तच्च शरीरादित्रिभेदमित्यष्टादशे बध्यमाणां बोध्य-  
मित्येकम् अथ वर्णेषु विप्राणामाह-आर्जवं सारल्यम्, तच्च  
श्रद्धालुभूतषु स्वज्ञातार्थागोपनं ज्ञेयम्, अहिंसा प्राणिजीविका-  
नुच्छेदकता, सत्यमनर्थाननुबन्धयथाहृष्टार्थोवषयं वाक्यम्,  
अक्रोधो दुर्जनकृते स्वतिरस्कारेऽभ्युदितस्य कोपस्य निराधः,  
त्यागो दुरुक्तेरपि तत्राप्रकाशः, शान्तिर्मनसः संयमः, अपैशुनं  
परोक्षे परानर्थकारि वाक्याप्रकाशनम्, भूतेषु दया तद्दुःखा-  
सहिष्णुता, अलोलुप्त्वं निर्लोभता-पलोपश्रद्धादसः, मार्दवं कोम-  
लत्वं सत्पात्रसङ्गविच्छेदासहनम्, ह्यविकम्पणि लज्जा, अचा-  
पलं व्यथेक्रियाविरह इति द्वादश । अथ क्षत्रियाणामाह-तज-  
स्तुच्छजनानभिभाव्यत्वम्, क्षमा सत्यपि सामर्थ्ये स्वासमानं  
परिभावकं प्रति कोपानुदयः, धृतिः शरीरेन्द्रियेष्ववसन्नेष्वपि  
तदुत्तम्भकः प्रयत्नो येन तेषां नावसादः स्यादिति त्रयम् । अथ

वैश्यानामाह-शौचं व्यापारे बाणिज्ये मायानृतादि-राहित्यम्,  
अद्विष्टः पराजिघांसया खड्गाद्यभ्रदणमिति द्वयम् । अथ शूद्राणा-  
माह-नातिमानिता आत्मानं पूज्यत्वभावना-शून्यता विप्रादिषु  
विषु नम्रतेत्येकमिति षड्विंशतिः । एते तत्र तत्र प्रधानभूता  
शोध्य अनुक्तानामप्युपलक्षणार्थाः । देहारम्भकालोन्मुखैः सुकृ-  
तैर्व्यक्तां दैवीं शुभवासनामभिलक्षीकृत्य जातस्य पुरुषस्य भवान्त  
वदन्ते-“पुण्यः पुण्ये कर्मणा भवति पापः पापेन” इति श्रुतेः ।  
देवाः खलु परेशानुवृत्तिशीलास्तेषामियं सम्पदनया तत्प्रापक-  
जातमक्तिसम्भवात् ससारतगेरुपादेयं फलमेतत् ॥१-३॥

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।

अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥४॥

सारा०व०-बन्धकानि फलान्याह-‘दम्भः’ स्वस्याधार्मिक-  
त्वेऽपि धार्मिकत्वप्रख्यापनम्, ‘दर्पो’ धनविद्यादिहेतुको गर्वोऽ-  
भिमानोऽन्यकृतसम्पन्ननाकाङ्क्षित्वं कलत्रपुत्रादिप्राप्तिकर्तृ,  
‘क्रोधः’ प्रसिद्धः ‘पारुष्य’ निष्ठुरता, अज्ञानमभिवेकः, आसुरी-  
मियुपलक्षणं राक्षसामपि सम्पदमभिजातस्य राजस्यान्ताम-  
स्याश्च सम्पदः प्राप्तिसूचकक्षणे जन्मलब्धवतः पुंसः एतानि  
व्यादीनि भवन्तीत्यर्थः ॥ ४ ॥

गी०भू०-अथ नरकहेतुमासुरी सम्पदमाह-दम्भ इत्येकेन ।  
दम्भो धार्मिकत्वरूपानये धर्मानुष्ठानम्, दर्पो विद्याभिजनजन्यो  
गर्वः, अभिमानः स्वमित्रभयवृद्धिः, क्रोधः प्रसिद्धः, पारुष्यं  
व्यक्तं रुक्षभाषितम्, चकारश्चापलादेः समुच्चायकः, अज्ञानं  
व्याप्यकार्यविवेकशीलशून्यत्वम्, चकारोऽधृत्यादेः समुच्चायकः ।  
ते देहारम्भकालोन्मुखैर्दुष्कृतैर्व्यक्तामासुरीमशुभवासनामभि-  
जातस्य पुरुषस्य भवान्त-“पापः पापेन” इति श्रुतेः ॥४॥



दैवी सम्पद्धिमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।

मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥५॥

सारा०ब०—एतयोः सम्पदोः कार्यं दर्शयति-दैवीति । हन्त हन्त शरप्रहारैर्वन्धून् जिघांसोः पारुष्यक्रोधादिमतो ममैवेयमासुरीसम्पत् संसारबन्धप्रापका दृश्यत इति खिद्यन्तमञ्जुनमाश्वासयति--मा शुच इति । पाण्डवेति तब क्षत्रियकुलोत्पन्नस्य संप्रामे. पारुष्यक्रोधाद्याः धम्मेशास्त्रे बिहिता एव, तदन्यत्रैव ते हिंसाद्या आसुरी सम्पादति भावः ॥५॥

गी०भू०—एतयोः सम्पदोः फलभेदमाह-दैवीत्यर्द्धकेन सुटम । बाणवृष्ट्या पूज्यान् द्रोणादीन् जिघांसोः क्रोधपारुष्यवतो ममेयमासुरी सम्पन्नरकं जनयेदिति शोचयन्तं पार्थमालक्ष्याह-मा शुच इति । हे पाण्डवेति क्षत्रियस्य ते युद्धे बाणनिक्षेप-पारुष्यादिकं बिहितत्वात् दैव्येव सम्पत्तातोऽन्यत्र त्वासुरीति मा शुचः शोकं मा कुरु ॥५॥

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।

दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥६॥

सारा०ब०—तदपि विषण्णमञ्जुनं प्रति आसुरीसम्पदं प्रपञ्चयितुमाह--द्वाविति । विस्तरशः प्रोक्त इति अभयं सत्त्वमशुद्धिरित्यादि ॥६॥

गी०भू०—तथाप्यनिवृत्तशोकं तमालक्ष्यासुरी सम्पदं प्रपञ्चयति-द्वाविति । अस्मिन् कर्माधिकारिणि मनुष्यलोके द्विविधौ भूतसर्गौ मनुष्यसृष्टी भवतः । यदायं मनुष्यः शास्त्रात् स्वाभाविकौ रागद्वेषौ विनिर्धूय शास्त्रीयार्थानुष्ठायी तदा दैवः, यदा शास्त्रमुत्सृज्य स्वाभाविक-रागद्वेषार्थिनोऽशास्त्रीयान् धर्मानि

आचरति, तदा त्वासुरः. न हि धर्माधर्माभ्यामन्या कोटिस्तृतीयस्ति । अतिश्चैवमाह--“द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च” इत्यादिना । तत्र दैवो विस्तरशः प्रोक्तः ‘अभयम्’ इत्यादिना । अथासुरं शृणु विस्तरशो वक्ष्यामि ॥६॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।

न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥

सारा०ब०—धर्मे प्रवृत्तिम्, अधर्मान्निवृत्तिम् ॥७॥

गी०भू०—आसुरं मर्गमाह-प्रवृत्तिश्चेति द्वादशभिः । आसुरा जना धर्मे प्रवृत्तिमधर्मान्निवृत्तिश्च न जानन्ति, चकाराभ्यां तयोः प्रतिपादके विधिनिषेधवाक्ये च न जानन्ति-वेदेष्वास्थाभावादित्युक्तम् । तेषु शौचं बाह्याभ्यन्तरं न त्वप्रवृत्ति-तन्निवृत्त्युपयोगि न विद्यते । नाप्याचारो मन्वादिभिर्भुक्तः । न च सत्यं प्राणिहितानुबन्धि यथाहृद्यार्थेविषयवाक्यमिति गृत्रगोमायुवरोषा-मुपदेशादि ॥७॥

अन्तरमप्रतिष्ठं ते जगदादुरनीधरम् ।

अपरस्परसंभृतं किमन्यत्कामहेतुकम् ॥८॥

सारा०ब०—आसुराणां मतमाह--असत्यं मिथ्याभूतं प्रमोपलब्धमेव जगत्ते वदन्ति । ‘अप्रतिष्ठं’ प्रतिष्ठा आश्रय-स्तद्रहितम्,--न हि स्वपुष्पस्य किञ्चिदधिष्ठानमस्तीति भावः । अनीधरं मिथ्याभूतत्वादेवेश्वरकर्तृकमेतन्न भवति । स्वेद-जादीनामकस्मादेव जातत्वात् अपरस्परसंभूतमन्यत् किं वक्तव्यम् ? कामहेतुकं--कामो बादिनामिच्छैव हेतुर्यस्य तत् । मिथ्याभूतत्वादेव ये यथा कल्पयितुं शक्नुवन्ति, तथैवेतदिति । केचित् पुनरेवं व्याचक्षते-असत्यं नास्ति सत्यं



वेदपुराणानिकं प्रमाणं यत्र तत् ; तदुक्तम्— “त्रयो वेदस्य कर्तारो मुनिभण्डानिशाचराः” इत्यादि ; ‘अप्रतिष्ठ’ नास्ति धर्म्म-धर्म्मरूपा प्रतिष्ठा व्यवस्था यत्र तत् धर्म्मधर्म्मावपि भ्रमो-पलव्याविति भावः । ‘अनीश्वरम्’ ईश्वरोऽपि भ्रमेणैवोपलभ्यत इति भावः । ननु स्त्रीपुंमयोः परस्परप्रयत्नविशेषात् जगदिदम् उत्पन्नं दृश्यते तत्र नैतदपीत्याह—अपरस्परसम्भूतमिति । मातापितृभ्यां बालक उत्पद्यत इत्यापि भ्रम एव कुलालस्य घटोत्पादने ज्ञानमिव मातापित्रोस्त्वाहशबालोत्पादने किल नास्ति ज्ञानमिति भावः । किमन्यदन्यत् किं वक्तव्यमिति भावः । तस्मादिदं जगत् कामहेतुकं कामेन स्वेच्छयैव हेतुका हेतुकल्पका यत्र तत् ; युक्तिबलेन ये यत् परमाणुमायेश्वरा-दिकं जल्पयितुं शक्नुवन्ति ते तदेव तस्य हेतुं वदन्तीत्यर्थः ॥६॥

गी०भू०—तेषां सिद्धान्तान् दर्शयति तत्रैकजीववादिना-माह—असत्यमिति । इदं जगदमत्यं शुक्तिरजतादिबद्भ्रान्ति-विजृम्भितम् , अप्रतिष्ठं स्वपुष्पवन्निराश्रयम् , नाग्येवेश्वरो जन्नादिहेतुरस्य तत् । सोऽपि तद्वद्भ्रान्तिरचित एव, पार-मार्थिके तस्मिन् स्थिते तन्निर्मितजगत्तादृदृष्टनष्टप्रायं न स्यात् ; तस्मादमत्यं जगत् त एव मन्यन्ते । एकैव निर्विशेषा सर्व-प्रमाणावेद्या चिद्भ्रमादेको जीवन्ततोऽन्यज्जड़जावेश्वरात्मकं तदज्ञानात् प्रतिभाषते, आस्वरूपसाक्षात्कारादबिसम्बादि स्वा-प्रिकमिव हस्त्यश्वरथादिकमाजागरात् , सति च स्वरूपसाक्षात्कारे तदज्ञानकल्पितं तज्जीवत्वेन सह निवर्त्तते स्वाप्रिकरथाश्वादीव सुषुप्ताविति । अथ स्वभाव-वादिनां बौद्धानामाह—अपरस्पर-सम्भूतमिति स्त्रीपुरुषसम्भोगजन्यं जगन्न भवति घटोत्पादने कुलालस्येव बालोत्पादने पित्रादेर्ज्ञानाभावात् सत्यप्यसकृत्स-म्भोगे सन्तानानुत्पत्तेश्च स्वेदजादीनामकस्मादुत्पत्तेश्च, तस्मान्

स्वभावादेवेदं भवतीति । अथ लोकायतिकानामाह—कामहेतुक-मिति । किमन्यद्वाच्यम् ? स्त्रीपुरुषयोः काम एव प्रवाहात्मना हेतुरस्येति स्वार्थेऽथ , अथवा जैनानामाह—कामः स्वेच्छैव हेतु-स्येति । युक्तिबलेन यो यत् कल्पयितुं शक्नुयात् , स तदेव तस्य हेतुं वदतीत्यर्थः ॥६॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।

प्रभवन्त्युग्रकर्माणिः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥६॥

सारा०ब०—एवं वादिनोऽसुराः केचिन्नष्टात्मनः केचिदल्प-ज्ञानाः केचिदुग्रकर्माणिः स्वच्छन्दाचारा महानारकिनो भवन्ती-त्याह—एतामित्येकादशभिः । अवष्टभ्यालम्ब्य ॥६॥

गी०भू०—स्व-स्व-मतनिर्णायकानि दर्शनानि च तैः कृतानि यान्याम्याय जगद्विनश्यतीत्याह—एतामिति जात्यैकवचनम् । एतानि दर्शनान्यवष्टभ्यालम्ब्याल्पबुद्धयस्तुच्छमतयो नष्टात्मानोऽ-दृष्टदेहादिविविक्तात्मतत्त्वा उग्रकर्माणो हिंसा-पैशुन्यपारुष्यादि-कर्मनिष्ठा जगतोऽहिताः शत्रवश्च सन्तस्य क्षयाय प्रभवन्ति--परमार्थाज्जगद्भ्रंशयन्तीत्यर्थः ॥६॥

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।

मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचित्राः ॥१०॥

सारा०ब०—असद्ग्राहान् प्रवर्तन्ते कुमते एव प्रवृत्ता भवन्ति । अशुचीनि शौचाचारवर्जितानि व्रतानि येषां ते ॥१०॥

गी०भू०—अथ तेषां दुर्वृत्ततां दुराचारताञ्चाह—काममिति । दुष्पूरं कामं विषयतृष्णामाश्रित्य मोहात् तु शास्त्रादसद्ग्राहान् गृहीत्वाशुचित्रताः सन्तः प्रवर्तन्ते । असद्ग्राहान् दुष्टनकबदात्म-विनाशकान् कल्पितदेवता-तन्मन्त्र-तदाराधननिमित्तक-कामिनी-



पार्थिवनिध्याकर्षणरूपान् दुराग्रहानित्यर्थः, अशुचीनि श्मशान-  
निषेवण-मद्यमांसविषयाणि व्रतानि येषां ते ; दम्भेनाधर्मिष्ठत्वे-  
ऽपि धर्मिष्ठत्वं-रूपायनेन मानेनापूज्यत्वेऽपि पूज्यत्वं रूपायनेन मदे-  
नानुकृष्टत्वेऽप्युत्कृष्टवारोपणेन चान्विताः ॥१०॥

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।

कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११॥

सारा०ब०—प्रलयान्तां प्रलयां मरणं तत्पर्यन्ताम् । एता-  
वद्वितीन्द्रियाणि विषयसुखे मज्जन्तु नाम, का चिन्तेत्येतावदेव  
शास्त्रार्थतात्पर्यमिति निश्चितं येषां ते ॥११॥

गी०भू०—अपरिमेयामपरा प्रलयान्ताश्च मरणकालावधि-  
साध्यवस्तुविषयां चिन्तामुपाश्रितः कामोपभोगः सम्यग्विषयसे-  
वैव परमः पुमर्थो येषां ते ; एतावदेव कामोपभोगमात्रमेवैहिकम् ;  
न त्वतोऽन्यत् पारलौकिकं सुखमस्तीति कृतनिश्चयाः ॥११॥

आशापाशशतैर्वद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।

ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥१२॥

गी०भू०—आशेति स्पष्टम् । ईहन्ते कर्तुं चेष्टन्ते अन्यायेन  
कूटसाक्ष्येण चौर्येण च ॥१२॥

इदमद्य मया लब्धनिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।

इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥

अपौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।

ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्मुखी ॥

आढयोऽमिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।

यद्ये दास्यामि मादिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालममावृताः ।

प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥

सारा०ब०—अशुचौ नरके वैतरण्यादौ ॥१६॥

गी०भू०—तेषां धनाशानुवृत्ति मनोराज्योक्त्या विवृण्वन्  
नरकनिपातमाह—इदमिति चतुर्भिः । इदं क्षेत्रं पशुपुत्रादि मयैवाद्य  
स्वधी-बलेन लब्धम् ; इमं मनोरथं मनःप्रियमथेमहमेव स्वबलेन  
प्राप्स्यामि, स्वबलेनैव लब्धमिदं धनं मम सम्प्रत्यास्ति, इदमिष्य-  
माणं धनमागामिबर्षं मद्वलेनैव मे भविष्यति, न त्वद्वृत्तबलेन  
ईश्वरप्रसादेन वेत्यर्थः । एवं धनतृष्णां प्रपञ्च्य दुष्टं भावं प्रपञ्च-  
यति—असाविति । यज्ञदत्ताख्याऽसौ शत्रुर्मयातिबालिना हतः,  
अपरानपि शत्रूनहमेव हनिष्यामि, तेषां दारधनादि च नेष्यामीति  
व-शब्दात्—मत्तो न कोऽपि जीवेदिति भावः । नन्वीश्वरेच्छाम-  
ष्टं च कोचिज्जयहेतुमाहुस्तत्राह—अहमेवेश्वरः स्वतन्त्रो यदहं भोगी  
स्वतो निखिलभोगसम्पन्नः सिद्धोऽस्मीति, यदि कश्चिदीश्वरं वक्ष्य-  
यति, तर्हि स मामेवेश्वरं कल्पयतु, न तु मत्तोऽन्यमनुपलब्धे-  
रिति भावः । ननु सम्पदा कुलेन चान्ये त्वत्तमा बीक्ष्यन्ते तत्  
कथमीश्वरस्त्वामिति चेदाह—आढ्यः सम्पन्नः स्वतोऽहमस्म्यभि-  
जनवान् कुलीनश्च, न तु केनाचिन्निमित्तोनातो मत्तमदृशोऽन्यः  
कोऽस्ति—न कोऽप्यहमेवेश्वरः, अतोऽहं स्वबलेनैव यद्ये,  
दिव्याङ्गनानां सङ्गतिं करिष्ये, दास्यामि, तासामधरादि खण्ड-  
यिष्याम्येव मादिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः सन्तो नरके पतन्तीत्य-  
प्रमेयान्वयः । अनेकेषु चिरप्रयाससाध्येषु वस्तुषु यच्चित्तां, तेन  
विभ्रान्ता विक्षिप्ता मोहमयेन जालेन समावृता मत्स्या इव ततो  
निगन्तुमक्षमाः, कामभोगेषु प्रसक्ता मध्ये मृताः सन्तो नरके  
पतन्त्यशुचौ वैतरण्यादौ ॥१३-१६॥



आत्मसंभाविता स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।

यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥

सारांशः—आत्मनैव सम्भाविताः पूज्यतां नीता न तु साधुभिः कैश्चिदित्यर्थः । अतएव स्तब्धा अनम्राः । नाममात्रेणैव ये यज्ञास्ते नामयज्ञास्तैः ॥१७॥

गी०भू०—आत्मनैव सम्भाविताः श्रौष्ठ्यं नीताः, न तु शास्त्रज्ञैः साद्धः, स्तब्धाः अनम्राः, धनेन सम्पदा मानेन च परमहंसो महाश्रमणः श्रीपूज्यपादो महापूजाविदित्येवंलक्षणेन सत्कारेण यो मदो गर्वस्तेनान्विताः, नामयज्ञैर्नाममात्रेण यज्ञैः पूजाविधिभिः स्वकल्पिता देवता यजन्ते स्व-स्वकानां गृहिणामभ्युदयाय दम्भेन धम्भेध्वजित्वेन विशिष्टा विरक्तवेशाः सन्त इत्यर्थः । आविधिपूर्वकम् वेदाविहितं यथा भवति तथा ॥१७॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।

मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥

सारांशः—मां परमात्मानममानयन्त एव प्रद्विषन्तः, यद्वा आत्मपराः परमात्मपरायणाः साधवस्तेषां देहेषु स्थितं मां प्रद्विषन्तः साधुदेहदेषादेव मदद्वेष इति भावः । अभ्यसूयकाः साधूनां गुणेषु दोषारोपकाः ॥१८॥

गी०भू०—सर्वथा वेद-तत्प्रतिपाद्येश्वरावमन्तारस्त इत्याह-अहंकारमात । अहंकारादीन् संश्रितास्ते आत्मनः परेषाञ्च देहेषु नियामकतया भर्तृतया चावस्थितं मां सर्वेश्वरं मद्विषयकं वेदञ्च प्रद्विषन्तोऽब्रह्मयापकुर्वन्तो भवन्ति, अभ्यसूयकाः कुटिलयुक्तिभिर्मेम वेदस्य च गुणेषु दोषानारोपयन्तः । अहमेव स्वतन्त्रः करोमीत्यहङ्कारः, अहमेव पराक्रमीति बलम्, मत्तुल्यो

न कोऽप्यस्तीति दर्पः, यदिच्छैव सर्वसाधिकेति कामः, मत्प्रतीप-महमेव हनिष्यामीति क्रोधश्च ॥१८॥

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।

क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥

गी०भू०—एषामासुरस्वभावात् कचिदपि विमोक्षो न भवतीत्याह-तानिति ह्यभ्याम् । आसुरीष्वेव हि सातृष्णादियुक्तासु स्तेच्छव्याध-योनिषु तत्तत्कर्मणुगुणफलदः सर्वेश्वरोऽहमजस्रपुनः पुनः क्षिपामि ॥१९॥

आसुरो योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।

मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०॥

सारांशः—मामप्राप्यैवेति, न तु मां प्राप्येति । वैवस्वत-मन्वन्तरीयाष्टाविंशचतुर्युगद्वापरान्तेऽवतीर्णं मां कृष्णं कंसादिरूपास्ते प्राप्य प्रद्विषन्तोऽपि मुक्तिमेव प्राप्नुवन्तीति भक्तिज्ञान-परिपाकतो लभ्यामपि मुक्तिं तादृशपापिभ्योऽप्यहमपारकृपासिन्धु-र्ददामि । “निभृत-मरुन्मोऽक्षदृढयोगयुजो हृदि यन्मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात्” इति श्रुतयोऽप्याहुः । अतः पूर्वोक्तो ममैव सर्वोत्कर्षो बरीवर्तीति भागवतामृतकारिका यथा—“मां कृष्णरूपिणं यावन्प्राप्नुवन्ति मम द्विषः । तावदेवाधमां योनिं प्राप्नुवन्तीति हि स्फुटम् ॥” इति ॥२०॥

गी०भू०—ननु बहुजन्मान्ते तेषां कदाचित्त्वदनुकम्पया-सुरयोनेर्बिमुक्तिः स्यादिति चेत्तत्राह-आसुरीमिति । ते मूढा जन्मन्यासुरीयोनिमापन्ना मामप्राप्यैव ततोऽप्यधमामतिनिकृष्टां आदियोनिं यान्ति ; मामप्राप्यैव, अत्र एवकारेण मदनुकम्पयाः सम्भावनापि नास्ति । तल्लाभोपाययोग्या सज्जातिरपि दुर्लभेति,



श्रुतिश्चैवमाह—“अथ व.पूयचरणा अभ्यासो ह यत्ते कपूयां योनि-  
मापद्येरन् श्रयोनि वा शूकरयोनि वा चाण्डालयोनि वा” इत्या-  
दिका । नन्वीश्वरः सत्यसंकल्पत्वादयोग्यस्यापि योग्यतां शक्नु-  
यात् कर्त्तुमिति चेत्, शक्नुयादेव ; यदि संकल्पयेत् बीजा-  
भावान्न संकल्पयतीत्यतस्तस्या वैषम्यमाह सूत्रकारः—“वैषम्य-  
नेष्टुण्येन” इत्यादिना ; ततश्च ‘तानहम्’ इत्यादद्वयं सूपपन्नम् ।  
एते नास्तिकाः सर्व्वदा नाराकनो दर्शिताः ; ये तु शापादसुरा-  
स्तदनुयायिनश्च राजन्याः प्रत्यक्षे उपेन्द्रनृहरि-बराहादौ विष्णौ  
स्वशत्रु-पक्षत्वेन विद्वेषिणोऽपि वेदवैदिककर्मपराः सर्व्वनि-  
यन्तारं कालशक्तिकमप्रत्यक्षं सर्व्वेश्वरं मन्यन्ते, ते तूपेन्द्रादि-  
भिर्निहताः क्रमात् त्यजन्त्यासुरीयोनिम्, कृष्णेन निहतास्तु  
विमुच्यन्ते चेति, न ते वेद बाह्याः ॥२०॥

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।

कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥

सारा०ब०—तदेवमासुरीः सम्पत्तीर्विस्तार्य्य प्रोक्ता इत्यतः  
साधूक्तम्—‘मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि भारत’ इति,  
किवासुराणामेतत्त्रयमेव स्वाभाविकमित्याह—त्रिविधमिति ॥२१॥

गी०भू०—नन्वासुरीं प्रकृतिं नरकहेतुं श्रुत्वा ये मनुष्यास्तां  
परिहर्त्तुमिच्छन्ति, तैः किमनुष्ठेयमिति चेत्तत्राह—त्रिविधमिति-  
एतत्त्रयपरिहारे तस्याः परिहारः स्यादित्यथेः ॥२१॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।

आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥२२॥

गी०भू०—तस्यागे फलमाह—एतैरिति । श्रेयः स्वाश्रम-  
कर्मणादश्रेयःसाधनम्, परां गतिं मुक्तम् ॥२२॥

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामचारतः ।

न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥

सारा०ब०—आस्तिक्यवत एव श्रेय इत्याह—य इति - काम-  
चारतः ॥२३॥

गी०भू०—कामादित्यागः स्वधर्माद्विना न भवेत्, स्वधर्मश्च  
शास्त्राद्विना न सिध्येदतः शास्त्रमेवास्थेयं सुधियेत्याह—य इति ।  
कामचारतः स्वाच्छन्दचेन यो वर्तते—विहितमपि न करोति,  
निषिद्धमपि करोतीत्यर्थः, स सिद्धिं पुमर्थोपायभूतां हृद्विशुद्धिं  
नैवाप्नोति, सुखमुपशमात्मकं च परां गतिं मुक्तिं कुतो वाप्नु-  
यात् ॥२३॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥२४॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्म-  
पर्व्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे  
श्रीकृष्णाञ्जुनसंवादे दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम  
षोडशोऽध्यायः ।

—ॐ—

सारा०ब०—आस्तिका एव बिन्दन्ति सद्गतिं सन्त एव ते ।

नास्तिका नरकं यान्तीत्यध्यायार्थो निरूपितः ॥ (२)

इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् ।

गीतासु षोडशोऽध्यायः सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥ (३)

—ॐ—

गी०भू०—यस्माच्छास्त्रविमुखतया कामाद्यधीना प्रवृत्तिः  
पुमर्थोद्विधं शयति, तस्मात्ताव कार्याकार्यव्यवस्थितौ किं कर्त्तव्यं



किमकर्त्तव्यमित्यस्मिन् विषये निर्दोषमपौरुषेयं वेदरूपं शास्त्रमेव प्रमाणम्, न तु भ्रमादिदोषवता पुरुषेणोत्प्रेक्षितं वाक्यम् । अतः शास्त्रविधानेन कुर्यान्न कुर्यादिति प्रवर्त्तनानिबर्त्तनात्मकेन लिङ्ग-तव्यादि-पदेनोक्तम् । कर्म विहितं निषिद्धञ्च ज्ञात्वा निषिद्धं तत् परित्यजन् इह कर्मभूमौ विहितकर्मभिर्निहोत्रादि युद्धादि च कर्त्तुमर्हसि लोकसंग्रहाय ॥२४॥

वेदार्थनैष्ठिका यन्ति स्वर्गं मोक्षञ्च शाश्वतम् ।

वेदबाह्यास्तु नरकानिति षोडशनिर्णयः ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्भाष्ये षोडशोऽध्यायः ।

—❦❦❦—

### सप्तदशोऽध्यायः

—❦❦❦—

अर्जुन उवाच—

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।

तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥१॥

सारा०ब०—अथ सप्तदशे वस्तु सात्त्विकं राजसं तथा ।

तामसञ्च विबर्त्तितं पार्थप्रश्नोत्तरं यथा ॥ (१)

नन्वासुरसर्गमुक्त्वा तदुपसंहारे “यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामचारतः । न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥” इति त्वयोक्तम्, तत्राहमिदं जिज्ञास इत्याह-य इति । ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य कामचारतो वर्त्तन्ते, किन्तु कामभोगरहिता एव श्रद्धयान्विताः सन्तो यजन्ते तपोयज्ञज्ञानयज्ञजपयज्ञादिकं कुर्वन्ति, तेषां का निष्ठा स्थितिः किमालम्बनमित्यर्थः । तत् किं सत्त्वम्, आहोस्वित् रज अथवा तमस्तद्ब्रूहीत्यर्थः ॥१॥

गी०भू०—सात्त्विकं राजसं वस्तु तामसञ्च विवेकतः ।

कृष्णः सप्तदशोऽवादीत पार्थप्रश्नानुसारतः ॥

वेदमधीत्य तद्विधिना तदर्थानुतिष्ठन्तः शास्त्रीयश्रद्धायुक्ता देवाः, वेदमवज्ञाय यथेच्छाचारिणो वेदबाह्यास्त्वासुरा इति पूर्वस्मिन्न-ध्याये त्वयोक्तम् । अथेयं मे जिज्ञासा-ये शास्त्रेति । ये जनाः पाठतोऽर्थतश्च दुर्गमं वेदं विदित्वा लस्यादिना तद्विधिमुत्सृज्य लोकाचारजातया श्रद्धयान्विताः सन्तो देवादीन् यजन्ते, तेषां शास्त्रविध्युपेक्षा-श्रद्धाभ्यां पूर्वनिर्णीतदेवासुरबिलक्षणानां का निष्ठा ? सत्त्वं संश्रया तेषां स्थितिरथवा रजस्तमः-संश्रयेति कोटि-दयावबोधायाहो-शब्दो मध्ये निवेशितः ॥१॥

श्रीभगवानुवाच—

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।

सात्त्विकी राजसी चैव ताममी चेति तां शृणु ॥२॥

सारा०ब०—भो अर्जुन ! प्रथमं शास्त्रविधिमनुत्सृज्य यजतां निष्ठां शृणु, पश्चात् शास्त्रावधित्यागिनां निष्ठां ते ब्रूयामीत्याह-त्रिविधेति । स्वभावः प्राचीनसंस्कारविशेषस्तस्माज्जाता श्रद्धा, सा च त्रिविधा ॥२॥

गी०भू०—एवं पृष्ठो भगवानुवाच-त्रिविधेति । आलस्यात् केशाच्च शास्त्रविधिमुत्सृज्य ये श्रद्धया देवादीन् यजन्ते देहिनाः, सा तेषां स्वभावजा बोध्या, प्राक्तनः शुभाशुभसंस्कारः स्वभावस्त-माज्जातेत्यर्थः । अनादित्रिगुणप्रकृतिसंस्पृष्टानां देहिनामनादितो-जुवृत्तस्य संसारस्य सात्त्विकत्वादिना त्रैविध्यात्तज्जातश्रद्धापि त्रिविधेत्याह-सात्त्विकीत्यादि । स्वभावमन्यथयितुं समर्था खलु बहुपदिप्रशास्त्रजन्या विवेकसन्वित्, सा तेषां नास्त्यतः स्वभावजा श्रद्धा त्रिविधा भवति । तादृक्शास्त्रजन्या श्रद्धा त्वन्यैव यथा



तदुक्तिविधिर्नैव तदर्थानुष्ठानम् ॥२॥

सत्त्वानुरुपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥३॥

सारा०ब०—सत्त्वमन्तःकरणं त्रिविधम्-सात्त्विकं राजसं तामसञ्च, तदनुरुपा सात्त्विकान्तःकरणानां सात्त्विक्येव श्रद्धा, राजमान्तःकरणानां राजस्येव, तामसान्तःकरणानां तामस्येवेत्यर्थः । यच्छ्रद्धो यस्मिन् यजनीये देवेऽसुरे राक्षसे वा श्रद्धावान् यो भवति, स एव भवति तत्तच्छ्रद्धेनैव व्यपदिश्यत इत्यर्थः ॥३॥

गी०भू०—यद्यपि श्रद्धा सत्त्वगुणवृत्तिस्तथाप्यन्तःकरणधर्मस्य स्वभावस्यान्तःकरणस्य च धर्मिणस्त्वैविध्यात्तदुदितायास्तस्यास्त्रैविध्यं सिद्धेदिति भावेनाह-सत्त्वानुरुपेति । सत्त्वमन्तःकरणं त्रिगुणात्मकं, तदनुरुपा सर्वस्य प्राणिजातस्य श्रद्धा भवति, सत्त्वप्रधानान्तःकरणस्य श्रद्धा सात्त्विकी, रजःप्रधानान्तःकरणस्य राजसी, तमःप्रधानान्तःकरणस्य तु तामसीति । अतोऽयं पूज्यपूजकरूपो लौकिकः पुरुषः श्रद्धामयस्त्रिविधश्रद्धा-प्रचुरो यः पुरुषो यच्छ्रद्धो यस्मिन् पूज्ये देवादौ यक्षादौ प्रेतादौ च श्रद्धावान् भवति, स पूजकोऽपि, स एव तत्तच्छ्रद्धेन व्यपदेश्य पूज्यगुणवान् पूजक इत्यर्थः ॥३॥

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।

प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥४॥

सारा०ब०—उक्तमर्थं स्पष्टयति-सात्त्विकान्तःकरणाः सात्त्विक्या श्रद्धया सात्त्विकशास्त्रविधिना सात्त्विकान् देवानेव यजन्ते, देवेष्वेव श्रद्धावत्त्वाद्देवा एवोच्यन्ते । एवं राजसा राजसान्तः-

करणा इत्यादि विवरितव्यम् ॥४॥

गी०भू०—कार्यभेदेन सात्त्विकादिभेदं प्रपञ्चयति-यजन्त इति । शास्त्रीयाविवेकसम्बद्धिहीना ये जनाः स्वभावजया श्रद्धया देवान् सात्त्विकान् वसुरुद्रादीन् यजन्ते, तेऽन्ये सात्त्विकाः, ये यक्षरक्षांसि कुबेरानिर्ऋत्यादीनि राजसान् यजन्ते, तेऽन्ये राजसाः, ये प्रेतान् भूतगणांश्च तमसा यजन्ते, तेऽन्ये तामसाः । द्विजाः स्वधर्मविभ्रष्टा देहपातोत्तरलब्धवायवीयदेहा उत्कामुखवटपूतनादिसंज्ञाः प्रेता मनूक्ताः पिशाचविशेषा चेति व्याख्यातारश्चात् सप्तमातृकादयः । एवमालस्यात्त्यक्तवेदाविधीनां स्वभावान् सात्त्विकताया निरूपिताः, एते च बलबद्धौदिकसत्प्रसङ्गात् स्वभावान् विजित्य कदाचिद्देवेऽप्यधिकृतो भवन्तीति बोध्यम् ॥४॥

अशास्त्रविहितं धोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।

दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥५॥

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।

मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्निद्वयासुरनिश्चयान् ॥६॥

सारा०ब०—यत्तया पृष्टं—“ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य कामभोगरहिताः ) श्रद्धया यजन्ते तेषां का निष्ठा” इति, तस्योत्तरमधुना शृण्वत्याह-अशास्त्रेति द्वाभ्याम् । धोरं प्राणिभयकरं तपस्तप्यन्ते कुर्वन्तीत्युपलक्षणमिदं जपयागादिकमप्यशास्त्रीयं कुर्वन्ति । कामाचरण-राहित्यं श्रद्धान्वितत्वञ्च स्वत एव लभ्यते । दम्भाहंकारसंयुक्ता इति—दम्भाहंकाराभ्यां विना शास्त्रविध्युल्लङ्घनानुपपत्तेः ; कामः स्वस्याजरामरत्वराज्याद्यभिलाषः, रागस्तपस्यासक्तिः, बलं हिरण्यकशिपुप्रभृतीनामिव तपःकरणसामर्थ्यं तैरन्विताः शरीरस्थमारम्भकत्वेन देहस्थितम् । भूतानां पृथिव्यादीनां मामं समूहं कर्षयन्तः कृशीकुर्वन्तो



माञ्च मदंशभूतं जीवञ्च दुःखयन्तः । आसुरनिश्चयान् असुरा-  
णामेव निष्ठायां स्थितानित्यर्थः ॥ ५-६ ॥

गी०भू०—वेदवाह्यानां कदाचिदपि दुर्गतेर्निस्तारो नेति  
पूर्वाध्यायोक्तं दृढयन्नाह-अशास्त्रेति द्वाभ्याम् । अशास्त्रेण  
वेदविरुद्धेन स्वागमेन विहितं घोरं परपीडकं तपो ये तप्यन्ते  
कुर्वन्ति कामरागो विषयस्पृहा बलं च मया शक्यमेतत् सिद्धं  
कर्तुमिति दुराग्रहः शरीरस्थमारम्भकतया शरीरे स्थितं भूतप्राप्तं  
पृथिव्यादिसंघातं कर्षयन्तो वृथोपवांसादिना कृशं कुर्वन्तो-  
ऽन्तः-शरीरस्थं शरीरमध्यगतान्तर्यामिणं मां चावज्ञया कर्षयन्तो-  
ऽचेतसः शास्त्रीयविवेकसम्बिद्धिहीनास्तान् वेदवाह्यानासुरनिश्च-  
यान् निश्चयेनासुरान् विद्धोति पूर्वोक्तानां तेषां दुर्गतिरवर्जनी-  
यैवेति भावः । स्वभावजया श्रद्धया यत्तद्विषयः प्रेतादीन् यजतां  
बलबद्धैदिकसदनुग्रहे सति शास्त्रीयश्रद्धयासुरभावविनाशः स्या-  
देव, देवान् यजतां तु वस्तुतः सात्त्विकत्वात्तदनुग्रहे सति शास्त्रीया  
सुलभेति स्थितम् ॥ ५-६ ॥

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।

यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥

सारा०ब०—तदेवं ये शास्त्रविधित्यागिनः कामचारेण वर्तन्ते  
पूर्वाध्यायोक्ता ये चास्मिन्नध्याये आसुरशास्त्रविधिना यत्तद्विषयः  
प्रेतादीन् यजन्ते, ये चाशास्त्रीयं तप-आदिकं कुर्वन्ति ते सर्वे  
आसुरसर्गमध्यगता एव भवन्तीति प्रकरणार्थः तथाप्याहारादीनां  
वक्ष्यमाणानां त्रैविध्यात्तद्वतां यथायोगं दैवमासुरश्च सर्गं स्वयमेव  
विबिच्य जानीत्याह--आहारस्त्वित्यादि-त्रयोदशभिः ॥ ७ ॥

गी०भू०—एवं स्थिते तदाहारादीनामपि त्रैविध्यमाह--  
आहारस्त्विति । श्रद्धावत् सर्वस्य प्रियोऽन्नादिराहारोऽपि

त्रिविधो भवति, एवं यज्ञादीनि च त्रिविधानि । तेषामाहारा-  
दीनां चतुर्णाम् ॥ ७ ॥

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्द्धनाः ।

स्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ ८ ॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः

आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।

उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥

सारा०ब०—आयुरिति—सात्त्विकाहारबतामायुर्वर्द्धत इति  
प्रसिद्धः, सत्त्वमुत्साहो रस्या इति केवलगुडादीनां रस्यत्वेऽपि  
सत्त्वमत आह-स्निग्धा इति, दुग्धफेनादीनां रस्यत्वस्निग्धत्वे-  
ऽप्यस्यैवमत आह-स्थिरा इति, पनसफलादीनां रस्यत्वस्निग्ध-  
त्वास्थिरत्वेऽपि हृदुदराद्यहितत्वमत आह-हृद्या हृदुदर-हिता  
इति, तेन स-गव्यशर्करा शालिगोधुमान्नादय एव रस्यत्वादि-  
चतुष्टयगुणवत्त्वात् सात्त्विकलोकप्रिया ज्ञेयास्तेषां प्रियत्वे सत्येव  
सात्त्विकत्वञ्च ज्ञेयम् । किञ्च, गुणचतुष्टयवत्त्वेऽप्यपावित्र्ये सति  
सात्त्विकप्रियतादर्शनादत्र पावित्र्या इत्यपि विशेषणं देयम्,  
तामसाप्रियेष्वामेध्य-पद-दर्शनात् ॥ ८ ॥

सारा०ब०—आति-शब्दः कट्वादिषु सप्तस्वपि सम्बध्यते ।  
प्रतिकटुनिम्बादिरस्यम्ललवणोष्णः प्रांसद्ध एवातितीक्ष्णो मूलि-  
कावषादर्मरीच्याद्या वा, अतिरूक्षो हिङ्गुको द्रवादिर्विदाही  
राहकरो भृष्टचणकादिः एते दुःखादिप्रदाः । तत्र दुःखं तात्-  
कालिको रसनाकण्ठादिसन्तापः शोकः पञ्चाङ्गाविदोर्मनस्य-  
सामयो रोगः ॥ ९ ॥



सारा०ब०—यातो यामः प्रहरो यस्य पक्वस्योदनादेस्तद्या-  
तयामं शैत्यावस्थां प्राप्तमित्यर्थः, गतरसं त्यक्तस्वाभाविकरसं  
निष्पीडितरसं पक्वाम्रत्वगृष्ट्यादिकं वा, पूति दुर्गन्धम्, पर्युषितं  
दिनान्तरं पक्वमुच्छिष्टं गुर्व्यादिभ्योऽन्येषां भुक्तावशिष्टममेध्यम-  
मद्यं कलञ्जाद । ततश्चैवं पर्यालोच्य स्वहितैषिभिः सात्त्विक-  
काहार एव सेव्य इति भावः । वैष्णवैस्तु सोऽपि भगवद-  
निवेदितस्त्याज्य एव, भगवान्नोदतमन्नादिकन्तु निर्गुणभक्त-  
लोकप्रियमिति श्रीभागवताज्ज्ञेयम् ॥ १० ॥

गी०भू०—तत्र सात्त्विकाहारमाह—आयुरिति । आयुश्चर-  
जीवनं सत्त्वं चित्तधैर्यं बलं देहसामर्थ्यं सुखं तृप्तिः प्रीतिरभि-  
रुचिः । एतासां विबद्धानां रस्यत्वादिगुणबन्तः सगव्यशर्कराः  
शालिगोधूमादयः सात्त्विकानां प्रियास्तरुपादेया इत्यर्थः । रस्या  
इति नीरसानां चणकादीनां, स्निग्धा इति रुक्षाणां गुडादीनां,  
स्थिरा इत्यस्थिराणां, दुग्धफेनादीनां, हृद्येत्यहृद्यानां पनसफला-  
दीनाञ्च व्यावृत्तिः, क्षुद्रदराद्यहितत्वमहृद्यत्वम् । अत्र पवित्रा  
इति ज्ञेयं—तामसपिषेणमेध्यपदं दर्शनात् । राजसाहारमाह-  
कटिबति । सप्तस्वतिशब्दो योज्यः । आतकदुर्गिति तित्तो निम्बा-  
दिने च मारिचादिस्तस्य तीक्ष्णशब्देनोक्ते रस्यम्लोऽतिलवणो-  
ऽत्युष्णश्च, ख्यातोऽतितीक्ष्णो मरीचादिरतिरुक्षः कङ्गुकादिरति-  
विदाही राजिकादिः, एते राजसस्येष्टाः, सात्त्विकानां तु हेयाः ।  
दुःखं तात्कालिकं जिह्वाकण्ठादिशोषणजं, शोको दौर्मनस्यं  
पाश्चात्यमामयो रुधिरकोपः । तामसाहारमाह—यातेति । यातो-  
ऽतिक्रान्तो यामः प्रहरो यस्य राक्षस्यान्नादेस्तद्यातयामं, गतरसं  
वैरस्यवत्, पूतिः दुर्गन्धं, पर्युषितं पूर्वोऽह्नि राक्षमुच्छिष्टं गु-  
र्व्यादिभ्यो भुक्तावशिष्टममेध्यमपावत्रं कलञ्जाद । ईदृग्भोजनं ताम-  
सानां प्रियं सात्त्विकानां त्वतिदूरतो हेयम् । ८-१० ॥

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदिष्टो य इज्यते ।

यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥ ११ ॥

सारा०ब०—अथ यज्ञस्य त्रैविध्यमाह—अफलाकाङ्क्षिभिरिति ।  
फलाकाङ्क्षाराहित्ये कथं यज्ञे प्रवृत्तिरत आह—यष्टव्यमेवेति ।  
मानुष्यत्वेन शास्त्रोक्तत्वादवश्यकर्तव्यमेतदिति मनः  
समाधाय ॥ ११ ॥

गी०भू०—अथ यज्ञत्रैविध्यमाह—अफलेति त्रिभिः । अफला-  
काङ्क्षिभिः फलेच्छाशून्यैर्यो यज्ञ इज्यते क्रियते विधिदिष्टो विधि-  
वाक्याज्ज्ञातः, स सात्त्विकः । ननु फलेच्छां विना तत्र कथं  
प्रवृत्तिस्तत्राह—यष्टव्यमेवेति । मां प्रति वेदेनोक्तत्वात् तत् यजनमेव  
कार्यं, न तु तेन फलं माध्यममिति मनः—समाधायैकाग्रं कृत्वे-  
त्यर्थः ॥ ११ ॥

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत ।

इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ १२ ॥

गी०भू०—फलं स्वर्गादिकमभिसन्धाय यदिज्यते दम्भार्थं  
यत्त्वमहिमख्यापनाय, तं यज्ञं राजसं विद्धि ॥ १२ ॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।

श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

सारा०ब०—असृष्टान्नमन्नदानरहितम् ॥ १३ ॥

गी०भू०—विधीति - असृष्टान्नमन्नदानरहितं मन्त्रहीनं स्वरतो  
पर्येतश्च हीनेन मन्त्रणोपेतं श्रद्धा-विरहितं ऋत्विग्विद्वेषात् ॥ १३ ॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।

ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥



सारा०ब०—तपसस्त्रैविध्यं बद्धं प्रथमं सात्त्विकस्य तप-  
सस्त्रैविध्यमाह-देवेत्यादित्रिभिः ॥ १४ ॥

गी०भू०—क्रमप्राप्तस्य तपसः सात्त्विकादिभेदं बद्धं तस्यादौ  
शारीरादिभावेन त्रैविध्यमाह-देवेति त्रिभिः । देवा बभूवुर्द्रादयो  
द्विजा ब्राह्मणश्रेष्ठा गुरवो भार्तापतृदैशिकाः प्राज्ञा विदितवेद-  
वेदाङ्गाः परेऽत्र तेषां पूजनम्, शौचं द्विविधमुक्तम्, आर्जवं  
विहितनिषिद्धयोरैक्यरूप्येण प्रवृत्तिनिवृत्तिमत्त्वम्, ब्रह्मचर्यं  
विहितमैथुनञ्च-एतच्छारीरं शरीरनिर्वर्त्य तपः ॥ १४ ॥

अनुद्वेगकर वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्

स्वाध्यायाभ्यसनं चैव बाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥

सारा०ब०—अनुद्वेगकरम्-सम्बोध्यभिन्नानामप्यनुद्वेजकम् ॥ १५ ॥

गी०भू०—अनुद्वेगकरमुद्वेगं भयं कस्यापि यन्न करोति, सत्यं  
प्रमाणिकं, श्रोतुः प्रियं, परिणामे हितं च । एतद्विशेषणचतुष्टय-  
बद्धाक्यं तथा स्वाध्यायस्य वेदस्याभ्यसनञ्च बाङ्मयं वाचा  
निर्वर्त्य तपः ॥ १५ ॥

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।

भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

गी०भू०—मनसः प्रसादो वैमल्यं विषयस्मृत्यवैयग्रम्, सौम्य-  
त्वमक्रौर्यं सर्वसुखेच्छुत्वम्, मौनमात्ममननम्, आत्मनो  
मनसो विनिग्रहो विषयेभ्यः प्रत्याहारः, भावसंशुद्धिर्व्यवहार-  
निष्कपटता-एतन्मानसं मनसा निर्वर्त्य तपः ॥ १६ ॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।

अफलाकाङ्क्षमियुक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥

सारा०ब०—त्रिविधमुक्तलक्षणं कायिकवाचिकमानसम् ॥ १७ ॥

गी०भू०—उक्तस्य तपसः सात्त्विकादितया त्रैविध्यमाह—  
श्रद्धयेति त्रिभिः । तदुक्तं त्रिविधं तपः फलाकाङ्क्षाशून्यैर्युक्तै-  
रैकाग्रचित्तैर्नरैः परया श्रद्धया तप्तमनुष्ठितं सात्त्विकम् ॥ १७ ॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।

क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥

सारा०ब०—सत्कारः साधुरयमित्यन्यैः कर्त्तव्या वाक्पूजा,  
मानः प्रत्युत्थानाभिवादानादिभिरन्यैः कर्त्तव्या दैहिकी पूजा,  
पूजान्यैर्दीया मानैर्धेनादिभिर्भाविनी या मानसी पूजा, तदर्थं  
दम्भेन च यत् क्रियते तदराजसं तपः, चलं किञ्चित् कालिकम्-  
ध्रुवमनियतसत्कारादिफलकम् ॥ १८ ॥

गी०भू०—सत्कारः साधुरयं तपस्वीति स्तुतिर्मानः प्रत्युत्था-  
नादिरादरः, पूजा चरणप्रक्षालनधनदानादिस्तदर्थं यत्तपो दम्भेन  
च क्रियते, तदराजसं प्रोक्तम्, चलं किञ्चित्कालिकमध्रुवमनिय-  
तसत्कारादिफलकम् ॥ १८ ॥

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।

परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

सारा०ब०—मूढग्राहेण मौढ्यग्रहणेन परस्योत्सादनार्थं  
विनाशार्थम् ॥ १९ ॥

गी०भू०—मूढग्राहेणाविवेकजेन दुराग्रहेणात्मना देहेन्द्रि-  
यादेः पीडया च यत्तापः परस्योत्सादनार्थं विनाशाय वा क्रियते,  
तामसम् ॥ १९ ॥

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।

देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥



सारा०ब०—दातव्यमित्येवं निश्चयेन, न तु फलाभिसन्धिना यद्दानम् ॥ २० ॥

गी०भू०—अथ दानस्य त्रैविध्यमाह—दातव्यमिति । निश्चयेन यद्दानमनुपकारिणो पात्रे विद्यातपोभ्यां दातुं रक्तकाय ब्राह्मणाय यद्दीयते तद्दानं सार्त्त्विकम्, अनुपकारिणो प्रत्युपकारमनुद्दिश्येत्यर्थः । देशे तीर्थे काले च संक्रान्त्याद्यौ ॥ २० ॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।

दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ २१ ॥

सारा०ब०—परिक्लिष्टं कथमेतावद्व्ययितमिति पश्चात्तापयुक्तम्, यद्वा दिक्साया अभावेऽपि गुर्व्वाद्याज्ञानुरोध-वशादेव दत्तम्, परिक्लिष्टमकल्याणद्रव्यकर्मकं वा ॥ २१ ॥

गी०भू०—यत्तु प्रत्युपकारार्थं दृष्टफलार्थं फलं वा स्वर्गादिक-मदृष्टमुद्दिश्यानुसन्धाय दीयते तद्दानं राजसम्, परिक्लिष्टं कथ-मेतावद्व्ययितव्यमिति पश्चात्तापयुक्तं यथा स्यात्साया गुरुवा-क्यानुरोधाद्वा यद्दीयते, तद् राजसम् ॥ २१ ॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।

असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

सारा०ब०—असत्कारोऽवज्ञायाः फलम् ॥ २२ ॥

गी०भू०—अदेशोऽशुचिस्थाने, अकालेऽशुचिसमये यदपात्रेभ्यो नटादिभ्यो दीयते, देशादि-सम्पत्तावपि यदसत्कृतं चरणप्रक्षाल-नादि-सत्कारशून्यमवज्ञातं तूँकाराद्यनादरभाषणोपेतं च यद्दानं, तत्तामसम् ॥ २२ ॥

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।

ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ २३ ॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।

प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सतत ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ ॥

सारा०ब०—तदेवं तपोयज्ञादीनां त्रैविध्यं सामान्यतो मनुष्य-मात्रमधिकृत्योक्तम् । तत्र ये सार्त्त्विकेऽपि मध्ये ब्रह्मवादिन-स्तेषान्तु ब्रह्मनिर्देशपूर्वका एव यज्ञादयो भवन्तीत्याह—ॐ तत् सद्येत्येवं ब्रह्मणो निर्देशो नाम्ना व्यपदेशः स्मृतः, शिष्टैर्दशितः । तत्र ओमिति सर्वश्रुतिषु प्रासिद्धमेव ब्रह्मणो नाम । जगत्-कारणात्वेनातिप्रासिद्धे रतान्निरसनेन च प्रासिद्धेस्तदिति च, “सदेव सौम्येदमग्र आसीत्” इति श्रुतेः सद्यति च । यस्मात् ॐ तत् सत् शब्दवाच्येन ब्रह्मणैव ब्राह्मणा वेदा यज्ञाश्च विहिताः कृतास्तस्मात् ओमिति ब्रह्मणो नामोदाहृत्योच्चार्य वर्त्तमानानां ब्रह्मवादिनां यज्ञादयः प्रवर्तन्ते ॥ २३-२४ ॥

गी०भू०—तदेव यज्ञ-तपो-दानानां त्रैविध्यकथनेन सार्त्त्व-कानां तेषामुपादेयत्वं, राजसादीनां हेयत्वञ्च दर्शितम् । अथ सार्त्त्विकाधिकारिणां यज्ञादीनि बिष्णुनामपूर्वकारयेव भवन्ती-त्युच्यते—ओमिति । ओमित्यादिकास्त्रिविधो ब्रह्मणो बिष्णोर्नि-र्देशो नामधेयं शिष्टैः स्मृतः, “ओमित्येतद्ब्रह्मणो निर्दिष्टं नाम” इति श्रुतेः ओमित्येकं नाम, “तत्त्वमसि” इति श्रुतेः तदिति द्वितीयं नाम, “सदेव सौम्य” इति श्रुतेः सद्यति तृतीयं नाम उपलक्षणमिदम् । बिष्णुवादिनाम्नां तेन त्रिविधेन निर्देशेन ब्राह्मणा वेदा यज्ञाश्च पुरा चतुर्मुखेन विहिताः प्रकटितास्तस्मा-न्महाप्रभावोऽयं निर्देशस्तत्पूर्वकारिणां यज्ञादीनां नाङ्गवैगुण्यं, तेन फलवैगुण्यञ्च नेति ॥ २३ ॥

गी०भू०—यस्मादेवं तस्मादोमिति निर्देशमुदाहृत्योच्चार्या-नुष्ठिता ब्रह्मवादिनां सार्त्त्विकानां त्रैबलिकानां यज्ञाद्याः क्रियाः प्रवर्तन्ते—अङ्गवैकल्येऽपि साङ्गतां भजन्तीति ॥ २४ ॥



तदित्यनभिसंधाय फल यज्ञतपःक्रियाः ।

दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥२५॥

सारा०ब०—तदित्युदाहृत्येति पूर्वस्यानुषङ्गः । अनभिसन्धाय फलाभिसन्धिमकृत्वा ॥ २५ ॥

गी०भू०—तदिति - निर्देशमुदाहृत्य फलमनभिसन्धाय यज्ञादिक्रिया मोक्षकाङ्क्षिभिस्तैः क्रियन्ते अनुष्ठीयन्ते । निष्काम-तया मुमुक्षासम्पादनान्महाप्रभावस्तच्छब्दः ॥२५॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।

प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते

कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥

सारा०ब०—ब्रह्मवाचकः सच्छब्दः प्रशस्तेष्वपि वर्तते, तस्मात् प्रशस्तमात्रे कर्मणि प्राकृतेऽप्राकृतेऽपि सच्छब्दः प्रयोक्तव्य इत्याशयेनाह-सद्भाव इति द्वाभ्याम् । सद्भावे ब्रह्मत्वे साधुभावे ब्रह्मवादित्वे प्रयुज्यते संगच्छत इत्यर्थः ॥ २६ ॥

सारा०ब०—यज्ञादौ स्थितियेज्ञादितात्पर्येणावस्थानमित्यर्थः । तदर्थीयं कर्म ब्रह्मपरिचर्योपयोगि यत् कर्म भगवन्मन्दिर-मार्ज्जनादिकम्, तदपि ॥ २७ ॥

गी०भू०—सदिति निर्देशः प्रशस्तेष्वर्थान्तरेषु वर्तते, तस्मात् प्रशस्ते कर्ममात्रे स प्रयोज्य इति भावेनाह-सद्भाव इति द्वाभ्याम् । सद्भावे ब्रह्मत्वे साधुभावे च ब्रह्मज्ञत्वेऽभिधायकतया सच्छब्दः प्रयुज्यते—“सदेव सौम्यः” इत्यादौ, “सतां प्रसृज्यात्” इत्यादौ च, तथा प्रशस्ते उपनयनाबवाहादिके च भाङ्गालिके कर्मणि सच्छब्दो युज्यते सङ्गच्छते, यज्ञादौ या तेषां स्थिति-

स्तात्पर्येणावस्थितिस्तदपि सदित्युच्यते, यस्येदं नाम त्रयं, तद-र्थीयं कर्म च तन्मन्दिरनिर्माण-तद्विमार्ज्जनादि सदित्यभिधी-यते । अत्र त्रिविधोऽयं निर्देशः स्मर्त्तव्य इति विधिः कल्प्यते । “वषट्कर्तुः प्रथमं भक्ष्यः” इत्यादाविव बचनानि त्वपूर्वत्वा-दिति न्यायाद्यज्ञदानादिसंयोगाच्चास्य तद्वैगुण्यमेव फलम्—“प्रमादात् कुर्वतां कर्म प्रच्यवेताध्वरेषु यत् । स्मरणादेव तद्विष्णोः सम्पूर्णं स्यादिति श्रुतिः ॥” इति स्मरणाच्च ॥२६-२७॥

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।

असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्म-पर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णाञ्जुनसंवादे अष्टात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ।



सारा०ब०—सत् कर्म श्रुतम्, तथासत् कर्म किमित्य-पेक्षायामाह-अश्रद्धयेति । हुतं हवनं, दत्तं दानं, तपस्तप्तं कृतं यदन्यथापि कर्म कृतं तत् सर्वमसदिति हुतमप्यहुतमेव दत्तमप्यदत्तमेव तपोऽप्यतप्तमेव कृतमप्यकृतमेव, यतस्तत् न प्रेत्य न परलोके फलति नापीहलोके फलति ॥ २८ ॥

उक्तेषु विविधेष्वेव सार्वत्रिकं श्रद्धया कृतम् ।

यत् स्यात्तदेव मोक्षार्हमित्यध्यायार्थे ईरितः ॥

इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् ।

गीतास्वयं सप्तदशः सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥

गी०भू०—अथ सार्वत्रिक्या श्रद्धया सर्वेषु कर्मसु प्रवर्त्ति-



तव्यम्, तथा बिना कृतं सर्वं व्यर्थमिति निन्दति-अश्रद्धयेति ।  
दत्तं होमो दत्तं दानं, तप्तमनुष्ठितं यच्चान्यदपि स्तुतिप्रणत्यादि-  
कर्म कृतं, तत् सर्वमसन्निध्यमित्युच्यते । कुत इत्यत्राह-न  
चेति । हेतौ च-शब्दो यतोऽश्रद्धया कृतं, तत् प्रेत्य परलोके न  
फलति बिगुणात्तस्मात् पूर्वानुत्पत्तोर्नापीह लोके कीर्तिः, सद्भि-  
र्निन्दितत्वात् ॥२८॥

श्रद्धां स्वभावजां हित्वा शास्त्रजां तां समाश्रितः ।

निःश्रेयसाधिकारी स्यादिति सप्तदशी स्थितिः ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्भाष्ये सप्तदशोऽध्यायः ।

### अष्टादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच -

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।

त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥१॥

सारा०ब०-संन्यासज्ञानकर्मदेष्ट्रैविध्यं मुक्तिनिर्णयः ।

गुह्यसारतमा भक्तिरित्यष्टादश उच्यते ॥

अनन्तराध्याये “तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।  
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥” इत्यत्र  
भगवद्वाक्ये मोक्षकाङ्क्षशब्देन संन्यासिन एवोच्यन्ते, अन्ये  
वा यद्यन्य एव ते, तर्हि “सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु  
यतात्मवान्” इति त्वदुक्तानां सर्वकर्मफलत्यागिनां तेषां स  
त्यागः कः ? संन्यासिनाश्च को वा संन्यासः ? इति विवेकतो  
जिज्ञासुराह-संन्यासस्येति । पृथगिति यदि संन्यासत्याग-  
शब्दौ भिन्नार्थौ तदा संन्यासस्य त्यागस्य च तत्त्वं पृथग्वे-

दितुमिच्छामि । यदि त्वेकार्थौ तावपि त्वन्मते वा अन्यमते  
वा तयोरैक्यार्थमर्थादेकार्थत्वमिति पृथग्वेदितुमिच्छामि ।  
हे हृषीकेशेति मद्वुद्धेः प्रवर्त्ताकत्वात् त्वमेव इमं सन्देह-  
मुत्थापयसि । ‘केशिनिषूदनः’ इति तच्च सन्देहं त्वमेव केशिन-  
मिव बिदारयसीति भावः । ‘महाबाहो’ इति त्वं महाबाहुवला-  
न्वितोऽहं किञ्चिद्बाहुवलान्वित इत्येतदंशेनैव मया सह सख्यं  
तव, न तु सावर्द्ध्याद्यादिभिरंशैरतस्त्वद्वत्-किञ्चित्सख्यभावादेव  
प्रश्ने मम निःकृतेति भावः ॥ १ ॥

गी०भू०-गीतार्थानिह संगृह्यन् हरिरष्टादशोऽखिलान् ।

भक्तेस्तत्र प्रपत्तोश्च सोऽब्रवीदतिगोप्यताम् ॥

“सर्वकर्मणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी” इत्यादौ  
संन्यास-शब्देन किमुक्तं “त्यक्त्वा कर्मफलसङ्गम्” इत्यादौ  
त्याग-शब्देन च किमुक्तं भगवता तत्र सन्निधानोऽर्जुनः  
पृच्छति-संन्यासस्येति । ‘संन्यास’-‘त्याग’-शब्दौ शैल-तरु-  
शब्दाविव बिजातीयार्थौ किंवा कुरु-पाण्डव-शब्दाविव सजा-  
तीयार्थौ ? यद्याद्यस्तर्हि संन्यासस्य त्यागस्य च तत्त्वं पृथग्वेदितु-  
मिच्छामि ; यद्यन्तस्तर्हि तत्रावान्तरोपाधिमात्रं भेदकं भावि, तच्च  
वेदितुमिच्छामि । हे महाबाहो कृष्ण, हृषीकेशेति धीवृत्तिप्रेरकत्वा-  
त्त्वमेव मत्सन्देहमुत्पादयसि ; केशिनिषूदनेति त्वं मत्सन्देहं केशि-  
नमिव बिनाशयेति ॥१॥

श्रीभगवानुवाच-

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।

सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥२॥

सारा०ब०-प्रथमं प्राच्यं मतमाश्रित्य संन्यासत्यागशब्द-  
योर्भिन्नजातीयार्थत्वमाह-काम्यानामिति । “पुत्रकामो यजेत”



“स्वर्गकामो यजेत” इत्येवं कामोपबन्धेन बिहितानां काम्यानां कर्मणां न्यासं स्वरूपेणैव त्यागं सन्न्यासं विदुर्न तु नित्यानामपि सन्ध्योपास्त्यादीनामिति भावः । सर्वेषां काम्यानां नित्यानामपि कर्मणां फलत्यागमेव, न तु स्वरूपतस्त्यागं केषामपीति भावः । नित्यानामपि कर्मणां फलं “कर्मणा पितृलोकः” इति, “धर्मेण पापमपनुदति” इत्याद्याः श्रुतयः प्रतिपादयन्त्येवेत्यतस्त्यागे फलाभिसन्धिरहितं सर्वकर्मकरणम् । सन्न्यासे तु फलाभिसन्धिरहितं नित्यकर्मकरणम्, काम्यकर्मणां तु स्वरूपेणैव त्याग इति भेदो ज्ञेयः ॥ २ ॥

गी०भू०—एवं पृष्ठो भगवानुवाच—काम्यानामिति । “पुत्रकामो यजेत स्वर्गकामो यजेत” इत्येवं कामोपबन्धेन बिहितानां पुत्रेष्टिज्योतिष्टोमादीनां कर्मणां न्यासं स्वरूपेण त्यागं कथयः पण्डिताः सन्न्यासं विदुर्न तु नित्यानामग्निहोत्रादीनामित्यर्थः ; तेषु विचक्षणास्तु सर्वेषां काम्यानां नित्यानाञ्च कर्मणां फलत्यागमेव, न तु स्वरूपतस्त्यागं सन्न्यासलक्षणं त्यागं प्राहुः । नित्यकर्मणां च फलमस्ति—“कर्मणा पितृलोको धर्मेण पापमपनुदति” इत्यादि-श्रवणात् । यद्यपि “अहरहः सन्ध्यामुपासीत”, “यावज्जीवनमग्निहोत्रं जुहाति” इत्यादौ “पुत्रकामो यजेत” इत्यादाविव फलविशेषो न श्रुतस्तथापि “विश्वजिता यजेत” इत्यादाविव विधिः किञ्चिन् फलमाप्तिपेदेव ; इतरथा पुरुषप्रवृत्त्यनुपपत्तेर्दुष्परिहरतापत्तिः । तथा च काम्यकर्मणां स्वरूपतस्त्यागो, नित्यकर्मणां तु फलत्यागः सन्न्यास-शब्दार्थः ; सर्वेषां कर्मणां फलेच्छां त्यक्तवानुष्ठानं खलु त्याग-शब्दार्थः । पूर्वोक्तरीत्या ज्ञानोदयफलस्य सत्त्वादप्रवृत्तेर्दुष्परिहरत्वं प्रत्युक्तम् ॥ २ ॥

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

सारा०ब०—त्यागे पुनरपि मतभेदमुपक्षिपति—त्याज्यमिति । दोषवत् हिंसादिदोषवत्त्वात् कर्म स्वरूपत एव त्याज्यमित्येके सांख्याः । परे मीमांसका यज्ञादिकं कर्मशास्त्रे बिहितत्वात् त्याज्यमित्याहुः ॥ ३ ॥

गी०भू०—त्यागे पुनरपि मतभेदमाह—त्याज्यमिति । एके मनीषिणो “न हिंस्यात् सर्वा भूतानि” इति श्रुतिदर्शिनः कापिलाः कर्मदोषवत् पशुहिंसादि दोषयुक्तं भवत्यतस्त्याज्यं स्वरूपतो हेयमित्याहुः, “अग्नीषोमीयं पशुमालभेत” इति श्रुतिस्तु हिंसायाः क्रत्वङ्गत्वमाह, त्वनर्थहेतुत्वं तस्या निवारयति । तथा च द्रव्यसाध्यत्वेन हिंसायाः सम्भवात्, सर्वं कर्म त्याज्यमिति । अपरे जैमिनीयास्तु यज्ञादिकर्म न त्याज्यं, तस्य वेदबिहितत्वेन निर्दोषत्वादित्याहुः—यद्यपि हिंसानुग्रहात्मकं कर्म, तथापि तस्य वेदेन धर्मत्वाभिधानात् दोषवत्त्वमतः कार्यमेवेत्यर्थः । “न हिंस्यात्” इति सामान्यतो निषेधस्तु क्रतोरन्यत्र तस्याः पापतामाहेति न किञ्चिदबध्यम् ॥ ३ ॥

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।

त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥ ४ ॥

सारा०ब०—स्वमतमाह—निश्चयमिति । त्रिविधः—सात्त्विको राजसस्तामसश्चेति । अत्र त्यागस्य त्रैविध्यमुक्तम्य “नियतस्य तु सन्न्यासः कर्मणो नोपपद्यते । मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥” इति तस्य एव तामसभेदैः सन्न्यासशब्दप्रयोगाद्भगवन्मते त्याग-सन्न्यासशब्दयोरैक्यार्थमेवेत्यवगम्यते ॥ ४ ॥

गी०भू०—एवं मतभेदमुपबर्ण्य स्वमतमाह—निश्चयमिति ।



मतभेदप्रस्ते त्यागे मे परमेश्वरस्य सर्वज्ञस्य निश्चयं शृणु । ननु  
त्यागस्य ख्यातत्वात्तत्र श्रोतव्यं किमस्ति ? तत्राह-त्यागो हीति ।  
हि यतस्त्यागस्तामसादि-भेदेन विज्ञैस्त्रिविधः संप्रकीर्तितो विवि-  
च्योक्तः । तथा च दुर्बोधोऽसौ श्रोतव्य इति त्यागत्रैविध्यम्—  
'नियतस्य तु' इत्यादिभिरग्रे वाच्यम् ॥४॥

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणां ॥५॥

सारा०ब०—काम्यानामपि मध्ये भगवन्मते सात्त्विकानि  
यज्ञदानतपांसि फलाकाङ्क्षारहितैः कर्तव्यानीत्याह-यज्ञादिकं  
कर्तव्यमेव । तत्र हेतुः-पावनानीति चित्तशुद्धिकरत्वा-  
दित्यर्थः ॥ ५ ॥

गी०भू०—प्रथमं तस्मिन् स्वनिश्चयमाह-यज्ञेति द्वाभ्याम् ।  
यज्ञादीनि मनीषिणां कार्याण्येव न त्याज्यानि, यदमूनि विष-  
तन्तुबदन्तरभ्युदितज्ञानद्वारा पावनानि संसृतिदोषविनाशकानि  
भवन्ति ॥५॥

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।

कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥६॥

सारा०ब०—येन प्रकारेण कृतान्येतानि पावनानि भवन्ति  
तं प्रकारं दर्शयति-एतान्यपीति । सङ्गं कर्तृत्वाभिनिवेशं  
फलाभिसन्धिञ्च ; फलाभिसन्धि-कर्तृत्वाभिनिवेशयोस्त्याग एव  
त्यागः सन्न्यासश्चोच्यत इति भावः ॥ ६ ॥

गी०भू०—यज्ञादीनां पावनताप्रकारमाह-एतान्यपीति । सङ्गं  
कर्तृत्वाभिनिवेशं फलानि च प्रतिपदोक्तानि पितृलोकादीनि च  
सर्वानि त्यक्त्वा केवलमोश्वरार्चनधिया कर्तव्यानीति मे मया

निश्चितमत उत्तममिदं मतम् । कर्तृत्वाभिनिवेशत्यागस्यापि  
प्रवेशात् पार्थसारथेर्मतं बरीयः ॥६॥

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।

मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥७॥

सारा०ब०—प्रकान्तस्य त्रिविधत्यागस्य तामसं भेदमाह-  
नियतस्य नित्यस्य । मोहात् शास्त्रतात्पर्याज्ञानात् । संन्यासी  
काम्यकर्मण्यावश्यकत्वाभावात् परित्यजतु नाम, नित्यस्य तु  
कर्मणस्त्यागो नोपपद्यत इति तु-शब्दाथेः । मोहादज्ञानात्,  
तामस इति तामसत्यागस्य फलमज्ञानप्राप्तिरेव, न त्वभीप्सित-  
ज्ञानप्राप्तिरिति भावः ॥ ७ ॥

गी०भू०—प्रतिज्ञातं त्यागत्रैविध्यमाह-नियतस्येति त्रिभिः ।  
काम्यस्य कर्मणो बन्धकत्वात्तत्यागो युक्तः । नियतस्य नित्य-  
नैमित्तिकस्य महायज्ञादेः कर्मणः सन्न्यासस्त्यागो नोपपद्यते ।  
आत्मोद्देशाद्विशोणीदिबदन्तर्गतज्ञानस्य तस्य मोचकत्वाद्देहया-  
त्रासाधकत्वाच्च तत्त्यागो न युक्तः । तेन हि देवताभगवद्भिभूति-  
रञ्जितां तच्छेषैः पूतैः मिद्धा देहयात्रा तत्त्वज्ञानाय सत्त्वज्ञानाय  
संपद्यते । वैपरीत्ये पूर्वमभिहितं 'नियतं कुरु कर्म त्वम्' इत्या-  
दिभिस्तृतीये तस्यापि मोहाद्बन्धकमिदमित्यज्ञानात् परितः स्व-  
रूपेण त्यागस्तामसो भवति-मोहस्य तमोघर्मत्वात् ॥ ७ ॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।

स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥८॥

सारा०ब०—दुःखमित्येवेति । यद्यपि नित्यकर्मणामावश्यक-  
मेव तत्करणं गुण एव, न तु दोष इति जानाम्येव, तदपि  
तैः शरीरं मया कथं वृथा क्लेशयितव्यमिति भावः । त्याग-  
फलं ज्ञानं न लभेत् ॥ ८ ॥



गी०भू०--निष्कामतयानुष्ठितं विहितं कर्म मुक्तिहेतुरिति जानन्नपि द्रव्योपार्जनप्रातःस्नानादिना दुःखरूपमिति कायक्लेश-भयाच्चैतन्मुमुक्षुरपि त्यजेत् । स त्यागो राजसः-दुःखस्य रजो-धर्मत्वात् । तं त्यागं कृत्वापि जनस्तस्य फलं ज्ञाननिष्ठां न लभते ॥८॥

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।

सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥९॥

सारा०ब०--कार्यमवश्यकर्तव्यमिति बुद्ध्या नियतं नित्यं कर्म, सात्त्विक इति त्यागात्यागफलं ज्ञानं स लभेतैवेति भावः ॥ ९ ॥

गी०भू०--कार्यमवश्यकर्तव्यतया विहितं कर्म नियतं यथा भवति, तथा सङ्गं कर्त्तृत्वाभिनिवेशं फलं च निखिलं त्यक्त्वा क्रियत इति यत् स त्यागः सात्त्विकस्तादृशज्ञानस्य सत्त्वधर्मत्वात् ॥९॥

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषजते ।

त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥

सारा०ब०--एवम्भूतसात्त्विकत्यागपरिनिष्ठिनस्य लक्षणमाह-न द्वेष्टीति । अकुशलमसुखदं शीते प्रातःस्नानादिकं न द्वेष्टि, कुशले सुखग्रीष्मस्नानादौ ॥ १० ॥

गी०भू०--सात्त्विकत्यागिनो लक्षणमाह--द्वेष्टीति । अकुशलं दुःखदं हेमन्तप्रातःस्नानादि न द्वेष्टि, कुशले सुखदे तिदा-यमध्याह्ने स्नानादौ न सज्जते ; यतः सत्त्व-समाविष्टोऽतिधारो मेधावी स्थिरधीश्छिन्नो विहितानि कर्माणि क्लेशेनानुष्ठितानि ज्ञानं जनयेयुर्न वेत्येवंलक्षणः संशयो येन सः । ईदृशः सात्त्विक-त्यागी बोध्यः ॥१०॥

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।

यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

सारा०ब०--इतोऽपि शास्त्रीयं कर्मे न त्याज्यमित्याह-न हीति । त्यक्तुं न शक्यं न शक्यानि, तदुक्तम्-'न हि काश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' इति ॥ ११ ॥

गी०भू०--नन्वाहंशात् फलत्यागात् स्वरूपतः कर्मत्यागो परीयान् विक्षेपाभावेन ज्ञाननिष्ठा साधकत्वादात चेत्तत्राह-न हीति । देहभृता कर्माण्यशेषतस्त्यक्तुं न हि शक्यं न शक्यानि ; यदुक्तं-'न हि काश्चित् क्षणमपि' इत्यादि ; तस्माद्यः कर्माणि कुर्वन्नेव तत्फलत्यागी, स एव त्यागीत्युच्यते । तथा च सान्निधो-ऽधिकारी कर्त्तृत्वाभिनिवेशफलेच्छा-शून्यो यथाशक्ति सर्वाणि कर्माणि ज्ञानार्थी सन् बुद्ध्यादात पार्थसारथेर्मतम् ॥११॥

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।

भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

सारा०ब०--एवम्भूतत्यागाभावे दोषमाह-अनिष्टं नरक-दुःखमिष्टं स्वर्गसुखं मिश्रं मनुष्यजन्मनि सुखदुःखमत्यागिना-मेवम्भूत-त्यागरहितानामेव भवति, प्रेत्य परलोके ॥ १२ ॥

गी०भू०--ईदृशत्यागाभावे दोषमाह-अनिष्टमिति । अनिष्टं नारकित्वम्, इष्टं स्वर्गित्वम्, मिश्रं मनुष्यत्वम्, दुःखसुख-योगीति त्रिविधं कर्मफलम् । अत्यागिनामुक्तत्यागरहितानां प्रेत्य परकाले भवति, न तु संन्यासिनामुक्तत्यागवताम्, तेषां तु कर्मन्तर्गतेन ज्ञानेन मोक्षो भवतीति त्यागफलमुक्तम् ॥१२॥

पञ्चैतानि महाबाहो कारुण्यं निबोध मे ।

सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥



सारा०ब०—ननु कर्म कुर्वन्तः कर्मफलं कथं न भवेदित्या-  
शङ्क्य निरहङ्कारत्वे सति कर्मलोपो नास्तीत्युपपादयितुमाह-  
पञ्चैतानीति पञ्चभिः । सर्वकर्मणां सिद्धये निष्पत्तये इमानि  
पञ्चकारणानि मे मम वचनान्निबोध जानीहि-सम्यक् परमा-  
त्मानं ख्याति कथयतीति संख्यमेव सांख्यं वेदान्तशास्त्रं  
तस्मिन्, -कीदृशो-कृतं कर्म तस्यान्तो नाशो यस्मात्तस्मिन्  
प्रोक्तानि ॥ १३ ॥

गी०भू०—ननु कर्माणि कुर्वन्तां तत्फलानि कुतो न स्युरिति  
चेत् स्वस्मिन् कर्त्तृत्वाभिनिवेशत्यागेन परमेश्वरे मुख्यकर्त्तृत्व-  
निश्चयेन भवन्तीत्याशयेनाह-पञ्चैतानीति पञ्चभिः । हे महाबाहो !  
सर्वकर्मणां सिद्धये निष्पत्तये एतानि पञ्चकारणानि मे मत्तो  
निबोध जानीहि । प्रमाणमाह-सांख्य इति । सांख्यं ज्ञानं तत्प्रति-  
पादकं वेदान्तशास्त्रं सांख्यं तस्मिन्, कीदृशीत्याह-कृतान्ते  
कृतनिर्णये, सर्वेषां कर्महेतूनां प्रवर्त्तकः परमात्मा तं निर्णय-  
कारिणीत्यर्थः । अन्तर्यामि-ब्रह्मणे विदितमेतत्, इहापि 'सर्वस्य  
चाहं हृदि' इत्याद्युक्तं वक्ष्यते च, 'ईश्वरः सर्वभूतानाम्'  
इत्यादि ॥ १३ ॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।

विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ १४ ॥

सारा०ब०—तान्येव गणयति-अधिष्ठानं शरीरम्, कर्त्ता  
चिज्जडप्रन्थिरहङ्कारः, करणं चक्षुःश्रोत्रादि, पृथग्विधमनेक-  
प्रकारम्, पृथक् चेष्टा प्राणापानादीनां पृथग्व्यापाराः, दैवं  
सर्वप्रकोऽन्तर्यामी च ॥ १४ ॥

गी०भू०—तानि गणयति-अधीति । अधिष्ठीयते जीवेनेत्य-  
धिष्ठानं शरीरम्, कर्त्ता जीवः, अस्य ज्ञातृत्वकर्त्तृत्वे श्रुतिराह-

"एष हि द्रष्टा स्रष्टा" इत्यादिना, सूत्रकारश्च-"ज्ञोऽत एवेति कर्त्ता  
शास्त्रार्थवत्त्वात्" इत्यादि च । करणं श्रोत्रादिसमनस्कम्, पृथ-  
ग्विधं कर्मनिष्पत्तौ पृथग्व्यापारम्, विविधा च पृथक् चेष्टा  
प्राणापानादीनां नानाविधा व्यापाराः, दैवञ्चेत्यत्र कर्मनिष्पादके  
हेतुप्रचये दैवं सर्वाराध्यं परं ब्रह्म पञ्चमम् । कर्मनिष्पत्तावन्त-  
र्यामी हरिर्मुख्यो हेतुरित्यर्थः । देहेन्द्रियप्राणजीवोपकरणोऽसौ  
कर्मप्रवर्त्तक इति निश्चयवतां कर्म तत्फलेषु कर्त्तृत्वाभिनिवेश-  
स्पृहा-विरहितानां कर्माणि न बन्धकानीति भावः । ननु जीवस्य  
कर्त्तृत्वे परेशायत्ते सति तस्य कर्म स्वनियोज्यत्वापत्तिः, काष्ठादि-  
तुल्यत्वात् ? विधिनिषेधशास्त्राणि च व्यर्थानि स्युः ? स्वधिया  
प्रवर्त्तितुं च शक्तो नियोज्यो दृष्टः ? उच्यते-परेशेन दत्तौ देहेन्द्रि-  
यादिभिस्तेनैवाहितशक्तिभिस्तदाधारभूतो जीवस्तदाहित-शक्तिकः  
सन् कर्मसिद्धये स्वेच्छयैव देहेन्द्रियादिकमधितिष्ठति । परेशस्तु  
तत्सर्वान्तःस्थस्तस्मिन्ननुमतिं ददानस्तं प्रेरयतीति जीवस्य स्व-  
धिया प्रवृत्ति-निवृत्तिमत्त्वमस्तीति न किञ्चिच्चोद्यम् । एवमेव सूत्र-  
कारो निर्णीतवान्-"परान्तच्छक्तेः" इत्यादिना । ननु मुक्तस्य  
जीवस्य कर्त्तृत्वं न स्यात्, तस्य देहेन्द्रियप्राणानां विगमादिति  
चेन्न-तदा संकल्पसिद्धानां दिव्यानां तेषां सत्त्वात् ॥ १४ ॥

शरीरवाङ् मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।

न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥ १५ ॥

सारा०ब०—शरीरादिभिरिति शारीरं वाचिकं मानसं चेति  
कर्म त्रिविधम्, तच्च सर्वं द्विविधम्-न्याय्यं धर्म्यं, विप-  
रीतमन्याय्यमधर्म्यं, तस्य सर्वस्यापि कर्मण एते पञ्चहेतवः ॥ १५ ॥  
गी०भू०—शरीरेति-न्याय्यं शास्त्रीयं, विपरीतमशास्त्रीयम् ॥ १५ ॥



तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।

पश्यत्यकृतबुद्धित्वाच्च स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

सारा०ब०—ततः किमत आह—तत्र सर्वस्मिन् कर्मणि पञ्चैव हेतव इत्येवं सति केवलं वस्तुतो निःसङ्गमेवात्मानं जीवं यः कर्तारं पश्यति, सोऽकृतबुद्धित्वादसंस्कृतबुद्धित्वाद्दुर्मति-  
नैव पश्यति सोऽज्ञानी, अन्य एवोच्यत इति भावः ॥१६॥

गी०भू०—ततः किमत आह—तत्रेति । एवं सति जीवस्य कर्तृत्वे परेशानुमतिपूर्वके तद्वादेहादिसापेक्षे च सति, तत्र कर्मणि केवलमेवात्मानं जीवमेव यः कर्तारं पश्यति, स दुर्मति-  
रकृतबुद्धित्वादलव्यज्ञानत्वान्न पश्यति यथान्वः ॥१६॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।

हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥

सारा०ब०—कस्तर्हि सुमतिश्चलुष्मानित्यत आह—यस्येति-  
अहंकृतोऽहङ्कारस्य भावः स्वभावः कर्तृत्वाभिनिवेशो यस्य नास्त्यतएव यस्य बुद्धिर्न लिप्यत इष्टानिष्टबुद्ध्या कर्मसु नास्-  
जति, स हि कर्मफलं न प्राप्नोतीति किं वक्तव्यम् ? स हि कर्म  
भद्राभद्रं कुर्वन्नपि नैव करातीत्याह—हत्वापीति । स इमान्  
सर्वानपि प्राणिनो लोकदृष्ट्या हत्वापि स्वदृष्ट्या नैव हन्ति,  
निरभिसन्वित्वादिति भावः, अतो न बध्यते कर्ममूलं न  
प्राप्नोतीति ॥१७॥

गी०भू०—कस्तर्हि चलुष्मान् सुमतिस्तत्राह—यस्येति । यस्य  
पुरुषस्य मनावृत्तिलक्षणो भावो नाहंकृतः स्वकर्तृत्वे परेशायत्ते-  
ऽनुसन्विते सति कर्माण्यहमेव करामात्मभिमानकृतो न भवेत् ।  
यस्य च बुद्धिर्न लिप्यते कर्मफलस्य ह्या, स इमाँल्लोकान्न केवलं

भीष्मादीन् हत्वापि न हन्ति, न च तेन सर्वलोकहननेन कर्मणा  
निबध्यते लिप्यते ॥१७॥

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाना त्रिविधा कर्मचोदना ।

करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥

सारा०ब०—तदेवं भगवन्मत उक्तलक्षणः सात्त्विकमत्याग  
एव सन्न्यासो ज्ञानिनां, भक्तानान्तु कर्मयोगस्य स्वरूपेणैव  
त्यागोऽवगम्यते, यदुक्तमेकादशे भगवतैव—“आज्ञायैव गुणान्  
दोषान् मयादिष्टानपि स्वकान् । धर्मान् संत्यज्य यः सर्वान्  
मां भजेत् स च मत्तमः ॥” इत्यम्यर्थः स्वामिचरणैर्व्याख्यातो  
यथा—“मया वेदरूपेणादिष्टानपि स्वधर्मान् संत्यज्य यो मां  
भजेत् स च सत्तम इति किमज्ञानतो नास्तिक्याद्वा ? न,  
धर्माचरणे सत्त्वशुद्ध्यादीन् गुणान् विपक्षे दोषान् प्रत्य-  
वायांश्चाज्ञाय ज्ञात्वापि मद्ब्रह्मविज्ञेयकतया मद्भक्त्यैव सर्वं  
भवेत्येताति दृढनिश्चयेनैव धर्मान् संत्यज्य” इति । अत्र  
धर्मान् धर्मफलानि संत्यजेति नु व्याख्या न घटते, न हि  
धर्मफलत्यागे कश्चिदत्र प्रत्यवायो भवेदित्यवधेयम् । अयं भावो  
भगवद्वाक्यानां तद्व्याख्यातृणाञ्च-ज्ञानं हि चित्तशुद्धिमवश्य-  
मेवापेक्षते, निष्कामकर्मभिश्चित्तशुद्धितारतम्ये वृत्त एव ज्ञानो-  
दयतारतम्यं भवेन्नान्यथा । अतएव सम्यग् ज्ञानोदयसिद्धयर्थं  
सन्न्यासिभिरपि निष्कामकर्म कर्तव्यमेव, कर्मभिः सम्यक्तया  
चित्तशुद्धौ वृत्तायां तु तैरपि कर्म न कर्तव्यमेव । यदुक्तं  
—“आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते । योगारूढस्य तस्यैव  
शमः कारणमुच्यते ॥” इति, “यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मवृत्तिश्च  
मानवः । आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥” इति ।  
भक्तिरु परमा सन्न्यासा महाप्रवृत्ता चित्तशुद्धि नैवापेक्षते यदुक्तं



—“विकीर्णितं ब्रजबधूभिरिदं विष्णोः श्रद्धान्वितोऽनुश्रुणुयात्”  
इत्यादौ “भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं हृद्रोगमाश्व-  
पहिनोत्यचिरेण धीरः ॥” इति । अत्र त्वात्मप्रत्ययेन हृद्रोग-  
वत्त्वे बाधकारिणि परमाया भक्तेरपि प्रथममेव प्रवेशस्त-  
तस्तत्रैव कामादीनामपगमश्च, तथा “प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां  
भावसरोरुहम् । धुनाति शमलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरत् ॥”  
इति च इत्यतो भक्त्यैव यदि तादृशी चित्ताशुद्धिः स्यात्  
तदा भक्तैः कथं कर्म कर्तव्यमिति । अथ प्रकृतमनुसरामः—  
किञ्च न केवलं देहादिव्यातिरिक्तस्यात्मनो ज्ञानमेव ज्ञानं तथा-  
त्मतत्त्वमपि ज्ञेयं, तादृश-ज्ञानाश्रय एव ज्ञानी, किंत्वेतत्त्रिके  
कर्मसम्बन्धो वर्तते, तदपि सन्न्यासिभिर्ज्ञेयमित्याह—ज्ञानमिति ।  
अत्र चोदना-शब्देन विधिरुच्यते, यदुक्तं भट्टैः—“चोदना  
चोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचिनः” इति । उक्तं श्लोकाद्ध स्वय-  
मेव व्याचष्टे—करणमिति यज्ज्ञानं तत् करण-कारकम्, ज्ञाय-  
तेऽनेनेति ज्ञानमिति व्युत्पत्तेः, यज्ज्ञेयं जीवात्मतत्त्वं, तदेव  
कर्म-कारकम्, यस्तस्य परिज्ञाता स ‘कर्त्ता’ इति त्रिविधः,  
‘करणं’ ‘कर्म’ ‘कर्त्ता’ इति त्रिविधं कारकमित्यर्थः । कर्म-  
संग्रहः—कर्मणा निष्कामकर्मानुष्ठानेनैव संगृह्यत इति कर्म-  
चोदना-पदव्याख्या । ज्ञानत्वं ज्ञेयत्वं ज्ञातृत्वं चैतत्त्रयं निष्काम-  
कर्मानुष्ठानमूलकमिति भावः ॥ १८ ॥

गी०भू०—ज्ञानकाण्डवत् कर्मकाण्डेऽपि ज्ञानादित्रयमस्ति,  
तच्च सनिष्ठेन कर्मठेन बोध्यमिति उपदिशति—ज्ञानमिति । ज्ञानं  
ज्ञेयं परिज्ञातेत्येवंत्रिकयुक्ता कर्मचोदना ज्योतिष्टोमादिकर्मविधिः—  
“चोदना चोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचिनः” इत्यभियुक्तोक्तः ।  
तत्त्रिकं स्वयमेव व्याख्याति—करणमिति । यज्ज्ञानं, तत् करणं  
‘ज्ञायतेऽनेन’ इति निरुक्तेः करणकारकमित्यर्थः, यज्ज्ञेयं कर्त्तव्यं

ज्योतिष्टोमादि तत् कर्मकारकम् ; यस्तु तस्य परितोऽनुष्ठानेन  
ज्ञाता, स कर्त्तृति कर्त्ता कारकम् । एवं कर्मसंग्रहो ज्योतिष्टोमादि  
कर्मविधिस्त्रिविधः करणादिकारकत्रयसाध्यश्चोदना-संग्रहशब्द-  
योरैक्यार्थः ॥ १८ ॥

ज्ञानं कर्म च कर्त्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।

प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥

गी०भू०—ज्ञानमिति - गुणसंख्याने गुणनिरूपके शास्त्रे  
चतुर्दशे ‘तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्’ इत्यादिना गुणानां बन्ध-  
कता-प्रकारः ; सप्तदशे ‘यजन्ते सात्त्विका देवान्’ इत्यादिना  
गुणकृतस्वभावभेदश्चोक्तः । इह तु गुणसंज्ञानां ज्ञानादीनां त्रैवि-  
ध्यमुच्यत इति बोध्यम् ॥ १९ ॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।

अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ २० ॥

सारा०ब०—सात्त्विकं ज्ञानमाह—सर्वभूतेष्विति । एकं  
भावमेकमेव जीवात्मानं नानाविधफलभोगार्थं क्रमेण सर्वभूतेषु  
मनुष्यदेवतिर्यगादिषु वर्त्तमानमव्ययं नश्वरेष्वपि तेष्वनश्वरं  
विभक्तेषु परस्परं विभिन्नेष्वप्यविभक्तमेकरूपं येन कर्म-  
सम्बन्धना ज्ञानेनेक्षते, तत् सात्त्विकं ज्ञानम् ॥ २० ॥

गी०भू०—सात्त्विकज्ञानमाह—सर्वेति । सर्वभूतेषु देवमान-  
वादिषु देहेषु नानाकर्मफलभोगात् क्रमेण वर्त्तमानभावं जीवा-  
त्मानं येनैकं बीक्ष्यते । अव्ययं नश्वरेषु तेष्वनश्वरं, विभक्तेषु  
मिथोभिन्नेषु तेष्वविभक्तमेकरूपञ्च येन तं बीक्ष्यते, तज्ज्ञानं  
सात्त्विकमौपनिषद्वाचित्वात्मज्ञानं तदित्यर्थः ॥ २० ॥



पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।

वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

सारा०ब०—राजसं ज्ञानमाह—सर्वेषु भूतेषु जीवात्मनः पृथक्त्वेन यज्ज्ञानमिति । देहनाश एवात्मनो नाश इत्यसुराणां मतम् । अतएव पृथक्पृथग् देहेषु पृथक् पृथगेवात्मेति, तथा शास्त्रकारणात् पृथग् विधानं नानाभावान् नानाभिप्रायान् । आत्मा सुखदुःखाश्रय इति, सुखदुःखाद्यनाश्रय इति, जड़ इति, चेतन इति, व्यापक इति, अणुस्वरूप इति, अनेक इति—इत्यादि कल्पान् येन एक इत्यादि वेद तद्वराजसम् ॥ २१ ॥

गी०भू०—राजसज्ञानमाह—पृथक्त्वेनाति । सर्वेषु भूतेषु देवमनुष्यादिदेहेषु जीवात्मनः पृथक्त्वेन यज्ज्ञानं देहविनाश एवात्मविनाश इति यज्ज्ञानमित्यर्थः, येन च नानाविधान् भावानभिप्रायान् वेत्ति, देह एवात्मेति, देहादन्यो देहपरिमाण आत्मेति, क्षणिकविज्ञानमात्मेति, नित्याविज्ञानमात्रविभुरात्मेति, देहादन्यो नवविशेषगुणाश्रयोऽजडो विभुरात्मेत्येवं लौकायतिक-जैन-बौद्ध-मायितार्किकादिबादान् येन जानाति, तद्वराजसं ज्ञानम् ॥२१॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सत्तमहेतुकम् ।

अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

सारा०ब०—तामसं ज्ञानमाह—यत्तु ज्ञानमहेतुकमौत्पत्तिकमेवातएवैकस्मिन् कार्ये लौकिक एव स्नानभोजनपानस्त्रीसम्भोगे तत्साधने च कर्माणि सक्तं, न तु वैदिके कर्माणि यज्ञदानादौ । अतएवातत्त्वार्थवत् तत्र तत्त्वरूपोऽर्थो कोऽपि नास्तीत्यर्थः । अल्पं पशुनामिव यत् क्षुद्रम्, तत् तामसं ज्ञानम् । देहाद्यतिरिक्तत्वेन तत्-पदार्थज्ञानं सात्त्विकम्, नानावादप्रतिपादकं न्यायादिशास्त्रज्ञानं राजसम्, स्नानभोजना-

दिव्यवहारिकज्ञानं तामसमिति सङ्क्षेपः ॥ २२ ॥

गी०भू०—तामसं ज्ञानमाह—यत्त्विति । यत्तु ज्ञानमहेतुकं स्वाभाविकं, न तु शास्त्राद्धेतोर्ज्ञानम्, अतएवैकस्मिन् लौकिके स्नान-भोजन-योषत्प्रसङ्गादौ कार्ये, न तु वैदिके यागदानादौ सक्तं कृत्स्नवत् पूर्णं नातोऽधिकमस्तीत्यर्थः । अतएवातत्त्वार्थवद्यत्र तत्त्वरूपोऽर्थो नास्ति, अल्पं पश्यादिसाधारण्यात्तु च्छं तल्लौकिकस्नान-भोजनादिज्ञानं तामसम् ॥२२॥

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।

अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहकारेण वा पुनः ।

क्रियते बहुलायासं तद्वराजसमुदाहृतम् ॥२४॥

सारा०ब०—त्रिविधं ज्ञानमुक्त्वा त्रिविधं कर्महि—नियतं नित्यतया विहितं सङ्गरहितमभिनिवेशशून्यमतएवारागद्वेषतो रागद्वेषाभ्यां विनैव कृतमफलप्रेप्सुना फलाकाङ्क्षा-रहितेनैव कर्त्ता कृतं कर्म यत् सात्त्विकम् ॥ २३ ॥

सारा०ब०—कामेप्सुनाऽल्पाहङ्कारवत्तेत्यर्थः, साहकारेणात्यहङ्कारवत्तेत्यर्थः ॥ २४ ॥

गी०भू०—अथ कर्मत्रैविध्यमाह—नियतमिति त्रिभिः । नियतं स्ववर्णाश्रमविहितम्, सङ्गरहितं कर्त्तृत्वाभिनिवेशवर्जितम्, अरागद्वेषतः कृतं कीर्त्तौ रागादकीर्त्तौ द्वेषाच्च यन्न कृतं, किन्त्वीश्वराच्चनतयैवाफलप्रेप्सुना फलेच्छाशून्येन यत् कर्म कृतं, तत् सात्त्विकम् ॥२३॥

गी०भू०—यत् कामेप्सुना फलाकाङ्क्षिणा साहकारेण कर्त्तृत्वाभिनिवेशना जनेन बहुलायसमतिकलेशयुक्तं कर्म क्रियते, तद्वराजसम् ॥२४॥



अनुबन्धं क्षयं हिंसापनपेक्ष्य च पौरुषम् ।  
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥२५॥

सारा०ब०—अनुकर्मानुष्ठानानन्तरमायत्यां भाविनं बन्धं राजदस्युयमदूतादिभिर्वन्धनं क्षयं धर्मज्ञानाद्यपचयम्, हिंसा स्वस्य नाशञ्चानपेक्षयापठ्यालोच्य पौरुषं व्यवहारिकपुरुषमात्र-कर्त्तव्यं कर्म मोहादज्ञानादेव यदारभ्यते तत्तामसम् ॥२५॥

गी०भू०—अनु कर्मानुष्ठानानन्तरं बन्धं राजदूतयमदूत-कृतम्, क्षयं धर्मादिविनाशम्, हिंसां प्राणिपीडाम्, पौरुषं सबलञ्चानपेक्ष्य यत् कर्म मोहादारभ्यते, तत्तामसम् ॥२५॥

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।

सिद्धयसिद्धयोर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥

सारा०ब०—त्रिविधं कर्मोत्तमं, त्रिविधं कर्त्तारमाह-मुक्त-सङ्ग इति ॥ २६ ॥

गी०भू०—अथ कर्त्ता त्रैविध्यमाह-मुक्तेति त्रिभिः - मुक्तसङ्गः कर्त्तृत्वाभिनिवेशफलेच्छाशून्यः, अनहंवादी गर्वोत्तिशून्यः, धृतिरारब्धकर्मपूर्त्तापर्यन्तावर्जनीयदुःखसहिष्णुता, उत्साहस्त-दनुष्ठानोद्यतचित्तता ताभ्यां समन्वितः, आनुषङ्गिकस्य फलस्य सिद्धावसिद्धौ च निर्विकारः-सुखेन दुःखेन च राहतः, ईदृशः कर्त्ता सात्त्विकः ॥२६॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।

हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥

सारा०ब०—रागी कर्मण्यासक्तः लुब्धो विषयासक्तः ॥२७॥

गी०भू०—रागी स्त्रीपुत्रादिष्वासक्तः, कर्मफलप्रेप्सुः पशु-पुत्रान्नस्वर्गादिष्वातिष्ठहयालुः, लुब्धः कर्मापेक्षितद्रव्यव्ययाक्षमः

हिंसात्मकः परान् प्रपीड्य कर्म कुर्वन्, अशुचिः कर्मापेक्षित-विहितशुद्धिशून्यः कर्मफलमिच्छति तदसिद्धयोर्हर्षशोकाभ्या-मन्वितः, ईदृशः कर्त्ता राजसः ॥२७॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।

विषारी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते ॥२८॥

सारा०ब०—अयुक्तोऽनौचित्यकारी प्राकृतः प्रकृतौ स्व-स्व-भाव एव वर्त्तमानः, यदेव स्वमनसि आयाति तदेवानुतिष्ठति, न तु गुरोरपि वचः प्रमाणयतीत्यर्थः । नैष्कृतिकः परापमान-कर्त्ता । तदेवं ज्ञानिभिरुक्तलक्षणः सात्त्विक एव त्यागः कर्त्तव्यः सात्त्विकमेव कर्मनिष्ठं ज्ञानमाश्रयणीयं सात्त्विकमेव कर्म कर्त्तव्यं सात्त्विकेनैव कर्त्ता भवितव्यं, -एष एव सन्न्यासो ज्ञानिना-मिति मे ज्ञानं प्रकरणार्थनिष्कर्षः । भक्तानां तु त्रिगुणातीत-मेव ज्ञानं त्रिगुणातीतं मे कर्म भक्तियोगाख्यं त्रिगुणातीता एव कर्त्तारः, यदुक्तं भगवतैव श्रीमद्भगवते-“कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानं रजो वैकलिकं तु यत् । प्राकृतं नामसं ज्ञानं मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम् ॥” इति, “लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्ये-त्युदात्तम्” इति “सात्त्विकः कारकोऽसङ्गो रागान्वो राजसः स्मृतः । तामसः स्मृतिविभ्रतो निर्गुणो मदपाश्रयः ॥” इति । किञ्च न केवलमेव सात्त्विकमेव भक्तिमते गुणातीतमपि तु भक्ति-सम्बन्धे सर्वमेव गुणातीतम्, यदुक्तं तत्रैव-“सात्त्विक्या-ध्यात्मिकी श्रद्धा कर्मश्रद्धा तु राजसी । तामस्यवर्म्म या श्रद्धा मत्तेवायान्तु निर्गुणा ॥” इति, “वनन्तु सात्त्विको बासः प्रामो राजस उच्यते । तामसं व्युत्सदनं मन्त्रिकेननु निर्गुणम् ॥” इति, “सात्त्विकं सुखमात्मोत्थं विषयात्थनु राजसन । तामसं मोहैःन्यात्थं निर्गुणं मदाश्रयम् ॥” इति । तदेवं गुणातीतानां



भक्तानां भक्तिसम्बन्धीनि ज्ञानकर्मश्रद्धादौ स्व-सुखादीनि सर्वान्येव गुणातीतानि । सात्त्विकानां ज्ञानानां ज्ञानसम्बन्धीनि तानि सर्वाणि सात्त्विकान्येव, राजसानां कर्मिणां तानि सर्वाणि राजसान्येव, तामसानामुच्छृङ्खलानां तानि सर्वाणि तामसान्येवेति श्रीगीता-भागवताद्येदृश्या ज्ञेयम् । ज्ञानिनामपि पुनरन्तिमदशायां ज्ञानसन्न्यासानन्तरमुर्वारतया केवलया भक्त्यैव गुणातीतत्वं चतुर्दशध्याय उक्तम् ॥ २८ ॥

गी०भू०—अयुक्तोऽनौचित्यकृत्, प्राकृतः प्रकृतौ स्वभावे वर्त्तमानः स्व-प्रकृत्यनुसारेणैव, न तु शास्त्रानुसारेण कर्मकृत्यर्थः, स्तब्धोऽनघः शठः स्वशक्तिगोपनकृत्, नैष्कृतिकः परापमानकृत्, अलसः प्रारब्धे कर्मणि शिथिलः, विषादी शोकाकुलः, दीर्घसूत्री दिवसैककर्त्तव्यं वर्षेणापि यो न करोति, ईदृशः कर्त्ता तामसः ॥ २८ ॥

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं भृणु ।

प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ॥ २९ ॥

सारा०ब०—ज्ञानिभिः सर्वमपि वस्तु सात्त्विकमेवोपादेयमिति ज्ञापयितुं बुद्ध्यादीनामपि त्रैविध्यमाह-बुद्धेरिति ॥ २९ ॥

गी०भू०—एवं ज्ञानज्ञेयपरिज्ञातृणां त्रैविध्यमुक्त्वा बुद्धि-धृत्योस्तद्वक्तुं प्रतिजानीते । बुद्धेरिति स्फुटार्थम् ॥ २९ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।

बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३० ॥

सारा०ब०—भयाभये संसारासंसार-हेतुके ॥ ३० ॥

गी०भू०—तत्र बुद्धेस्त्रैविध्यमाह-प्रवृत्तिश्चेति त्रिभिः । या बुद्धिर्धर्मो प्रवृत्तिमधर्माः प्रवृत्तिश्च वेत्ति, यया वेत्तीति वक्तव्ये

या वेत्तीति करणे कर्त्ता त्वमुपचरितम्, कुठारश्छिनत्तीतिवत् । निष्कामं कर्म कार्यं सकामं त्वकार्यामात कार्याकार्यं या वेत्ति, अशास्त्रीय-प्रवृत्तितो भयं शास्त्रीयप्रवृत्तितस्त्वभयमिति भयाभये या वेत्ति, बन्धं संसारयाथात्म्यं मोक्षं तच्छेदयाथात्म्यं च या वेत्ति सा बुद्धिः सात्त्विकी ॥ ३० ॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च

अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१ ॥

सारा०ब०—अयथावदसम्यक्तयेत्यर्थः ॥ ३१ ॥

गी०भू०—राजसीं बुद्धिमाह-ययेति । अयथावदसम्यक्त्वेन ॥ ३१ ॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।

सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ ३२ ॥

सारा०ब०—या मन्यत इति—कुठारश्छिनत्तीतिवत् यया मन्यत इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

गी०भू०—तामसीं बुद्धिमाह-अधर्ममिति । विपरीतग्राहिणी बुद्धिस्तामसीत्यर्थः । सर्वार्थान् विपरीतानिति साधुमसाधुम-धुञ्च साधुं, परं तत्त्वमपरमपरञ्च तत्त्वं परमित्येवं सर्वानर्थान् विपरीतान्मन्यत इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।

योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

सारा०ब०—धृतेस्त्रैविध्यमाह-धृत्येति ॥ ३३ ॥

गी०भू०—धृतेस्त्रैविध्यमाह-धृत्येति त्रिभिः । यया मनः-प्राणेन्द्रियाणां योगोपायभूताः क्रियाः पुरुषो धारयते, सा धृतिः सात्त्विकी । कीदृशेत्याह-योगेनेति । योगः परात्मचिन्तनं, तेना-



व्यभिचारिण्या तदन्यं विषयमगृह्णन्त्येत्यर्थः ॥३३॥

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।

प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४॥

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।

न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा तामसी मता ॥३५॥

गी०भू०—सकामविद्वत्प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी पुरुषः, यया धर्मादीन् तत्साधनभूता मनःप्राणेन्द्रियक्रिया धारयते, सा धृतिः राजसी ॥३४॥

गी०भू०—यया स्वप्नादीन् विमुञ्चति दुर्मेधास्तान् धारयत्येव, सा धृतिस्तामसी । स्वप्ना निद्रा, मदो विषयभोगजो गर्वः, स्वप्नादिशब्दैस्तद्धेतुभूता विषया लक्ष्यास्तत्साधनभूता मनःप्राणेन्द्रियक्रिया यया धारयते, सा तामसी धृतिरित्यर्थः ॥३५॥

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भातर्षभ ।

अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥

सारा०ब०—सात्त्विकं सुखमाह-सार्द्धेन-अभ्यासात् पुनरनुशीलनादेव रमते, न तु विषयेष्विवोत्पत्त्यैव रमत इत्यर्थः । दुःखान्तं निगच्छति यस्मिन् रममाणः संसारदुःखं तरतीत्यर्थः ॥३६॥

गी०भू०—अथ सुखत्रैविध्यं प्रतिजानीते-सुखं त्वित्यर्द्धकेन । तत्र सात्त्विकं सुखमाह-अभ्यासादिति सार्द्धकेन । अभ्यासात् पुनःपुनःपरिशीलनाद्यत्र रमते, न तु विषयेष्विवोत्पत्त्या, यस्मिन् रममाणो दुःखान्तं निगच्छति-संसारं तरति ॥३६॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।

तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥

सारा०ब०—विषमिवेति-इन्द्रियमनो-निरोधो हि प्रथमं दुःखदण्ड एव भवतीति भावः ॥ ३७ ॥

गी०भू०—यच्चाग्रे प्रथमं विषमिव मनःसंयमकलेशसत्त्वाद्वि-विक्तात्मप्रकाशाच्चातिदुःखावर्हामिव भवति, परिणामे समाधिपरि-पाके सत्यमृतोपमं विविक्तात्मप्रकाशात् पीयूषप्रवाहनिपातवद्भवति । यच्चात्मसम्बन्धन्या बुद्धेः प्रसादाज्जायते, तत्सात्त्विकं सुखम्, तत्प्रसादश्च विषयसम्बन्धमालिन्यविनिवृत्तिः ॥३७॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।

परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥

सारा०ब०—यदमृतोपमं परस्त्रीमम्भोगादिकम् ॥ ३८ ॥

गी०भू०—विषयैर्युवतिरूपस्पर्शादिभिः सहेन्द्रियाणां चक्षु-स्त्वगादीनां संयोगात् सम्बन्धात् यदग्रे पूर्वममृतोपममतिस्वादु-परिणामेऽवसाने तु निरयहेतुत्वाद्द्विषोपममतिदुःखावर्हं भवति, तद्विराजसं सुखम् ॥३८॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।

निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

गी०भू०—यदग्रेऽनुभवकाले अनुबन्धे पञ्चाद्विपाककाले चात्मनो मोहनं वस्तुयाथात्म्यावरकं, यच्च निद्रादिभ्य उत्तिष्ठति जायते तत्तामसं सुखम् । आलस्यमिन्द्रियव्यापारमान्धम्, प्रमादः कार्यकार्यावधानाभावः ॥३९॥

न तदस्ति पृथिव्यां दिवि देवेषु वा पुनः ।

सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

सारा०ब०—अनुत्तमपि संगृह्यन् प्रकरणार्थमुपसंहरति-नेति ।



तत् सत्त्वं प्राणिजातमन्यच्च वस्तुमात्रं कापि नास्ति यदेभिः प्रकृतिजैस्त्रिभिर्गुणैर्मुक्तं रहितं स्यादतः सर्वमेव वस्तुजातं त्रिगुणात्मकं, तत्र सात्त्विकमेवोपादेयं, राजसतामसे तु नोपादेय इति प्रकरणात्तात्पर्यम् ॥ ४० ॥

गी०भू०—प्रकरणार्थमुपसंहरन्ननुक्तमपि संगृह्णाति-न तदिति । पृथिव्यां मनुष्यादिषु दिवि स्वर्गादौ देवेषु च प्रकृति संसृष्टेषु ब्रह्मादिस्तम्बान्तेष्वित्यर्थः । तत् सत्त्वं प्राणिजातं, अन्यच्च वस्तु नास्ति । यदेभिः प्रकृतिजैस्त्रिभिर्गुणैर्मुक्तं विरहितं स्यात् । तथा च त्रिगुणात्मकेषु वस्तुषु सात्त्विकस्यैवोपयोगित्वात्तदेव ब्राह्म-मन्यत्वात् त्याज्यमिति प्रकरणार्थः ॥ ४० ॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।

कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभैर्गुणैः ॥ ४१ ॥

सारा०ब०—किञ्च, त्रिगुणात्मकमपि प्राणिजातं स्वाधिकार-प्राप्तेन विहितकर्मणा परमेश्वरमाराध्य कृतार्थीभवतीत्याह-ब्राह्मणेति षड्भिः । स्वभावेनोत्पत्त्यैव प्रभवन्ति प्रादुर्भवन्ति ये गुणाः सत्त्वाद्यस्तैः प्रकर्षेण विभक्तानि पृथक्कृतानि कर्माणि ब्राह्मणादीनां विहितानि मन्तीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

गी०भू०—यद्यपि सर्वाणि वस्तूनि त्रिगुणात्मकानि, तथापि ब्राह्मणादयश्चेत् स्वविहितानि कर्माणि भगवदाराधनभावे-नानुतिष्ठेयुस्तदा तानि ज्ञाननिष्ठासुत्पाद्य मोचकानि भवन्तीति वक्तुं प्रकरणमारभते-ब्राह्मणेति षट्केन । शूद्राणां समासात् पृथक्करणं द्विजत्वाभावात् । ब्राह्मणादीनां चतुर्णां कर्माणि स्व-भावप्रभैर्गुणैः सह शास्त्रेण प्रविभक्तानि-स्वभावः प्राक्तन-संस्कारस्तस्मात् प्रभवन्ति ये गुणाः सत्त्वाद्यास्तैः सह शास्त्रेण तेषां कर्माणि विभज्योक्तानि । एवंगुणक-ब्राह्मणादयस्तेषामेतानि

कर्माणीति, तत्र सत्त्वप्रधानो ब्राह्मणः प्रशान्तत्वात्, सत्त्वोप-सर्जनरजःप्रधानः क्षत्रिय ईश्वरस्वभावत्वात्, तमउपसर्जनरजः प्रधानो बिट् इहाप्रधानत्वात् रजउपसर्जनतमप्रधानः शूद्रः मूढ-स्वभावत्वात् । कर्माणि त्वमे वाच्यानि ॥ ४१ ॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।

ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ ४२ ॥

सारा०ब०—तत्र सत्त्वप्रधानानां ब्राह्मणानां स्वभाविकानि कर्माण्येव-शम इति । शमोऽन्तरिन्द्रियनिग्रहः, दमो बाह्येन्द्रि-यनिग्रहस्तपः शारीरादि, ज्ञानविज्ञाने शास्त्रानुभवोत्थे, आस्तिक्यं शास्त्रार्थे दृढविश्वास एवमादि ब्रह्मकर्म ब्राह्मणस्य कर्म स्वभावजं स्वाभाविकम् ॥ ४२ ॥

गी०भू०—ब्राह्मणस्य स्वाभाविकं कर्म-शम इति । शमो-ऽन्तःकरणस्य संयमः, दमो बहिःकरणस्य, तपः शास्त्रीयकाय-क्लेशः, शौचं द्विविधमुक्तम्, क्षान्तिः सहिष्णुता, आर्जवम-वक्रत्वम्, ज्ञानं शास्त्रात् परावरतत्वावगमः, विज्ञानं तस्मादेव तदेकान्तधर्माधिगमः, आस्तिक्यं सर्ववैदवेद्यो हरिर्निखिलैक-करणं स्वविहितैः कर्माभिराराधितः केवलया भक्त्या च सन्तो-षितः स्वपर्यन्तं सर्वमपेक्षतीति शास्त्राधिगतेऽर्थे सत्यत्ववि-निश्चयः-एतत् स्वाभाविकं ब्रह्मकर्म । यद्यपि सत्त्वबुद्धौ क्षत्रि-यादेरप्येते धर्मा भवन्ति, तथापि सत्त्वप्राधान्याद्ब्राह्मणस्येति भणितिः । एवमुक्तं बिष्णुना-“क्षमा सत्यं दमः शौचं दान-मिन्द्रियसंयमः । अहिंसा गुरुशुश्रूषा तीर्थानुसरणं दया ॥ आर्जवं लोभशून्यत्वं देवब्राह्मणपूजनम् । अनभ्यसूया च तथा धर्मसामान्यं प्रच्यते ॥” इति ॥ ४२ ॥



शौर्यं तेजो धृतिर्दास्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।

दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥

सारा०ब०—सत्त्वोपसर्जनरजःप्रधानानां क्षत्रियाणां कर्माह—शौर्यं पराक्रमस्तेजः प्रागल्भ्यम्, धृतिर्धैर्यमीश्वरभावो लोकनियन्तृत्वम् ॥४३॥

गी०भू०—क्षत्रियस्याह—शौर्यमिति । शौर्यं युद्धे निर्भया प्रवृत्तिः, तेजः परैरधृष्यत्वम्, धृतिर्महत्यापि सङ्कटे देहेन्द्रियानवसादः, दास्यं क्रियासिद्धिकौशलम्, युद्धे स्वमृत्युनिश्चयेऽप्यपलायनं तत्रावैमुख्यम्, दानमसङ्कोचेन स्ववित्तात्यागः, ईश्वरभावः प्रजापालनार्थमीशितव्येषु शासनातिगेषु प्रभुत्वशक्तिप्रकाशः—एतत् क्षत्रियस्य स्वाभाविकं कर्म ॥४३॥

कृषिगोरक्षवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।

परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

सारा०ब०—तमउपसर्जनरजःप्रधानानां कर्माह कृषीति-गां रक्षतीति गोरक्षस्तस्य भावो गोरक्ष्यम् । रजउपसर्जनतमः प्रधानानां शूद्राणां कर्माह—परिचर्यात्मकं ब्राह्मणक्षत्रियविशां परिचर्यारूपम् ॥ ४४ ॥

गी०भू०—वैश्यस्याह—कृषीति—अन्नाद्युत्पाद्ये हलादिना भूमेर्विलेखनं कृषिः, पाशुपाल्यं गोरक्षम्, वाणिक्यं वाणिज्यं क्रयविक्रय लक्षणम्, वृद्धौ धनप्रयोगः कुशीदमप्यत्रान्तर्गतम्—एतत् स्वभावसिद्धं वैश्यकर्म । अथ शूद्रस्याह—परीति—ब्राह्मणादीनां द्विजन्मनां परिचर्या शूद्रस्य स्वाभाविकं कर्म । एतानि चातुराश्रम्यकर्माणामुपलक्षणानि ॥४४॥

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।

स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥

गी०भू०—उक्तानां कर्मणां ज्ञानहेतुतामाह—स्वे स्वे इति । स्व-स्व-वर्णाश्रमविहिते कर्मण्यभिरतस्तदनुष्ठाता नरः संसिद्धिं विशतन्तुवत् कर्मान्तर्गतां ज्ञाननिष्ठां लभते । ननु बन्धकेन कर्मणा विमोचिका ज्ञाननिष्ठा कथमिति चेद्दु द्विविशेषादित्याह—स्वकर्ममिति ॥४५॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६॥

सारा०ब०—यतः परमेश्वरात्, तमेवाभ्यर्च्येत्यनेन कर्मणा परमेश्वरस्तुष्यत्विति मनसा तदर्पणमेव तदभ्यर्चनम् ॥४६॥

गी०भू०—यत इति । यतः परमेश्वराद्भूतानां जन्मादिलक्षणा प्रवृत्तिर्भवति, येन चेदं सर्वं जगत्तत् व्याप्तं, तमिन्द्रादिदेवतात्मनावस्थितं स्वविहितेन कर्मणाभ्यर्च्य 'एतेन कर्मणा स्वप्रभुस्तुष्यतु' इति मनसा तस्मिन्स्तत् समर्प्य मानवः सिद्धिं ज्ञाननिष्ठां विन्दति ॥४६॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परमर्थास्वनुष्ठितात् ।

स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥४७॥

सारा०ब०—न च क्रियादिभिः स्वधर्मं राजसं च वीक्ष्य तत्रानभिरुच्या सात्त्विकं कर्म कर्त्तव्यमित्याह—श्रेयानिति । परधर्मान् श्रेष्ठादपि स्वनुष्ठितात् सम्यगनुष्ठितादपि स्वधर्मो विगुणो निकृष्टोऽपि सम्यगनुष्ठितुमशक्योऽपि श्रेष्ठः । तेन बन्धुबन्धादि-दोषवत्त्वात् स्वधर्मं युद्धं त्यक्त्वा भिक्षादन्नादिरूप-परधर्मस्त्वया नानुष्ठेय इति भावः ॥ ४७ ॥

गी०भू०—ननु क्षत्रियादिधर्माणां राजसादित्वात्तेषु रुचि-शून्यैः क्षत्रियादिभिः सात्त्विको ब्रह्मधर्म एवानुष्ठेय इति चेत्त-



ब्राह्म-श्रेयानिति । स्वधर्म्मो विगुणो निकृष्टोऽपि सम्यगनुष्ठितो-  
ऽपि वा परधर्म्मादुत्कृष्टात् स्वनुष्ठिताच्च श्रेयानतिप्रशस्तो विहि-  
तत्वात् । न च हिंसानृतादि-दोषयुक्ताद्युद्धबाणिज्यादेः स्वधर्म्मा-  
च्छिलोच्छृत्त्यादिः परधर्म्मस्तदोषविरहात् श्रेयानिति मन्तव्यम्,  
यतः स्वभावेन पूर्वोक्तेन नियतं नियमेन विहितं कर्म्म कुर्वन्  
जनः किल्बिषं दोषं नाप्नोति । क्रत्वङ्गहिमाया विहितत्वाद्यथा  
न दोषत्वं, तथा युद्धायङ्गस्य हिंसानृतादेर्विहितत्वादेव न तदिति  
भावः । व्याख्यातं चैतद्विस्तरेण तृतीये ॥४७॥

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।

सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८॥

सारा०ब०—न च स्वधर्म्म एव केवलं दोषोऽस्तीति मन्तव्यम्  
यतः परधर्म्मेऽपि दोषः कश्चित् कश्चिदस्त्येवेत्याह-सहजं स्व-  
भावविहितं हि यतः सर्वेऽप्यारम्भा दृष्टादृष्टसाधनानि कर्म्मणि  
दोषेणावृता एव, यथा धूमेन दोषेणावृत एव बहिर्दृश्यते ।  
अतो धूमरूपं दोषमपाकृत्य तस्य ताप एव तमःशीतादिनि-  
वृत्तये यथा सेव्यते तथा कर्म्मणोऽपि दोषांशं विहाय गुणांश  
एव सत्त्वशुद्धये सेव्य इति भावः ॥ ४८ ॥

गी०भू०—न खलु क्षत्रियादिधर्म्मा एव युद्धादयः सदोषाः,  
ब्रह्मधर्म्माश्च तथेत्याह, सहजमिति । सहजं स्वभावप्राप्तं कर्म्म  
सदोषमपि हिंसादिमिश्रमपि न त्यजेदपि तु विहितत्वात् कुर्त्या-  
देव-निर्दोषत्वबुद्ध्या ब्रह्मकर्म्मणा चरेदित्यर्थः, यतः सर्वेति ।  
सर्वेषां ब्राह्मणादि-वर्णानामारम्भाः कर्म्मणि त्रिगुणात्मक-  
त्वाद्द्रव्यसाध्यताच्च सामान्यतः केनचिदोषेणावृता व्याप्ता एव  
भवन्ति । धूमेनेवाग्निरिति यथाग्नेर्धूमांशमपाकृत्य शीतादि-  
निवृत्तये तापः सेव्यते, तथा कर्म्मेणां भगवदर्पणेन दोषांशं

निर्धूयात्मदर्शनाय ज्ञानजनकत्वांशः सेव्य इति भावः ॥४८॥

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।

नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥

सारा०ब०—एवं सति कर्म्मणि दोषांशान् कर्त्तृत्वाभि-  
निवेशकलाभिसन्धिलक्षणान् त्यक्तवतः प्रथममन्यासिनस्तस्य  
कालेन साधनपरिपाकतो योगारूढत्वदशायां कर्म्मेणां स्वरूपेणापि  
त्यागरूपं द्वितीयं संन्यासमाह-असक्तबुद्धिः सर्वत्रापि प्राकृत-  
वस्तुषु न सक्ता आसक्तिशून्या बुद्धिर्यस्य सः, अतो जितात्मा  
वशीकृतचित्तो विगता ब्रह्मलोकपर्यन्तेऽपि सुखेषु स्पृहा यस्य  
सः; ततश्च संन्यासेन कर्म्मेणां स्वरूपेणापि त्यागेन नैष्कर्म्यस्य  
परमां श्रेष्ठां सिद्धिमधिगच्छति प्राप्नोति, योगारूढदशायां तस्य  
नैष्कर्म्यमतिशयेन सिद्धं भवतीत्यर्थः ॥ ४९ ॥

गी०भू०—एवमारुरुक्षुः सन्निष्ठो ज्ञानगर्भया कर्म्मनिष्ठयानु-  
भूतस्वरूपस्ततः कर्म्मनिष्ठां स्वरूपतस्त्यजेदित्याह-असक्तेति ।  
सर्वत्रात्मातिरिक्तेषु वस्तुष्वसक्तबुद्धिर्यतो जितात्मा स्वात्मा-  
नन्दात्वादेन वशीकृतमना अतएव विगतस्पृह आत्मातिरिक्त-  
वस्तुसाध्येषु नानाविधेष्वानन्देषु स्पृहाशून्यः । स्वात्मानन्दात्वाद्-  
विक्षेपकाणां कर्म्मेणां संन्यासेन स्वरूपतस्त्यागेन परमां नैष्क-  
र्म्यलक्षणां सिद्धिमधिगच्छति योगारूढः सन् । एवमेवोक्तं  
तृतीये—“यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्” इत्यादिना ॥४९॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।

समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥

सारा०ब०—ततश्च यथा येन प्रकारेण ब्रह्म प्राप्नोति  
ब्रह्मानुभवत इत्यर्थः । यैरज्ञानस्य निष्ठा परा परमोऽन्त इत्यर्थः;



—“निष्ठा निष्पत्तिनाशान्ताः” इत्यमरः । अविद्यायामुपरत-  
प्रायायां विद्याया अप्युपरमारम्भे येन प्रकारेण ज्ञानसन्न्यासं  
कृत्वा ब्रह्मानुभवेत्तं बुध्यस्वेत्यर्थः ॥ ५० ॥

गी०भू०—सिद्धिमिति - विहितेन कर्मणा हरिमाराध्य तत्-  
प्रसादजां सर्वकर्मत्यागान्तामात्मध्याननिष्ठां प्राप्नो यथा येन  
प्रकारेण स्थितो ब्रह्म प्राप्नोति-आविर्भावितगुणाष्टकं स्वरूप-  
मनुभवति, तथा तं प्रकारं समासेन गदतो मे मत्तो निबोध ।  
ज्ञानस्य या परा निष्ठा परेशविषया ज्ञाननिष्ठा त्वां प्रति मयो-  
च्यते, ताञ्च शृणु ॥ ५० ॥

बुद्ध्या विशुद्ध्या युक्तो धृत्वात्मानं नियम्य च ।

शब्दादीन्विषयास्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ ५१ ॥

विविक्तसेवी लब्धाशी यतवाक्कायमानसः ।

ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।

विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३ ॥

सारा०ब०—बुद्ध्या विशुद्ध्या सात्त्विक्या धृत्वापि सात्त्विक्या-  
त्मानं मनो नियम्य । ध्यानेन भगवन्निन्तनेनैव यः परो  
योगस्तत्परायणः, बलं कामरागयुक्तं न तु सामर्थ्यम् ।  
अहङ्कारादीन् विमुच्येत्यविद्योपरमः, शान्तः सत्त्वगुणस्याप्युप-  
शान्तिमानिति कृतज्ञानसन्न्यास इत्यर्थः,—“ज्ञानञ्च मयि संन्यसेत्”  
इत्येकादशोक्तेः । अज्ञानज्ञानयोरुपरमं विना ब्रह्मानुभवानुप-  
पत्तिरिति भावः । ब्रह्मभूयाय ब्रह्मानुभवाय कल्पते समर्थो  
भवति ॥ ५१-५३ ॥

गी०भू०—तं प्रकारमाह-बुद्धयेति । विशुद्ध्या सात्त्विक्या

बुद्ध्या युक्तस्तादृश्या धृत्वा चात्मानं मनो नियम्य समाधियोग्यं  
कृत्वा, शब्दादीन् विषयास्त्यक्त्वा तान् सन्निहितान् विधाय राग-  
द्वेषौ च तद्धेतुकौ व्युदस्य दूरतः परिहृत्य, विविक्तसेवी निज-  
नस्थः, लब्धाशी मितभुक्, यतानि ध्येयाभिमुखीकृतानि बागा-  
दीनि येन सः, नित्यं ध्यानयोगपरो हरिचिन्तननिरतः, वैराग्यमात्मे-  
तरबस्तुमात्रविषयकम्, अहमिति । अहङ्कारो देहात्माभिमानः,  
बलं तद्बुद्धकं बासनारूपम्, दर्पस्तद्धेतुकः प्रारब्धशेषवशादुपा-  
गतेषु भोग्येषु कामोऽभिलाषः, तेष्वन्यैरपहृतेषु क्रोधः, परिग्रहश्च  
तत्कर्मकः, तानेतानहङ्कारादीन् विमुच्य निर्ममः सन् ब्रह्मभूयाय  
गुणाष्टकविशिष्टसात्त्विकरूपत्वाय कल्पते तदनुभवति । शान्तो निस्त-  
रङ्गसिन्धुरिव स्थितः ॥ ५१-५३ ॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ ५४ ॥

सारा०ब०—ततश्चोपाध्यपगमे सति ब्रह्मभूतोऽनाद्यतचैतन्य-  
त्वेन ब्रह्मरूप इत्यर्थः, गुणमालिन्यापगमात् । प्रसन्नश्चासावात्मा  
चेति सः, ततश्च पूर्वदशायामिव नष्टं न शोचति न चाप्राप्तं  
काङ्क्षति देहाद्यभिमानाभावादिति भावः । सर्वेषु भूतेषु  
भद्राभद्रेषु बालक इव ‘समः’ बाह्यानुसन्धानाभावादिति भावः ।  
ततश्च निरिन्धनाग्नाविब ज्ञाने शान्तेऽप्यनश्वरां ज्ञानान्तर्भूतां  
मद्भक्तिं श्रवणकीर्त्तिनादिरूपां लभते, तस्या मत्स्वरूपशक्ति-  
वृत्तित्वेन मायाशक्तिभिन्नत्वादविद्याविद्ययोरपगमेऽप्यनपगमात् ।  
अतएव परां ज्ञानादन्यां श्रेष्ठां निष्कामकर्मज्ञानाद्युर्वरितत्वेन  
केवलामित्यर्थः । लभत इति पूर्वं ज्ञानवैराग्यादिषु मोक्षसिद्धयर्थं  
कलया वर्त्तमानाया अपि सर्वभूतेष्वन्तर्यामिन इव तस्याः  
स्पष्टोपलब्धिर्नासीदिति भावः । अतएव कुरुत इत्यनुक्त्वा



लभत इति प्रयुक्तम्,—भाषमुद्गादिषु मिलितां तेषु नष्टेष्व-  
प्यनश्वरां काञ्चनमणिकामिव तेभ्यः पृथक्कृतया केवलां लभत  
इतिवत् । सम्पूर्णायाः प्रेमभक्तेस्तु प्रायस्तदानीं लाभसम्भवो-  
ऽस्ति, नापि तस्याः फलं सायुज्यमित्यतः पराशब्देन प्रेमलक्षणेति  
व्याख्येयम् ॥ ५४ ॥

गी०भू०—तस्य ब्रह्मभूयोत्तरभाविनं लाभमाह—ब्रह्मेति-  
ब्रह्मभूतः साक्षात्कृताष्टगुणकस्वस्वरूपः, प्रसन्नात्मा क्लेशकर्मविपा-  
काशयानां विगमादतिस्वच्छः—‘नयः प्रसन्नसलिलाः’ इत्यादावति-  
वैमल्यं ‘प्रसन्न’शब्दार्थः, स एवंभूतो मदन्यान् कांश्चित् प्राति न  
शोचति न च तान् काङ्क्षति, सर्वेषु मदन्येषूच्चावचेषु भूतेषु  
समः—हेयत्वाविशेषाल्लोष्ट्राष्टवत्तानि मन्यमानः, ईदृशः सन् परां  
मद्वक्ति लभते—‘निष्ठा ज्ञानस्य या परा’ इत्युक्तां मदनुभवलक्षणां  
मद्वीक्षणसमानाकारां साध्यां भक्तिं विन्दतीत्यर्थः ॥ ५४ ॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ ५५ ॥

सारा०व०—ननु तथा लब्धया भक्त्या तदानीं तस्य किं  
स्यादित्यतोऽर्थान्तरन्यासेनाह—भवत्येति । अहं यावान् यश्चास्मि  
तं मां तत्पदार्थं ज्ञानी वा नानाविधो भक्तो वा भक्त्यैव  
तत्त्वतोऽभिजानाति । ‘भक्त्याहमेकया ग्राह्यः’ इति मदुक्तेः ।  
यस्मादेवम् तस्मात् प्रस्तुतः स ज्ञानी, ततस्तथा भक्त्यैव  
तदनन्तरं विद्योपरमादुत्तरकाल एव मां ज्ञात्वा मां विशति  
मत्सायुज्यमुखमनुभवति मम मायातीतत्वादविद्यायाश्च माया-  
त्वाद् विद्यायाप्यहमवगम्य इति भावः । यत्तु “सांख्ययोगौ  
च वैराग्यं तपो भक्तिश्च केशवे । पञ्चपर्वैव विद्या” इति  
नारदपद्मरात्रे विद्यावृत्तिरूपेण भक्तिः श्रूयते, तत् खलु ह्यादिनी-

शक्तिवृत्तेर्भक्तेरेव कला काचिद्विद्यासाफल्यार्थं विद्यायां प्रविष्टा  
कर्मसाफल्यार्थं कर्मयोगेऽपि प्रविशति, तथा विना कर्मज्ञान-  
योगादीनां श्रममात्रत्वेऽपि । यतो निर्गुणा भक्तिः सद्गुण-  
मय्या विद्याया वृत्तिर्वस्तुतो न भवत्यतो ह्यज्ञाननिवृत्तदत्त्वेनैव  
विद्यायाः कारणत्वं तत्पदार्थज्ञाने तु भक्तेरेव । किञ्च, “सत्त्वात्  
संजायते ज्ञानम्” इति स्मृतेः सत्त्वजं ज्ञानं सत्त्वमेव तच्च  
सत्त्वं विद्या-शब्देनोच्यते यथा तथा भक्त्युत्थं ज्ञानं भक्तिरेव,  
सैव क्वचित् भक्ति-शब्देन, क्वचित् ज्ञान-शब्देन चोच्यते  
इति ज्ञानमपि द्विविधं द्रष्टव्यम् । तत्र प्रथमं ज्ञानं संन्यस्य,  
द्वितीयेन ज्ञानेन ब्रह्मसायुज्यमाप्नुयादित्येकादशस्कन्धपञ्चविंशत्य-  
व्यायहृष्ट्यापि ज्ञेयम् । अत्र केचिद्भक्त्या विनैव केवलेनैव  
ज्ञानेन सायुज्याथिनस्ते ज्ञानिमानिनः क्लेशमात्रफला अति-  
विगीता एव; अन्ये तु भक्त्या विना केवलेन ज्ञानेन न  
मुक्तिरिति ज्ञात्वा भक्तिमिश्रमेव ज्ञानमभ्यस्यन्तो भगवांस्तु  
मायोपाधिरेवेति भगवद्वपुर्गुणमयं मन्यमाना योगारूढत्व-  
दशमपि प्राप्तास्तेऽपि ज्ञानिनो विमुक्तमानिनो विगीता एव  
यदुक्तम्—“मुखबाहुरपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह । चत्वारो जङ्घिरे  
वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक् ॥ य एवं पुरुषं साक्षादात्मप्रभव-  
मीश्वरम् । न भजन्त्यबजानन्ति स्यानाद्भ्रष्टाः पतन्त्यधः ॥”  
इति । अस्यार्थः—ये न भजन्ति, ये च भजन्तोऽप्यबजानन्ति  
ते संन्यासिनोऽपि विनष्टाविद्या अप्यधःपतन्ति, तथा ह्युक्तम्  
—“येऽन्येऽगविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्तद्व्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः ।  
आरूढा वृच्छाण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनाहतयुष्मदङ्घ्रयः”  
इति । अत्र आङ्घ्रिपदं भक्त्यैव प्रयुक्तं विवक्षितम्, अनाहत-  
युष्मदङ्घ्रय इति—तनोर्गुणमयत्वबुद्धिरेव तनोर्नादरः, यदुक्तम्  
—“अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्” इति, वस्तुतस्तु



मानुषी सा तनुः सच्चिदानन्दमप्येव; तस्या दृश्यत्वन्तु दुरतवर्त्यतदी-  
यकृपाशक्तिप्रभावादेव यदुक्तं नारायणाध्यात्मबचनम्—“नित्या-  
व्यक्तोऽपि भगवानीक्षते निजशक्तितः । तामृते परमानन्दं कः  
पश्येत्तामिमं प्रभुम् ॥” इति । एवञ्च भगवत्तनोः सच्चिदानन्दमयत्वे  
“क्लृप्तं सच्चिदानन्दविग्रहं श्रीवृन्दावनसुरभूरुह--तलासीनम्”  
इति, “शाब्दं ब्रह्म वपुर्दधत्” इत्यादि श्रुति--स्मृतिपरसहस्र-  
वचनेषु प्रमाणेषु सत्त्वापि “मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु  
महेश्वरम्” इति श्रुतिदृष्ट्यैव भगवानपि मायोपाधिरिति मन्यन्ते  
किन्तु स्वरूपभूतया नित्यशक्त्या मायाख्यया युतः—“अतो  
मायामयं विष्णुं प्रबदन्ति सनातनम्” इति माध्वभाष्यप्रमाण-  
तश्रुतेः । मायान्वित्यत्र माया-शब्देन स्वरूपभूता चिच्छक्ति-  
रेवाभिधीयते न त्वस्वरूपभूता त्रिगुणमय्येव शक्तिरिति तस्याः  
श्रुतेरर्थं न मन्यन्ते, यद्वा प्रकृतिं दुर्गां मायिनन्तु महेश्वरं  
शम्भुं विद्यादित्यथमपि नैव मन्यन्ते । अतो भगवदपराधेन  
जीवन्मुक्तत्वदशां प्राप्ता अपि तेऽधःपतन्ति, यदुक्तं बासना-  
भाष्यधृतं परिशिष्टवचनम्—“जीवन्मुक्ता अपि पुनर्यान्ति संसार-  
बासनाम् । यद्यचिन्त्यमहाशक्तौ भगवत्पराधिनः ॥” इति ।  
ते च फलप्राप्तौ सत्यामर्थात् नास्ति साधनोपयोग इति मत्वा  
ज्ञानसन्न्यासकाले ज्ञानं तत्र गुणीभूतां भक्तिमपि संत्यज्य  
मिथ्यैवापरोक्षब्रह्मानुभवं त्वस्य मन्यन्ते । श्रीविग्रहापराधेन  
भक्त्या अपि ज्ञानेन सार्द्धमन्तर्द्वानाद्भक्तिं ते पुनर्नैव लभन्ते  
भक्त्या विना च तत्पदार्थाननुभावान्मृषा-समाधयो जीवन्मुक्त-  
मानिन एव ते ज्ञेयाः, “यदुक्तम्—येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्त-  
मानिनः” इति । ये तु भक्तिमिश्रं ज्ञानमभ्यस्यन्तो भगवन्मूर्तिं  
सच्चिदानन्दमयीमेव मन्यमानाः क्रमेणाविद्याविद्ययोरुपरमे  
परां भक्तिं न लभन्ते, ते जीवन्मुक्ता द्विविधाः—एके सायु-

व्यर्थं भक्तिं कुर्वन्तस्तथैव ‘तत्’ पदार्थमपरोक्षीकृत्य तस्मिन्  
सायुज्यं लभन्ते ते संगीता एव, अपरे भूरिभागा यादृच्छि-  
कशान्तमहाभागवतसङ्गप्रभावेण त्यक्तमुमुक्षाः शुकादिवद्वक्ति-  
रसमाधुर्य्यास्वाद एव निमज्जन्ति, ते तु परमसंगीता एव ।  
यदुक्तम्—“आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे । कुर्वन्त्य-  
हेतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ॥” इति । तदेवं चतुर्विधा  
ज्ञानिनो द्वये विगीताः पतन्ति, द्वये संगीतास्तरन्ति संसार-  
मिति ॥ ५५ ॥

गी०भू०—ततः किं तदाह-भक्त्येति । स्वरूपतो गुणतश्च  
योऽहं विभूतितश्च यावानहमस्मि तं मां परया मद्भक्त्या तत्त्व-  
भिजानात्यनुभवति । ततो मत्परभक्तितो हेतोरुक्तलक्षणं मां  
तत्त्वतो याथात्म्येन ज्ञात्वानुभूय तदनन्तरं तत् एव हेतोर्मां विशते  
मया सह युज्यते । ‘पुरं प्रविशति’ इत्यत्र पुरसंयोग एव प्रती-  
यते न तु पुरात्मकत्वम् । अत्र तत्त्वतोऽभिज्ञाने प्रवेशे च भक्ति-  
रेव हेतुरुक्तो बोध्यः—‘भक्त्या त्वनन्यया शक्यः’ इत्यादि पूर्वोक्तेः ।  
तदनन्तरमिति मत्स्वरूपगुणविभूति-तान्त्रिकानुभवादुत्तरस्मिन्  
काले इत्यर्थः, यद्वा, परया भक्त्या मां तत्त्वतो ज्ञात्वा ततस्तां  
भक्तिमादायैव मां विशते “त्यवलोपे कर्मणि पञ्चमी” । मोक्षे-  
ऽपि भक्तिरस्तीत्याह सूत्रकृत—“आप्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम्”  
इति—“आप्रायणादामोक्षात्तत्रापि मोक्षे च भक्तिरनुवर्त्तते” इति  
श्रुतौ दृष्टमिति सूत्रार्थः । भक्त्या विनष्टाविद्यानां भक्त्याः स्वादो  
विवर्द्धते—सितया नष्टपित्तानां सितास्वादवदिति रहस्यविदः ।  
इत्यञ्च सनिष्ठानां साधनसाध्यपद्धतिरुक्ता ॥ ५५ ॥

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्भक्त्याश्रयः ।

मत्प्रसादाद्वामोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ ५६ ॥



सारा०ब०—तदेवं ज्ञानी यथाक्रमेणैव कर्मफलसन्न्यास-  
कर्मसन्न्यास-ज्ञानसन्न्यासैर्मत्-सायुज्यं प्राप्नोतीत्युक्तम् । मद्भक्त-  
स्तु मां यथा प्राप्नोति तदपि शृण्वत्याह-सर्व्वेति । मद्भक्त-  
श्रयो मां विशेषतोऽपकर्षेण सकामतयापि य आश्रयते सोऽपि  
किं पुनर्निष्कामभक्त इत्यर्थः । सर्व्वकर्माण्यापि नित्यनैमित्तिक-  
काम्यानि पुत्रकलत्रादि-पोषणलक्षणानि व्यवहारिकार्यापि  
सर्व्वर्षाणि कुर्व्वर्षाणि किं पुनस्त्यक्तकर्मयोगज्ञानदेवतान्तरोपासना-  
न्यकामान्यभक्त इत्यर्थः । अत्राश्रयते सम्यग् सेवत इति आहु-  
पसर्गेन सेवायाः प्रधानीभूतत्वम् । कर्माण्यपीत्यपि-शब्देनाप-  
कर्षबोधकेन कर्मणां गुणीभूतत्वम् । अतोऽयं कर्ममिश्रभक्ति-  
मान्, न तु भक्तिमिश्रकर्मवानिति प्रथमषट्कोक्ते कर्माणि  
नातिव्याप्तिः । शाश्वतं महत्पदं मद्धाम वैकुण्ठमथुराद्वारकायोध्या-  
दिकमवाप्नोति । ननु महाप्रलये तत्तद्धाम कथं स्थास्यति ?  
तत्राह-अव्ययं महाप्रलये मद्धाम्नः किमपि न व्ययति, मदतर्क्य-  
प्रभावादिति भावः । ननु ज्ञानी खल्वनेकैर्जन्मभिरनेकतपश्चादि-  
क्लेशैः सर्व्वविषयेन्द्रियोपरामेणैव नैष्कर्म्यं सत्येव यत् सायुज्यं  
प्राप्नोति, तस्य ते नित्यं धाम सकर्मकत्वे सकामकत्वेऽपि  
त्वदाश्रयणमात्रेणैव कथं प्राप्नोति ? तत्राह-मत्प्रसादादिति-  
मत्प्रसादस्यातर्क्यमेव प्रभावत्वं जानीहीति भावः ॥ ५६ ॥

गी०भू०—अथ परिनिष्ठितानामाह-सर्व्वेति साद्धृद्व्या-  
भ्याम् । मद्भक्तपाश्रयो मदेकान्तो सर्व्वर्षाणि स्वविहितानि कर्माणि  
यथायोगं कुर्व्वर्षाणि, अपि शब्दाद्गौणकाले-मदेकान्तिनस्तस्य  
मुख्यकालाभावात् । एवमाह सूत्रकारः—“सर्व्वथापि तत्र बोभय-  
लिङ्गात्” इति । ईदृशः स मत्प्रसादान्मदत्यनुग्रहात् शाश्वतं नित्य-  
मव्ययमपरिणामिज्ञानानन्दात्मकं पदं परमव्योमाख्यमवाप्नोति  
ज्जमते ॥ ५६ ॥

चेतसा सर्व्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।

बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ ५७ ॥

सारा०ब०—ननु तर्हि मां प्रति त्वं निश्चयेन किमाज्ञापयसि ?  
—किमहमनन्यभक्तो भवानि, किंवानन्तरोक्तलक्षणः सकाम-  
भक्त एव ? तत्र सर्व्वप्रकृष्टोऽनन्यभक्तो भवितुं त्वं न प्रम-  
विष्यसि, नापि सर्व्वभक्तेष्वपकृष्टः सकामभक्तो भव किन्तु  
त्वं मध्यमभक्तो भवेत्याह-चेतसेति । सर्व्वकर्माणि स्वाश्रम-  
धर्मान् व्यवहारिककर्माणि च मयि संन्यस्य समर्प्य मत्परो-  
ऽहमेव परः प्राप्यः पुरुषार्थो यस्य स निष्काम इत्यर्थः ;  
यदुक्तं पूर्व्वमेव—“यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि  
यत् । यत्तापस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम् ॥” इति ।  
बुद्धियोगं व्यवसायात्मिकया बुद्ध्या योगम्, सततं मच्चित्तः  
कर्मानुष्ठानकालेऽन्यदापि मां स्मरन् भव ॥ ५७ ॥

गी०भू०—तादृशत्वादेव त्वं सर्व्वर्षाणि स्वविहितानि कर्माणि  
कर्त्ता त्वाभिमानादिशून्येन चेतसा स्वामिति मयि संन्यस्यार्पयित्वा  
मत्परो मदेकपुरुषार्थो मामेव बुद्धियोगमुपाश्रित्य सततं कर्मा-  
नुष्ठानकाले मच्चित्तो भव । एतच्च त्वां प्रति प्रागप्युक्तं ‘यत् करोषि’  
इत्यादिना-अर्पयित्वैव कर्माणि कुरु, न तु कृत्वार्पयेति ॥ ५७ ॥

मच्चित्तः सर्व्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।

अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥ ५८ ॥

सारा०ब०—ततः किमत आह-मच्चित्त इति ॥ ५८ ॥

गी०भू०—एवं मच्चित्तास्त्वं मत्प्रसादादेव सर्व्वर्षाणि दुर्गाणि  
दुस्तराणि संसारदुःखानि तरिष्यसि, तत्र ते न चिन्ता । तान्यहं  
भक्तबन्धुरपनेष्यामि दास्यामि चात्मानमिति परिनिष्ठितानां



साधनसाध्यपद्धतिरुक्ता । अथ चेदहङ्कारात् कृत्याकृत्यविषयक-  
ज्ञानाभिमानात्त्वं मदुक्तं न श्रोष्यसि, तर्हि विनङ्क्ष्यसि-स्वार्थात्  
विभ्रष्टो भविष्यसि । न हि कश्चित् प्राणिनां कृत्याकृत्ययोर्विज्ञाता  
ऽशास्ता वा मर्तोऽन्यो वर्त्तते ॥५८॥

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।

मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥

सारा०ब०—ननु क्षत्रियस्य मम युद्धमेव परो धर्मस्तत्र  
बन्धुबधपापाद्धीत एव प्रवर्तितुं नेच्छामीति तत्र सतर्ज्जनमाह  
—यदहमिति । प्रकृतिः स्वभावः । अधुना त्वं मद्बचनं न  
मानयसि, यदा तु महावीरस्य तव स्वाभाविको युद्धोत्साहो  
दुर्वार एवोद्भवति, तदा युध्यमानः स्वयमेव भीष्मादीन्  
गुरुन् हनिष्यन् मया हसिष्यस इति भावः ॥५९॥

गी०भू०—यद्यपि क्षत्रियस्य युद्धमेव धर्मस्तथापि गुरु-  
विप्रादिवधहेतुकात् पापाद्धीतस्य मे न तत्र प्रवृत्तिरिति कृत्या-  
कृत्यविज्ञातृत्वाभिमानमहङ्कारमाश्रित्य 'नाहं योऽस्ये' इति यदि  
त्वं मन्यसे, तर्हि तवैष व्यवसायो निश्चयो मिथ्या निष्फलो  
भावी-प्रकृतिर्मन्माया रजोगुणात्मना परिणता मद्वाक्यावहेति न  
त्वां गुर्वीदिवधे निमित्ते युद्धे नियोक्ष्यति प्रवर्त्तयिष्यत्येव ॥५९॥

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।

कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥

सारा०ब०—उक्तमेवार्थं निवृणोति—स्वभावः क्षत्रियत्वे  
हेतुः, पूर्वसङ्कारस्तस्माज्जातेन स्वीयेन कर्मणा शौर्यादिना  
निबद्धो यन्त्रितः ॥६०॥

गी०भू०—उक्तमुपपादयति-स्वभावेति - यदि त्वं मोहाद-

ज्ञानान्मदुक्तमपि युद्धं कर्तुं नेच्छसि, तदा स्वभावजेन स्वेन  
कर्मणा शौर्येण मन्मयोद्भासितेन निबद्धोऽवशस्तत् करि-  
ष्यसि ॥६०॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥

सारा०ब०—श्लोकद्वयेन स्वभाववादिनां मतमुक्त्वा स्वमत-  
माह-ईश्वरो नारायणः सर्वान्तर्यामी—“यः पृथिव्यां तिष्ठन्  
पृथिव्या अन्तरो, यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरं,  
यः पृथिवीमन्तरो यमयतीति ।” “यच्च किञ्चित् जगत् सर्वं  
दृश्यते श्रयतेऽपि वा । अन्तर्बहिश्च तत् सर्वं व्याप्य नारायणः  
स्थितः ॥” इत्यादि-श्रुतिप्रतिपादित ईश्वरोऽन्तर्यामी हृदि  
तिष्ठति, किं कुर्वन् ? सर्वाणि भूतानि मायया निजशक्त्या  
भ्रामयन् तत्तत् कर्माणि प्रवर्त्तयन्, यथा सूत्रसञ्चारादि-  
यन्त्रमारूढानि कृत्रिमाण पाञ्चालिकारूपाणि सर्वभूतानि माया  
विभ्रमयति तद्वदित्यर्थः, यद्वा यन्त्रारूढाणि शरीरारूढानि  
सर्वजीवानित्यर्थः ॥६१॥

गी०भू०—विज्ञातृत्वाभिमानमिबालक्ष्याञ्जु नमत्याज्यत्वाद्भि-  
धान्तरेणोपदिशति-ईश्वर इति द्वाभ्याम् । हे अर्जुन ! त्वं चेन्  
त्वं विज्ञं मन्यसे तर्ह्यन्तर्यामिन्नाहणात्त्वया ज्ञातो य ईश्वरः  
सर्वभूतानां ब्रह्मादिस्थावरान्तानां हृद्देशे तिष्ठति मायया स्व-  
शक्त्या तानि भ्रामयन् सन् । सर्वभूतानि विशिनष्टि-यन्त्रेति-  
यत् कर्मानुगुणं माया-निर्मितं देहेन्द्रियप्राणलक्षणं यन्त्रं तदा-  
रूढानि । रूपकेणोपमात्र व्यज्यते-यथा सूत्रधारो दारुयन्त्रा-  
रूढानि कृत्रिमाण भूतानि भ्रामयन्ति, तद्वत् ॥६१॥



तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।

तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

सारा०ब०—एतज्ज्ञापनप्रयोजनमाह—तमेवेति । परामविद्या विद्ययोर्निवृत्तिम्, ततश्च शाश्वतं स्थानं वैकुण्ठम् । इयमन्तर्ग्यामिशरणापत्तिरन्तर्ग्याम्युपासकानामेव, भगवदुपासकानान्तु भगवच्छरणपत्तिरग्रे वक्ष्यत एवेति केचिदाहुः । अन्यस्तु यो मादिष्टदेवः श्रीकृष्णः स एव मदगुरुर्मां भक्तियोगं तदनुकूलं हितञ्चोपदेशमुपदिशति च, तमहं शरणं प्रपद्ये तथा कृष्ण एव मदन्तर्ग्यामी, सोऽपि मां तत्र तत्र प्रवर्त्तयितुं तज्ज्ञाहं शरणं प्रपद्ये इत्यनिशं भावयति । यदुक्तमुद्धवेन—“नैवोपयन्त्यपचितिं कवयस्तवेश, ब्रह्मायुषापि कृतमृद्धमुदः स्मरन्तः । योऽन्तर्वहिस्तनुभृतामशुभं विधुन्वन्नाचार्य्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति ॥” इति ॥ ६२ ॥

गी०भू०—तर्हि तमेवेश्वरं सर्वभावेन कायादिव्यापारेण शरणं गच्छ, ततः किमिति चेत्तत्राह—तदिति । परां शान्तिं निखिलकलेशविश्लेषलक्षणाम्, शाश्वतं नित्यं स्थानं च—“तद्विष्णोः परमं पदम्” इत्यादि श्रुतिगीतं तद्धाम प्राप्स्यसि । स चेश्वरोऽहमेव त्वत्सखः “सर्वस्य चाहं हृदि सान्नाविष्टः” इत्यादि मत्पूर्वोक्तेर्देवर्ष्यादिसम्भतिप्राहिणा त्वयापि ‘परं ब्रह्म परं धाम’ इत्यादिना स्वीकृतत्वाच्च, विश्वरूपदर्शने प्रत्यक्षितत्वाच्च । तस्मान्मदुपदेशे तिष्ठेति ॥६२॥

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।

विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

सारा०ब०—सर्वगीतार्थमुपसंहरति—इतीति । कर्मयोगस्या-

ष्टाङ्गयोगस्य ज्ञानयोगस्य च ज्ञानं ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं ज्ञानशास्त्रं गुह्याद्गुह्यतरमित्यतिरहस्यत्वात् कैरपि वशिष्ठ-बादरायण-नारदाद्यैरपि स्व-स्व-कृत-शास्त्रेणाप्रकाशितम् ; यद्वा तेषां सार्वज्ञ्यमापेक्षिकं मम त्वात्यन्तिकमित्यतस्ते त्वेदतिगुह्यत्वान्न जानन्ति, मयाप्यतिगुह्यत्वादेव ते सर्वथैव नैतदुपदिष्टा इति भावः । एतदशेषेण निःशेषत एव विमृश्य यथा येन प्रकारेण स्वाभिर्वाचितस्तत् कर्त्तुमिच्छसि, तथा तत् कुर्वित्यन्त्यं ज्ञानषट्कं सम्पूर्णम् । षट्कत्रिकमिदं सर्वविद्याशिरोरत्नं श्रीगीताशास्त्रं महानर्घरहस्यतम- भक्तिसम्पुटं भवति-प्रथमं ‘कर्म’ षट्कं यस्याधारपिधानं कानकं भवति, अन्त्यं ‘ज्ञान’-षट्कं यस्योत्तरापिधानं मणिजटितं कानकं भवति, तयोर्मध्यवर्त्ति-षट्कगता भक्तिस्त्रीजगदनर्घ्या श्रीकृष्णवशीकारिणी महामणिमर्ताल्लिका विराजते, यस्याः परिचारिका तदुत्तरपिधानार्द्धगता ‘मन्मता भव’ इत्यादि पद्मद्वयी चतुःषष्ट्यक्षरा शुद्धा भवतीति बुध्यते ॥ ६३ ॥

गी०भू०—शास्त्रमुपसंहरन्नाह—इतीति — इति पूर्वोक्तप्रकारकं ज्ञानं गीताशास्त्रम्—“ज्ञायन्ते कर्मभक्तज्ञानान्वयेन” इति निरुक्तेः, तन्मया ते तुभ्यमाख्यातं संप्रोक्तम् । गुह्यादरहस्यमन्त्रादिशास्त्राद्गुह्यतरमिति गोप्यम् । एतच्छास्त्रशेषेण सामान्येन विमृश्य पश्चाद्यथेच्छसि, तथा कुरु । एतस्मिन् पर्यालोचिते तव मोहविनाशो मद्वर्त्तसि स्थितिश्च भविष्यतीति ॥६३॥

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।

इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥

सारा०ब०—ततश्चातिगम्भीरार्थं गीताशास्त्रं पर्यालोचयितुं प्रवर्त्तमानं तृष्णीम्भूयैव स्थितं स्व-प्रियसखमञ्जुं नमालक्ष्य कृपाद्रवाञ्छितं नवनीतो भगवान्-भोः प्रियवयस्य अञ्जुन !



सर्वशास्त्रसारमहमेव श्लोकाष्टकेन ब्रवीमि, अलं ते तत्तत्-  
पर्यालोचनकृतेत्याह-सर्वेति । भूय इति राजबिद्या राज-  
गुह्याध्यायान्ते पूर्वमुक्तम् । मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां  
नतस्कुरु । मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥” इति  
यत्तदेव बचः परमं सर्वशास्त्रार्थ-सारस्य गीताशास्त्रस्यापि सारं  
गुह्यतममिति-नातः परं किञ्चन गुह्यमस्ति कश्चित् कुतश्चित्  
कथमप्यखण्डमिति भावः । पुनः कथने हेतुमाह-इष्टोऽसि  
दृढमतिशयेन एव प्रियो मे सखा भवसीति । तत एव हेतोर्हितं  
त इति सखायं विनातिरहस्यं न कमपि कश्चिदपि ब्रूत इति  
भावः । दृढमतिरिति च पाठः ॥ ६४ ॥

गी०भू०—अथ निरपेक्षाणां साधनसाध्यपद्धतिमुपदेक्ष्यन्नादौ  
तां स्तौति-सर्वेति - सर्वेषु गुह्येषु मध्येऽतिशयितं गुह्यमिति  
सर्वगुह्यतमम् । भूय इति-राजबिद्याध्याये ‘मन्मना भव’ इत्या-  
दिना पूर्वमपि ममातिप्रियत्वादन्ते पुनरुच्यमानं शृणु परमं  
सर्वसारस्यापि गीताशास्त्रस्य सारभूतम् । पुनःकथनेन हेतुः-  
इष्टोऽसीति त्वं ममेष्टः प्रियतमोऽसि । मद्वाक्यं दृढनिश्चल-प्रमा-  
णोपेतमिति निश्चिनोष्यतस्ते हितं वक्ष्यामि-तथाप्येतदेवानुष्ठेय-  
मिति भावः ॥ ६४ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५ ॥

सारा०व०—मन्मना भव इति मद्भक्तः सन्नेव मां चिन्तय,  
न तु ज्ञानी योगी वा भूत्वा मद्भक्त्या नं कुर्वित्यर्थः, यद्वा  
मन्मना भव मद्यं श्यामसुन्दराय सुस्निग्धाकुञ्चितकुन्तलकाय  
सुन्दरभ्रुवर्ज-मधुरकृपाकटाक्षामृतवर्षिबदनचन्द्राय स्वीयं देयत्वेन  
मना यस्य तथाभूतो भव, अथवा श्रोत्रादीन्द्रियाणां देहीत्याह

--मद्भक्तो भव श्रवणकीर्त्तन-मन्मूर्तिदर्शन-मन्मन्दिरमार्जन-  
लेपन-पुष्पाहरण-मन्मालालङ्कारच्छत्रचामरादिभिः सर्वेन्द्रिय-  
करणकं मद्भजनं कुरु, अथवा मद्यं गन्धपुष्पधूपदीपनैवेद्यादीनि  
देहीत्याह-मद्याजी भव मत्पूजनं कुरु, अथवा मद्यं नमस्कार-  
मात्रं देहीत्याह-मां नमस्कुरु भूमौ निपत्याष्टाङ्गं पञ्चाङ्गं वा  
प्रणामं कुरु । एषां चतुर्णां मच्चिन्तनसेवनपूजनप्रणामानां  
समुच्चयमेकतरं वा त्वं कुरु । मामेवैष्यसि प्राप्स्यसि, मनःप्रदानं  
श्रोत्रादीन्द्रियप्रदानं गन्धपुष्पादिप्रदानं वा त्वं कुरु । तुभ्यमह-  
मात्मानमेव दास्यामीति सत्यं—ते तवैव, नात्र संशयिष्ठा  
इति भावः,—“सत्यं शपथतथ्ययोः” इत्यमरः । ननु माथुर-  
देशोद्धूता लोकाः प्रतिवाक्यमेव शपथं कुर्वन्ति सत्यम्, तां ह  
प्रतिजाने प्रतिज्ञां कृत्वा ब्रवीमि—त्वं मे प्रियोऽसि, न हि  
प्रियं कोऽपि ब्रूयतीति भावः ॥ ६५ ॥

गी०भू०—एतद्वचः प्राह-मन्मना भवेति । व्याख्यातं प्राक्  
मन्मनस्त्वादिविशिष्टो मामेव नीलोत्पलश्यामलत्वादिगुणकं त्वद-  
तिप्रियं देवकीनन्दनं कृष्णमेव मनुष्यसंनिवेशिनमेव्यसि, न तु  
मम रूपान्तरं सहस्रशीर्षत्वादिलक्षणमङ्गुष्ठमात्रमन्तर्यामिणं वा  
नृसिंहवराहादिलक्षणं वेत्यर्थः । तुभ्यमहमात्मानमेव त्वत्सखं  
दास्यामीति ते तव सत्यं शपथः—“सत्यं शपथतथ्ययोः” इति  
नानार्थवर्गः । अत्र न संशयिष्ठा इति भावः । ननु माथुरत्वात्ताव  
शपथकरणादपि मे न संशयविनाशस्तत्राह-प्रतिजाने प्रतिज्ञां  
कृत्वाहमब्रुवम् ; यत्त्वं मे प्रियोऽसि स्निग्धमनसा हि माथुराः  
प्रियं न प्रतारयन्ति, किं पुनः प्रेष्टमिति भावः । यस्य मर्यति-  
प्रीतिस्तस्मिन् ममापि तथा । तद्वियोगं सोढुमहं न शक्नोमीति  
पूर्वमेव मया उक्तं—प्रियो हि श्यादिना ; तस्मान्मद्वाचि विध-  
सिहि मामेव प्राप्स्यसि ॥ ६५ ॥



सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज ।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥

सारा०ब०—ननु त्वद्ध्यानादिकं यत् करोमि तत् किं स्वा-  
धर्मधर्मानुष्ठानपूर्वकं वा केवलं वा ? तत्राह—सर्वधर्मान्  
वर्णाश्रमधर्मान् सर्वान् एव परित्यज्य एकं मामेव शरणं  
ब्रज, परित्यज्य संन्यस्येति न व्याख्येयमर्जुनस्य क्षत्रियत्वेन  
संन्यासानधिकारान्न चार्जुनं लक्ष्यकृत्यान्यजनसमुदायमेवो-  
पदिदेश भगवानिति बाध्यम् । लक्ष्यभूतमर्जुनं प्रत्युपदेशं  
योजयितुमौचित्ये सत्येवान्यस्याप्युपदेष्टव्यत्वं सम्भवेन्न त्वन्यथा,  
न च परित्यज्येत्यस्य फलत्याग एव तात्पर्यमिति व्याख्येय-  
मस्य वाक्यस्य “देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किङ्करो नायमृणी  
च राजन् । सर्वार्थमात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परि-  
हृत्य कर्त्तुम ॥” “मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मन् निवेदितात्मा  
विचिकीर्षितो मे । तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो मयात्मभूयाय च  
कल्पते वै ॥” “तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।  
मत्कथा श्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥” आज्ञायैवं  
गुणान् दोषान् मयादिष्टानपि स्वकान् । धर्मान् संत्यज्य यः  
सर्वान् मां भजेत् स च सत्तमः ॥” इत्यादिभिर्भगवद्वाक्यैः  
सहैकार्थस्यावश्यव्याख्येयत्वात् । अत्र च परि-शब्द-प्रयोगाच्च ।  
अत एकं मां शरणं ब्रज न तु धर्मज्ञानयोग-देवतान्तरादिक-  
मित्यर्थः । पूर्वं हि मदन्त्यभक्तौ सर्वत्रेष्टायां तवाधिकारो  
नास्तीत्यतस्त्वं ‘यत् करोषि यदश्रासि’ इत्यादि-ब्रुवाणेन मया  
कर्ममिश्रायां भक्तौ तवाधिकार उक्तः । सम्प्रति त्वतिकृपया  
तुभ्यमन्त्यभक्तावेवाधिकारस्तस्या अनन्त्यभक्तेर्यादृच्छिकमदै-  
कान्तिक-भक्तकृपैकलभ्यत्वलक्षणं नियमं स्वकृतमपि भीष्मयुद्धे  
स्वप्रतिज्ञामिवापनीय दत्ता इति भावः । न च मदाज्ञया नित्य-

नैमित्तिककर्मत्यागे तव प्रत्यवाय-शङ्का सम्भवेत् । वेदरूपेण  
मयैव नित्यकर्मनुष्ठानमादिष्टमधुना तु स्वरूपेणैव तस्याग-  
आदिश्यत इत्यतः कथं ते नित्यकर्मकरणे पापानि सम्भवन्तु ?  
प्रत्युतातः परं नित्यकर्मणि कृत एव पापानि भविष्यन्ति साक्षा-  
न्मदाज्ञालङ्घनादित्यवधेयम् । ननु यो हि यच्छरणो भवति, स  
हि मूल्यक्रीतः पशुरिव तदधीनः, स तं यत् कारयति, तदेव  
करोति, यत्र स्थापयति, तत्रैव तिष्ठति, यद्भोजयति तदेव भुङ्क्ते  
इति शरणापत्तिलक्षणस्य धर्मस्य तत्त्वम्, यदुक्तं वायुपुराणे—  
“आनुकूल्यस्य मङ्गल्यं प्रतिकूल्यस्य बर्जितम् । रक्षिष्यतीति  
विश्वासो भर्त्तृत्वे ( “गोप्तृत्वे” इति पाठो वा ) वरणं तथा ।  
निःक्षेपणमकार्पण्यं षड्विधा शरणागतिः ॥” इति । भक्तिशास्त्र-  
विहिता स्वामीष्टदेवाय रोचमाना प्रवृत्तिरानुकूल्यं, तद्विपरीतं  
प्रातिकूल्यम्, ‘भर्त्तृत्वे’ (गोप्तृत्वे) इति स एव मम रक्षको नान्य  
इति यत्, रक्षिष्यतीति स्वरक्षणप्रातिकूल्यवस्तुपूषस्थितेऽपि स  
मां रक्षिष्यत्येवेति द्रौपदीगजेन्द्रादीनामिव विश्वासः, निःक्षेपणं  
स्वीयस्थूलसूक्ष्मदेहसहितस्य एव स्वस्य श्रीकृष्णार्थ एव विनियोगः,  
अकार्पण्यं नान्यत्र कापि स्वदैवज्ञापनमिति पण्णां वस्तूनां  
विधाऽनुष्ठानं यस्यां सा शरणागतिरिति । तद्व्याख्याय यद्यहं त्वां  
शरणं गत एव बर्त्ते, तर्हि त्वदुक्तं भद्रमभद्रं वा यद्भवेत्तदेव मम  
कर्त्तव्यम् । तत्र यदि त्वं मां धर्ममेव कारयसि, तदा न काचि-  
चिन्ता । यदि त्वीश्वरत्वात् स्वैराचारस्त्वं मामधर्ममेव कारयसि,  
तदा का गतिस्तत्राह—अहमिति । प्राचीनावर्वाचीनानि यावन्ति  
वर्त्तन्ते, यावन्ति बाहं कारयिष्यामि, तेभ्यः सर्वेभ्य एव पापे-  
भ्यो मोक्षयिष्यामि—नाहमन्यशरण्य इव तत्रासमर्थ इति भावः ।  
त्वामात्मन्यैव शास्त्रमिदं लोकमात्रमेवोपदिष्टवानस्मि । मा शुचः—  
स्वार्थं परार्थं वा शोकं मा कार्षीः—युष्मदादिकः सर्वे एव लोकः



स्वपरधर्मान् सर्वान् एव परित्यज्य मच्चिन्तनादिपरो मां शरण-  
मापय सुखेनैव वर्त्तातां, तस्य पापमोचनभारः संसारमोचनभारो  
मत्प्रापणभारो मया प्रतिज्ञायैवाङ्गीकृतः । किं बहुना, देहव्यव-  
हारभारोऽपि मयाङ्गीकृत एव, यदुक्तम्--“अनन्याश्चिन्तयन्तो  
मां ये जनाः पर्युपासते । तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं  
ब्रह्महम् ॥” इति । हन्त ! एतावान् भारो मया स्वप्रभौ  
निक्षिप्त इत्यपि शोकं मा कार्षीर्भक्तवत्सलस्य सत्यसङ्कल्पस्य मम  
न तत्रायासलेशोऽपीति नातः परमधिकमुपदेष्टव्यमस्तीति शास्त्रं  
समाप्तीकृतम् ॥६६॥

गी०भू०—ननु यजनप्रणत्यादिस्तव शुद्धा भक्तिः प्राक्तनकर्म-  
रूपानन्तपापमलिनहृदा पुंसां कथं शक्या कर्तुं यावत् त्वद्वक्ति-  
विरोधीनि तान्यनन्तानि पापानि कृच्छ्रादिप्रायश्चित्तैः सबिहितैश्च  
धर्मैर्न विनश्येयुरिति चेत्तत्राह—सर्वेति । प्राक्तन-पापप्रायश्चित्ता-  
भूतान् कृच्छ्रादीन् सबिहितांश्च सर्वान् धर्मान् परित्यज्य स्व-  
रूपतत्त्वा मां—सर्वेश्वरं कृष्णं नृसिंहदाशरथादिरूपेण बहु-  
धाविभूतं विशुद्धभक्तिगोचरं सन्तमविद्यापर्यन्तसर्वकामविना-  
शकमेकं, न तु मत्तोऽन्यं शितिकण्ठादिं, शरणं ब्रज प्रपद्यस्व ।  
शरण्यः सर्वेश्वरोऽहं सर्वपापेभ्यस्तेभ्यः प्राक्तनकर्मभ्यस्त्वां  
शरणागतं मोक्षयिष्यामीति मिथःकर्त्तव्यता दर्शिता । त्वं मा  
शुचः—अचिरायुषा मया हृद्विशुद्धिमिच्छतातिचिरसाध्या दुष्क-  
राश्च ते कृच्छ्रादयः कथमनुष्ठेया इति शोकं मा कार्षीरित्यर्थः ।  
अत्र मत्प्रपत्त्यैव निखिलो दोषविनाशात्तदर्थं कृच्छ्रादिप्रयासो  
मत्प्रपत्तुर्न भवेदित्युक्तम् । श्रुतिश्चैवमाह—“न कर्मणा न प्रजया  
धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानुषः” इति । श्रद्धा-भक्तिध्यानयोगाद-  
वैतीति चैवमाद्या । सनिष्ठानां हृद्विशुद्धये परिनिष्ठितानां च लोक-  
संग्रहाय यथायथं कार्यास्ते धर्मः—“तमेतम्” इत्यादिभ्यः—“सत्येन

लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा” इत्यादिभ्यश्च श्रुतिभ्यः । न च बिहि-  
तत्यागे प्रत्यवायलक्षणं पापं स्यादिति शोकं मा कुर्वीति व्याख्ये-  
यम् । वेदनिदेशेनाग्निहोत्रादित्यागे यत्तेरिव परेशनिदेशेन तत्त्यागे  
तत्प्रपत्तुस्तदयोगात् ; प्रत्युत तन्निदेशातिक्रमे दोषापत्तिः स्यात् ।  
न च स्वरूपतो बिहितत्यागे प्रत्यवायापत्तोः ; सञ्चरिणि धर्म-  
फलानीति व्याख्येयम् ; फलत्यागे तदनापत्तोः । तस्मात् प्रपन्नस्य  
स्वरूपतो धर्मत्यागः ; न च ‘न हि कश्चित्’ इत्यादिन्यायेन स्व-  
धर्मानुष्ठानापत्तिस्तद्व्यजनादिनिरतस्य तेन न्यायेन तदनापत्तोः ।  
तथा च सन्निष्ठस्यात्मानुभवान्तःपरिनिष्ठितस्य च परात्मानुभवान्तो  
यथा धर्माचारस्तथा प्रपत्तुः प्रपत्तिः शुद्धान्तः स इति एवमेवो-  
क्तमेकादशोऽपि—“तावत् कर्म्मणि कुर्वीत न निर्व्विद्येत  
यावता । मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥” “ज्ञान-  
निष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो बानपेक्षकः । स लिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा  
चरेदविधिगोचरः ॥” इति । एषा ‘शरणागति’ शब्दिता प्रपत्तिः  
षडङ्गिका—“आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्ज्जनम् । रक्षि-  
ष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा । आत्मनिक्षेपकार्पण्ये  
षड्विधा शरणागतिः ॥” इति बायुपुराणात् । भक्तिशास्त्रबिहिता  
हरये रोचमाना प्रवृत्तिरानुकूल्यम् ; तद्विपरीतन्तु प्रातिकूल्यम् ;  
आत्मनिक्षेपः शरण्ये तस्मिन् स्वभरण्यासः ; कार्पण्यमनुधर्षः ;  
निक्षेपणमकार्पण्यमिति कश्चित् पाठः—तत्र कार्पण्यं ततोऽन्यस्मिन्  
स्वदैव्यप्रकाशः । स्फुटमन्यत् ॥६६॥

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।

न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥

सारा०ब०—एवं गीताशास्त्रमुपदिश्य सम्प्रदायप्रवर्त्तने निय-  
ममाह—इदमिति । अतपस्कायासंयतेन्द्रियाय—“मनसश्चेन्द्रि-



याणाञ्च ऐक्यं परमं तपः" इति स्मृतेः । संयतेन्द्रियत्वे सत्यप्यभक्ताय न वाच्यम्, संयतेन्द्रियत्वेऽपि भक्तत्वेऽपि च सांत अशुश्रूषवे न वाच्यम्, संयतेन्द्रियत्वादधर्मत्रयवत्त्वेऽपि यो मामभ्यसूयति, मयि निरुपाधिपूर्णब्रह्मणि माया-सावर्ण्यदोषमारोपयति, तस्मै सर्वथैव न वाच्यम् ॥६७॥

गी०भू०—अथ स्वोपदिष्टं गीताशास्त्रं पात्रेभ्य एव न त्वपात्रेभ्यो देयमिति उपदिशति-इदमिति । इदं शास्त्रं ते त्वया-तपस्काय अजितेन्द्रियाय न वाच्यम्; तपस्विनेऽप्यभक्ताय शास्त्रोपदेष्टरि त्वयि शास्त्रप्रतिपाद्ये मयि च सर्वेशभक्तिशून्याय न वाच्यम्; तपस्विनेऽपि भक्तायाप्यशुश्रूषवे श्रोतुमनिच्छवे न वाच्यम् । यो मां सर्वेश्वरं नित्यगुणविग्रहमसूयति मयि मायिकगुणविग्रहतामारोपयति, तस्मै तु नैव वाच्यमित्यतो भिन्नया विभक्त्या तस्य निर्देशः । एवमाह सूत्रकारः — "अनाबिष्कुर्वन्न-न्वयात्"—इति ॥६७॥

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्याति ।

भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥

सारा०व०—एतदुपदेष्टुः फलमाह—य इति द्वाभ्याम् । परां भक्तिं कृत्वेति प्रथमं परमभक्तिप्राप्तिः, ततो मत्प्राप्तिः, एतदुपदेष्टु-र्भवति ॥६८॥

गी०भू०—शास्त्रोपदेष्टुः फलमाह—य इति । एतदुपदेष्टुरादौ मत्परभक्ति-लाभस्ततो मत्पदलाभो भवति ॥६८॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।

भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥

सारा०व०—तस्मादुपदेष्टुः सकाशात् अन्योऽतिप्रियङ्करः अतिप्रियश्च नास्ति ॥६९॥

गी०भू०—न चेति — तस्माद्गीतोपदेष्टुः सकाशादन्यो मनु-ष्येषु मध्ये मम प्रियकृत्तमः परितोषकर्ता पूर्वनाभून्न च भवि-ष्यति—मम तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि नाभून्न च भविष्यति ॥६९॥

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।

ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥

सारा०व०—एतदध्ययनफलमाह—अध्येष्यत इति ॥७०॥

गी०भू०—अथ शास्त्राध्येतुः फलमाह—अध्येष्यते चेति । अत्र यो ज्ञानयज्ञो वर्णितस्तेनाहमेतत्पाठमात्रणैवेष्टोऽभ्यर्चितः स्यामिति मे मतिस्तस्याहं सुलभ इत्यर्थः ॥७०॥

श्रद्धवाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।

सोऽपि मुक्तः शुभांल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥७१॥

सारा०व०—एतच्छ्रवणफलमाह—श्रद्धावानिति ॥७१॥

गी०भू०—श्रोतुः फलमाह—श्रद्धेति । यः केवलं श्रद्धया शृणोति, अनसूयः किमर्थं उच्चैरशुद्धं वा पठतीति दोषदृष्टि-कुर्वन् सोऽपि निखिलैः पापैर्मुक्तः पुण्यकर्मणामश्वमेधादिया-जिनां लोकान् प्राप्नुयात्; यद्वा पुण्यकर्मणां भक्तिमतां लोकान् शुबलोकादीन् वैकुण्ठभेदानित्यर्थः ॥७१॥

कश्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्र्येण चेतसा ।

कश्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय ॥७२॥

सारा०व०—सम्यग्बोधानुपपत्तौ पुनरुपदेक्ष्यामीत्याशयेनाह—कश्चिदिति ॥७२॥

गी०भू०—एवं शास्त्रं तद्वाचनादिमाहात्म्यञ्चोक्तम् । अथ शास्त्रार्थाविधानतदनुभवो पृच्छति—कश्चिदिति प्रश्नार्थेऽव्ययम् । सम्यगनुभवानुदये पुनरप्येतदुपदेक्ष्यामीति भावः ॥७२॥



अर्जुन उवाच -

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।

स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

सारा०ब०—किमतः परं पृच्छाम्यहन्तु सर्वधर्मान् परित्यज्य  
त्वां शरणं गतो निश्चिन्त एव त्वयि विश्रम्भवानस्मीत्याह—नष्ट  
इति । करिष्ये इत्यतः परं शरण्यस्य तवाज्ञायां स्थितिरेव शरणा-  
पन्नस्य मम धर्मो, न तु स्वाश्रमधर्मो, नापि ज्ञानयोगा-  
दयः, ते त्वद्यारभ्य त्यक्ता एव, ततश्च भोः प्रियसख अर्जुन !  
मम भूभारहरणे किञ्चिद्वर्षाष्टं कृत्यमस्ति, तत्तु त्वद्द्वारैव  
चिकीर्षामीति भगवतोक्ते सति गाण्डीवपाणिर्जुनो योद्धुमुद-  
तिष्ठदिति ॥७३॥

गी०भू०—एवं पृष्ठः पार्थः शास्त्रानुभवं फलद्वारेणाह—  
नष्ट इति । मोहो विपरीतज्ञानलक्षणः मम नष्टस्त्वत्प्रसादादेव  
स्मृतिश्च यथावस्थितवस्तुनिष्ठया मया लब्धा ; अहं गतसन्देह-  
श्छिन्नसंशयः स्थितोऽधुनास्मि ; तव वचनं करिष्ये । एतदुक्तं  
भवति—देवमानवादयो निखिलाः प्राणिनः सर्वे स्वस्वकर्मसु  
स्वतन्त्रा देहाभिमानिनो मानवैरर्चिता देवास्तेभ्योऽभीष्टप्रदाः ।  
यस्त्वीश्वरः कोऽप्यस्ति, स हि निर्गुणो निराकृतरुदासीनस्तत्सं-  
निधानात् प्रकृतिर्जगद्धेतुरित्येवं विपरीतज्ञानलक्षणो यो मोहः  
पूर्वं ममाभूत्, स त्वदुपलब्धादुपदेशाद्विनष्टः । पराख्यस्वरूप-  
शक्तिमान् विज्ञानानन्दमूर्तिः सार्वज्ञ्यसार्वश्र्य-सत्यसंकल्पा-  
दिगुणरत्नाकरो भक्तसुहृत् सर्वेश्वरः प्रकृति-जीवकालाख्य-  
शक्तिभिः संकल्पमात्रेण जीवकर्मणुगुणो विचित्रसर्गकृत् स्व-  
भक्तेभ्यः स्वपर्यन्तसर्वप्रदोऽकिञ्चनभक्तवित्तः । स च त्वमेव  
मत्सखो वसुदेवसूनुरिति तत्त्विकं ज्ञानं ममाभूत् ; अतः परं

त्वामहं प्रपन्नः स्थितोऽस्मि ; त्वं मां कदाचिदपि न त्यक्ष्यसीति  
सन्देहश्च मे छिन्नः । अथ भूभारहरणं स्वप्रयोजनं चेत् प्रपन्नेन  
मया चिकीर्षितं तर्हि तद्वचनं तव करिष्यामीत्यर्जुनो धनुःपाणि-  
रुदतिष्ठदिति ॥७३॥

संजय उवाच-

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।

संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥

गी०भू०—समाप्तः शास्त्रार्थः । अथ कथासम्बन्धमनुसन्द-  
धानः सञ्जयो धृतराष्ट्रमुवाच—इत्यहमिति । अद्भुतं चेतसो  
विस्मयकरं लोकेष्वसंभाव्यमानत्वात्, रोमहर्षणं देहे पुलकजन-  
कम् ॥७४॥

सारा०ब०—अतः परं पञ्चश्लोकव्याख्या सर्वगीतार्थतात्पर्य-  
निष्कर्षेऽन्तिमश्लोकाः यत्र वर्तन्ते, तां पत्रद्वयीं विनायकः स्ववाह-  
नेनाखुनापहतवानित्यतः पुनर्नालिखम् । तां तन्मात्रवादाम् । स  
प्रसीदतु, तस्मै नमः । इति श्रीमद्भगवद्गीताटीका 'सारार्थ-  
वर्षिणी' समाप्तीभूता सतां प्रीतये स्तादिति

सारार्थवर्षिणी विश्वजनीना भक्तचातकान् ।

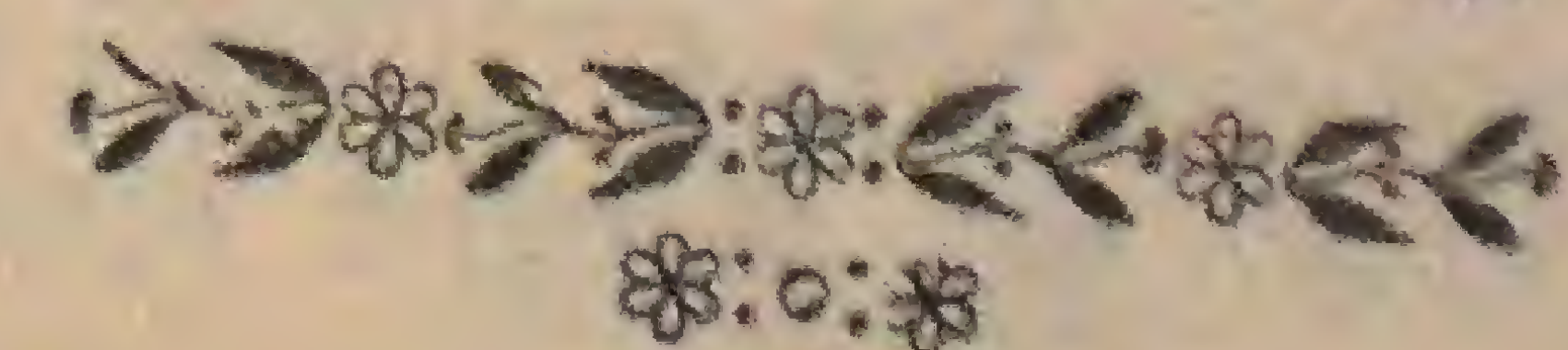
माधुरी धिनुतादस्या माधुरी भातु मे हृदि ॥ (२)

इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् ।

गीतास्वप्तादशोऽध्यायः सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥ (३)

इति श्रील-विश्वनाथ-चक्रवर्ति-ठक्कुर-कृता

'सारार्थवर्षिणी' टीका समाप्ता ।





व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।

योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥७५॥

गी०भू०—व्यवहिततत्संवादश्रवणे स्वयोग्यतामाह—व्यासेति । व्यासप्रसादात्साक्षादिव्यचक्षुःश्रोत्रादिलाभरूपादेतद्गुह्यं श्रुतवान् । किमेतदित्याह—परं योगमिति । कर्मयोगं ज्ञानयोगं भक्तियोगं चेत्यर्थः । परत्वं सम्पादयति—योगेश्वरादिति । देवमानवादि-निखिलप्राणिनां स्वभावसम्बन्धो योगः ; तेषामीश्वरात्रियन्तुः स्वयरूपात् कृष्णात् स्वमुखेनैव, न तु परम्परया कथयतः । श्रुतवानस्मीति स्वभाग्यं श्लाघ्यते ॥७५॥

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।

केशवाञ्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।

विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।

तत्र श्रीविजयो भूतिध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णाञ्जनसंवादे मोक्षयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ।

गी०भू०—राजन् धृतराष्ट्र ! पुण्यं श्रोतुरविद्यापर्यन्तसर्वदोषहरम्, मुहुर्मुहुः प्रतिक्षणं हृष्यामि—रोमाञ्चितोऽस्मि ॥७६॥

गी०भू०—तच्च विश्वरूपं यदञ्जुनायोपदर्शितम् ॥७७॥

गी०भू०—एवञ्च सति स्वपुत्रविजयादिस्पृहां परित्यजेत्याह—यत्रेति । यत्र योगेश्वरः पूर्वं व्याख्यातः स्वसंकल्पायत्ता-स्वेत-

रसर्वप्राणिस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिकः कृष्णो वसुदेवसूनुः सारथ्यपर्यन्त-साहाय्यकारितया वर्त्तते, यत्र पार्थस्वत्पितृस्वसृपुत्रो नरावतारः कृष्णैकान्ती धनुर्द्धरोऽच्छेद्यगाण्डीवपाणिर्वर्त्तते । तत्रैव श्रीकृष्णाञ्जुनाधिष्ठिते, युधिष्ठिरपक्षे श्रीराजलक्ष्मीः, विजयः शत्रुपरिभवहेतुकः परमोत्कर्षः, भूतिरुत्तरोत्तरा राजलक्ष्मीबिबृद्धिः, नीतिन्यायप्रवृत्तिध्रुवा स्थिरेति सर्वत्र सम्बध्यते । यत्तु युद्धपरमेतच्छास्त्रमिति शङ्क्यते ? तत्र—‘मन्मना भव मद्भक्तः’ इत्यादेः, ‘सर्वधर्मान् परित्यज्य’ इत्यादेशोपदेश-स्तस्माच्चतुर्णां वर्णानामाश्रमाणाञ्च धर्मा हृदिशुद्धिहेतुतया लोकसंग्रहार्थतया चेह निरूपिता इत्येव सुष्ठु ॥७८॥

उपाया बहवस्तेषु प्रपत्तिर्दास्यपूर्विका ।

क्षिप्रं प्रसादनी बिष्णोरित्यष्टादशतो मतम् ॥

पीतं येन यशोदास्तन्यं नीतं पार्थसारथ्यम् ।

स्फीतं सद्गुणवृन्दैस्तदत्र गीतं परं तत्त्वम् ॥१॥

यदिच्छातरि प्राप्य गीतापयोधौ न्यमज्जं गृहीतातिचित्रार्थरत्नम् । न चोत्थातुमस्मि प्रभुर्हर्षयोगात् स मे कौतुकी नन्दसूनुः प्रियस्तात् ॥२॥ श्रीमद्गीताभूषणं नाम भाष्यं यत्नाद्विद्याभूषणेनोपचीर्णम् । श्रीगोविन्दप्रेममाधुर्यलुब्धाः कारुण्यार्द्राः साधवः शोधयन्वम् ॥३॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्भाष्येऽष्टादशोऽध्यायः ।





## ❀ गोता-माहात्म्यम् ❀

❀:❀:❀:❀:❀:❀

गीताशास्त्रमिदं पुण्यं यः पठेत् प्रयतः पुमान् ।  
 विष्णोः पदमवाप्नोति भयशोकादिवर्जितः ॥१॥  
 गीताध्ययनशीलस्य प्राणायामपरस्य च ।  
 नैव सन्ति हि पापानि पूर्वजन्मकृतानि च ॥२॥  
 मलनिर्मोचनं पुंसां जलस्नानं दिने दिने ।  
 सकृद्गीताम्भसि स्नानं संसारमलनाशनम् ॥३॥  
 गोता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।  
 या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥४॥  
 भारतामृत-सर्वस्वं विष्णोर्वक्त्राद्विनिःसृतम् ।  
 गीता-गङ्गोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥५॥  
 सर्वोषनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।  
 पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥६॥  
 एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतमेको देवो देवकीपुत्र एव ।  
 एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि कर्म्मार्पिकं तस्य देवस्य सेवा ॥

❀:❀:❀:❀:❀:❀  
 —❀:❀:❀:❀:❀:❀—

## श्रीश्रीस्वयम्भगवत्त्वाष्टकम् ।

❀:❀:❀:❀:❀:❀

स्वजन्मन्यैश्वर्यं बलमिह बधे दैत्य-वितते-  
 र्यशः पार्थ-त्राणे यदुपुरि महासम्पदमधात् ।  
 परं ज्ञानं जिष्णौ सुपलमनु वैराग्यमनु यो  
 भगैः षड्भिः पूर्णः स भवतु मुदे नन्दतनयः ॥१॥  
 चतुर्विहृत्वं यः स्वजनि समये यो मृदशने  
 जगत्कोटीं कुक्ष्यन्तर-परिमितत्वं स्ववपुषः ।  
 दधि-स्फोटे ब्रह्मण्यतनुत परानन्त-तनुतां  
 महैश्वर्यैः पूर्णः स भवतु मुदे नन्दतनयः ॥२॥  
 बलं वक्त्रां दन्तच्छदन-वरयोः केशिनि नृगे  
 नृपे बाह्वोरङ्घ्रौः फणिनि वपुषः कंस-मरुतोः ।  
 गिरित्रे दैत्येष्वप्यतनुत निजास्त्रस्य यदतो  
 महौजोभिः पूर्णः स भवतु मुदे नन्दतनयः ॥३॥  
 असंख्यातो गोप्यो ब्रजभुवि महिष्यो यदुपुरे  
 सुताः प्रद्युम्नाद्याः सुरतरु-सुधम्मर्मादि च धनम् ।  
 बहिर्द्वारि ब्रह्माद्यपि बलिवहं स्तौति यदतः  
 श्रियां पूरैः पूर्णः स भवतु मुदे नन्दतनयः ॥४॥  
 यतो दत्ते मुक्तिं रिपु-विततये यन्नरजनि-  
 विजेता रुद्रादेरपि नत-जनाधीन इति यत् ।



सभायां द्रोपद्या वरकृदतिपूज्यो नृपमखे  
यशोभिस्तत् पूर्णः स भवतु मुदे नन्दतनयः ॥५॥

न्यधाद्गीतारत्नं त्रिजगदतुलं यत् प्रियसखे  
परं तत्त्वं प्रेम्नोद्धव-परमभक्ते च निगमम् ।  
निज-प्राण-प्रेष्ठास्वपि रसभृतं गोपकुलजा-  
स्वतो ज्ञानैः पूर्णः स भवतु मुदे नन्दतनयः ॥६॥

कृतागस्कं व्याधं सतनुमपि वैकुण्ठमनय-  
न्ममत्वस्यैकाग्रानपि परिजनान् हन्त ! विजहौ ।  
यद्यप्येते श्रुत्या ध्रुवतनुतयोकास्तदपि हा  
स्ववैराग्यैः पूर्णः स भवतु मुदे नन्दतनयः ॥७॥

अजत्वं जन्मिदं रतिररतितेहारहितता  
सलीलत्वं व्याप्तिः परिमितिरहन्ता-ममतयोः ।  
पदे त्यागात्यागाबुभयमपि नित्यं सदुररी-  
करोतीशः पूर्णः स भवतु मुदे नन्दतनयः ॥८॥

समुद्यत्-सन्देह-ज्वरशत-हरं भेषजवरं  
जनो यः सेवेत प्रथित-भगवत्त्वाष्टकमिदम् ।  
तदैश्वर्य-स्वादैः स्वधियमतिवेलं सरमयन्  
लभेतासौ तस्य प्रिय-परिजनानुग-पदवीम् ॥९॥

इति श्रीमद्विश्वनाथ-चक्रवर्ति-ठक्कुर-विरचित-स्तवामृतलहरी  
श्रीश्रीस्वयम्भगवत्त्वाष्टकं सम्पूर्णम् ॥

